हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

उपन्यास

पुनर्नवा

अनामदास का पोथा

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

2

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

"बिना करनी के सोचते रहना ही कदाचित् असली पाप है।"

—पुनर्नवा

पत्नी सौ. भगवतीदेवी के साथ

"नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है,
सार्थकता उसे मुक्ति देने में।"

—बाणभट्ट की आत्मकथा

देवरात ने ध्यान से प्रत्येक पद को सुनने का प्रयत्न किया। युवक की वाणी बोली में स्पष्ट
थी। वह एक-एक पद का स्पष्ट उच्चारण कर रहा था। यथा स्थान आरोह और यति का भी
ध्यान रखा जाता था। उसके प्रत्येक शब्द भावों के व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ थे,
छन्द उनके भावों के पंख लगाते थे, वे धरती की सीमा छोड़ कर निरालम्ब-विपुल
व्योम में उड़ान भरने लगते थे। देवरात ने जो कुछ सुना उससे कहीं अधिक
अनुभव किया। एक छन्द का भाव उनके हृदय की अतल गहराई में प्रवेश कर गया।
युवक कवि कह रहा था कि शिव विश्वमूर्ति हैं, उनका शरीर विभूतियों
से धूसरित है या सांपों से लिपटा हुआ है, उनका कमनीय दुकूल
शोभित हो रहा है या हाथी का चाम झूल रहा है, क्या फर्क पड़ता है!
वे विश्वमूर्ति हैं'। उनके इस विश्वमूर्ति रूप की अवधारणा नहीं
करनी चाहिए — न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः!

'पुनर्नवा' की पाण्डुलिपि का एक अंश

मन ही मन मैं सोच रहा था कि बाबा के बारे में जानना ठीक नहीं है। जितना ही [illegible] हो जाता है उतने में विशेष [illegible] मिलना होगा। इस बारे में [illegible] के पद ही [illegible] जाया। लेकिन उसी समय एक आदमी भीड़ में से निकल कर आया और बोला कि बाबा आपको बुला रहे हैं; अभी [illegible] नहीं। मैं चकित रह गया। बाबा ने क्या मेरे मन की बात जान ली! मेरे नये मित्र भी कुछ चकित और कुछ [illegible]-से लगे। ऐसा मालूम हुआ कि उनके मन में भी कोई ऐसी ही बात थी। अब जान गए कि बाबा अन्तर्यामी हैं; वे हमारे मन की जान गए हैं। उनके प्रति श्रद्धालु होकर और देखकर बोले, आप मिल आवें, मैं चलता हूँ। बिना मिले ही वे चलते बने। न मुझे याद रहा कि उनके घर का पता पूछ लूँ और न उन्हें ही याद रहा कि निमंत्रित व्यक्ति को घर का पता भी बता देना चाहिए। वस्तुतः ऐसा जान पड़ता था कि वे थोड़ी देर [illegible] डर गए हैं और जल्दी से जल्दी भाग जाने के सिवा उनके लिए अब कोई रास्ता नहीं रह गया है। देखते देखते वे आँखों से ओझल हो गए और मैं आज्ञाकारी की भाँति बाबा के सामने पहुँचा।

बाबा ध्यानस्थ थे। भीड़ कुछ-कुछ छँट गई थी। लोग अब भी डटे हुए थे वे भी जाने की तैयारी में थे। शायद बाबा से मिलने का समय निश्चित था, यह बात सब को मालूम थी। इसीलिए लोग अब बिना कुछ कहे ही समझ गए थे कि आज अब बाबा को छोड़ना ही पड़ेगा। मुझे बाद में पता चला कि बाबाजी [illegible] लोगों को [illegible] [illegible] नहीं [illegible]।

'अनामदास का पोथा' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थीं जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। **हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली** की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की श्रृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचनादृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टि-कोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयीं हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके; इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्रायः अभिभूत रहे हैं, अतः दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थीं और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रण प्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू, और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम वृहद् हिन्दी विश्व-परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी
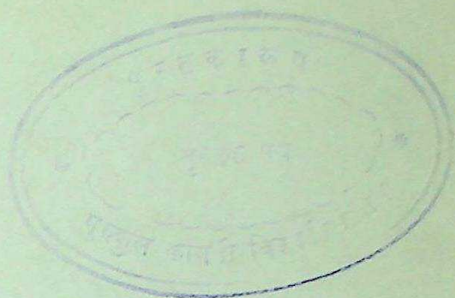
उपन्यास-क्रम
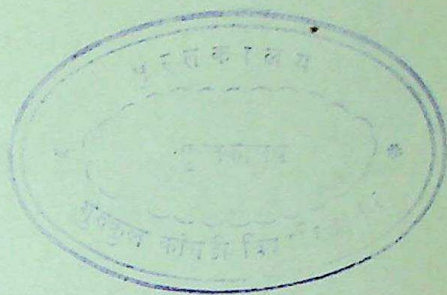
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

2

"विधि-व्यवस्था-सम्बन्धी परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। जिसे आज अधर्म समझा जा रहा है वह किसी दिन लोक-मानस की कल्पना से उठकर व्यवहार की दुनिया में आ जायेगा। अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा, तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।"

—**पुनर्नवा**
ग्रन्थावली-2, पृष्ठ 166

"मुझे लगता है, बेटा, जिसे लोग 'आत्मा' कहते हैं वह इसी जिजीविषा के भीतर कुछ होना चाहिए। वे जो बच्चे हैं, किसी की टाँग सूख गयी है, किसी का पेट फूल गया है, किसी की आँख सूज गयी है—ये जी जायें तो इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी और उद्यमी बनने की सम्भावना है।···अगर यह सम्भावना नहीं होती तो शायद जिजीविषा भी नहीं होती। आत्मा उन्हीं अज्ञात-अपरिचित-अननुध्यात सम्भावनाओं का द्वार है।"

—अनामदास का पोथा
ग्रन्थावली-2, पृष्ठ 337
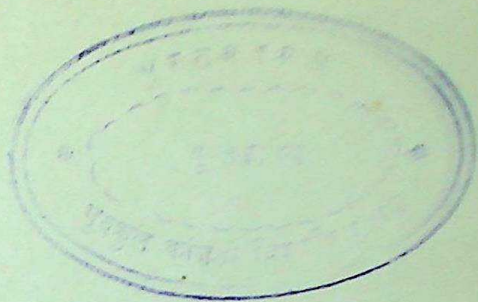
एक

देवरात साधु पुरुष थे। कोई नहीं जानता था कि वे कहाँ से आकर हलद्वीप में बस गये थे। लोगों में उनके विषय में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ थीं। कोई कहता था, वे कुलूत देश के राजकुमार थे और विमाता से अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार प्राप्त करने के बाद संसार से विरक्त होकर इधर चले आये थे। कुछ लोग बताते थे कि बाल्यावस्था में ही उन्हें मंखलि नामक किसी सिद्ध पुरुष से परिचय हो गया और उनके उपदेशों से वे संसार त्यागकर रमता राम बन गये। उनके गौर शरीर, प्रशस्त ललाट, दीर्घ नेत्र, कपाट के समान वक्षःस्थल, आजानुविलम्बित बाहुओं को देखकर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता था कि वे किसी बड़े कुल में उत्पन्न हुए हैं। उनके शरीर में पुरुषोचित तेज और शौर्य दमकता रहता था और मन में अद्भुत औदार्य और करुणा की भावना थी। वे संस्कृत और प्राकृत के अच्छे कवि भी थे और वीणा, वेणु, मुरज और मृदंग-जैसे विभिन्न श्रेणी के वाद्य-यन्त्रों के कुशल वादक भी थे। चित्र-कर्म में भी वे कुशल माने जाते थे। यह प्रसिद्ध था कि क्षिप्तेश्वरनाथ महादेव के मन्दिर के भीतरी भाग में जो भित्तिचित्र बने थे, वे देवरात की ही चमत्कारी लेखनी के फल थे। शील, सौजन्य, औदार्य और मृदुता के वे यद्यपि आश्रय माने जाते थे, परन्तु फिर भी उन्होंने वैराग्य ग्रहण किया था। हलद्वीप के राज-परिवार में उनका बड़ा सम्मान था। जब कभी राजा के यहाँ कोई उत्सव होता था, वे ससम्मान बुलाये जाते थे। वे यज्ञ-याग में उसी उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे जिस उत्साह के साथ मल्ल-समाह्वय में। वे पण्डितों की वाद-सभा में भी रस लेते थे और नृत्यगीत के आयोजनों में भी। लोगों का विश्वास था कि उन्हें संसार के किसी विषय से आसक्ति नहीं थी। उनका एकमात्र व्यसन था दीन-दुखियों की सेवा, बालकों को पढ़ाना और उन्हीं के साथ खेलना। यद्यपि वे अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे और भगवद्-भक्त भी माने जाते थे, परन्तु वे नियमों और आचारों के बन्धनों में कभी नहीं पड़े। साधारण जनता में उनकी रहस्यमयी शक्तियों पर बड़ी आस्था थी, परन्तु किसी ने उन्हें कभी पूजा-पाठ

करते भी नहीं देखा।

देवरात का आश्रम हलद्वीप से सटा हुआ, थोड़ा पश्चिम की ओर, महासरयू के तट पर अवस्थित था। च्यवनभूमि के चौधरी वृद्धगोप उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। वृद्धगोप का इस क्षेत्र में बड़ा सम्मान था। उनके पूर्व-पुरुष मथुरा से शुंग राजाओं की सेना के साथ आकर यहीं बस गये थे। नन्दगोप के वंशधर होने के कारण उनका कुल जनता की श्रद्धा और विश्वास का पात्र था। वृद्धगोप के दो पुत्र थे जिनमें एक तो वस्तुतः ब्राह्मण-कुमार था जिसे उन्होंने यत्न और स्नेह से पाला था। कुछ साँवला होने के कारण उन्होंने इसका नाम दिया था श्यामरूप। दूसरा आर्यक उनका अपना लड़का था। श्यामरूप को उन्होंने देवरात के आश्रम में पढ़ने के लिए भेजने का निश्चय किया। उस समय उसकी अवस्था आठ या नौ वर्ष की थी। जब श्यामरूप आश्रम में जाने लगा तो चार-पाँच वर्ष की अवस्था का आर्यक भी पाठशाला जाने के लिए मचल उठा। वृद्धगोप आर्यक को अपनी वंश-परम्परा के अनुकूल मल्ल-विद्या की शिक्षा देना चाहते थे, परन्तु उसके हठ को देखते हुए उन्होंने उसे भी पाठशाला जाने की आज्ञा दे दी। देवरात इन दोनों शिष्यों को पाकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने वृद्धगोप से आग्रह किया कि दोनों बच्चों को उनके आश्रम में पढ़ने दिया जाय। उन्होंने गद्गद-भाव से वृद्धगोप से कहा था कि उन्हें ऐसा लग रहा है, जैसे स्वयं बलराम और कृष्ण ही इन दो बच्चों के रूप में उनके सामने आ गये हैं। भाव-गद्गद होकर दोनों बच्चों को गोद में लेकर वे देर तक बैठे रहे और फिर आकाश की ओर देखकर बोले, "प्रभो! यह कैसी अपूर्व लीला है! आज तुमने गौर रूप धारण किया है और बड़े भैया को श्यामरूप दे दिया है।" वृद्धगोप ने सुना तो उन्हें रोमांच हो आया। उन्हें लगा कि सचमुच ही जिस प्रकार नन्दगोप की गोदी में बलराम और कृष्ण आ गये थे, वैसे ही उनकी गोदी में श्यामरूप और आर्यक आ गये हैं। महात्मा देवरात के चरणों में साष्टांग दण्डवत् करते हुए उन्होंने कहा, "आर्य, आज मेरा जन्म-जन्मान्तर कृतार्थ जान पड़ता है। आपने ही इन दोनों बच्चों में बलराम और कृष्ण का रूप देखा है और आप ही इन्हें बलराम और कृष्ण बना सकते हैं। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि श्यामरूप अपनी वंश-परम्परा के अनुसार पण्डित बने और आर्यक अपनी वंश-परम्परा के अनुसार अजेय मल्ल बने, परन्तु आपके चरणों में इन्हें सौंपकर मैं निश्चिन्त हुआ हूँ। आप इन्हें यथोचित् शिक्षा दें।" देवरात देर तक दोनों बच्चों के शारीरिक लक्षणों की परीक्षा करते रहे और उल्लसित स्वर में बोले, "चिन्ता न करें भद्र, ये दोनों ही बच्चे पण्डित भी बनेंगे और अजेय मल्ल भी। आर्यक में चक्रवर्ती के सब लक्षण दिखायी दे रहे हैं। यदि सामुद्रिक-शास्त्र सत्य है तो आर्यक दिग्विजयी होकर रहेगा और श्यामरूप उसका महामात्य बनेगा।" फिर आर्यक की ओर ध्यान से देखते हुए बोले, "मेरा मन कहता है कि यह बालक वृद्धगोप के घर में गाय चराने के लिए पैदा नहीं हुआ है। यह बहुत बड़ा होगा, बहुत बड़ा!" वृद्धगोप सन्तुष्ट होकर घर लौट आये। दोनों बच्चे

देवरात की देख-रेख में पढ़ने और बढ़ने लगे। देवरात ने त्रिलिंग देश के मल्ल राजुल को उन्हें व्यायाम और मल्ल-विद्या सिखाने के लिए नियुक्त किया।

देवरात दीन-दुखियों की सेवा में सदा तत्पर रहा करते थे। उन्हें किसी से कुछ लेना-देना नहीं था। परन्तु उनकी कला-मर्मज्ञता का राज-भवन में भी सम्मान था। हलद्वीप की जनता का विश्वास था कि देवरात जो हलद्वीप में टिक गये हैं, उसका मुख्य कारण राजा का आग्रह और सम्मान है। अन्तःपुर में भी उनका अबाध प्रवेश था। वस्तुतः वे राजा और प्रजा दोनों के ही सम्मानभाजन थे।

देवरात के शील, सौजन्य, कला-प्रेम और विद्वत्ता ने हलद्वीप की जनता का मन मोह लिया था। लोग कानाफूसी किया करते थे कि उनका विरोध सिर्फ़ एक ही व्यक्ति की ओर से है। वह थी हलद्वीप के छोटे नगर की नगरश्री मंजुला। सारे नगर में उसके रूप, शील, औदार्य और कला-पटुता की धूम थी। बड़े-बड़े श्रेष्ठि-कुमार उसके कृपा-कटाक्ष के लिए लालायित रहा करते थे। उसके नृत्य में मादकता थी और कण्ठ में अमृत का रस। हलद्वीप में वह अत्यन्त अभिमानिनी गणिका के रूप में विख्यात थी और अपने विशाल सतखण्ड हर्म्य के बाहर बहुत कम जाती थी। केवल विशेष-विशेष अवसरों पर आयोजित राजकीय उत्सवों में ही वह अपना नृत्य-कौशल दिखाया करती थी। अन्य अवसरों पर नृत्य और गीत के प्रेमियों को उसके द्वारस्थ होकर ही अपना मनोरथ पूरा करना पड़ता था। उसके अभिमान और आत्म-गौरव के सम्बन्ध में लोगों में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित थीं। कहा तो यहाँ तक जाता था कि कला-चातुरी के बारे में राजा भी उसकी आलोचना करने में हिचकते थे।

हलद्वीप के पश्चिमी किनारे पर, जहाँ बोधसागर की सीमा समाप्त होती थी, एक ऊँचा-सा बड़ा टीला था। बरसात में जब बोधसागर में पानी भर जाता था और महासरयू में भी उफान आता था, तो यह टीला चारों ओर पानी से घिर जाता था। इसीलिए वह हलद्वीप में एक दूसरे द्वीप की तरह दिखायी देता था। उसका नाम 'द्वीपखण्ड' सर्वथा उचित ही था। इसी द्वीपखण्ड के दक्षिण-पूर्वी छोर पर हलद्वीप का 'सरस्वती-विहार' था। वसन्तारम्भ के दिन इस सरस्वती-विहार में काव्य, नृत्य, संगीत आदि का बहुत बड़ा आयोजन हुआ करता था। उस दिन राजा स्वयं इन उत्सवों का नेतृत्व करते थे। कई दिन तक नृत्य-गीत के साथ-साथ अक्षर-च्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि की प्रतियोगिताएँ चलती थीं, न्याय और व्याकरण के शास्त्रार्थ हुआ करते थे, कवियों की समस्यापूर्ति की प्रतिद्वन्द्विता भी चला करती थी, और देश-विदेश से आये हुए प्रख्यात मल्लों की कुश्तियाँ भी।

राजा के सभापतित्व में ही एक बार मंजुला का नृत्य इसी सरस्वती-विहार में हुआ। देवरात भी सदा की भाँति आमन्त्रित थे। मंजुला ने उस दिन बड़ा ही मनोहर नृत्य किया था। स्वयं राजा ने उसे उस नृत्य के लिए साधुवाद दिया था। देवरात भाव-गद्गद होकर देर तक उस मादक नृत्य का आनन्द लेते रहे। मंजुला ने उस दिन पूरी तैयारी की थी। उस दिन उसकी सम्पूर्ण देह-लता किसी निपुण

कवि द्वारा निबद्ध छन्दोधारा की भाँति लहरा रही थी; द्रुत-मन्थर गति अनायास विविध भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त कर रही थी, मानो किसी कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित कल्पवल्ली ही सजीव होकर थिरक उठी हो। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें कटाक्ष-विक्षेप की घूर्णमान परम्पराओं का इस प्रकार निर्माण कर रही थीं जैसे नीलकमलों का चक्रवाल ही चंचल हो उठा हो, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उसका मुखमण्डल चारियों के वेग से इस प्रकार घूम रहा था कि जान पड़ता था, शत-शत चन्द्रमण्डल ही आरात्रिक प्रदीपों की अराल-माला में गुँथकर जगर-मगर दीप्ति उत्पन्न कर रहे हों। उसकी नृत्य-भंगिमा से नाना स्थिति की भाव-मुद्राएँ अनायास निखर उठी थीं। उसके कन्धे के नीचे मृणाल-कोमल भुज-युगल सुकुमार-संग्रथित द्विपदी-खण्ड के समान भाव-परम्परा में वलयित हो उठते थे। वस्तुतः पूर्वानिल के झोंकों से झूमती हुई शतावरी लता के समान उसकी सम्पूर्ण देह-वल्लरी ही भावोल्लास की तरंग से लीलायित हो उठी थी। ऐसा लगता था, वह छन्दों से ही बनी है, रागों से ही पल्लवित हुई है, तानों से सँवारी गयी है और तालों से ही कसी गयी है। सभा एकाग्र की भाँति, चित्रलिखित की भाँति, मन्त्र-मुग्ध की भाँति, साँस रोककर उस अपूर्व तालानुग उत्ताल नर्त्तन का आनन्द ले रही थी। नृत्य की समाप्ति के बाद भी एक प्रकार की मादक विह्वलता छायी हुई थी। महाराज के साथ सम्पूर्ण राज-सभा ने उल्लसित स्वर में 'साधु-साधु' की हर्षध्वनि की। देवरात निर्वात-निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति, निस्तरंग जलाशय की भाँति, वृष्टिपूर्व घनघुम्मर मेघमाला की भाँति स्थिर बने रहे। मंजुला ने गर्वपूर्वक उनकी ओर देखा। वे शान्त बने रहे। ऐसा लगता था कि वे अब भी भाव-विह्वल अवस्था में थे। महाराज ने उन्हें सचेत किया, "आर्य देवरात, नृत्य कैसा लगा आपको ?" ऐसा लगा कि देवरात आयासपूर्वक अपनी संज्ञा के खोये हुए तन्तुओं को समेटने लगे। बोले, "क्या कहना है महाराज, मंजुला देवी ने आज नृत्य-कला को धन्य कर दिया है। शास्त्रकारों ने जो नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ कहा है, वह बात आज प्रत्यक्ष देख सका हूँ।" फिर मंजुला को सम्बोधन करते हुए बोले, "धन्य हो देवि, ताल तुम्हारे चरणों का दास है, भाव तुम्हारे मुखमण्डल का मुँह जोहता रहता है···" कहते-कहते वे बीच ही में रुक गये। स्पष्ट जान पड़ा कि वे कुछ और कहना चाहते थे पर कह नहीं सके हैं। महाराज ने जान-बूझकर छेड़ा, "कुछ त्रुटि भी रह गयी है क्या, आर्य ?" मंजुला मन-ही-मन जल उठी। उसे लगा कि देवरात कुछ दोषोद्गार करने के लिए ही यह मीठी भूमिका बाँध रहे हैं। इसके पहले भी कई बार मंजुला देवरात की आलोचना सुन चुकी थी। यद्यपि देवरात ने कभी भी ऐसी कोई बात नहीं कही जिसमें रंच-मात्र भी अश्रद्धा प्रकट हुई हो, पर मंजुला ने सदा उनकी आलोचनाओं में द्वेष-भाव ही देखा था। आज भी उसे लगा कि देवरात कुछ ऐसा ही करने जा रहे हैं।

परन्तु देवरात कभी विद्वेष-बुद्धि से किसी को कुछ नहीं कहते थे। उन्हें सच-मुच मंजुला का नृत्य अच्छा लगा था, यद्यपि वे उससे कुछ अधिक की आशा रखते

थे। मंजुला को ही सम्बोधन करते हुए बोले, "बड़ा ही रमणीय साधन तुम्हें मिला है, देवि ! अपने को खोकर ही अपने को पाया जा सकता है। तुम्हारा नृत्य इसी महासाधना की ओर अग्रसर हो रहा है। इस महाविद्या के बल पर ही एक दिन तुम स्वयं को दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर महा-अज्ञात के चरणों में दे सकोगी।" फिर यह सोचकर कि कहीं मंजुला के चित्त को ठेस न पहुँच जाय, वे फिर उसी को सम्बोधन करके बोले, "अज्ञ जन दया का पात्र होता है, देवि ! अवश्य ही तुमने कुछ समझकर ही भावानुप्रवेश की उपेक्षा की होगी। मैं तो अज्ञ श्रद्धालु के रूप में ही यह सब कह रहा हूँ। इसे अन्यथा न समझना।" मंजुला का मुख क्षण-भर के लिए म्लान हो गया। वह कुछ उत्तर न दे सकी। राजा ने ही बीच में उसे सम्हाला, "आर्य, किस प्रकार का भावानुप्रवेश आप चाहते हैं ?" देवरात मंजुला का म्लान मुख देखकर अनुतप्त हुए। परन्तु बात उनके मुँह से निकल चुकी थी और राजा के प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक था। बड़ी संयत वाणी में उन्होंने कहा, "देव, मंजुला का नृत्य निस्सन्देह बहुत उत्तम कोटि का है। जो बात मेरी समझ में नहीं आयी, वह यह है कि 'छलित' नृत्य में नर्तक या नर्तकी को उन भावों का स्वयं अनुभव-सा करना चाहिए जो अभिनीत हो रहे हैं। इसी को भावानुप्रवेश कहते हैं। दूसरों के द्वारा प्रकट किये हुए भाव में स्वयं अपने को प्रवेश कराने का कौशल ! निस्सन्देह मंजुला देवी इसमें निपुण हैं। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे आज अपने को भूल नहीं सकी हैं। नृत्य का उद्देश्य मानो कुछ और था—सहज आनन्द से भिन्न, कुछ और बात !" देवरात को संकोच अनुभव हो रहा था। बात कुछ अवांछित दिशा की ओर बढ़ती जा रही थी। उसे किसी दूसरी ओर मोड़ देने के उद्देश्य से उन्होंने कहा, "भावानुप्रवेश तो पहली सीढ़ी है, महाराज ! अन्तिम लक्ष्य तो महाभाव की अनुभूति ही है।" मंजुला ने सुना तो उसे बड़ी चोट लगी। नृत्य-कला में वह और किसी की विदग्धता स्वीकार नहीं करती थी। परन्तु आज सचमुच ही उसके मन में चोर था। वह देवरात को दिखा देना चाहती थी कि उसके समान नर्तकी संसार में और कोई नहीं। हलद्वीप में एकमात्र देवरात ही उसकी दृष्टि में ऐसे थे, जो उसके रूप और गुण से अभिभूत नहीं हुए थे। आज सचमुच ही उसके मन में देवरात पर विजय पाने की लालसा थी। फीकी हँसी हँसकर उसने कृत्रिम विनय के स्वर में कहा, "आप तो नृत्य के आचार्य जान पड़ते हैं।" परन्तु मतलब यह था कि तुम्हारे आचार्यत्व का अभिमान तुच्छ है।

सभा भंग होने के बाद मंजुला अपने घर लौट आयी, लेकिन एक शब्द उसके कानों के पास बराबर मँडराता रहा—'भावानुप्रवेश'। क्रोधावेश में उसने सोचा, देवरात कहता है कि उसमें भावानुप्रवेश के कौशल की कमी है। यह देवरात दम्भी है, क्लीव है, कुत्सा-प्रिय है। उसने मंजुला का अपमान किया है। परन्तु जैसे-जैसे आवेश ठण्डा पड़ता गया, वैसे-वैसे मंजुला के मन में और तरह के विचार आते गये। देवरात एकमात्र समझदार सहृदय है। उसने मंजुला के मन का चोर पकड़ा

है। उसे उसकी सीमा में प्रवेश करके परास्त करना होगा। उसका गर्व चूर्ण करना होगा। उस रात मंजुला को नींद नहीं आयी। देवरात का अक्षोभ्य मुख उसके मानस-पटल पर बार-बार आ जाता था। यह आदमी कभी उसके रूप से अभिभूत नहीं हुआ और कभी उसके प्रति इसने अश्रद्धा या लोलुप दृष्टि से नहीं देखा। कला का मर्मज्ञ है, बाह्य रूप का चाटुकार नहीं। मगर मंजुला यह नहीं समझ सकी कि वह उससे जलता क्यों रहता है ! जब देखो, मीठी छुरी चला देता है। कहता है, भावानुप्रवेश की कमी है। भण्ड है, मायावी है, निन्दक है। मगर सारी दुनिया तो मंजुला पर मुग्ध है, एक देवरात नहीं मुग्ध होता तो उससे उसका क्या बिगड़ जाता है ? मंजुला के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। क्यों उसका मन बराबर देवरात पर विजय पाने को तरसता है ? क्या वह नहीं जानती कि हजार विडम्बक रसिकों की चाटुकारी, सच्चे सहृदय के एक बार सिर हिलाने की बराबरी नहीं कर सकती? नहीं, देवरात को वश में करने का उपाय कुछ और है। रूप की माया उसे नहीं आकृष्ट कर सकती, हेला और विव्वोक उसे नहीं अभिभूत कर सकते, उसे वश में करने का कुछ और ढंग होना चाहिए। मिट्टी के शरीर पर आकृष्ट होनेवाले रसिक जानते ही नहीं कि रस क्या चीज़ है। सहृदय भाव चाहता है, देवरात और भी आगे बढ़कर महाभाव चाहता है। महाभाव क्या होता होगा भला ! मंजुला फिर उलझ गयी। देवरात किस महाभाव में रहते हैं ? सदा प्रसन्न, सदा श्रद्धा-परायण, सदा निर्लोभ। मंजुला सोचने लगी, उसने देवरात को क्या ग़लत समझा था ? पूरी राज-सभा में वही तो एक सहृदय है जो रस का मर्मज्ञ है, बाकी तो भाँड हैं। ना, देवरात ही सच्चा पुरुष है। बाकी तो मांस के भुक्खड़ भेड़िये हैं। देवरात को परास्त करना होगा, मगर उसी के स्तर पर। उसे पसीना आ गया। अंगुलियों में भी स्वेद की आर्द्रता अनुभूत हुई। यह चिन्ता उसे कई दिनों तक व्याकुल किये रही।

कुछ दिन बाद एक दूसरे आयोजन के समय मंजुला को देवरात पर विजय पाने का अवसर मिला। उस दिन उसका चित्त निरन्तर मथित होने के बाद शान्त हो आया था। जैसे बिलोये हुए दधि में मक्खन उतर आता है, वैसे ही मंजुला में अब सात्त्विक भाव उमड़ आया था। उसने विशुद्ध कलाकार की ऊँचाई से सहृदय को वश में करने का निश्चय किया था। देवरात उस दिन प्राकृत में एक कविता सुना रहे थे। कविता शृंगार रस की जान पड़ती थी। बहुत-से लोग, जो देवरात को वैरागी समझते थे, इस कविता को सुनकर विस्मित हुए थे। कविता इस प्रकार थी—

> अज्जं पिताव एक्कं मा मं वारेहि पियमहि रुअन्तीं।
> कल्लि उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सम् ॥
> [रोवन दै सखि आजि तू, मति बरजै, रहि मौन।
> ललन चलन लखि काल्हि जौ, प्राण बचै, रोऔ न ॥]

देवरात ने इसको बड़े व्याकुल स्वर में पढ़ा। उनका स्वर काँप रहा था। ऐसा

जान पड़ता था कि नाभि-कुहर से निकले हुए शब्द हैं जो समस्त चक्रों को अनायास ही वेधकर निकल रहे हैं। देवरात का नाद-यन्त्र केवल निमित्त-मात्र जान पड़ता था। ऐसा लगता था कि कोई विश्वव्यापिनी मर्म-वेदना अनायास ही उनके नाद-यन्त्र के माध्यम से हिल्लोलित हो उठी हो। छिछले रस-मर्मज्ञों को इसमें सन्देह नहीं रहा कि इसका कवि स्वयं अनुभव करने के बाद ही ऐसी बात कह रहा है। लोगों ने तो यह भी कहना शुरू किया कि इस कविता का सम्बन्ध देवरात की किसी आप-बीती कहानी से अवश्य है। लेकिन मंजुला विचलित हो गयी। वह मन-ही-मन देवरात के वैदग्ध्य से मुग्ध हो रही। उसे लगा कि व्यर्थ में उद्धत अभिमान के कारण वह अब तक इस एकमात्र सहृदय पुरुष की उपेक्षा करती रही है। उसका अन्तर इस प्रकार द्रवित हो उठा जैसे दीर्घकाल से जमा हुआ हिम एकाएक उष्ण वायु के स्पर्श से पिघल गया हो। हाय, किस गहराई में उस असामान्य पुरुष के अन्तर-देश में मर्मन्तुद पीड़ा घर किये बैठी है! ऊपर से वह गम्भीर बनी रही। पर उसका अन्तर द्रवित हो चुका था। राजा ने उससे प्रश्न किया, "कहो मंजुला, आर्य देवरात की कविता कैसी लगी?" मंजुला ने कृत्रिम गर्व का भाव धारण किया। विव्वोक-चटुल मुद्रा में 'नासा मोरि नचाइ दृग' बोली, "बासी है!" और मन्द-मन्द मुस्कराती हुई देवरात की ओर इस प्रकार देखने लगी, मानो कह रही हो कि मेरे शब्दों पर न जाना, कविता अच्छी है। देवरात ने उस दृष्टि का अर्थ समझा और बोले, "देवि! अनुग्रह हो तो कुछ प्रत्यग्र-मनोहर सुनने की इच्छा है।" लेकिन इस बीच मंजुला का यह उत्तर सुनकर राजा हँस पड़े थे और उनके पीछे बैठी हुई चाटुकारों, भाटों, विदूषकों और विटों की मण्डली भी हँसी से इस प्रकार लहालोट हो गयी थी, मानो अन्नदाता ने अभूतपूर्व परिहास किया हो। मंजुला के मन पर चोट लगी। वह नहीं चाहती थी कि देवरात उसे ग़लत समझें। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उसने कातर अपांग से देवरात की ओर देखा, भाव था, 'इन भोंडे रसिकों की हँसी की उपेक्षा करें। मैं परवश हूँ।' देवरात ने आँखों की भाषा में ही उत्तर दिया, 'कुछ परवाह न करो, ये नासमझ हैं।' फिर एक-दो बार आँखों-ही-आँखों में बातें हुईं। राज-सभा में किसी ने इस दृष्टि-विनिमय को समझने का प्रयत्न नहीं किया। राजा ने मंजुला से कहा, "हाँ सुन्दरि, कुछ प्रत्यग्र-मनोहर सुनाओ।" प्रत्यग्र-मनोहर, अर्थात् जो अपनी ताज़गी से ही मन हर लेता हो। मंजुला ने एक बार फिर देवरात की ओर ईषत् कटाक्ष-निक्षेप किया। भाव यह था कि 'शुरू करूँ, अनुमति है?' देवरात ने हँसते हुए कहा, "अवश्य सुनाओ देवि, मगर सौन्दर्य तो वही है जो बासी नहीं होता।" मंजुला ने जीभ काट ली—क्या देवरात को उसकी आलोचना बुरी लग गयी है? राजा की ओर देखते हुए, किन्तु वस्तुतः देवरात को लक्ष्य करके उसने कहा, "मैं बासी को भी ताज़ा बना सकती हूँ, महाराज!" राजा एक बार फिर हँसे और साथ ही विटों और विदूषकों की मण्डली लहालोट हो गयी। देवरात ने कहा, "अवश्य कर सकती हो देवि, विलम्ब का क्या प्रयोजन है?" पीछे से किसी ने टिटकारी दी, "हाय, हाय, सूखी डाल में

कोंपलें फूट रही हैं रे !" मंजुला को बुरा लगा। देवरात के चेहरे पर कोई भाव नहीं दिखायी दिया। मंजुला ने सोचा कि देर करने से इन विडम्ब-रसिकों से न जाने क्या-क्या सुनने को मिले। इसलिए हाथ जोड़कर उसने राजा से कहा, "महाराज, पहले प्रत्यग्र-मनोहर सुनाने की अनुमति दें और बाद में बासी को ताज़ा करने की।" महाराज ने उल्लासपूर्वक साधुवाद दिया और मंजुला रंगभूमि में उतरी। उस दिन वह सचमुच 'भावानुप्रवेश' की मुद्रा में थी। बड़ी ही करुण-मधुर वाणी में उसने अपनी रचना पढ़ी। लेकिन कविता का पाठ आरम्भ करने के साथ ही वह भाव-विह्वल मुद्रा में दिखायी पड़ी। कसा हुआ धम्मिल-पाश (जूड़ा) न जाने कब बिखरकर पीठ पर फैल गया। वह करुण रस की मूर्त्ति या शरीरधारिणी विरह-व्यथा की भाँति कूक उठी। क्या सोचकर उसने यह कविता लिखी थी, यह तो उसके अन्तर्यामी ही जानते होंगे, परन्तु उसके पढ़ने में अजीब मादकता थी। ऐसा जान पड़ता था कि उसने हृदय का समूचा रस उँड़ेलकर उसके एक-एक अक्षर को भिगोया था। प्रत्येक अक्षर स्फुट रूप से उच्चरित था, यथास्थान 'काकु' का उचित सन्निवेश था और छन्द की लहरी भाव के साथ विचित्र भंगिमा में हिल्लोलित हो उठी थी। उस दिन वह वास्तविक 'भावानुप्रवेश' की अवस्था में थी। उसने संस्कृत का श्लोक नहीं पढ़ा, प्राकृत की आर्या नहीं सुनायी, सुनाया ग्राम्य भाषा में प्रयुक्त होनेवाला विरह-गीत (बिरहा) का अत्यन्त मनोहर दोहा छन्द। व्याकुल वाणी में उसने सुनाया :

दुल्लह जण अणुराउ गरु लज्ज परव्वसु प्राणु।
सहि मणु विसम सिणेह वसु मरणु सरणु णहु आणु ।।
[दुर्लभ जन अनुराग बड़ि लज्जा परवस प्रान।
सखि मन विषम सनेह-बस, मरन सरन, नहिं आन ।।]

उसने व्याकुल कम्पित स्वर में 'प्राणु' शब्द को खींचा। ऐसा जान पड़ा, आकाश रो उठा है, वायु-मण्डल काँप उठा है। अन्तिम चरण तक आते-आते उसका स्वर शिथिल होने लगा। वह अर्धमूर्च्छित-सी होकर रंगभूमि में शिथिल भाव से पड़ रही। सभासदों ने आशंकित होकर सोचा, यह क्या अभिनय है, या सच्ची वेदना है? धीरे-धीरे मंजुला की संज्ञा लौट आयी। उसने देवरात की पढ़ी हुई आर्या को भी पढ़ा। करुण-विकम्पित स्वर से वायु-मण्डल विद्ध हो उठा। ऐसा जान पड़ा, वह आविष्ट है। जो मंजुला नित्य दिखायी देती है, उससे मानो यह भिन्न हो। काव्य, संगीत और अभिनय के उत्तम पक्षों का यह बहुत ही रमणीय सामंजस्य था। जब कविता-पाठ के बाद वह उठी, तब भी आविष्ट अवस्था में थी। चलने लगी तो चरणों के अलस संचार में भी विरह-व्यथा तरंगित हो रही थी, विलुलित केश-पाश से अनुभाव लहरा उठे थे और शिथिल नयनों से व्याकुल उच्छ्वास चंचल हो उठा था। स्वयं देवरात के सिवा सभी सभासदों ने यही समझा कि यह देवरात को परास्त करने का आयोजन है। वे यह भी सोच रहे थे कि देवरात अवश्य कुछ-न-कुछ दोषोद्गार करेंगे। परन्तु आश्चर्य के साथ देखा गया कि देवरात की आँखों

से अविरल अश्रु-धारा झर रही है। उनके होंठ सूख गये हैं और कपोल-प्रान्त मुर-झाये हुए कमल के समान पाण्डुर हो उठे हैं। मंजुला ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि देवरात की ऐसी दशा हो जायेगी। देवरात कुछ प्रकृतिस्थ होकर बोले, "धन्य हूँ देवि, जो वाग्देवता को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।" उनकी इस प्रशंसा को सुनकर मंजुला के सहज-प्रगल्भ मुख पर पहली बार लज्जा की लालिमा दिखायी पड़ी। निस्सन्देह उस दिन वह देवरात पर विजय प्राप्त करने की कामना से आयी थी। उसे अभूतपूर्व सफलता भी मिली, पर विधाता के मन में कुछ और ही था। वह अपने को पा गयी, अपने को ही खोकर। जिसे वह सदा अपना प्रतिद्वन्द्वी समझती रही, उसी देवरात को हराकर वह स्वयं हार गयी। उसने पहली बार अनुभव किया कि हारकर भी मनुष्य चरितार्थ हो सकता है।

देवरात उस दिन अधीर और व्याकुल देखे गये। राजा ने समझा कि उन्होंने अपने को अपमानित अनुभव किया है। सुनने में आया कि राजा ने मंजुला पर अपना क्रोध भी प्रकट किया। यद्यपि उन्होंने उसके मुँह पर कुछ नहीं कहा, तथापि सारे नगर में उनके रोष की कहानी फैल गयी। मंजुला ने सुना तो उसका हृदय व्यथा से तड़प उठा। क्या सचमुच देवरात को उस दिन उसने चोट पहुँचायी? अभिमानिनी गणिका को अपने औद्धत्य के लिए पहली बार पश्चात्ताप हुआ—हाय अभागी, तूने कैसा अनर्थ कर दिया! परन्तु उसके अन्तर्यामी कहते थे कि यह बात झूठ है। देवरात ऐसे छोटे नहीं हैं। उन्होंने मंजुला को ग़लत नहीं समझा है। राज-सभा भोंडी रसिकता की शिकार है। विडम्ब-रसिक अपने मन से दूसरों के मन को मापा करते हैं। देवरात इनसे ऊपर हैं, बहुत ऊपर।

लेकिन देवरात अपने आश्रम में दीन-दुखियों की सेवा और बालकों को पढ़ाने-लिखाने का काम यथानियम करते रहे। उस दिन की क्षणिक अधीरता के बाद कभी भी उन्हें कातर या अभिभूत नहीं देखा गया। वे राजा की सभा में आयोजित नृत्य-गीतों में भी उसी उत्साह के साथ सम्मिलित होते रहे, जिस उत्साह के साथ मल्लशाला में आयोजित मल्ल-समाह्वयों में। वे पण्डितों की वाद-सभा में भी उतना ही रस लेते थे। राज-सभा के सभासदों ने सिर हिला-हिलाकर जो आशंका प्रकट की थी कि किसी-न-किसी दिन यह कला-प्रेमी वैरागी मंजुला के कटाक्ष-बाणों से घायल होगा, वह कभी सत्य नहीं हुई। देवरात यथापूर्व निर्विकार और निर्लिप्त बने रहे। केवल एक परिवर्त्तन हुआ जिसे देवरात के अन्तर्यामी के सिवा और कोई नहीं देख सका। जब कभी देवरात एकान्त में होते, वे उदास स्वर में गुनगुना उठते :

> दुल्लह जण अणुराउ गरु लज्ज परव्वसु प्राणु।
> सहि मणु विसम सिणेह वसु मरणु सरणु णहु आणु॥

दो

एक दिन देखा गया कि रूपगर्विता नगरश्री मंजुला अपने सारे अभिमान को ताक पर रखकर उदास-भाव से देवरात के आश्रम की ओर नंगे-पाँव चली जा रही है। हलद्वीप के लोगों के लिए इससे बड़ा आश्चर्य और कुछ नहीं था। आत्म-गौरव की प्रतिमा, अभिमान की मूर्त्ति, शोभा की अविजित रानी, नगर-रसिकों की आकांक्षा-भूमि मंजुला अकेली चल पड़ी है। साथ में कोई दास-दासी नहीं है, रथ नहीं है, पालकी नहीं है, हाथी-घोड़े नहीं हैं, वह सब प्रकार से अकेली है।

हलद्वीप के नगरवासियों ने कभी इस प्रकार की बात की कल्पना भी नहीं की थी। मंजुला परम अभिमानिनी के रूप में ही परिचित थी। उसके बारे में सैकड़ों किंवदन्तियाँ प्रचलित थीं। कहा तो यहाँ तक जाता था कि वह नित्य एक घड़े दूध से स्नान करती है। इधर सरस्वती-विहारवाली नोंक-झोंक ने नगर में अनेक प्रकार की किंवदन्तियों को उकसावा दिया था। लोगों ने आश्चर्य के साथ सुना था कि मंजुला में अनेक परिवर्तन हुए हैं। वह अपना अधिकांश समय अब पूजा-पाठ में बिताती है, व्रत-उपवासों का विधिवत् उद्यापन करती है, उसकी वीणा से अब केवल विरह के स्वर झंकृत होते हैं। परन्तु इन बातों की सच्चाई में बहुत थोड़े लोगों को विश्वास था। बुद्धिमान् व्यक्तियों ने सिर हिलाकर कहा था—"देखते रहो, जनम की विलासिनी, करम की मायाविनी गणिका अगर पूजा-पाठ करने लगे, तो मानना होगा कि बबूल में भी कमल के फूल खिलते हैं, पनाले में भी सुगन्धि फूटती है, सर्पिणी भी पुजारिनी बन सकती है!" लेकिन किंवदन्तियाँ अमूलक नहीं थीं। मंजुला में सचमुच परिवर्त्तन हुआ था। वह नृत्य को महाभाव का साधन मानने लगी थी, अपने को खोकर अपने को पाने की ओर अग्रसर होने लगी थी। निस्सन्देह उसमें व्याकुलता थी। वह महाभाव का रहस्य समझना चाहती थी। किससे पूछे, कौन बतायेगा कि महाभाव क्या है? एकमात्र देवरात ही बता सकते थे, पर वे मंजुला के लिए दुरभिगम्य थे। आजीवन जिन ब्रह्मास्त्रों का उसने वशीकरण का उपाय मानकर अभ्यास किया था, वे देवरात से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो गये थे। उसने उपेक्षा की थी। गणिकाशास्त्र में इन अस्त्रों से घायल न होनेवाला नपुंसक माना जाता है। मंजुला ने भी बराबर देवरात को ऐसा ही माना था, पर अब उसे दूसरा ही अनुभव हुआ था। गणिकाशास्त्र से ऊपर भी कुछ है। घायल होने के रूप भी अलग-अलग होते हैं। देवरात नहीं, मंजुला घायल हुई है। कहाँ? किस गहराई में? और क्या सचमुच देवरात किसी अतल में घायल नहीं हुए हैं? मंजुला उत्तर पाना चाहती है, पा नहीं रही है।

इस बीच एक अनर्थ हो गया था। राजसभा में उसकी पुकार हुई थी। उसे सुधि ही नहीं रही। यथासमय वह अनुपस्थित पायी गयी। राजकोप अयाचित, अप्रत्याशित रूप से उस पर आ गिरा। देवरात ही उसकी रक्षा कर सकते थे। वे

ही राजा को प्रभावित करने में समर्थ थे। मंजुला को अच्छा बहाना मिल गया। दुःख के आवेदन की देवरात कभी उपेक्षा नहीं करते। मंजुला आज निकल पड़ी है। अकेली।

नगर-भर में खलबली मच गयी। लोगों के आश्चर्य और कौतूहल का ठिकाना नहीं रहा। यह भी क्या सम्भव है कि अभिमानिनी नगरश्री इस प्रकार नगर की गलियों में अकेली चले? उसके पहिनावे में सिर्फ़ एक स्वच्छ साड़ी थी, आभूषण के नाम पर केवल एक हाथ में एक सोने की चूड़ी थी और गले में केवल एक सूत्र का हेमहार था। उसके पैरों में उपानह भी नहीं थे। ऐसा जान पड़ता था कि शोभा ने ही वैराग्य धारण किया है, कान्ति ने ही व्रतोद्यापन किया है, चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना ही धरती पर उतर आयी है, पद्मवन की चारुता ने ही धूल पर चलने का संकल्प किया है और रति ने ही उदास-भाव ग्रहण करके धरती को धन्य किया है। निस्सन्देह वह इस वेश में भी मनोहर लग रही थी। शैवाल-जाल से अनुविद्ध होकर भी कमल-पुष्प की शोभा कमनीय होती है, मेघों से आवृत चन्द्र-मण्डल की शोभा भी रमणीय जान पड़ती है, मधुर आकृतियों के लिए सब-कुछ मण्डन-द्रव्य ही बन जाता है। नगर के गवाक्ष खुल गये, पौर-वधुओं के चकित नयनों ने नगर की शोभा को धूल पर चलते देखा, बच्चों का दल पीछे-पीछे दौड़ पड़ा, ग्राम-वृद्धों ने एक-दूसरे की ओर कौतूहल-भरी दृष्टि से देखकर कहा, "बात क्या है?" लेकिन मंजुला ने किसी ओर दृष्टिपात नहीं किया। वह निरन्तर आगे बढ़ती गयी। ऐसा जान पड़ता था कि इस अवस्था में भी उसका अभिमान उसे प्रच्छन्न भाव से अवगुण्ठित किये हुए है।

देवरात के आश्रम के बहिर्द्वार पर आकर वह ठिठक गयी, जैसे स्रोतस्विनी के सामने अचानक शिला-खण्ड आ गया हो। उसने चकित मृग-शावक की भाँति भीत नयनों से चारों ओर देखा, ऐसा लगा जैसे वह किसी ऐसे स्थान पर आ गयी हो जहाँ उसके प्रवेश का अधिकार न हो। क्या करे, क्या न करे? वह सोच नहीं पा रही थी। आश्रम उसे जलते अंगार-जैसा दिखायी दे रहा था, जिसको छूने से सम्पूर्ण रूप से जल जाने की आशंका थी। अभिमानिनी गणिका को पहली बार यहाँ अनुभव हुआ कि वह वह नहीं है जो अब तक अपने को समझती आयी थी। एक बार थके निराश नेत्रों से उसने आश्रम के भीतर देखा। उसकी दृष्टि दो बड़े ही सुन्दर बालकों की ओर गयी। ये बालक श्यामरूप और आर्यक थे। उसने इंगित से उन्हें अपनी ओर बुलाया। दोनों बालक दौड़ते हुए उसके पास आ गये और बड़े शिष्ट भाव से बोले, "आर्ये, आप क्या हमारे गुरुजी को खोज रही हैं? क्या आप भी पढ़ने आती हैं? हमारे गुरुजी आपको बहुत अच्छी तरह पढ़ायेंगे। आइए, आइए, स्वागत है।" मंजुला को सन्देह नहीं रहा कि इन बच्चों को गुरु ने ही ऐसी शिष्ट भाषा बोलना सिखाया होगा। उसके मन में वात्सल्य भाव उदित हुआ। उसने दोनों बच्चों के सिर पर हाथ फेरा और प्यार से कहा, "हाँ वत्स, मैं गुरुजी के दर्शन के लिए ही आयी हूँ। उनसे निवेदन करो कि मंजुला दर्शन का प्रसाद पाना

चाहती है।" दोनों बच्चे दौड़कर गुरु के पास गये और थोड़ी देर में उनके साथ लौट आये। देवरात ने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मंजुला इस रूप में उनके द्वार पर उपस्थित होगी। उन्होंने अत्यन्त मधुर वाणी में मंजुला का स्वागत करते हुए कहा, "देवि, इस आश्रम को धन्य करने का कारण क्या हुआ ? मैं किस सेवा के योग्य हूँ ? शुभे, तुम्हारा चेहरा उदास देख रहा हूँ। कल्याण तो है ?" मंजुला फूट-फूटकर रो पड़ी और अनायास उनके चरणों पर सिर रख दिया। उसने अपने विथुरे अलकों से ही उनका चरण पोंछ दिया और बताया कि अकारण ही उसे राजकोप का शिकार होना पड़ा है। एकमात्र वे ही हैं जो राजकोप का निवारण कर सकते हैं।

देवरात ने उसे आश्वासन दिया, "चिन्तित न हों देवि, मैं शक्ति-भर प्रयत्न करूँगा कि तुम्हें कोई कष्ट न हो और राजा का कोप शान्त हो।" मंजुला आश्वस्त हुई। फिर आँखें नीची किये कुछ असमंजस की मुद्रा में खड़ी रही जैसे कुछ कहना चाहती हो, कह न पा रही हो। देवरात ने उत्सुकतापूर्वक पूछा, "क्या कहना चाहती हो, देवि !" और मधुर-भाव से आश्वस्त करते हुए बोले, "कह जाओ, संकोच की क्या बात है ?"

मंजुला ने धीमे स्वर में पूछा, "आर्य, उस दिन मेरे कविता-पाठ से आपको चोट लगी। अपराधिनी को क्षमा करना, मैं बहुत लज्जित हूँ।"

देवरात हँसे, "तुम्हारी उस कविता से मुझे चोट लगी ? किसने कहा, देवि ?" फिर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना बोलते गये, "बासी घाव हरा हो गया था, देवि ! उसके बारे में न पूछ बैठना, पर उस दिन तुम्हारे भीतर सुप्त देवता का सन्धान मुझे मिला था, सुप्त देवता, जो जाग उठा था।"

मंजुला की आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी। फफककर बोली, "हाय आर्य, मेरे भीतर देवता भी है, यह बात तो केवल तुमने ही देखी है। लोग तो इसमें मिट्टी का ढेला ही खोजते हैं। मैं अपने पाप-जीवन से ऊब गयी हूँ आर्य ! हाय, इस नरक से मेरा कभी उद्धार भी होगा !" उसने दीर्घ निःश्वास लिया।

देवरात ने कहा, "मैं भुजा उठाकर कह सकता हूँ देवि, तुम्हारे भीतर देवता का निवास है। तुम जिस पाप-जीवन की बात कह रही हो वह मनुष्य की बनायी हुई विकृत सामाजिक व्यवस्था की देन है। चिन्ता न करो देवि, इससे उद्धार हो सकता है। तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का उद्धार नहीं करती। यह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है। चिन्ता की क्या बात है, देवि !"

मंजुला आँखें फाड़कर देवरात की ओर देखती रह गयी। उसे इन बातों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा था। पर बिना अर्थ समझे भी जैसे साम-गान चित्त को अभिभूत कर लेता है, कुछ उसी प्रकार का भाव उसे अनुभव हुआ।

देवरात ने उसे और भी उत्साहित किया, "देवता न बड़ा होता है, न छोटा; न शक्तिशाली होता है, न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उसे

उपासक बनाना चाहता है। तुम्हारा देवता भी तुम्हारे मन की विशालता और उज्ज्वलता के अनुपात में विशाल और उज्ज्वल होगा। लोग क्या कहते हैं इसकी चिन्ता छोड़ो। अपने अन्तर्यामी को प्रमाण मानो। वे सब ठीक कर देंगे, देवि !"

मंजुला को जैसे नया सुनने को मिला। नवीन बाल-मृगी जैसे बरसते मेघ के रिमझिम संगीत को आश्चर्य से सुनती है, उसी प्रकार वह सुनती रही—चकित, उल्लसित, उत्सुक !

देवरात ने उपसंहार किया, "अपने देवता की उपेक्षा न करना, देवि ! जाओ, मंगल हो !"

मंजुला भहरा गयी। वह इतनी जल्द उपसंहार के लिए प्रस्तुत नहीं थी। वह बहुत सुनना चाहती थी, उसे थोड़े में सन्तोष नहीं हो रहा था। हाय, उसके भीतर भी देवता है—चिर-उपेक्षित, चिर-पिपासित, चिर-अपूजित ! उसकी बड़ी-बड़ी आँखें धरती की ओर जो झुकीं सो मानो चिपक ही गयीं। वह दाहिने पैर के नाखून से धरती कुरेदती खड़ी रही। नाना भाव-तरंगों के आघात-प्रत्याघात से वह जड़ प्रतिमा की भाँति निश्चेष्ट हो गयी। देवरात मुग्ध-भाव से उसकी मनोहारिणी शोभा को देखते रहे। वे भी चित्रलिखित-से खड़े-के-खड़े रह गये। श्यामरूप और आर्यक चकित होकर दोनों को देखते रहे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि इन्हें हो क्या गया है ! थोड़ी देर तक यही अवस्था रही। फिर देवरात का ही ध्यान भंग हुआ। बोले, "चारुशीले, मैंने जो कहा, उससे तुम्हारे चित्त को आश्वासन नहीं मिला क्या ?" मंजुला ने आँखें ऊपर उठायीं, बोली, "अपराधिनी हूँ, आर्य ! आपको सदा ग़लत समझा है। मैं बिल्कुल नहीं जानती थी कि कोई मेरे भीतर देवता का भी सन्धान पा सकता है। मुझे अब लगता है कि केवल आज नहीं, पहले भी तुमने मेरे भीतर सुप्त देवता को देखा था। मैं आजीवन पाप-पंक में डूबी हुई, तुम्हारी भावनाओं को क्या जानूँ। मैं तो सिर्फ़ यह जानती रही कि लोग मेरे भीतर जाग्रत पशु को ही देखते हैं, उसी का सम्मान करते हैं। जो इस पशु को नहीं देख पाता, उसे दृष्टि ही नहीं है। हाय आर्य, मेरे अन्तरतर का देवता सुप्त रहकर भी तुम्हें जितना प्रभावित कर सका, उसका शतांश भी तुम्हारे जाग्रत देवता से यह पापिनी प्रभावित हो पाती !" देवरात ने बीच में ही टोका, "सुनो देवि, तुम इतनी व्यथित क्यों हो रही हो ? अपने पर तुम्हारी यह अनास्था उचित नहीं है। तुम बार-बार अपने को पापिनी और अपराधिनी कहती हो, तो मेरा अन्तरतर काँप उठता है। यहाँ शुद्ध सुवर्ण कहीं नहीं है, सब जगह खाद मिला हुआ है। सब-कुछ शुद्ध सुवर्ण और खाद से बना हुआ हेमालंकार है। किसने यह आभूषण पहन रखा है ? उसी को खोजो। पाप और पुण्य जब उसी को समर्पित हो जाते हैं तो समान रूप से धन्य हो जाते हैं। मन में खोट न आने दो देवि, तुम नारायण की स्मित-रेखा के समान पवित्र हो, आह्लादक हो, आनन्ददायिनी हो। देवि, जिस दिन देवरात ने तुम्हें देखा था, उस दिन उसे लगा था कि वह कुछ अपूर्व देख रहा है, कुछ नवीन अनुभव कर रहा है। तुम विश्वास मानो देवि,

तुम्हारे दर्शनमात्र से देवरात का सम्पूर्ण अस्तित्व उमड़ आता है। निस्सन्देह तुम्हारे भीतर कोई महा आकर्षक देवता बसता है। लोग उसको ठीक नहीं पहचानते। वे मन्दिर को ही आकर्षण का हेतु मान लेते हैं। बिचारे कृपण हैं, उनका देवता भी सुप्त है। जागेगा, मगर कब, कहना कठिन है।"

मंजुला का अंग-अंग द्रवित हो उठा। नस-नस में आनन्द की अननुभूत लहरी सिहरन पैदा कर गयी। वह क्या सुन रही है? उसे देखकर देवरात का सम्पूर्ण अस्तित्व उमड़ आता है! उसे वे नारायण की स्मित-रेखा के समान पवित्र और आह्लादवर्धिनी समझते हैं, यह भी क्या चाटूक्ति है? हाय, कितनी बेधक चाटूक्ति है यह! मंजुला के अन्तरतर को वह वेध रही है। अब तक सुनी हुई चाटूक्तियाँ उसे ढँक देती रही हैं। आज की उक्ति उसे उधेड़ रही है। नारायण की आह्लादिनी स्मित-रेखा! पहले उस स्मित-रेखा ने मोहिनीरूप में ही संसार को वशीभूत किया था। आज उसका पवित्र आह्लादक रूप प्रकट हो रहा है। मंजुला अपने को पा रही है।

देवरात ने पुनः कहा, "देवि, तुम्हारे नृत्य में तुम्हारा देवता अभिव्यक्त होता है। देवरात उसे पहचानता है।"

मंजुला अपने को सम्हाल नहीं सकी। उसने आवेशपूर्वक देवरात के चरणों पर सिर रख दिया। देवरात पीछे हट गये। मंजुला बोली, "इतने से वंचित न रहने दो, आर्य! मैं फटी जा रही हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि इस सारे आवरण को छिन्न करके एक नयी मंजुला निकलना चाहती है। इस कलुषित मंजुला के भीतर से शुद्धसत्त्वा अकलुष मंजुला! वह अकलुष मंजुला ही तुम्हें समर्पित है, आर्य! उसे अपने पवित्र ममत्व से वंचित न करो। हाय आर्य, बड़ी देर हो गयी!"

देवरात भाव-विह्वल, अचंचल!

क्षणभर में क्या-का-क्या हो गया। देवरात का सारा सत्त्व मथित होकर ढरक जाना चाहता है।

मंजुला प्रकृतिस्थ हो गयी। बोली, "इससे अधिक लोभ नहीं करूँगी, आर्य! इस नवीन मंजुला को मत भूलना। पुरानी को क्षमा कर देना!"

देवरात ठगे-से, खोये-से, हारे-से, स्तब्ध!

मंजुला ने उनके चरणों की धूल आँखों में लगायी और चलने को प्रस्तुत हुई। देवरात निश्चल, अकम्प!

मंजुला अन्तिम प्रणाम निवेदन करके जाने को हुई। घूमकर पहला ही पग उठा पायी थी कि देवरात ने झपटकर उसका कन्धा पकड़ लिया, "रुको देवि, थोड़ा और रुको!"

मंजुला ने घूमकर देवरात की ओर देखा। उनका चेहरा लाल था। आँखें न जाने कैसी-कैसी हो गयी थीं। बोले, "देवि, बासी को ताज़ा करने के लिए उस दिन का साधुवाद ग्रहण करो!"

मंजुला इसका ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सकी। उसे उस दिन का राजसभा का परिहास तो याद था, पर इस अवसर पर उसका क्या तुक था ? हाथ जोड़कर बोली, "समझ नहीं सकी, आर्य !" देवरात के चेहरे पर सहज दीप्ति आ गयी। हँसकर बोले, "सब प्रसाद समझकर ही नहीं लिये जाते। पर प्रसाद प्रसाद ही है।" मंजुला देवरात के मुख पर एकटक दृष्टि लगाये ताकती रही। मन-ही-मन उसने कहा—यह सहज-प्रसन्न मुख-मण्डल अक्षोभ्य नहीं है ! साहस बटोरकर उसने कहा, "यदि अनुचित न समझें तो दासी किसी दिन अपने घर पर चरणों की धूलि पाने की मनोकामना रखती है।" देवरात पुलकित होकर बोले, "अवसर आने पर तुम्हारी यह मनोकामना भी पूर्ण होगी।" गणिका को जैसे राज्य मिल गया हो। अत्यन्त कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देवरात की ओर देखते हुए वह सन्तुष्ट चित्त से घर लौट आयी।

पूरे हलद्वीप में यह बात आँधी की तरह फैल गयी। बुद्धिमानों ने सिर हिलाकर कहा, "इसमें कुछ रहस्य है। यह गणिका मायाविनी है। वह देवरात को फँसाना चाहती है।" कुछ दूसरे लोग यह कहते सुने गये कि यह राजा का षड्यन्त्र है। वह देवरात की लोकप्रियता से चिन्तित है और उसे बदनाम करना चाहता है। तरुण नागरिकों में कुछ और ही तरह की कानाफूसी चलने लगी। उनके मन में गणिका के प्रेमासक्त होने की ही सम्भावना अधिक थी। जितने मुख, उतनी बातें सुनायी देने लगीं। बातें धीरे-धीरे वृद्धगोप तक भी पहुँचीं। उन्होंने देवरात को सावधान करने की बात भी सोची। परन्तु स्वयं देवरात के चित्त में कोई विकार नहीं देखा गया। उनका सदा-प्रसन्न चेहरा जैसा-का-तैसा बना रहा। कोई पूछता तो कहते, "मंजुला देवी ने निमन्त्रण दिया है, अवसर आने पर उस निमन्त्रण का सम्मान तो करना ही होगा। अवसर आ भी सकता है, नहीं भी आ सकता है।" और हँस देते। उस हँसी में एक प्रकार का विषाद-भाव भी मिला होता था। ऐसा जान पड़ता था कि उनकी हार्दिक कामना यही थी कि अवसर न आये। लेकिन नगर के विडम्ब-रसिकों ने उनकी हँसी की भी नाना प्रकार से व्याख्या की। नित्य-नयी कहानियाँ गढ़ी जातीं और फैलायी जातीं। यहाँ तक भी सुना गया कि नगरश्री मंजुला स्वयं अभिसार-यात्रा की तैयारी कर रही है। परन्तु देवरात यथानियम अपने काम में लगे रहते। उन्होंने इन बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी।

इस बीच देवरात राजा से कई बार मिल भी आये। यह भी सुना गया कि राजा ने उनकी बात मान ली है और गणिका को क्षमा प्रदान कर दी है। अटकलों के बवण्डर उड़ते रहे। इतना अवश्य देखा गया कि गणिका ने राजकोप के शमन के बाद धूमधाम से क्षिप्तेश्वर महादेव की पूजा करवायी और सहस्रों नागरिकों को अपना नृत्य दिखाकर मुग्ध भी किया। नगर के लोग इस परिणति से सन्तुष्ट हो गये और कानाफूसी धीरे-धीरे दब गयी। लोग धीरे-धीरे इस घटना को भूल गये।

कुछ दिनों बाद देवरात को सचमुच ही गणिका का आतिथ्य स्वीकार करना

पड़ा। एकाएक नगर में भयंकर महामारी का प्रकोप हुआ। शीतला देवी को प्रसन्न करने के अनेक उपचार किये गये, परन्तु उनका कोप घटने के स्थान पर बढ़ता ही चला गया। नगर में हाहाकार मच गया। जिधर देखो, उधर ही कराहने की ध्वनि सुनायी देने लगी। लोगों में भगदड़ मच गयी। राज-परिवार ने भी नगर से दूर बने हुए प्रासाद में आश्रय लिया। वृद्धगोप के दोनों बच्चों को उनके घर भेजकर देवरात सेवा-कार्य में जुट गये। कोई किसी को पूछनेवाला नहीं था। किसी-किसी मुहल्ले में प्रत्येक व्यक्ति महामारी का शिकार बना था और कोई-कोई मुहल्ला एकदम जनशून्य हो गया था। अपने सगे-सम्बन्धी भी दूर भागने लगे। लेकिन देवरात प्रत्यूष से लेकर आधी रात तक घूम-घूमकर लोगों की शुश्रूषा करते, दवा पहुँचाते, पथ्य की व्यवस्था करते। एक दिन उन्हें समाचार मिला कि मंजुला भी रोगग्रस्त हो गयी है और उसके दास-दासी घर छोड़कर भाग गये हैं। कोई पानी देनेवाला भी नहीं रह गया है। देवरात ने मंजुला के आतिथ्य-ग्रहण का अवसर आज देखा। वे मंजुला के विशाल प्रासाद की ओर बढ़े। चारों ओर भयंकर सुनसान था। घर का द्वार खुला हुआ था, परन्तु कहीं कोई दिखायी नहीं पड़ा। मंजुला के घोड़े, बैल और अन्य पशु या तो छोड़ दिये गये थे या फिर किसी और की सम्पत्ति बन चुके थे। पूरा प्रासाद खाँय-खाँय कर रहा था। घर में एक बत्ती तक नहीं जल रही थी। देवरात को लगा कि कदाचित् मंजुला भी कहीं अन्यत्र चली गयी है। क्षण-भर के लिए वे ठिठके। मन में आया, कदाचित् उन्हें ग़लत ख़बर मिली है। वे सोचने लगे कि लौट जाना ही उचित है। उसी समय ऊपरी तल्ले से अत्यन्त क्षीण कण्ठ के कराहने की ध्वनि उनके कानों में पड़ी। उस शब्द का अनुसरण करते हुए वे सीढ़ियों पर चढ़ गये और गणिका के शयन-कक्ष में उपस्थित हुए। अन्धकार में उन्हें कुछ भी दिखायी नहीं दिया। फिर उन्होंने निश्चित सूचना पाने के उद्देश्य से आवाज़ दी, "कोई है?" उत्तर में अत्यन्त क्षीण-कातर ध्वनि सुनायी पड़ी—"पानी!" देवरात की आँखें भर आयीं। निस्सन्देह यह मंजुला का ही कण्ठ था। हाय, समृद्धि की रानी, रूप की लक्ष्मी, शोभा की स्रोतस्विनी, अनुराग की तरंगिणी मंजुला की आज यह दशा है! उनका गला भर आया। भर्रायी हुई वाणी में बोले, "मैं देवरात हूँ, देवि! तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार करके आ गया हूँ। चिन्ता न करो, अभी सब ठीक हुआ जाता है।" अँधेरे में उन्हें कहीं भी कोई बरतन नहीं दिखायी दिया। न मंजुला का वह मुख ही दिखायी दिया, जिसे पानी से तर करना था। आँगन में नक्षत्रों के हल्के प्रकाश में एक मिट्टी का घड़ा दिखायी दिया। संयोग से उसमें थोड़ा पानी भी मिल गया। उन्होंने अपना उत्तरीय पानी में भिगोया। घर में आकर पुकारा, "किधर हो, देवि! देवरात आया है।" क्षीण कण्ठ से फिर कराहने की ध्वनि हुई। देवरात धीरे-धीरे पैर रखते हुए जिधर से आवाज़ आयी थी, उधर गये। हाथ से स्पर्श करके उन्होंने मंजुला के मुख का पता लगाया और फिर उसके अधरों के पास एक हाथ रखकर दूसरे हाथ से उत्तरीय के पानी की कुछ बूँदें गिरा दीं। ऐसा जान पड़ा,

मानो मंजुला की चेतना कुछ अधिक सजग हुई। कदाचित् उसकी आँखें भी खुलीं। क्षीण कण्ठ से पूछा, "कौन है ?" उत्तर मिला, "देवरात हूँ, देवि !" मंजुला को जैसे विश्वास ही न हुआ हो, बोली, "कौन, आर्य देवरात ?"

"हाँ देवि, आज मैंने तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार किया। साहस न छोड़ो। सब ठीक हुआ जाता है।" अँधेरे में कुछ दिखायी तो नहीं दिया, परन्तु देवरात को समझने में देर न लगी कि उसकी आँखों से अजस्र अश्रुधारा बह रही है। वह सुबक-सुबककर रो रही है। बड़े आयास से उसने कहा, "पापिनी से दूर रहो देव ! यदि इस अधमा के ऊपर दया है तो अपना हाथ हटा लो और उस बच्ची को देखो।" इतना कहकर मंजुला एकदम मौन हो गयी, मानो यही अन्तिम बात कहने के लिए अब तक उसके प्राण बचे थे। देवरात ने आश्चर्य और कौतूहल के साथ पूछा, "कौन-सी बच्ची, देवि ? कहाँ है वह ?" क्षीण कण्ठ से उत्तर मिला—"मृणालमंजरी !" ज़रा रुककर उसने आयासपूर्वक कहा, "इस नरक-कुण्ड से उसे ले जाओ।" और फिर सब-कुछ शान्त हो गया। देवरात जानना चाहते थे कि मृणालमंजरी कौन है ? कहाँ है ? पर देर तक प्रतीक्षा करने के बाद भी कुछ उत्तर नहीं मिला। उन्होंने मंजुला का ललाट स्पर्श किया, बर्फ़ की तरह ठण्डा मालूम पड़ा। अँधेरे में उन्हें कुछ नहीं दिखायी दिया, परन्तु मंजुला के वाक्य उनके कर्ण-पटल पर बार-बार आघात करते रहे, 'उस बच्ची को देखो !' कहाँ है वह बच्ची ? यहीं कहीं होगी। इसी घर में। जीवित भी है या नहीं, कौन जाने! अन्धकार बड़ा भयावना लग रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि यमराज का काला भैंसा आक्रमण के लिए तत्पर अवस्था में खड़ा है। कब रगेद देगा, कुछ ठिकाना नहीं। दीपक की कोई व्यवस्था करनी होगी। परन्तु दीपक कहाँ है ? दूर तक कहीं आग या धुएँ का चिह्न नहीं दिखायी दे रहा था। उन्होंने टो-टोकर सारे घर को समझने का प्रयत्न किया। बड़ी भयंकर अवस्था थी। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था कि सचमुच यहाँ कोई बच्ची है भी या नहीं। कई बार वे टकराकर गिरते-गिरते बचे। अन्त में मंजुला की शय्या के पास ही एक और शय्या का सन्धान मिला उन्हें। आशा हुई कि इस पर ही कोई छोटी बच्ची सो रही होगी। हौले-हौले उन्होंने पूरी शय्या की परीक्षा की। शय्या सूनी थी। निराश होकर उन्होंने मन-ही-मन निश्चय किया कि चाहे जितनी दूर भी जाना पड़े, वे आग लाकर कुछ प्रकाश की व्यवस्था करेंगे। जब वे घर के द्वार की ओर बढ़ने लगे तो एकाएक फिर टकराये। यह कोई पालना था। उन्होंने पालने के भीतर टोकर देखा। सचमुच ही एक छोटी-सी बच्ची बेहोश पड़ी थी। उसका ललाट जल रहा था। जान पड़ता था, उसे तीव्र ज्वर है। धीरे-धीरे बच्ची को उन्होंने उठाया और द्वार से निकालकर खुले आसमान के नीचे ले आये। उन्हें लगा कि बालिका के वस्त्रों में एक प्रतोलिका (छोटी-सी पेटी) जैसी कोई चीज़ बँधी हुई है। वह क्या है, यह समझने का समय नहीं था। प्रतोलिका-समेत उस नन्ही बालिका को बाहर लाकर ताराओं के क्षीण प्रकाश में देखा। दो-तीन वर्ष की इस फूल-सी बालिका

को देखकर उनका हृदय दुःख से कराह उठा। हाय विधाता, इस भोली दुधमुँही बालिका की क्या दशा है! वह बेहोश थी—परिम्लान कमल-कलिका के समान मुरझायी हुई।

ऊपर आकाश और नीचे धरती। दूर तक जन-शून्य राजमार्ग अजगर की तरह लेटा हुआ दिखायी दे रहा है, परन्तु आग कहाँ मिले? प्रदीप कहाँ से जले? बच्ची को गोदी में लिये हुए देवरात तेज़ी से आगे बढ़ने लगे। बड़े-बड़े प्रासाद इस प्रकार निस्तब्ध खड़े थे, मानो महामारी से ग्रस्त होकर मूर्च्छित हो गये हों। वे चलते ही गये, पर आग का दर्शन कहीं नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि अपने आश्रम में ही बच्ची को सुलाकर, प्रदीप लेकर फिर इधर आयेंगे। लम्बा रास्ता तय करके वे आश्रम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि वृद्धगोप और उनकी पत्नी देर से उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वृद्धगोप ने अनुयोग के स्वर में कहा, "प्रभो! इतनी देर तक महामारी-ग्रस्त पुरी में न रहा करें।" देवरात ने थके हुए स्वर में कहा, "भद्र, बड़ा दुःख देखकर आया हूँ और साथ में एक रुग्ण शिशु को भी लेकर। यह देखो!" दीपक के प्रकाश में तीनों ने उस सुकुमार बालिका का मुँह देखा। ऐसा लगा, मानो पूनम के चाँद को राहु ने ग्रस लिया हो। "हे भगवान्! इस नन्ही बालिका की रक्षा करो।"

वृद्धगोप की पत्नी का मातृ-स्नेह उमड़ आया। उन्होंने बच्ची को गोद में लेकर उसका सिर सहलाया, फिर वृद्धगोप से बोलीं, "तनिक पानी तो ले आओ।" थोड़ा-सा पानी देने के बाद बच्ची की आँखें खुल गयीं, परन्तु दृष्टि में एक विचित्र प्रकार की अवसन्नता थी। देवरात ने बच्ची की नाड़ी की परीक्षा की और आश्वस्त होकर बोले, "भगवान् का अनुग्रह होगा तो यह बच जायेगी।"

वृद्धगोप-दम्पती पर बच्ची की शुश्रूषा का भार देकर, आग और प्रदीप लेकर वे फिर मंजुला के घर लौट आये। प्रदीप जलाकर जो देखा तो मंजुला का कहीं पता नहीं। कहाँ चली गयी? उन्हें लगा कि वह तड़पती हुई बाहर निकली होगी और फिर सदा के लिए सो गयी। दूर-दूर तक खोजा, पर मंजुला नहीं मिली। सौ-सौ निर्जीव शवों के भीतर उसे खोजना असम्भव ही लगा।

देवरात का हृदय टूट गया। नगर की शोभा, अनुराग की दीपशिखा, कला की प्रतिमा, छन्दों की रानी, तालों की नर्म-संगिनी, शृंगार की रंगस्थली, सम्मोहन की सूत्रधारिणी मंजुला चली गयी। बासी को ताज़ा बनाने की कुशल कलावती सदा के लिए सो गयी। कोई पानी देने भी नहीं आया। हा विधाता! देवरात ने दीर्घ निःश्वास लिया। कहीं कोई दिखायी भी नहीं दिया।

उन्हें सारा संसार कुलाल-चक्र की भाँति घूमता हुआ दिखायी दिया। मंजुला कहाँ चली गयी? क्या वह अपने देवता को पहचान सकी थी? क्या वह महाभाव का अर्थ समझ सकी थी? हाय देवि, देवता ने तुम्हें पहचान लिया, तुम्हारे देवता को पहचानने का दम्भ करनेवाला पीछे छूट गया।

देवरात अभिभूत की भाँति देर तक खोजते रहे। दिन बीत गया, भगवान्

भास्कर का जरठ रथचक्र पश्चिमी पयोनिधि में डूब गया। सन्ध्याकालीन शीतल वायु ने उनका ध्यान भंग किया। उनके अंग-अंग शिथिल हो गये थे। उठने को हुए तो लगा, बासी घाव उभर आया है। अनायास गुनगुना उठे :

दुल्लह जण अणुराउ गरु लज्ज परव्वसु प्राणु।
सहि मणु विसम सिणेह वसु मरणु सरणु णहु आणु ॥

तीन

देवरात ने दूसरे दिन वृद्धगोप-दम्पती को अनेक साधुवाद देकर विदा किया। वृद्धगोप की पत्नी बालिका को अपने साथ ले जाना चाहती थीं, पर ऐसा नहीं हो सका। देवरात शोकावेग में भूल ही गये थे कि बालिका के वस्त्रों में एक छोटी-सी पेटी भी बँधी थी। प्रातःकाल वृद्धगोप ने उन्हें वह पेटी दिखायी। वह काठ की बनी हुई चौकोर-सी छोटी पेटी थी जो लाल चीनांशुक में लपेटकर रखी हुई थी। उसमें एक छोटा-सा भूर्जपत्र भी उलझा हुआ था। उस पर कुछ लिखा हुआ था। देवरात ने उत्सुकतापूर्वक उसे पढ़ा। लिखा था, "कन्या-धन। जिस किसी को यह प्रतोलिका मिले, उसे क्षिप्तेश्वर महादेव की शपथ है। इस प्रतोलिका और इस कन्या को आर्य देवरात के पास पहुँचा दे। इसमें इस कन्या के विवाह के समय दिये जाने योग्य उसकी माता का आशीर्वाद है। क्षिप्तेश्वर महादेव की शपथ, कुलदेवताओं की शपथ, पितरों की शपथ!" देवरात ने पढ़ा तो उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। उन्होंने करुणा-विगलित स्वर में वृद्धगोप-पत्नी को सम्बोधन करते हुए कहा, "क्षमा करें आर्ये, यह बालिका देवरात के पास ही रहेगी। उसकी माता की अन्तिम इच्छा यही है। मेरे ऊपर दया करें। मैं इस शपथ की उपेक्षा नहीं कर सकता।" फिर वृद्धगोप से बोले, "भद्र, यदि अनुचित न मानें तो इस पेटिका को आप ही कहीं सुरक्षित रख दें। इस बालिका के विवाह के अवसर पर ही इसे खोला जायेगा। इसमें मुमूर्षु माता का आशीर्वाद है। इस न्यास को रखने योग्य सुरक्षित स्थान मेरे आश्रम में नहीं है। यथा-अवसर इसे मुझे लौटा दें।" इतना कहकर देवरात मर्माहत-से स्तब्ध रह गये। वृद्धगोप ने उनकी बात मान ली। भरा हुआ हृदय और आहत मन लेकर वृद्धगोप-दम्पती अपने घर चले गये।

कुछ दिनों बाद नगर की अवस्था ठीक हो गयी। महामारी के समाप्त होने के बाद लोग अपने घरों में लौट आये और फिर हलद्वीप जैसे-का-तैसा हो गया।

परन्तु इस महामारी ने देवरात के ऊपर एक नन्ही-सी बालिका को पालने-पोसने का भार दे दिया। नियति का कुछ ऐसा ही विधान था कि जिस संसार को छोड़कर देवरात वैरागी बने थे, वह उनके ऊपर पूरी शक्ति के साथ आ जमा। देवरात वैरागी से गृहस्थ हो गये। उनकी सारी शक्ति मृणालमंजरी की देखभाल में लगने लगी। स्वच्छन्द जीवन परवशता में परिवर्तित हो गया। स्नेह का बन्धन भी कैसी विचित्र वस्तु है! वह बाँधता है, परन्तु अपने ऊपर पूरी आसक्ति पैदा करके। देवरात के लिए इस अनायास-लब्ध पितृत्व का बन्धन जितना कठोर हुआ, उतना ही मोहक भी। बालिका भी कैसी थी, शोभा और कान्ति की मूर्ति! जब हँसती थी तो ऐसा जान पड़ता था कि निखिल चराचर में जीवन का समुद्र लहरा उठा है। बहुत दिनों तक देवरात सब-कुछ भूलकर उस बालिका की सेवा में ही दिन बिताते रहे। श्यामरूप और आर्यक को भी इस बालिका के रूप में एक निधि-सी मिल गयी। विशेष रूप से आर्यक और मृणालमंजरी दिन-रात खेलने में लगे रहते। श्यामरूप कुछ बड़ा था और अपने बड़प्पन का पूरा अधिकार भी मानता था। वह दोनों पर शासन करता था, दोनों के झगड़े का फैसला करता था और आवश्यकता पड़ने पर दण्ड देने की भी व्यवस्था करता था। बालिका कुछ बड़ी हुई तो उसने भी पढ़ने में साथ दिया। इन तीन शिष्यों को पढ़ाकर देवरात मानो धन्य होते। श्यामरूप और आर्यक जब अखाड़े में लड़ने जाते तो मृणालमंजरी एकटक उन्हें देखती रहती। कभी-कभी अपने पिता से आग्रह करती कि उसे भी व्यायामशाला में जाने की अनुमति दी जाये। परन्तु देवरात हँसकर रह जाते, कहते, "बेटा, यह लड़ना और व्यायाम करना पुरुषों का काम है। तुझे मैं इसके बदले में चित्र-विद्या सिखाऊँगा और नृत्य-कला की शिक्षा दूँगा।" धीरे-धीरे मृणालमंजरी को अनुभव होने लगा कि वह श्यामरूप-आर्यक से कुछ भिन्न है। उसके आचरण और आदर्श, पुरुषों के आचरण और आदर्श से भिन्न हैं। देवरात ने उसे नारी-सुलभ कलाओं का ज्ञान करवाया, स्त्री-धर्म की शिक्षा दी, व्रत और उपवास में कुशल बनाया, वीणा और वंशी बजाना सिखाया और अन्य सुकुमार कलाओं से परिचय करवाया। लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि देवरात सुकुमार नृत्य में भी कुशल हैं और इस विषय में भी वह कुछ सिखा सकते हैं।

श्यामरूप जब अट्ठारह वर्ष का हुआ तो देवरात ने वृद्धगोप को बुलाकर कहा कि श्यामरूप धार्मिक ब्राह्मण की अपेक्षा मल्ल ही अधिक बनता जा रहा है। उन्होंने पहली बार बताया कि वे स्वयं क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न होने के कारण वैदिक कर्मकाण्ड से अपरिचित हैं। श्यामरूप को वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा के लिए क्षिप्तेश्वर की पाठशाला में भेज दिया जाय। वृद्धगोप ने उनकी सलाह मान ली और उसे क्षिप्तेश्वर महादेव के मन्दिर से सम्बद्ध वैदिक पाठशाला में भेज दिया। यह पाठशाला राजकीय सहायता से चलती थी। वहाँ वैदिक कर्मकाण्ड के निष्णात विद्वान् अध्यापन-कार्य करते थे। हलद्वीप में उस पाठशाला की बड़ी ख्याति थी। जनता में वह 'लहुरा काशी' नाम से प्रसिद्ध थी। लोग कहा करते थे कि जो बातें

काशी में सीखी जाती हैं, वे सब इस पाठशाला में सीखी जा सकती हैं। परन्तु श्यामरूप का मन इस पाठशाला में नहीं लगा। उसे वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा मल्ल-विद्या से अधिक प्रेम था। वह बार-बार भागकर देवरात के आश्रम में आ जाता था, और वृद्धगोप उसे हर बार पकड़कर क्षिप्तेश्वर की पाठशाला में दे आते। एक दिन सुना गया कि श्यामरूप न जाने कहाँ लापता हो गया है। वृद्धगोप बहुत दिनों तक रोते रहे। ज्योतिषियों और तान्त्रिकों के पास उसका पता जानने के लिए दौड़-धूप करते रहे, परन्तु श्यामरूप का पता नहीं चला। आर्यक की अवस्था उस समय कोई चौदह साल की रही होगी। बड़े भाई को खोजने के लिए उसका चित्त व्याकुल हो उठा। एक दिन उसने मृणालमंजरी से कहा कि मैं अपने बड़े भाई को खोजने जाऊँगा। मृणालमंजरी व्याकुल हो गयी। उसने कहा, "नहीं, तुम जाओगे तो मैं किसके साथ खेलूँगी?" परन्तु आर्यक दृढ़ रहा और गुपचुप भागने की तैयारी करने लगा। मृणालमंजरी ने उसे समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में उसने अपना ब्रह्मास्त्र चलाया, बोली, "मैं अपने पिताजी से कह दूँगी कि तुम भागना चाहते हो।" आर्यक घबराया। मिन्नत करता हुआ बोला, "नहीं मैना, गुरुजी से यह बात न कह। मैं अपने बड़े भाई के बिना जी नहीं सकता। तेरी सब मानूँगा, केवल इतनी-सी बात मुझे अपने मन की करने दे!" मैना अर्थात् मृणालमंजरी पसीज गयी, बोली, "लौटकर आओगे न?" "अवश्य आऊँगा मैना, मैं भाई का पता लगाकर यहाँ फिर लौट आऊँगा।" मैना ने वादा किया कि वह अपने पिता से उसके भागने की बात नहीं कहेगी और एक दिन आर्यक भी चुपचाप खिसक गया। मृणाल उदास हो गयी।

कुछ दिन बाद मृणालमंजरी को उसके पिता ने बताया कि आर्यक का पता चल गया है और वृद्धगोप उसे घर ले आये हैं। वे अब बहुत सावधान हो गये हैं। आर्यक पर कड़ी निगाह रखते हैं। आर्यक को वे अब आश्रम में नहीं आने देंगे। मृणालमंजरी (मैना) ने सुना तो उसकी उदासी और बढ़ गयी। वह बार-बार पिता से आग्रह करती कि आर्यक को बुला लें, पर देवरात चुप हो जाते। मृणालमंजरी कुछ समझ नहीं सकी। उसके मन में बेचैनी रहने लगी। सोचती, पिताजी आर्यक को क्यों नहीं बुलाते? उसके न रहने से मेरा मन कैसे लगेगा? वह क्या अब अकेली ही रहेगी? परन्तु देवरात उसे कुछ भी नहीं बताते। जब वह पूछती तो कह देते कि आर्यक अपने पिता की आज्ञा के बिना यहाँ नहीं आ सकेगा। उसे और-और बातों में भुलाने का भी प्रयत्न करते। मृणालमंजरी उदास रहने लगी। फिर भी, मन-ही-मन वह आशा लगाये रही कि आर्यक फिर लौट आयेगा। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। उस समय तक मृणालमंजरी के बालक-मन में आर्यक खेल के साथी के रूप में ही विद्यमान था। परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गये और आर्यक के लौटने की आशा समाप्त होती गयी, वैसे-वैसे उसका चित्त अधिकाधिक सूना होता गया। शुरू-शुरू में तो वह अपने पिता से बराबर पूछती रही कि आर्यक कहाँ है? और

क्या कर रहा है ? परन्तु समय के लम्बे व्यवधान के बाद एक ऐसी अवस्था भी आयी जब पिता से पूछने में उसे संकोच अनुभव होने लगा। मृणालमंजरी को पहली बार अनुभव हुआ कि आर्यक के बारे में पूछना ठीक नहीं। क्यों ऐसा हुआ, यह प्रश्न उसके मन में उठा ही नहीं। ऐसा लगता था जैसे कोई हृदय के अज्ञात गह्वर में बैठा कह रहा है कि सयानी लड़कियों का किसी लड़के के बारे में इतना पूछना उचित नहीं है। कालिदास ने जिसे 'अशिक्षित पटुत्व' कहा है, यह बहुत-कुछ उसी प्रकार का भाव था। देवरात ने मृणालमंजरी को बहुत-से काव्य-नाटकों का अभ्यास कराया था और उनमें ऐसे प्रसंग भी आते थे जिनमें युवावस्था में एक विशेष प्रकार के चित्तगत विस्फार या फैलाव की चर्चा हुआ करती थी। परन्तु मृणालमंजरी ने कभी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया था कि चित्त का फैलाव होता क्या है। उसे पहली बार चित्तगत संकोच का अनुभव हुआ। यह भी क्या युवावस्था का लक्षण था ? मृणालमंजरी के मन में यह प्रश्न भी नहीं उठा। जो हुआ वह सिर्फ़ यही था कि उसके मन ने पहली बार अनुभव किया कि आर्यक उसके लिए बचपन के साथी से कुछ भिन्न प्रकार का साथी भी हो सकता है। बचपन के साथी के बारे में किसी से पूछने में संकोच नहीं होता। लेकिन उसकी समझ में यह बात भी नहीं आ रही थी कि बचपन के साथी के अतिरिक्त आर्यक और है क्या ? उदास तो वह पहले भी रहती थी, लेकिन नये सिरे से जो उदासी शुरू हुई, वह निश्चित रूप से अन्य श्रेणी की थी। पहली उदासी किसी के सामने छिपाने की चीज़ नहीं थी, जबकि यह नयी उदासी अपने-आपको छिपाने की बुद्धि के साथ आयी। मृणालमंजरी स्वयं ही अपने को समझ नहीं पा रही थी। जितना ही वह आर्यक के बारे में उत्सुकता प्रकट न करने और उसके लिए चित्त में उत्पन्न व्याकुलता को छिपाने का प्रयास करने लगी, उतना ही उसका अंग-प्रत्यंग मानो चिल्लाकर कहने लगा कि वह उदास है, वह व्याकुल है। उसका हृदय उस कली के समान तड़पने लगा जो रंग-रूप-गन्ध के रूप में फूट पड़ने को विवश है, लेकिन इस विवशता को छिपाने का भरपूर प्रयत्न करती है।

देवरात के आश्रम में केवल दो ही व्यक्ति रहते थे—एक स्वयं वे और दूसरी उनकी पुत्री। दिन-भर तरह-तरह के लोग आते रहते थे और अपनी कठिनाइयों का उपचार उनसे पूछते रहते थे। मृणालमंजरी भी यथाशक्ति अपने पिता की सहायता करती रहती थी और समय बड़ी व्यस्तता में कट जाता था। उसके मन में किसी प्रकार का व्यक्तिगत प्रश्न उठता ही नहीं था। ऐसा लगता था कि उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। अपने परोपकारी पिता का वह अंश-मात्र है—ऐसा अंश, जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, जिसकी नाड़ी में पूर्ण की ही धड़कन प्रतिध्वनित होती है। परन्तु इन सारी व्यस्तताओं की ठोस नीरन्ध्र दीवार को भेदकर न जाने कब उसके शरीर में युवावस्था बिना बुलाये ही आ पहुँची। जिस प्रकार तूलिका के सम्पर्क से चित्र उन्मीलित हो उठता है, और उसका उच्चावच भाव उभर आता है और जिस प्रकार सूर्य की किरणों के सम्पर्क से कमल की कली

रूप, वर्ण, प्रभा और गन्ध से उद्भिन्न हो उठती है, उसी प्रकार नवीन तारुण्य के सम्पर्क से अनायास ही उसका शरीर चतुरस्र उद्भिन्न हो उठा और शरीर का यह उद्भेद अन्तस्तल तक भेद गया। जिस प्रकार उसके शरीर में उच्चावच भाव का उन्मीलन हुआ, उसी प्रकार उसके चित्त में भी संकोच और विस्फार तत्त्वों का उद्भेद हुआ। कहना तो यह चाहिए कि उसके शरीर का उन्मीलन तूलिका द्वारा स्पष्ट चित्र की भाँति और मन का उद्भेद सूर्य-किरणों द्वारा उन्मीलित कमल-पुष्प की भाँति हुआ।

इस बीच हलद्वीप में कई नयी घटनाएँ घटीं। राजा का स्वर्गवास हुआ। सारे नगर में शोक छा गया। फिर युवराज का राज्याभिषेक हुआ। नगर में उत्सवों का ताँता बँध गया। देवरात पुराने राजा के शोक-कृत्यों में शामिल होते रहे, पर नये राजा के अभिषेक-समारोह में शामिल नहीं हो सके। नगर की कष्ट-पीड़ित बहुएँ बराबर आश्रम में आया करतीं और नित्य होनेवाले समारोहों का समाचार मृणालमंजरी को भी देती रहतीं। इन्हीं दिनों किसी मुखरा पौर-वधू ने मृणालमंजरी को बताया कि नगर के लोग कहा करते हैं कि मंजुला के नृत्यगान जिन्होंने देखे हैं, वे अब इन नृत्य-गानों का क्या आदर करेंगे। मंजुला के साथ-ही-साथ नगर की शोभा और श्री चली गयी। उसने ही प्रथम बार मृणाल को बताया कि वह मंजुला की ही बेटी है। उसने गाल पर हाथ रखकर बड़ी सहानुभूति का भाव दिखाते हुए कहा कि उसकी माता जीवित होती तो आज क्या वह यों ही दीन-मलीन होती। उसने और भी बहुत-सी बातें कहीं, पर मृणाल सबका अर्थ नहीं समझ सकी। उसे सुनकर कैसा-कैसा लगा। उसने पिता से इस बारे में कुछ पूछना चाहा, पर इस विषय में भी उसे संकोच का अनुभव हुआ। वह पौर-वधू फिर नहीं आयी, पर उसने मृणाल के मन में एक विचित्र प्रकार का अवसाद उत्पन्न कर दिया। मृणाल अन्य स्त्रियों से नगर के नृत्य-गान-समारोहों का समाचार पाती रही और यह भी समझने लगी कि गणिकाओं के सम्बन्ध में जनता की धारणा बहुत हीन कोटि की है। उसके मन में रह-रहकर अपने जन्म के विषय में खेद और जुगुप्सा के भाव उठते रहे। पर वह पिता से अपनी मनःस्थिति छिपाये रही। कभी-कभी जब वह उद्विग्न होती तो आर्यक उसके मन में आ जाता। वह कातर-भाव से उसकी मानस-मूर्त्ति से अनुरोध करती कि वह उसे भयंकर मनोवेदना से बचा ले।

देवरात अब चिन्तित दिखायी देने लगे। बेटी सयानी हो गयी, उसे सुयोग्य पात्र के हाथ सौंपकर ही वे निश्चिन्त हो सकते थे। पर सुयोग्य पात्र कहाँ मिले? उनकी दृष्टि आर्यक पर आकर रुक जाती थी। वही इस कन्या के योग्य वर है। पर वृद्धगोप क्या यह सम्बन्ध स्वीकार करेंगे? स्वयं आर्यक क्या इस सम्बन्ध से प्रसन्न होगा? उन्होंने मन-ही-मन इस सम्बन्ध की कल्पना कर ली। कन्या का मन क्या चाहता है, यह जानना भी ज़रूरी था। चतुर देवरात ने ध्यान देकर मृणालमंजरी के मन को परखना चाहा। आर्यक का किसी प्रसंग में नाम आ जाने पर वह कुछ उपेक्षा-भाव दिखाती है, पर प्रसंग बदल देने पर चाहती है कि किसी प्रकार

फिर छिड़ जाये। उसमें आर्यक के प्रति अभिलाष-भाव है, यह बात उनसे छिपी नहीं रही। एक दिन उन्होंने आर्यक के मन का भाव जानने की इच्छा से वृद्धगोप के घर जाने का निश्चय किया। मृणाल को भी साथ चलने को कहा, पर उसने केवल सिर हिलाकर 'ना' कह दिया। उस समय उसकी आँखें झुक गयी थीं। देवरात यदि अधिक आग्रह करते तो वह कदाचित् चलने को तैयार भी हो जाती, पर देवरात ने वैसा कुछ भी नहीं किया। वे अकेले ही च्यवनभूमि की ओर बढ़ गये। चलते समय उन्होंने मुड़कर देखा, मृणालमंजरी उत्सुक नयनों से उनका रास्ता देख रही है। जब तक वे आँखों से ओझल नहीं हो गये, वह उसी प्रकार एकटक देखती रही। देवरात मन-ही-मन पुलकित हुए।

च्यवनभूमि के गोपाटक गाँव में वृद्धगोप का घर था। हलद्वीप से वह बहुत दूर नहीं था। देवरात जब उस गाँव में पहुँचे तो पहले-पहल आर्यक ही उन्हें मिल गया। वह कहीं बाहर से आ रहा था। देवरात ने इसे शुभ शकुन माना। आर्यक को देखकर उनकी आँखें जुड़ा गयीं। तीन वर्ष के भीतर आर्यक अब सिंह किशोर की भाँति पराक्रमी दीख रहा था। उसकी चौड़ी छाती, विशाल बाहु और कसा हुआ शरीर बरबस आँखों को आकृष्ट करते थे। उसकी गति में अन्तर्मदावस्थ गजराज की भाँति मस्ती थी और आँखों में तरुण शार्दूल के समान अकुतोभय भाव लहरा रहे थे। उसके अंग-अंग में प्रच्छन्न तेज की दीप्ति दमक रही थी। उसने बड़ी भक्ति के साथ देवरात के चरणों को स्पर्श किया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। देवरात को एक अद्भुत वात्सल्य भाव का अनुभव हुआ। ऐसा जान पड़ता था जैसे पूर्ण चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्त मणि पसीज उठी हो। उसके स्पर्श से उन्हें एक विचित्र प्रकार की शीतलता का अनुभव हुआ, मानो चित्तभूमि में किसलयवती चन्दनलता ही उग आयी हो, प्रवाहवती कर्पूर-धारा ही उमड़ उठी हो और चन्द्रमा की स्निग्ध सुधा ही उपप्लित हो गयी हो। वृद्धगोप ने बहुत दिनों के बाद देवरात का दर्शन करके अपने-आपको कृतार्थ अनुभव किया। बोले, "आर्य, आपके आशीर्वाद से आपका यह शिष्य सब प्रकार से आपके शिक्षण और उपदेश के उपयुक्त सिद्ध हुआ है। वृद्धावस्था में मेरे मन में एक ही कचोट रह गयी है कि मेरा श्यामरूप जाने कहाँ चला गया है। आज वह भी होता तो मैं निश्चिन्त होकर संसार-त्याग कर सकता। परन्तु मेरे भाग्य में यह सुख नहीं बदा है। आर्यक के मन में भी मेरी तरह श्यामरूप के बिछोह का दुःख है। परन्तु परमात्मा की इच्छा कुछ और ही प्रकार की है। मेरा मन कहता है कि मेरा श्यामरूप अवश्य लौटकर आयेगा, परन्तु कदाचित् मैं उसे नहीं देख सकूँगा।" वृद्ध की आँखों में आँसू भर आये। देवरात को भी कष्ट हुआ। उन्होंने वृद्धगोप को आश्वस्त करते हुए कहा, "चिन्ता न करो तात, श्यामरूप अवश्य आयेगा। मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती। भगवान् पर विश्वास रखो। वे सब मंगल ही करेंगे।" देवरात देर तक आर्यक के साथ बातचीत करते रहे और वृद्धगोप को भी आश्वस्त करते रहे। जब वृद्धगोप थोड़ी देर के लिए किसी काम से अन्यत्र चले गये तो अवसर पाकर आर्यक

ने धीरे से पूछा, "मृणालमंजरी कैसी है गुरुदेव ?" देवरात ने इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिया कि आर्यक ने पिता के सामने यह प्रश्न नहीं पूछा। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया कि प्रश्न करते समय आर्यक की आँखें नीचे झुक गयी थीं। उन्होंने प्यार से कहा, "बहुत अच्छी है, बेटा! तुम तो कभी आये ही नहीं। वह तो तुम्हें हमेशा याद करती रहती है।" आर्यक के गम्भीर मुखमण्डल पर उद्विग्नता की हल्की लकीरें उभर आयीं। उसकी आँखें और भी झुक गयीं। अस्फुट स्वर में बोला, "आऊँगा।" परन्तु देवरात के पारखी चित्त को इसका अर्थ समझने में विशेष अड़चन नहीं हुई। उसका भाव था कि आर्यक के जाने में कहीं-न-कहीं कुछ बाधा है। उस दिन देवरात प्रसन्न-मन वहाँ से लौटे। उन्हें लगा कि मृणालमंजरी के योग्य वर खोजने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होगी।

मृणालमंजरी ने पिता से आर्यक के बारे में पूछा अवश्य, परन्तु उसकी भाषा थोड़ी जड़िमाग्रस्त थी। वह पूछना कम और सुनना ज़्यादा चाहती थी। देवरात ने उल्लासपूर्वक आर्यक के रूप, गुण, विनय और शील की बार-बार प्रशंसा की। मृणालमंजरी चुपचाप सुनती रही। परन्तु उसे अनुभव हो रहा था कि सुनने से उसकी तृप्ति नहीं हो रही है। यह प्रसंग कुछ और चलता रहे, उसमें कोई और नयी शाखा-प्रशाखा निकल आये, यह उसकी हार्दिक मनोकामना जान पड़ती थी। देवरात भी देर तक आर्यक का ही बखान करते रहे।

परन्तु देवरात ने आर्यक और मृणालमंजरी के विवाह को जितना आसान समझा था, उतना वह सिद्ध नहीं हुआ। दूसरी बार वे फिर गोपाटक गये और वृद्ध-गोप से स्पष्ट रूप से इस विवाह का प्रस्ताव किया, तो वे एकदम चौंक पड़े। बोले, "ऐसा कैसे हो सकता है, आर्य? मृणालमंजरी बहुत अच्छी लड़की है। मैं उसे बहुत प्यार करता हूँ। परन्तु है तो वह गणिका-पुत्री ही! मैं अगर मान भी लूँ तो मेरे परिवार के लोग कैसे मानेंगे?" देवरात इस उत्तर से बहुत निराश हुए। उन्हें इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा कि वृद्धगोप का कहना ठीक है। लोकाचार वृद्धगोप के पक्ष में है। परन्तु उनका हृदय कहता था कि विधाता ने यह जोड़ी समझ-बूझकर बनायी है। लोकाचार इसमें बाधक भी हो तो भी यह करणीय है। परन्तु वृद्धगोप को सन्तुष्ट करने योग्य कोई तर्क या युक्ति उनके पास नहीं थी। वे उदास हो गये। उनको विषादयुक्त देखकर वृद्धगोप के मन में उनके प्रति सहानुभूति जगी, परन्तु फिर भी लोकाचार से उनका चित्त ऐसा बँधा हुआ था कि वे देवरात को आश्वस्त करने योग्य कोई बात नहीं कह सके। उदास होकर भीगी वाणी से देवरात ने उपसंहार किया। बोले, "थोड़ा और सोचकर देखिए!" वृद्ध-गोप का मन सिकुड़ गया। क्या सोचना है इसमें!

देवरात लौटकर आये तो मृणालमंजरी उनके निकट देर तक मँडराती रही। वह कुछ सुनना चाहती थी। देवरात इधर-उधर की बातें करते रहे, पर एक बार भी उन्होंने आर्यक का नाम नहीं लिया। मृणाल को लगा कि पिता कुछ उदास और उद्विग्न हैं। क्या कष्ट है उन्हें! बालिका के अबोध चित्त में नवीन चेतना

अंकुरित हुई। उसी के कारण तो पिताजी चिन्तित नहीं हैं ? किस उद्देश्य से वे आर्यक के गाँव गये थे, क्या परिणाम हुआ ? उसके मन में अज्ञात आशंका का उदय हुआ। परन्तु पिता एकदम मौन। वह मन मसोसकर रह गयी।

देवरात के आश्रम में एक छोटी-सी कुटिया थी, जिसमें एकमात्र देवरात ही जा सकते थे। वे उसे उपासना-गृह कहा करते थे। स्नान करने के बाद वे एक बार उसमें अवश्य जाया करते थे। मृणाल भी उस उपासना-गृह में नहीं जा सकती थी। उस दिन देर तक वे उपासना-गृह में बैठे रहे। निकले तो उनकी आँखें गीली थीं। मृणाल का हृदय फटने को आया। पिताजी क्यों इतने उदास हैं ?

देवरात ने बेटी के मुरझाये मुख को देखा तो बड़े व्यथित हुए। उन्हें लगा कि सयानी लड़की के सामने उदासी का भाव दिखाकर उन्होने ग़लती की है। उन्होंने हँसने का प्रयत्न किया। मृणाल को एक ओर ले जाकर उन्होंने प्यार से उसके माथे पर हाथ फेरा। बोले, "तू उदास क्यों हो गयी है बेटी !"

मृणाल का हृदय उमड़ गया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। बोली कुछ नहीं। देवरात समझ गये कि लड़की ने उनके हृदय के विषाद का अनुमान कर लिया है। ये आँसू अभिमान के हैं। पिता अपना दुःख पुत्री को क्यों नहीं बताते ? उन्होंने प्यार से उसे गोदी में खींच लिया। "रोती है पगली, तेरे कष्ट का कारण क्या है !" वे देर तक दुलार करते रहे। मृणाल का अनुमान और भी पुष्ट हुआ। वही पिता की चिन्ता का कारण है। देवरात के मौन ने उसे और भी उद्विग्न किया।

चार

हलद्वीप के राजा यज्ञसेन भारशिव नागवंश के थे। कान्तिपुर के राजाधिराज वीरसेन के सेनापति प्रवरसेन को जब काशी में नवम अश्वमेध-यज्ञ के आयोजन का भार दिया गया, तो अपने पिछले अनुभवों के आधार पर उन्होंने निश्चय किया कि साकेत से पाटलिपुत्र तक कुषाण नरपतियों का जो भी प्रभाव अवशिष्ट रह गया है उसे समाप्त कर दिया जाये। उनके पुत्र विजयसेन को अश्व-रक्षा का भार दिया गया। उसी समय से हलद्वीप में भारशिवों का आधिपत्य हुआ। ये लोग साधारण जनता में भरशिव या भर कहे जाते थे। यज्ञसेन विजयसेन के पुत्र थे और कान्तिपुरी की ओर से हलद्वीप का शासन करते थे। यज्ञसेन ने समझ लिया था कि आभीरों की सहायता के बिना वे इस प्रदेश में अधिक दिन तक नहीं टिक सकेंगे। यद्यपि वे स्वयं शिव के उपासक थे और आभीरगण वासुदेव कृष्ण के उपासक थे, फिर भी

उन्होंने किसी प्रकार संकीर्णता नहीं दिखायी। भृगु-आश्रम का विशाल विष्णु-मन्दिर उन्होंने ही बनवाया था। उस मन्दिर में चतुर्व्यूह विष्णुमूर्त्ति की प्रतिष्ठा उन्होंने धूमधाम से करायी थी। भरों और आभीरों की मैत्री सुदृढ़ करने के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहते थे। पर उनके पुत्र रुद्रसेन ने इस मैत्री में दरार पैदा कर दी। वह लम्पट और दुर्वृत्त राजा सिद्ध हुआ। उसके औद्धत्य से हलद्वीप की प्रजा त्रस्त हो उठी। बहू-बेटियों का शील भी दुर्वृत्त राजा की जुगुप्सित लालसा की बलिवेदी पर घसीटा जाने लगा। देवरात ने नये राजा को नीति-मार्ग पर ले आने के अनेक प्रयत्न किये, पर राजा उससे और भी क्रुद्ध हो उठा। उसे देवरात की हर सलाह में स्पर्द्धा ही दिखी। प्रजा में असन्तोष बढ़ता गया। भर सैनिकों का औद्धत्य भी बढ़ता गया। बात-बात में निरीह प्रजा को कष्ट पहुँचाया जाता, खलिहान जला दिये जाते, घर गिरा दिये जाते, खड़ी फसलें काट ली जातीं। नये-नये करों से प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी। देवरात के पास सताये हुए निरपराध लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। पहले तो उन्होंने राजा को समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, पर उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली।

मृणाल अब सयानी हो गयी थी। नागरिकों की पीड़ा को वह समझने लगी थी। पिता की विवशता से वह दुःखी होती, पर वह समझ नहीं पा रही थी कि किस प्रकार वह पिता का भार हल्का कर सकती है। नगर की प्रौढ़ स्त्रियाँ उसे इस प्रकार की रोमांचकर कहानियाँ सुना जातीं कि वह व्याकुल हो उठती। उसके मन में बार-बार प्रश्न उठता कि स्त्रियाँ क्या सचमुच अबला हैं। क्या वे इस प्रकार के अत्याचारों का सामना नहीं कर सकतीं? कैसे कर सकती हैं? प्रौढ़ा महिलाएँ उसे यही सिखातीं कि वह घर से बाहर न निकले। मृणाल इस प्रकार की सलाह से और भी व्याकुल हो उठती। क्या विधाता ने स्त्रियों को केवल भार-रूप में बनाया है? वे पर-रक्षा तो क्या आत्म-रक्षा में भी समर्थ न रहें, यही क्या विधाता की इच्छा थी? वह केवल सोचती रहती, उसे कुछ रास्ता नहीं दिखायी देता। पिता की व्याकुलता को कम करने में वह अपने को असमर्थ पाती। उसे अब अपनी विवशता असह्य लगने लगी। हाय, वह अपने देवता-तुल्य पिता की चिन्ता को क्या कुछ भी हल्का नहीं कर सकती! अत्याचार की कहानियाँ सुन-सुनकर वह विकल हो उठी थी।

राजा को अन्तिम बार समझाने-बुझाने के उद्देश्य से उस दिन जब देवरात चलने लगे, तो मृणाल ने उदास दृष्टि से उनकी ओर देखा। उस दृष्टि में एक विचित्र प्रकार के विवशताबोध का भाव था, मानो कह रही हो, 'मैं क्या किसी काम नहीं आ सकती?' देवरात को वह भाव बड़ा करुण जान पड़ा। पास आकर उन्होंने अपनी बेटी के सिर पर हाथ फेरा। प्यार से कहा, "एक और प्रयत्न कर लेता हूँ। जानता हूँ, यह दुष्ट नाग समझाने-बुझाने से वश में नहीं आयेगा। पर एक और प्रयत्न कर लेने में कोई हानि नहीं है। अन्त में तो कालिय-दमन ही रास्ता रह जायेगा।"

मृणाल को लगा कि पिता उसके मनोभाव बिल्कुल नहीं समझ रहे हैं। उसके हृदय में जो द्वन्द्व चल रहा है, उसका आभास भी उन्होंने नहीं पाया है। व्यथित स्वर में उसने कहा, "पिताजी, मैं क्या इस समय आपके किसी काम नहीं आ सकती ? दिन-दहाड़े प्रजा की सम्पत्ति लूटी जा रही है, बहू-बेटियों का शील नष्ट किया जा रहा है। आपकी यह अभागिन कन्या क्या इस समय कुछ भी नहीं कर सकती ? आपका मुरझाया मुख मुझसे नहीं देखा जाता। मुझे भी कुछ करने की आज्ञा दें।"

देवरात ने चकित होकर कन्या की ओर देखा। उन्होंने कभी भी यह नहीं सोचा था कि उनकी नन्ही-सी मृणाल में इतना तेज है। वे भरसक यही प्रयत्न करते थे कि उसे इन अनाचारों की बात न सुनायें। वे हत्बुद्धि-से होकर सोचने लगे, ऐसी लड़कियाँ इन बातों में क्या सहायता कर सकती हैं ? उन्होंने प्यार से मृणाल का सिर सहलाया, "मेरी प्यारी बेटी, इस अनाचार को दूर करने का ही तो उपाय कर रहा हूँ। बेटियों की शील-रक्षा का भार पुरुषों पर है। तुझे मैं कौन-सा काम दे सकता हूँ ? तू तो जो सम्भव है, सब कर ही रही है। दीन-दुखियों की सेवा करना, उनके भीतर आत्मबल संचारित करना, यही तो तेरा काम है। तू कर तो रही है। इससे अधिक जो कुछ करना होगा, वह हलद्वीप के नौजवान करेंगे। तुझे मैं वैसा काम कैसे दे सकता हूँ ?"

मृणाल उदास हो गयी। उसे पिता की विवशता से क्षोभ हुआ। स्त्रियों की शील-रक्षा का भार पुरुषों पर है ! पिता ने अन्तिम बात कह दी है। पर राजा के गुण्डे क्या पुरुष नहीं। उनके ऊपर तो शील नष्ट करने का भार आ पड़ा है। मृणाल का मन विद्रोह कर उठा। बोली नहीं, पर उसके नासा-पुट बार-बार फड़कने लगे, भृकुटियों में खिंचे हुए धनुदण्ड के समान तनाव आ गया। पिता ने उसके भावों को समझने का प्रयास किया। उन्हें कुछ नया अनुभव हुआ। कुछ सोचकर बोले, "सुना है बेटी, कि कान्तिपुरी के निकट विन्ध्याटवी में कोई सिद्ध पुरुष आये हैं। उन्हें देवी ने स्वप्न में आदेश दिया है कि 'मेरे सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी-रूप की पूजा का प्रचार करो। जो पुरुष शूर हैं, धर्म के अनुकूल हैं, पापी से डरना नहीं जानते, अन्यायी का रक्त-पान करते हैं, वे सिंह हैं। मैं उन्हीं को वाहन बनाकर धर्म-स्थापना करती हूँ, परन्तु जो तामसिक हैं, अविवेकी हैं, धर्म-द्वेषी हैं, निरीहों को भय दिखाते हैं, दूसरों का शस्य-क्षेत्र नष्ट करते हैं, मदमस्त होकर चलते हैं, वे महिष हैं। मैं उनका संहार करके धर्म की स्थापना करती हूँ।' सुना है कि इस स्वप्न के बाद उन्होंने इस मूर्त्ति की उपासना चलायी है और महिषमर्दिनी की स्तुति के मनोरम काव्य लिखे हैं।"

मृणाल को रोमांच हो आया। महिषमर्दिनी दुर्गा ! उल्लसित होकर बोली, "पिताजी, मुझे महिषमर्दिनी की उपासिका बनने की अनुमति दें। मैं इन घृणित पापाचारियों को ध्वस्त करने की दीक्षा लेना चाहती हूँ। मुझसे यह सब नहीं सहा जाता। इन घिनौने पशुओं को अधिक छूट मिली तो ये धरती को धर्महीन कर

देंगे !"

देवरात अवाक् होकर बेटी का मुँह देखने लगे।

थोड़ी देर तक वे मन्त्रमुग्ध की भाँति मृणाल के तेजोमण्डित अदनार मुख की ओर देखते रहे। फिर बोले, "नहीं बेटी, महिषमर्दिनी की उपासिका नहीं, तू सिंहवाहिनी की उपासिका बन। जो बात मेरी समझ में नहीं आ रही है उसे करने की सलाह मैं नहीं दे सकता। मुझे सिंहवाहिनी की उपासना तेरे-जैसी लड़कियों के लिए उचित जान पड़ती है। महिषमर्दिनी केवल भावलोक की साधना है। वह कविता में फबती है, व्यवहार में नहीं।"

मृणाल को पहेली-जैसा लगा। वह उत्सुकता के साथ पिता की ओर देखती रही, कुछ अधिक स्पष्ट समझने की आशा से, परन्तु पिता विचारों की दुनिया में खो गये, अपनी बात के सर्वांग सत्य होने के विश्वास से। मृणाल ने उनका ध्यान भंग किया, "नहीं समझ में आया पिताजी! जो बात कविता में फबती है, वह व्यवहार में क्यों नहीं फबेगी ?"

देवरात शान्त वाणी में बोले, "कविता, भगवती महामाया की इच्छा-शक्ति है, व्यवहार-जगत् उनकी क्रिया-शक्ति का विलास है। इच्छा-शक्ति कल्प-लोक का निर्माण कर सकती है, क्रिया-शक्ति केवल सृष्ट पदार्थों तक सीमित है। मुझे ऐसा लगता है कि उपपन्न कवि चाहे तो कविता के कल्प-लोक में फूल-सी सुकुमार बालिका से वज्र-कठोर महिष का निर्दलन करवा सकता है, पर व्यवहार-जगत् में यह सम्भव नहीं दिखता।"

मृणाल मुरझा गयी। बोली, "तो कविता निरर्थक हुई पिताजी ?"

देवरात ने हँसते हुए कहा, "नहीं, अर्थभार से हीन, सत्त्वार्थमात्र! मगर यह कविता पर विचार करने का समय नहीं है, बेटी! मेरी बात को समझने का प्रयत्न कर। मैं जब तक लौटकर आता हूँ तब तक तू इस बात पर विचार कर कि तुझे सिंहवाहिनी की उपासिका बनना है। तू सिंहों को कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा देगी। देख बेटी, भगवती महामाया नारी के रूप में केवल प्रेरणा-शक्ति है, पुरुष के रूप में प्रेरणावाहिनी शक्ति।" देवरात ने कन्या को नयी पहेली में उलझाकर राजभवन की ओर प्रस्थान किया। मृणालमंजरी पिता के वाक्यों का अर्थ समझने का प्रयत्न करती रही। नारी भगवती महामाया की प्रेरणा-शक्ति है, पुरुष उनकी प्रेरणा को वहन करनेवाली शक्ति है। उसे सिंहवाहिनी की उपासिका बनना है, महिषमर्दिनी की उपासना केवल कविता में फबती है। कविता महामाया की इच्छा-शक्ति का विलास है, अर्थभार-हीन सत्त्वार्थमात्र! सब मिलाकर क्या बना ? मृणाल समझने का प्रयत्न कर रही है, समझ रही है।

एक बार उसे लगता था कि उसके पिता ठीक ही कह रहे हैं। महिषमर्दिनी देवी केवल भावों की दुनिया में रह सकती है। तथ्यों की दुनिया में सुकुमार बालिकाओं के लिए महिष-मर्दन सम्भव नहीं है। सिंहवाहिनी देवी ही उपास्य हो सकती हैं। जो सिंह के समान पराक्रमी हैं, अकुतोभय हैं, सत्त्ववान् हैं, उनके भीतर जो शक्ति

काम करती है, वही सिंहवाहिनी है। सिंह, पुरुष-सिंह ! पुरुष-सिंह कैसा होता है ? मृणाल के चित्त में अनायास गोपाल आर्यक का तेजस्वी मुख उद्भासित हो आया। कपाट के समान चौड़ा वक्षःस्थल, सिंह के समान कटिदेश, शोभा और शौर्य के मिलित भाव पैदा करनेवाले केश-कलाप ! गोपाल आर्यक पुरुष-सिंह है, निर्भय, सतेज, सत्त्वशील ! निस्सन्देह ऐसे ही पुरुषों को वाहन बनाकर महादुर्गा क्रूर, दुर्वृत्त और घृणास्पद महिषासुरों का दलन करती हैं। पिता कहते हैं, यही सिंह-वाहिनी देवी लड़कियों की उपास्या हैं। लेकिन फिर उसके मन में प्रश्न उठता, उपासना का क्या अर्थ है ? केवल पुरुष-शक्ति की पूजा ही क्या स्त्रीधर्म है ? सिंहवाहिनी की उपासना का मतलब क्या इतना ही है कि महिष-मर्दन का काम पुरुषों पर छोड़कर स्त्रियाँ उनकी आरती उतारा करें ? स्त्रियों का धर्म क्या आगे बढ़कर अधर्माचार का विध्वंस करना नहीं है ? स्त्री को पुरुष की सहधर्मिणी बनना पड़ता है। यह कैसा सहधर्म है कि पुरुष युद्ध करें और स्त्रियाँ उनकी आरती उतारती रहें ? मृणाल का मन ऐसा नहीं मानना चाहता। सहधर्म में महिष-मर्दन भी शामिल होना चाहिए। देवी सिंहवाहिनी भी हैं और महिषमर्दिनी भी। पिताजी क्यों इस बात को मानने में कुण्ठा अनुभव करते हैं ! कदाचित् उनके मन में दुर्वृत्त गुण्डों के पशुबल पर अधिक विश्वास है, स्त्रियों के आत्मबल पर कम। मगर पिताजी तो सदा आत्मबल की ही सराहना करते हैं। कहीं कोई मोह तो उनके मन में नहीं आ गया है ? गोपाल आर्यक-जैसे सिंह की सहधर्मिणी को उसके हर काम में सहायता पहुँचाने की आवश्यकता है, अधिकार है। एक क्षण के लिए मृणाल को रोमांच हो आया। गोपाल आर्यक की सहधर्मिणी ! उसे एक प्रकार की गुदगुदी का अनुभव हुआ। वह क्या सोचने लगी ? कहाँ गोपाल आर्यक और कहाँ मृणाल-मंजरी ! यह भी क्या सम्भव है कि वह गोपाल आर्यक की सहधर्मिणी बने ? सिंहवाहिनी की उपासना उसके लिए मनमोदक-मात्र है। सिंह तो एक ही है, गोपाल आर्यक ! वह देर तक गोपाल आर्यक के बारे में सोचती रही। सुना है, बड़ा गबरू जवान हो गया है, अपने से तिगुने मल्लों को पछाड़ चुका है। जिधर से गुज़र जाता है उधर से मदमस्त वीरता ही चलती दिखायी देती है। नगर के गवाक्ष खुल जाते हैं, पुर-सुन्दरियों की आँखें बिछ जाती हैं। इधर आया क्यों नहीं ? अप्रसन्न हो गया है क्या ? हाय, मृणाल की आँखें प्यासी ही रह गयी हैं। कभी आता ही नहीं, इधर का रास्ता ही भूल गया है···ऐसा तो नहीं था, क्या हो गया है उसे ! लेकिन कोई कुछ भी कहे, गोपाल आर्यक सचमुच सिंह है, पुरुष-सिंह !

"लहुरा वीर की जय !" दूर से सहस्र कण्ठों से निकली हुई जय-ध्वनि ने मृणाल का ध्यान भंग किया। उसने कुटिया से बाहर निकलकर देखा, सैकड़ों युवक जय-जयकार करते हुए गंगा का तट पकड़े पश्चिम-दक्षिण की ओर बढ़े जा रहे हैं। कुछ समझ में नहीं आया।

इसी समय सुमेर काका की आवाज़ सुनायी पड़ी, "क्या कर रही हो, बिटिया

रानी ? गुरु गया है राजा को मनाने और चेला निकला है लहुरा वीर को जगाने ।"

मृणाल ने हँसते हुए प्रणाम किया । सुमेर काका देवरात के घनिष्ठ मित्र थे । आयु में काफी बड़े थे, पर देवरात के साथ उनकी समवयस्कों की-सी दोस्ती थी । सच तो यह था कि सुमेर काका नगर के बाल-युवक-वृद्ध सबके समवयस्क थे । जिस मण्डली में बैठते, उसी के हो जाते । अश्वमेध के अश्व की रक्षा में वीरता-पूर्वक काम करने के कारण उन्हें हलद्वीप के उत्तर की ओर भूमि मिली थी । पत्नी का बहुत पहले देहान्त हो चुका था, एकमात्र कन्या का विवाह धूमधाम से किया था, पर विदाई के दिन नाव डूब जाने से वह भी चल बसी । तब से सारे नगर के बच्चे उनके अपने हो गये । मृणाल पर तो उनका बहुत अधिक स्नेह था । दुर्भाग्य उन्हें परास्त नहीं कर सका था । जहाँ जाते, आनन्द और उल्लास उनके अनुचर की भाँति वहाँ पहुँच जाते । सुमेर काका को नगर के उच्चपदस्थ लोग भी सम्मान देते थे । राज्य के सर्वाधिक गम्भीर न्यायाधीश आचार्य पुरगोभिल भी, जिन्हें 'प्राड्विवाक' कहा जाता था, सुमेर काका के प्रशंसक थे । कहा तो यहाँ तक जाता था कि कई पेचीदे मामलों में वे काका की सहज-बुद्धि पर भरोसा रखकर विचार करते थे । काका जब मृणाल के पास आते तो कोई-न-कोई नया समाचार अवश्य दे जाते । उनके लिए प्रत्येक समाचार का एक ही मूल्य था—आनन्द-वर्षा । कोई समाचार उनके लिए चिन्ताजनक नहीं होता । चींटियों की लड़ाई की बात करते, तो उतनी ही रसीली बनाकर जितनी बड़े-बड़े राजाओं के युद्ध की । उनके लिए मारपीट भी उतनी ही रस-निष्पत्ति का विषय थी, जितना ब्याह-बरेखी ।

सुमेर काका को देखते ही मृणाल का चित्त उल्लास से भर गया । मृणाल का सदा का अनुभव था कि सुमेर काका का पहला वाक्य पहेली होता है । श्रोता को इस पहेली को बूझने के लिए उन्हीं की सहायता लेनी पड़ती थी । सुमेर काका अपना पहला वाक्य बोल चुके थे, "गुरु गया है राजा को मनाने और चेला निकला है लहुरा वीर को जगाने ।" मृणाल ने सदा की भाँति हँसते हुए पूछा, "आज की पहेली भी बुझा दो, काका ! कहना क्या चाहते हो ?"

सुमेर काका ने प्यार से कहा, "बिटिया रानी, तेरा काका पहेली ही नहीं बुझाता, कभी-कभी ठीक समाचार भी देता है । गुरु है तेरा बाप देवरात और चेला है तेरा सखा गोपाल आर्यक ! वह जो गंगा के किनारे-किनारे लौण्डों का दल चिल्लाता हुआ जा रहा है न, वह लहुरा वीर की उपासना करनेवालों का दल है । उसका नेता है गोपाल आर्यक । सुना है, मथुरा के आभीरों ने नये देवता का सन्धान पाया है और वहाँ से अब यह नया देवता उत्तरापथ के हर घर में पहुँचता दिखायी दे रहा है । यहाँ यह गोपाल आर्यक है जो लहुरा वीर का सबसे बड़ा सेवक बना है । कहता फिरता है कि राजा अत्याचारी हो गया है, उसको ध्वस्त करने का आदेश लहुरा वीर ने दिया है । नगरवासी अपनी कष्ट-कथा

आर्यक को ही सुनाते हैं। आर्यक ने सैकड़ों युवकों की एक छोटी-मोटी सेना ही तैयार कर ली है। आज उसका दल नगर की गली-गली में घूमा है और उसने लोगों को अभय का आश्वासन दिया है। राजा ने अभी तक तो छेड़-छाड़ नहीं की है, लेकिन बादल घुमड़ रहे हैं, कब बरस पड़ें, कहा नहीं जा सकता।"

मृणाल ने सुना तो उसे गर्व का भाव अनुभव हुआ और थोड़ा भय भी लगा। उसके हृदय में ज़ोर-ज़ोर की धड़कन होने लगी। अपने को सम्हालकर उसने पूछा, "यह लहुरा वीर कौन है काका ?"

सुमेर काका ठठाकर हँस पड़े। बोले "सब तो मैं भी नहीं जानता बिटिया, लेकिन सुना है कि मथुरा के कुषाणों पर विजय पाने के बाद किसी आभीर राजा ने अनुभव किया कि कुषाण लोग जिस प्रकार पंचध्यानी बुद्धों की उपासना करते हैं उसी प्रकार की पंचमूर्त्ति आभीरों की भी उपास्य बननी चाहिए, क्योंकि मथुरा की जनता में पाँच की संख्या बहुत प्रिय है। भागवत धर्म में चतुर्व्यूह की उपासना प्रचलित है। ये चार देवता हैं—बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। आभीर राजा ने इस मण्डली में श्रीकृष्ण के छोटे पुत्र साम्ब को भी जोड़कर पाँच वृष्णि-वीरों की उपासना प्रचलित की है। सुना है कि मथुरा में उन्होंने पाँच वृष्णि-वीरों का विशाल मन्दिर बनवाया है। यही साम्ब लहुरा वीर हैं। पुराने चार वीरों के बाद इनका नाम जुड़ा है, कदाचित् इसीलिए इन्हें लहुरा वीर कहा गया है। लहुरा वीर की इस नयी उपासना ने आभीरों में नवीन उत्साह और आत्म-बल का संचार किया है। समूचे उत्तरापथ में अब यह उपासना चल गयी है। लहुरा वीर अत्याचार और अनाचार को ध्वंस करने के प्रतीक बन गये हैं। गोपाल आर्यक ने हलद्वीप के राजा के विरुद्ध जो अभियान किया है वह भी आभीरों के नये उत्साह और आत्म-बल का सूचक है।" फिर ज़रा अवहेलना की हँसी हँसकर सुमेर काका ने कहा, "अभी गधा-पचीसी में है न, बेटा ! समझता है कि राजा की संघटित सैन्य-शक्ति से लोहा लेना बच्चों का खिलवाड़ है। भारशिवों की शक्ति का पता सुमेर काका को है। बिचारा गोपाल आर्यक कुछ जानता ही नहीं। लेकिन कर अच्छा रहा है। पिट तो अवश्य जायेगा, लेकिन राजा को भी छठी का दूध याद आ जायेगा। यह नरक का कीड़ा अब कुल-ललनाओं का शील नष्ट करने पर तुला हुआ है। इसका पाप ही इसे खा जायेगा। कौन जाने, आर्यक को ही निमित्त बनाकर भगवान् इसे दण्ड देना चाहते हों। पर चाहे कुछ भी हो बेटा, हलद्वीप में तो चहल-पहल अवश्य होगी, मार-पीट होगी, धर-पकड़ होगी, और जाने क्या-क्या होगा।" मृणाल के चेहरे पर व्याकुलता की रेखाएँ उभर आयी थीं, पर काका ने उधर ध्यान ही नहीं दिया। उसी प्रवाह के साथ बोलते रहे, "तेरे बाप का दिमाग़ भी ख़राब हो गया है। समझता है राजा को समझा-बुझाकर मना लेगा। बम-भोलानाथ है। आज तक समझ ही नहीं पाया कि विधाता जिसे मारना चाहता है उसकी बुद्धि पर सम्पत्ति-मद का ताला लगा देता है। आज समझ जायेगा।"

सुमेर काका ने उठने की इच्छा प्रकट की। मृणाल ने उन्हें रोका, "थोड़ा

रुको काका, तुम तो सब पर एक-एक लकड़ी मारकर चलते बने। मुझे बताते जाओ कि इनमें तुम्हें ठीक मार्ग कौन-सा जान पड़ता है। या छोड़ो इस बात को। अगर ऐसा ही कुछ आ घटे कि तुम्हें किसी एक ओर शामिल होना ज़रूरी जान पड़े, तो किधर जाओगे ?"

काका ठठाकर हँसे, "तेरा काका तो सदा का अबोध है और वह बालकों का ही पक्ष लेता है। तेरा यह काका, गोपाल आर्यक की ओर से पिटते हुए देखा जायेगा। देवरात भी अबोध है, लेकिन उसकी अबोधता में गति नहीं है, हलचल नहीं है, क्षोभ नहीं है और तेरे सुमेर काका को यही सब पसन्द नहीं है। आर्यक अबोध है, लेकिन उसमें गति है, प्रचण्ड गति। जब से मैंने लड़कों की मण्डली का जय-जयकार सुना है, तब से मेरा मन उसी दल में भर्ती होने के लिए व्याकुल है। उधर ही जा रहा हूँ।"

मृणाल को उल्लास का अनुभव हुआ। बोली, "तुम थोड़ा रुक नहीं सकते, काका ? एक बहुत आवश्यक प्रश्न तुमसे करना है।"

सुमेर काका ने पीछे फिरकर देखा। अबकी बार उन्हें लगा कि मृणाल के चेहरे पर कुछ चिन्ता की लकीरें उभरी हुई हैं। पहली बार उन्होंने उधर ध्यान नहीं दिया था। लाठी दीवार के सहारे टिकाकर बैठ गये, "ले, यह बैठ गया। पूछ, क्या पूछना चाहती है।"

मृणाल ने धीरे-धीरे कहा, "लड़कियाँ इस अनाचार के उन्मूलन में कुछ हाथ नहीं बँटा सकतीं, काका ? पिताजी बता रहे थे कि विन्ध्याटवी में कोई सिद्ध पुरुष हैं जो देवी के सिंहवाहिनी और महिषमर्दिनी रूप की उपासना का प्रचार कर रहे हैं। परन्तु पिताजी कहते हैं कि लड़कियाँ सिंहवाहिनी की ही उपासना कर सकती हैं, महिषमर्दिनी की नहीं। उनका कहना है कि लड़कियों का महिषमर्दिनी होना सम्भव नहीं है। केवल कविता में यह बात फबती है। ऐसा क्यों होगा, काका ? जो बात कविता में फबेगी, वह व्यवहार में क्यों नहीं फबेगी ?"

सुमेर काका ठठाकर हँसे, "यही आवश्यक प्रश्न है रे ?" फिर थोड़े गम्भीर होकर बोले, "तेरे पिता देवरात पण्डित हैं। जो कुछ कहते हैं, तर्क की तराजू पर तौलकर कहते हैं। पर तेरा काका अटट गँवार है। जवानी में उसने एक ही काम किया है—सीधे टूट पड़ना, फिर प्राण चाहे रहें, चाहे जायें। बुढ़ापे में भी उसकी यही आदत बनी हुई है। तू पूछना चाहती है कि भैंसा अगर चढ़ दौड़े तो तेरी-जैसी लड़की को क्या करना चाहिए ? तेरे बाप का जवाब है कि शेर को बुलाने के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। तेरे काका का जवाब है, जो कुछ आस-पास मिल जाये, उसी से उस भैंसे को दमादम पीट देना चाहिए। नाक पर मार सको तो क्या कहना ! आँख फोड़ सको तो और अच्छा ! सिंह बाद में आयेगा, पहली चोट तुम्हें करनी होगी। अगर डर है कि रगेद देगा, प्राण ले लेगा तो ऐसा सवाल पूछना ही नहीं चाहिए। सुमेर काका एक ही बात जानता है : सज्जन है, चरण की धूल लो। दुर्जन है, नाक तोड़ दो। जो डरता है वह देवी की उपासना के बारे

में पूछना ही छोड़ दे। देवी क्या है रे ? तेरे भीतर जो 'अभय' है, वही देवी है। पिशाची क्या है, जानती है ? तेरे भीतर जो 'भय' है, वही पिशाची है।" सुमेर काका ने यह देखने का प्रयत्न नहीं किया कि मृणाल पर उनकी बात का क्या असर पड़ रहा है। देखते तो उन्हें पता चलता कि मृणाल के मुख-मण्डल पर अद्भुत दीप्ति दमक उठी है। वे कहते ही गये, "देवरात पोथी के बल पर मुझे हरा देता है। जब कभी उसके विचारों के विरुद्ध कुछ कहना चाहता हूँ, तभी तर्कों का कोड़ा मार-मारकर उस द्वार की ओर धकेल देता है जहाँ से घुटने टेके बिना भागना भी कठिन है।"

सुमेर काका हँस-हँसकर दोहरे हो गये।

मृणाल भी हँसने लगी। बोली, "पिताजी तो कहते हैं कि तुम कभी हारते ही नहीं।"

सुमेर काका थोड़ा सुस्ताने लगे। ज़रा सम्हलकर बोले, "हार जाता हूँ, बिटिया, बुरी तरह हार जाता हूँ। पर हार मानता नहीं।"

मृणाल ने कहा, "ज़रा समझाकर कहो काका, हारते हो मगर हार मानते नहीं!"

"देख रे, तेरा बाप शास्त्र का बड़ा भारी पण्डित है। काव्य का, संगीत का, चित्र का, मूर्त्ति का सहृदय पारखी है। मगर मैं उसकी कमज़ोरी जान गया हूँ। वह इन बातों को तैयार माल की तरह देखता है। सुनार जैसे अँगूठी बनाकर ले आता है तो ग्राहक जैसे देखता है, उसी प्रकार। मगर ज्ञान या रस तैयार माल की तरह नहीं होते। वे इतिहास से पलते हैं, और इतिहास को बनाते हैं; मगर मेरे मन में जो कुछ है उसे मैं प्रकट नहीं कर पाता। तैयार माल का दाम आँकनेवाली बुद्धि मुझे मार गिराती है। अनपढ़ हूँ, क्या करूँ! मगर जानता हूँ कि ठीक मैं कहता हूँ। सो हार तो जाता हूँ, पर हार मानता नहीं। उसने तुझे कविता और व्यवहार का जो भेद बताया है न, वह उसी तैयार माल का दाम आँकनेवाली बुद्धि से। समझ गयी, बिटिया रानी! ले, अब तेरा आवश्यक प्रश्न और भी उलझ गया होगा।" कहकर सुमेर काका उठ पड़े।

मृणालमंजरी को काका की बातें पूरी समझ में नहीं आयीं, पर उसे आह्लाद का अनुभव हुआ। बोली, "सचमुच गोपाल आर्यक के पास जा रहे हो, काका?"

सुमेर काका फिर हँसे, "एकदम जा रहा हूँ, बिटिया!"

मृणाल ने कहा, "काका, एक बात मेरी ओर से आर्यक से कह देना। कहना कि वह मृणाल को भी अपने दल में शामिल कर लें।"

सुमेर काका और ज़ोर से हँसने लगे, "यह नहीं होगा। न तो तेरा बाप ही इसे मानेगा और न उसका चेला। लेकिन तेरा नाम मैंने अपनी वही में लिख लिया है। तेरा सुमेर काका भी पगला है और तू भी पगली है। पागलों की अलग सेना बनेगी और उसमें दो ही सिपाही होंगे—सुमेर काका और मृणालमंजरी, बस!" काका ने पीछे फिरकर देखने की ज़रूरत नहीं समझी। हँसते-हँसते कहते गये,

"सुमेर काका के भी समानधर्मा हैं। अगर ऐसे ही सौ-पचास आदमी मिल जायें, तो आनन्द आ जाये।"

पाँच

राज-सभा में देवरात का अपमान हुआ। उन्हें बैठने को आसन भी नहीं दिया गया। राजा ने उनकी ओर देखा भी नहीं। वे बहुत मर्माहत हुए। देर तक इधर-उधर भटकते रहे। उनके लौटने में देरी हुई। जब लौटे तो देखा कि मृणाल की आँखें सूजी हुई हैं, मुख पीला पड़ गया है। निस्सन्देह वह बहुत रोयी थी। देवरात ने पुत्री का मुरझाया हुआ मुख देखा, तो उन्हें बड़ा ही क्लेश हुआ। परन्तु पूछने पर उसने कुछ कहा नहीं, और भी अधिक रोने लगी। देवरात एकदम व्याकुल हो उठे। उन्हें सन्देह हुआ कि मृणालमंजरी के साथ किसी ने छेड़छाड़ की है या कोई कुवाच्य कहा है। परन्तु बार-बार पूछने पर भी मृणालमंजरी ने कुछ बताया नहीं। केवल सिसक-सिसककर रोती रही। देवरात अपने को असहाय और निरुपाय अनुभव करने लगे। उनके मन में मातृहीना कन्या के लिए बड़ी दारुण वेदना हुई। उन्होंने प्यार से मृणालमंजरी को गोद में लेकर उसका दुःख जानने का प्रयत्न किया। परन्तु वे जितना ही पूछते थे, उतना ही वह अधिक रोने लगती थी। देवरात ने पूछना बन्द कर दिया। केवल गोदी में उसको दुलराते-सहलाते रहे। पिता का स्नेह-स्पर्श पाकर मृणालमंजरी उनकी गोदी में सो गयी। देवरात उदास-चिन्तित भाव से उसे गोदी में लिये ही बैठे रहे। उनकी समझ में नहीं आया कि उनकी प्यारी बिटिया को हो क्या गया है। कुछ देर बाद उन्होंने मृणालमंजरी को खाट पर सुला दिया और उसके सिरहाने बैठकर स्नेह-वत्सल भाव से उसका सिर सहलाते रहे। कितनी देर वे इस प्रकार बैठे रहे, इसका पता उन्हें भी नहीं चला। मन में विचारों का एक तूफ़ान चलता रहा। मृणालमंजरी की माता मंजुला उनके चित्त-पट पर न जाने कितनी बार आयी और न जाने क्या-क्या कह गयी। वे चिन्ता-कातर मुद्रा में मृणालमंजरी के सिरहाने बैठे रह गये। मृणालमंजरी भी जो सोयी तो ऐसा लगा कि संज्ञाशून्य ही हो गयी है।

वह रात यों ही बीत गयी। मृणालमंजरी वात्सल्य रस से भीगी-सी निद्रित पड़ी रही और देवरात उसके सिरहाने बैठे ही रह गये। पूर्व दिशा में उषा की लालिमा दिखायी पड़ी। तरु-कोटरों से पक्षियों का कलरव सुनायी देने लगा। सूर्य की लाल-लाल किरणों-रूपी शलाकाओं से झाड़े गये आकाश के नक्षत्रगण इस

प्रकार लुप्त हो गये मानो किसी ने लाल रंग की झाड़ू से सारा आसमान साफ़ कर दिया हो। पुत्री को उसी प्रकार निद्रित छोड़कर देवरात उठे और प्रातःकालीन कृत्य के लिए तैयार होने लगे। स्नानादि से निवृत्त होकर जब वे आश्रम के द्वार पर आये, तो देखा कि उनका अत्यन्त विश्वसनीय सेवक सुदिन्न कहीं से चला आ रहा है। सुदिन्न कभी बहुत बीमार पड़ा था और देवरात की परिचर्या से स्वस्थ हुआ था। वह पास ही के गाँव में रहता था और समय-समय पर उनकी सेवा के लिए आ जाया करता था। मृणालमंजरी को वह अपनी बेटी के समान ही प्यार करता था। जब कभी उसे पता चलता कि देवरात बाहर गये हुए हैं और मृणालमंजरी अकेली है, तभी सब काम-काज छोड़कर वह मृणालमंजरी के पास आ जाता। देवरात नहीं चाहते थे कि सुदिन्न घर का काम-काज छोड़कर उनकी सेवा के लिए आया करे। परन्तु सुदिन्न सदा यही सोचता रहता था कि वह किसी प्रकार उनके काम आ सके। उस दिन देवरात जब बाहर गये तो संयोग से सुदिन्न को पता चल गया था और वह मृणालमंजरी के पास पहुँच गया था। मृणालमंजरी रो रही थी। सुदिन्न ने भी देवरात की तरह उसके दुःख का कारण जानने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसने उसे कुछ नहीं बताया था। उसके बहुत आग्रह करने पर मृणालमंजरी ने उसे भूर्जपत्र का एक टुकड़ा दिया था जिस पर कोई श्लोक लिखा हुआ था। मृणालमंजरी ने उस पत्र की पीठ पर स्वयं कुछ लिख दिया था और सुदिन्न से अनुनय करके कहा था कि इस पत्र को आर्यक तक पहुँचा दे। उसने यह भी कह दिया था कि वह पत्र आर्यक के सिवा और किसी के हाथ में न दे। सुदिन्न ने मृणालमंजरी को उस अवस्था में छोड़कर जाने से इनकार किया था और कहा था कि जब आर्य देवरात आ जायेंगे, तभी वह आर्यक के पास पत्र लेकर जायेगा। परन्तु मृणालमंजरी ने आग्रह किया था कि पिताजी शीघ्र ही आ जायेंगे, तुम आर्यक के पास चले जाओ। सो, सुदिन्न वह पत्र लेकर आर्यक के गाँव गया था और वहीं से लौट रहा था। देवरात ने सुदिन्न से पूछा कि वह पत्र क्या उसने आर्यक को दे दिया है? सुदिन्न ने सहज-भाव से कहा, "मैं क्या करता आर्य, बिटिया ने शपथ दे दी थी।"

देवरात को कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, "सुदिन्न, तू क्या पहली बार ऐसा पत्र लेकर आर्यक के पास गया था?"

"हाँ आर्य, पहली बार गया था।"

"पत्र पढ़ने के बाद आर्यक ने क्या कहा?"

सुदिन्न बोला, "पत्र पढ़कर उसका मुख क्रोध से लाल हो गया। उसने कहा, 'सुदिन्न! तू जल्दी मृणालमंजरी के पास लौट जा और उससे जाकर कह कि आर्यक के रहते उसे चिन्तित और कातर होने की कोई आवश्यकता नहीं है। आर्यक मृणालमंजरी की रक्षा भी करेगा और उसके अपमान का बदला भी लेगा।' वह तमतमाया हुआ उठा और घर के भीतर से अपना विशाल कुन्त लेकर बाहर निकल आया। मैं तो कुछ समझ ही नहीं सका। मैं पूछने ही जा रहा था कि इस चिट्ठी में

क्या लिखा है कि उसने डाँटकर कहा, 'तू अभी तक यहीं खड़ा है ! जल्दी जा और मृणालमंजरी से कह दे कि आर्यक शीघ्र ही आ रहा है।' और पता नहीं किधर चला गया। वह इतना क्रुद्ध था कि उसे अपने शरीर और वस्त्र की भी चिन्ता नहीं थी। वह पत्र भी उसके हाथ से गिरकर वहीं पड़ा रह गया था। मैंने उसे उठाकर फिर अपने पास रख लिया, क्योंकि बिटिया ने कहा था कि वह और किसी के हाथ न लगने पाये। मुझे बड़ा डर लग रहा था कि पता नहीं, आर्यक कहाँ क्या कर बैठे ! पहर रात गये मैं यहाँ आ गया था, आकर देखा कि आप ध्यानमग्न बैठे थे। उस समय कुछ बोलना उचित न समझकर मैं यहाँ बाहर ही पड़ रहा।"

देवरात ने व्याकुल भाव से पूछा, "वह पत्र तेरे पास है सुदिन्न ?"

सुदिन्न ने कहा, "है तो आर्य, पर वह तो केवल आर्यक के लिए है !"

देवरात बोले, "आर्यक को तो तूने दिखा ही दिया। अब एक बार मुझे देख लेने दे।"

सुदिन्न धर्म-संकट में पड़ गया। बोला, "पता नहीं उसमें क्या लिखा है, आर्य ! मगर बिटिया ने मुझे बार-बार कहा था कि वह सिर्फ़ आर्यक को दिखाना होगा।"

देवरात ने सुदिन्न को स्नेह के साथ समझाया, "देख सुदिन्न, मेरी बिटिया बहुत व्याकुल है। तू भी तो उसे अपने प्राणों से अधिक प्यार करता है। मुझे लगता है कि उसके दुःख का ठीक-ठीक कारण यदि हम नहीं जान सकेंगे तो वह जीवित नहीं रह सकेगी। इसलिए तू वह पत्र मुझे दिखा अवश्य दे। मृणालमंजरी क्या मुझसे छिपाकर कोई बात कर सकती है ! तू चिन्ता न कर, मुझे वह पत्र दिखा दे।"

सुदिन्न ने मृणालमंजरी के प्राण-संकट की बात सुनी, तो एकदम डर गया। उसने पत्र देवरात के हाथों में देते हुए कहा, "ठीक कहते हैं आर्य, बिटिया के दुःख का कारण ज़रूर समझना चाहिए। उधर आर्यक भी तो न जाने क्रोध में किधर चला गया है।"

देवरात ने भूर्जपत्र लेकर उसे उलट-पुलटकर देखा। उस समय काफ़ी प्रकाश निकल आया था। उन्हें पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पत्र के एक ओर लिखा हुआ था :

> 'मृणालमंजरी के योग्य—
> वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरः मूर्खोऽपि वर्णाधमः
> फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नम्यते बर्हिणा।
> ब्रह्मक्षत्रविशस्तरंति च यथा नावा तथैवेतरे
> त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ॥'
> [द्विज पण्डित मूरख शूद्र गँवार नहाते हैं, वापी में भेद कहाँ,
> वन फूली लता तन देती सभी को मयूर हो, काक हो, खेद कहाँ !
> निज गोद में लेती बिठा तरनी सभी जाति कुलीन कुजारज जो,
> तुम वापी-लता-तरनी-सम सेविका हो सबकी, सबको ही भजो ॥]

और उसकी पीठ पर मृणालमंजरी ने अपने काँपते हुए हाथों से लिखा था—'सिंह-पराक्रम आर्यचरित आर्यक को मृणालमंजरी की अभ्यर्थना स्वीकृत हो ! आज पिताजी ने सिंहवाहिनी देवी की उपासना का मुझे आदेश दिया और सुमेर काका महिषमर्दिनी रूप की उपासना का परामर्श दे गये। परीक्षा का समय तुरन्त ही आ गया। पागल भैंसे से भी घिनौना चन्दनक मुझे अकेली देखकर यह पत्र फेंककर कुवाच्य बोलने लगा। मैंने उसे ललकारा और पास में पड़े डण्डे से उसे चोट पहुँचायी। भाग न गया होता तो यमलोक में होता। भागा, लेकिन धमकाकर गया है। अब मैं पिताजी के आदेश का पालन कर रही हूँ। तुम चाहो, तो मेरी रक्षा कर सकते हो। नहीं आओगे, तो भी मैंने अपना कर्त्तव्य समझ लिया है। इति—मृणालमंजरी।' फिर 'अपरंच' के बाद लिखा था—'पिताजी से यह बात कैसे कह सकती हूँ ! तुम यदि मेरी रक्षा करना चाहो तो कर सकते हो।'

देवरात ने चन्दनक के लिखे हुए गन्दे श्लोक को देखकर क्रोध में दाँत पीस लिये। उनके मुँह से सिर्फ़ इतना ही निकला, 'इस अधम का इतना साहस !' उन्हें मृणालमंजरी के दुख का कारण अब समझ में आ गया। परन्तु एकाएक उन्हें ध्यान में आया कि आर्यक चन्दनक से बदला लेने के लिए कहीं कोई अनर्थ न कर बैठे। वह हलद्वीप के राजकुमार का नर्मसखा है और आर्यक के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। उन्होंने कहा, "सुदिन्न, तू तब तक यहीं रह, जब तक मैं आर्यक को देखकर लौटता हूँ।" और तेज़ी से चन्दनक के घर की ओर बढ़ गये। इधर आर्यक अपना विशाल कुन्त लिये आश्रम में प्रविष्ट हुआ !

सुदिन्न द्वार पर ही मिल गया। बोला, "आओ भैया, आर्य देवरात तो यह सुनकर बड़े ही उद्विग्न हुए कि तुम अकेले चन्दनक के घर की ओर चले गये हो।"

आर्यक ने कहा, "चन्दनक के ग्रह आज प्रसन्न थे। वह घर छोड़कर कहीं भाग गया है। तुम दौड़कर गुरुदेव को बुला लाओ। उनसे कह देना कि कहीं कुछ नहीं हुआ है। वे निश्चिन्त लौट आयें। कुछ अनर्थ हो ज़रूर सकता था, लेकिन हुआ नहीं।" फिर उसने पूछा, "मृणाल कहाँ है ?"

सुदिन्न ने कहा, "रोते-रोते सो गयी है।"

आर्यक फिर से उसे गुरुदेव को लौटा लाने का आदेश देता हुआ आगे बढ़ गया। सुदिन्न और आर्यक की बातचीत सुनकर मृणालमंजरी की नींद खुल गयी। वह धड़फड़ाकर उठी। सामने देखा तो आर्यक विशाल कुन्त लेकर खड़ा है। उसने आर्यक को देखा और चित्रलिखित-सी खड़ी रह गयी। उसके मुँह से कोई बात ही नहीं निकली। लेकिन आँखों से आँसू की धारा बह चली। आर्यक ने आगे बढ़कर कहा, "मैं आ गया, मैना ! मेरे रहते तेरी छाया भी कोई नहीं छू सकेगा।"

मैना स्थिर, निश्चेष्ट !

आर्यक ने देखा, मृणालमंजरी इन तीन वर्षों में काफी बढ़ गयी है। उसके अंग-अंग से लावण्य की छटा छलक रही थी। आर्यक को देखकर उसके मुरझाये हुए मुख पर आनन्द की आभा दमक आयी थी। उसकी दुग्ध-मुग्ध मुखश्री में इस

प्रकार का उफान आया था जैसे अचानक दुग्ध-भाण्ड को अप्रत्याशित ताप मिल गया हो। परन्तु उसकी आँखों से आँसू झरते रहे। ये आँसू अभिमान के थे। उनमें उलाहना था, अभियोग था, अभिमान था। एक क्षण के लिए आर्यक मुग्ध की भाँति ठिठक गया और मृणालमंजरी की निश्चेष्ट मुद्रा और झरते हुए आँसुओं का अर्थ समझकर मन-ही-मन उल्लसित होता रहा। फिर वह मृणालमंजरी के पास पहुँच गया। उसने प्यार से उसकी ठुड्डी पकड़कर ऊपर उठायी और भीगे हुए स्वर में बोला, "नाराज़ हो गयी है, मैना ! मेरे ऊपर विश्वास कर—अब मैं तुझे अकेली नहीं छोड़ूँगा।"

मैना और भी व्याकुल होकर रो पड़ी। एकाएक पता नहीं, आर्यक को कौन-सा आवेश आया, उसने मैना को कसकर अपनी भुजाओं में जकड़ लिया। बचपन में दोनों काफ़ी निकट से एक-दूसरे को पहचान सके थे। सैकड़ों बार लड़ाई-झगड़े से लेकर पुनर्मैत्री तक का अभिनय कर चुके थे। परन्तु आज दोनों को कुछ नयी अनुभूतियाँ हुईं। ऐसा जान पड़ा, अन्तस्तल का सारा सत्त्व उमड़ आया है। आर्यक को रोमांच हो आया और मृणालमंजरी पसीने से तर हो गयी। कुछ देर तक दोनों संज्ञाशून्य की तरह एक-दूसरे को कसकर जकड़े रहे। वह एक विचित्र समाधि थी, जिसमें दोनों का पृथक् व्यक्तित्व एकदम विलुप्त हो गया था। फिर एकाएक मैना की ही संज्ञा लौटी। उसने झटककर अपने को आर्यक के आलिंगन से अलग कर लिया और झिड़कते हुए बोली, "छोड़ो, क्या कर रहे हो !" यह भी एक नयी अनुभूति थी। दोनों में से किसी ने पहले अनुभव नहीं किया था कि ऐसा करने में कुछ अनौचित्य भी होता है। विधाता ही जानते हैं कि किस प्रकार 'छोड़ो' के माध्यम से अखण्ड मिलन की अभिव्यक्ति होती है।

आर्यक चुपचाप अलग हट गया। थोड़ी देर के लिए उसकी वाक्-शक्ति रुद्ध हो गयी। थोड़ा सम्हलकर उसने फिर कहा, "क्षमा कर दो मैना, मैंने अनुचित किया। मुझे इतने दिनों तक तुझे अकेली नहीं रहने देना चाहिए था। बुरा मान गयी, मैना ?"

मैना की आँखें झुकी थीं, कपोलपालि अब भी आँसुओं से भीगी हुई थी, नासिका का अग्रभाग अब भी फड़क रहा था, निःश्वास अब भी बड़ी तेज़ी से भीतर से बाहर और बाहर से भीतर दौड़ रहे थे। उसने धीरे-से कहा, "हाँ, अब मुझे मत छोड़ना !"

आर्यक को हँसी आ गयी। बोला, "अभी तो तूने कहा, मैना, छोड़ दो ! अब कहती हो, मत छोड़ना।"

मैना को भी चुहल सूझ गयी। उसने कहा, "व्याकरण भी भूल गये। 'छोड़ दो' वर्तमान काल है और 'मत छोड़ना' भविष्यकाल।"

आर्यक ने देखा, मृणालमंजरी में स्वाभाविक विदग्धता लौट आयी है। बोला, "कहाँ का व्याकरण और कहाँ का काव्य ! कुश्ती लड़ता हूँ और दण्ड-बैठक किया करता हूँ। तेरे साथ रहूँगा तो शायद फिर से काव्य-व्याकरण लौट आयें।"

इसके बाद दोनों ही सहज हो गये और तरह-तरह की नयी-पुरानी बातों में उलझ गये। थोड़ी देर में देवरात को लेकर सुदिन्न भी लौट आया। गुरु को देखकर आर्यक ने विनम्र भाव से प्रणाम किया और दीर्घायु होने का आशीर्वाद प्राप्त किया। बिना किसी भूमिका के उसने कहा, "गुरुदेव, मैं मैना को यहाँ अकेली नहीं रहने दूँगा। अनुमति दें तो इसे मैं अपने घर ले जाऊँ।"

देवरात की आँखें विस्मय से तन गयी, "यह कैसे हो सकता है बेटा, तुम्हारे पिता की अनुमति लिये बिना इसे मैं तुम्हारे घर कैसे भेज सकता हूँ ?"

आर्यक ने कहा, "क्यों, इसमें दोष क्या है ?"

देवरात ने आर्यक के भोलेपन का आनन्द लेते हुए कहा, "दोष है। सयानी-कुँवारी कन्या को कोई पिता किसी के घर कैसे भेज सकता है ! तुम बालक हो। तुम्हें यह बात समझ में नहीं आयेगी।"

आर्यक ने रोषपूर्वक कहा, "नहीं गुरुदेव, आप नहीं जानते। हलद्वीप गुण्डों और लम्पटों से भर गया है। मैं मृणालमंजरी को यहाँ नहीं रहने दे सकता। इसमें न आप बाधा दे सकते हैं और न मेरे पिता बाधा दे सकते हैं। मैं इस भोली बालिका को दुर्वृत्त लोगों की दया पर नहीं छोड़ सकता। आप और पिताजी यदि मेरी बात नहीं मानते तो हम दोनों का गला घोंट दीजिए। हम यहीं समाप्त हो जायेंगे। मगर मैं मैना को यहाँ अकेली नहीं छोड़ सकता। मैंने मैना की रक्षा का वचन दिया है। आप नहीं जानते कि यहाँ कैसे पापी बसते हैं !"

देवरात आर्यक की बात समझ रहे थे, परन्तु वे यह नहीं जानने देना चाहते थे कि उन्होंने मैना का पत्र पढ़ लिया है। भोली मुद्रा बनाकर बोले, "तुम जो कह रहे हो वह ठीक हो सकता है, बेटा। परन्तु मुझे मालूम है कि तुम्हारे पिता इसका विरोध करेंगे। उनकी अनुमति तो मुझे लेनी ही पड़ेगी। और दूसरी बात यह है कि मैं अपनी कन्या को तभी तुम्हारे साथ जाने दूँगा, जब तुम अग्नि को साक्षी करके इसकी रक्षा की प्रतिज्ञा करो। और इसका मतलब क्या है, जानते हो ! इसका मतलब होगा कि तुम शास्त्र-विधि से मैना का पाणिग्रहण करो और देवताओं को साक्षी बनाकर यावज्जीवन इसके सम्मान की रक्षा की प्रतिज्ञा करो।"

आर्यक ने कभी सोचा भी नहीं था कि उसके गुरु एकाएक ऐसी बात कह देंगे। विवाह की कल्पना तो उसके मन में कहीं उठी ही नहीं थी। एकाएक लजा गया। उसकी गर्दन जो झुकी तो मानो टूट ही गयी। मैना के साथ विवाह ! यह भी क्या कोई बात-की-बात हुई ! आर्यक ने उसकी रक्षा की जो प्रतिज्ञा की है, वह क्या विवाह के बिना नहीं पूरी हो सकती। गुरुदेव कह क्या रहे हैं ! परन्तु उसके मन के किसी अज्ञात कोने से एक प्रच्छन्न परितोष की भावना भी ऊपर उठने लगी। मैना वधू के रूप में मेरे घर जायेगी ! यह तो विचित्र बात है।

देवरात ने आर्यक के अन्तर्द्वन्द्व को समझ लिया। बोले, "तुम शान्त भाव से सोच लो बेटा! चाहो तो मैना से भी पूछ लो। परन्तु तुम्हारे पिता की अनुमति तो मुझे लेनी ही पड़ेगी। मैं यह जानता हूँ कि उनसे स्वीकृति लेना कठिन कार्य है।"

आर्यक सिर झुकाये चुपचाप खड़ा रहा। उसके मुँह से कोई बात ही नहीं निकली। एक बात पर वह पूर्ण रूप से दृढ़ था—चाहे जो हो जाये, वह मैना को अकेली नहीं छोड़ेगा। वह वचन दे चुका है। अब पीछे नहीं हट सकता।

आर्यक जब चुपचाप भाला लेकर घर से निकल पड़ा था, तब वृद्धगोप को कुछ भी पता नहीं था कि वह कहाँ गया है। लेकिन शीघ्र ही गाँव के लड़कों से उन्हें पता चल गया कि आर्यक गुस्से के साथ भाला लेकर हलद्वीप की ओर गया है। उनके मन में कुछ आशंका हुई। खोज-पूछ करने पर उन्हें यह भी पता चल गया कि सुदिन्न आकर उसे कुछ सन्देश दे गया है। आर्यक के लौटने में जब विलम्ब हुआ तो वे भी देवरात के आश्रम की ओर उसे ढूँढ़ने के लिए चल पड़े और आर्यक को उसी अवस्था में उन्होंने देखा। देवरात ने वृद्धगोप को देखकर प्रसन्नता प्रकट की और आर्यक को वहीं छोड़कर उन्हें अन्यत्र ले गये। देर तक दोनों में बातचीत होती रही। सारी स्थिति समझकर वृद्धगोप को अपने पुत्र के हठ के सामने झुकना पड़ा। वे जानते थे कि उनके कुल-परिवार के लोग इस विवाह का समर्थन नहीं करेंगे, परन्तु वृद्धावस्था में वे अपने पुत्र से भी हाथ धोना नहीं चाहते थे। अन्त में यही तय पाया कि आर्यक और मृणालमंजरी का विवाह तुरन्त कर दिया जाये और पुत्र और पुत्रवधू को लेकर ही वृद्धगोप घर लौटें। हुआ भी ऐसा ही।

छह

मृणालमंजरी के विवाह के एक दिन पूर्व वृद्धगोप ने उसकी माता की धरोहर देवरात को सौंप दी। लाल चीनांशुक में लिपटी हुई वह प्रतोलिका (पेटी) इतने दिनों तक ज्यों-की-त्यों रखी थी। वह लगभग एक बित्ता लम्बी, चार अंगुल चौड़ी और इतनी ही गहरी थी। वृद्धगोप ने उसे न तो खोलकर देखा ही था, न उसे कभी झाड़-झूड़कर साफ़ ही किया था। इतने दिनों तक पड़े रहने के कारण उसके ऊपर धूल की परत-सी जम गयी थी। देवरात ने उसे लिया और अपने उपासना-गृह में ले जाकर सावधानी से खोला। चीनांशुक के भीतर दुर्लभ कर्पूर-काष्ठ की एक चौकोर पेटी थी। ऊपर के पाटे पर मनोहर कल्पवल्ली अंकित थी। कदाचित् मंजुला ने स्वयं अपने हाथ से उसे आँका था। उसमें मनःशिला, हिंगुल, हरिताल और गोरोचन से बने रंगों का प्रयोग किया गया था। दक्षिणावर्त शंख के आधार पर गतिशील मृणालमंजरी में अर्धस्फुट कमल का अभिप्राय देकर उसका आरम्भ हुआ था और फिर कमलिनी-पत्रों की ऊर्ध्वगामिनी धारा-सी चित्रित की गयी थी

और बीच में सुर-सुन्दरियों की विभिन्न मुद्राएँ उन्हीं में से इस प्रकार निकल आयी थीं, मानो सहज अंकुरित किसलय ही हों। कई सुर-सुन्दरियों के हाथों में चन्द्र-किरणों के समान धवल-कमनीय क्षौम वस्त्र और कौशेय उत्तरीय, और कई की सिक्थचर्चित नाखूनवाली अंगुलियों में सुकुमार भाव से गृहीत मांगल्यमालिका, कंकण-वलय, कल्याण अंगुलीयक, लाक्षा-रस-रंजित शुभ्र वस्त्र, हेमाभरण, श्रोणी-सूत्र, रसना-कलाप आदि अलंकार इस प्रकार चित्रित थे मानो वे किसी को स्नेह-पूर्वक दिये जा रहे हों। कल्पवल्ली की योजना कुछ ऐसे कौशल से की गयी थी कि स्थान-स्थान पर चक्रवाक-मिथुन, पारावत-युगल, विद्याधर-दम्पती और हंस-वलाका की पंक्तियाँ अनायास निकलती चली गयी थीं। छन्दोधारा की इस अद्भुत योजना में चित्रित सौम्यभाव उफन आया था। निश्चय ही मंजुला ने अपनी प्यारी पुत्री के विवाहोत्सव पर ऐसे ही मांगल्य उपहारों की कामना की थी। देवरात की आँखों में आँसू आ गये। हाय, मातृहीना कन्या के विवाह के अवसर पर वे इस मंगल-कामना का शतांश भी तो पूरा नहीं कर सकते। उन्हें लगा कि मंजुला आकर सामने खड़ी है, पूछ रही है, 'आर्य देवरात, मेरी बेटी के लिए तुमने क्या किया ?' 'कुछ नहीं कर सका देवि, इस अकिंचन के पास रखा ही क्या है, जो तुम्हारी इस प्यारी कन्या को दे सकूँ ! यह तुम्हारी कल्पवल्ली ही उसे प्राप्त हो, इस इच्छा के अतिरिक्त देने योग्य मेरे पास यहाँ कुछ नहीं है देवि, कुछ नहीं !' उनका चित्त व्याकुल हुआ। वे पेटी हाथ में लेकर देर तक ध्यान-मग्न बैठे रहे। कब मंजुला ने ऐसी कामना की होगी ? क्या उसे अपनी मृत्यु का आभास पहले ही मिल गया था ? इस कल्पवल्ली में उसने अपने प्राण ही उँड़ेल दिये हैं। कल्पवल्ली, जिसका अर्थ नहीं होता, भाव नहीं होता, मतलब नहीं होता, होता है केवल छन्द, केवल लय, केवल गति—विशुद्ध इच्छा ! तपःपूत महात्मा के आशीर्वाद के समान वह मंगलेच्छा-मात्र है, अर्थ उसके पीछे दौड़ता है। जो नृत्य में ताण्डव है, वही चित्र में कल्पवल्ली और आचार में मांगल्य आशीर्वाद है। मंजुला ने मातृ-हृदय को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर इसमें ढाल दिया है। 'हाय देवि, देवरात तुम्हारे किसी काम नहीं आया !' पर इस कल्पवल्ली के आधार रूप में मंजुला ने दक्षिणावर्त शंख को क्यों चुना ? शंख मांगल्य है, दक्षिणावर्त और भी दुर्लभ मांगल्य, पर यहाँ क्यों ? हाय, जीवन से निराश माता के मन में वह कौन-सी साध थी, जो इस द्वारा संकेतित है ? शंख अनन्त का प्रतीक है, वह विष्णु की स्थानव्यापिनी अनन्त महिमा का चिह्न है, वह अपार धनराशि का आशीर्वाद है। पर सारे अन्य मांगल्यों को छोड़कर मंजुला ने यहाँ इसे ही क्यों चुना ? कल्पवल्ली का आधार दक्षिणावर्त शंख ! देवरात को हैरानी हुई। कहीं तो ऐसा नहीं देखा, नहीं सुना !

पाटे के कोने में बँधी हुई छोटी-सी कुंचिका से उन्होंने उसे खोला। ऊपर समान आकार के कटे हुए पाँच भूर्जपत्रों पर लिखा हुआ एक पत्र था। एक महीन रजत-शलाका भी उस पर पड़ी हुई थी। सारा पत्र उस शलाका से लिखा जान पड़ता था। हाथ में लेकर देवरात ने उसे उलट-पुलटकर देखा, रोमांच हो आया। सारा

शरीर उद्भिन्न-केसर कदम्ब-पुष्प की भाँति कण्टकित हो उठा। यह तो मंजुला की मनोहर आँखों में काजल लगानेवाली शलाका है! सारा पत्र काजल को ही स्याही बनाकर लिखा गया था। देवरात का हृदय बुरी तरह धड़कने लगा। उनके मुँह से अनायास निकल पड़ा—'विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणाम्'—सुर-सुन्दरियों के प्रसाधन के बाद बचे हुए सिंगारदान के रंग से! तो मंजुला ने अपने सिंगारदान की सबसे महार्घ और सबसे मोहन प्रसाधन-सामग्री से यह पत्र लिखा है। क्षण-भर में मंजुला की बड़ी-बड़ी काली आँखें उन्हें याद आ गयीं, भरी सभा में उस दिन इसी काजल से रंजित आँखों की बिव्वोक-चटुल मुद्रा में उसने लीलापूर्वक देखा था। देवरात ने उसका अर्थ समझा था, 'बुरा तो नहीं मान गये? बुरा नहीं माना करते।' हाय, अब वह कटाक्ष नहीं है, उसका सहायक काजल आज सामने है। देवरात क्षण-भर के लिए पुलकित भी हुए। उन्होंने अपने को सम्हालने का प्रयत्न करते हुए पत्र पढ़ा। अक्षर मोतियों के समान स्पष्ट और गुम्फित थे। लिखा था :

"स्वस्ति। आर्य देवरात योग्य। प्रणाम-पुरस्सर अधमा दासी मंजुला की विनम्र अभ्यर्थना। चरण-कमलों में सप्रश्रय विनिवेदन। अपराध क्षमा हो। प्रत्यग्र-मनोहर अंगीकार हो—

दुल्लह जण अणुराउ गरु लज्ज परव्वसु प्राणु।
सहि मणु विसम सिणेह बसु मरणु सरणु णहु आणु।।

आर्य, बड़ी साध थी कि इस अधमा दासी के घर को तुम्हारे पवित्र चरणों की धूलि का स्पर्श मिलता। परन्तु यह बालक की चाँद पकड़ने की लालसा के समान दुर्ललित इच्छा-मात्र है, यह मैं जानती हूँ। बड़ी साध थी कि तुम्हारे चरणों को स्वयं इन हाथों से धोकर, इन केशों से पोंछकर अपना कलुष धो डालूँ। यह नहीं हो सका, नहीं होना उचित ही है। यहाँ मिट्टी के गाहक आते हैं। अपना सर्वस्व उलीचकर, पाप खरीदकर लौट जाते हैं। पुरुषत्व के वे कलंक हैं, स्त्रीत्व के अपमानकारी। वे रसिकम्मन्य होते हैं, रसिक नहीं। इस विटों, विदूषकों और बन्धुलों के स्वर्ग में केवल नरक-यातना के अधिकारी ही आते हैं। यहाँ कामुकता को पुरुषार्थ, भोंड़ेपन को सरसता, मूर्खता को विदग्धता, स्त्रैण भाव को पौरुष माना जाता है। यहाँ तुम्हारा न आना ही उचित है। मेरी श्रद्धा में भी वासना का पंक था, भक्ति में भी अभिलाषा की कालिख लगी हुई थी। गणिका केवल पाना चाहती है। मंजुला ने देने का अभिनय किया था, पर इस दान में भी दारुण ग्रहण-लालसा की ज्वाला थी। तुम नहीं आये, अच्छा ही हुआ। जानती हूँ, तुम्हारी शुचिता अमोघ है। असुर-संसर्ग से लक्ष्मी दूषित नहीं होती। अन्धकार में दीपशिखा और भी अधिक चमकती है, मेघ-माला में बिजली और भी उज्ज्वल हो जाती है, इस अपवित्र गृह में तुम्हारी शुचिता और भी ज्वलन्त रूप में प्रकट होती। परन्तु मैंने मिट्टी के आकर्षण की महिमा देखी है। इसीलिए मैं डरी रहती हूँ। तुम नहीं आये, बहुत अच्छा हुआ। कम-से-कम मेरा दुर्बल चित्त आश्वस्त है। महाभाव का रहस्य मुझे नहीं मिल सका, पर महाभाव का आभास मुझे मिल गया है। क्षमा करना प्रभो,

मैंने तुम्हारी भाव-मूर्त्ति में ही विश्राम पाया है। जिन दिनों इस भाव-मूर्त्ति की मैं पूजा करने लगी, आसन, शयन और स्वप्न में उसी दिव्य मनोहर मूर्त्ति का ध्यान करने लगी, उस समय भी मिट्टी के गाहक आते रहते थे, परन्तु आत्मा का, मन का, बुद्धि का गाहक यह भाव-मूर्त्ति थी। चोरी है, पर मैं परवस थी, आज भी हूँ।

"कैसे बताऊँ स्वामिन्, मंजुला का जीवन कितना तृषित है! तुमने कहा था कि तेरा देवता तेरे भीतर है। मानती हूँ, अवश्य होगा। पर तुम जो नहीं समझ सकोगे, वह यह है कि स्त्री का देवता माध्यम खोजता है, ठोस ग्रहणीय माध्यम! साध्वी रमणियाँ पति का माध्यम पा लेती हैं। वे धन्य हैं, स्पृहणीय हैं। पर हाय, गणिका का माध्यम नहीं होता। वह जुगुप्सित भोग के विकट दावानल में झुलसती रहती है। नारी का जीवन किसी एक को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर ही चरितार्थ होता है। वह अपने देवता को इसी प्रकार पा जाती है। मैं कहाँ से यह साधना प्राप्त करती? सो मैंने चोरी की है। मैंने तुम्हारी भाव-मूर्त्ति को माध्यम बनाने की धृष्टता की है। प्रभो, इसे अन्यथा न मानना।

"परवशता ने मुझे अपने-आपको पाने का उल्लास दिया है। जिन दिनों यह उल्लास अपनी चरम सीमा पर था, उन्हीं दिनों मेरी कुक्षि में एक कन्या अयाचित, अवांछित, अनाहूत आ गयी। मैं नहीं जानती कि इसके मृण्मय देह का पिता कौन है! पर इतना निश्चित है कि इसके चिन्मय रूप के पिता देवरात हैं, इसमें मुझे रंच-मात्र सन्देह नहीं है। मुझे सन्तोष है कि इस पापिनी का आवरण भेदकर निष्पाप मंजुला निकल आयी है। यह पाप-वृत्ति की पुण्य परिणति है। इसमें कमल-पुष्प के भाववाही प्रच्छन्न मृणाल की शुचिता और स्निग्धता है, तुलसी-मंजरी का सौरभ और गौरव है। जान-बूझकर मैंने इसका नाम मृणालमंजरी दिया है, अनमिल है, कल्पित है, उत्प्रेक्षित है, पर मेरी हार्दिक भावना का व्यंजक है। इसकी जो मृण्मयी काया है वह परवशा माता का दान है, और इसकी जो चिन्मयी ज्योति होगी वह तुम्हारे-जैसे मनस्वी पिता की देन होगी। सो आर्य, यह तुम्हारी ही कन्या है। तुम्हीं इसके पिता हो, माता हो, गुरु हो। तुम्हारा धन तुम्हें ही समर्पित है! हाय, कभी प्रत्यक्ष मिलकर अपनी निदारुण वेदना तुम्हें बता पाती!

"मुझे दुर्निमित्त दिखायी देने लगे हैं, मैं अधिक दिन नहीं बचूँगी। तुम्हें पाती तो इसे तुम्हारी गोद में देकर निश्चिन्त हो जाती। पर जानती हूँ, तुम इस अधमा की शुद्ध अभ्यर्थना को अस्वीकार नहीं करोगे।

"प्रभो, पापिनी ने तुम्हारे ऊपर जो भार डाल दिया, उसे मन में न लाना। मैंने जीवन में दो काम किये हैं—पाप और कला-साधना। दोनों से अर्थोपार्जन किया है। परन्तु आर्य, नृत्य और गीत को मैं पूजा मानकर ही चली हूँ। इसके लिए मैंने अहंकार का कवच धारण किया था। लोग मुझे महाभिमानिनी ही मानते हैं। इससे अनायास और अयाचित जो कुछ मिल गया है, उसे मैं बहुत पवित्र समझकर अलग रखती आयी हूँ। उस धन से जो कुछ हो सका है, वही इस कन्या को दे सकती हूँ। पाप की कमाई से उपार्जित धन को तुम्हारी कन्या के

लिए कैसे रख सकती हूँ ? वह इस पत्र के साथ है। उचित समझना तो बेटी के व्याह के अवसर पर उसकी माता के आशीर्वाद के रूप में पहना देना। इति।"

देवरात ने पत्र पढ़कर दीर्घ निःश्वास किया। पत्र के नीचे लाक्षा-रंजित रुई के कोमल परत थे। पहले परत के नीचे एक मुक्तादाम था—मोतियों का एक-लरा हार। उसके नीचे पद्मराग-मणि जड़ी हुई मुद्रिका थी, जो हाथीदाँत के कंकणों और शंख के बने हुए वलयों के बीच रखी हुई थी। उसके नीचे दो शिरीष-पुष्प की आकृति के कर्णावतंस थे, जो महीन हेम-गुणों के हार के बीच रखे हुए थे। एक हाथीदाँत की छोटी-सी डिबिया में पीला सिन्दूर भी रखा हुआ था। बस !

देवरात अभिभूत, निश्चेष्ट ! थोड़ी देर तक वे वैसे ही बैठे रहे। ऐसा जान पड़ा जैसे उनके सारे इन्द्रिय-व्यापार बाहर से हटकर भीतर की ओर सिमट आये हों। धीरे-धीरे उनमें नयी चेतना आयी। उन्होंने सारे अलंकारों को फिर से यथास्थान रखा। सबके ऊपर पत्र रखने लगे तो देखा कि अन्तिम पन्ने की पीठ पर कुछ और भी लिखा है। उस पर उनका ध्यान नहीं गया था। यह लिखावट बाद की रही होगी। इसमें न तो काजल की स्याही थी, न शलाका की लेखनी। इसे लाल रंग की चमकदार स्याही से लिखा गया था। लिखा था—"अन्यच्च ! बड़ी साध यह भी थी आर्य, कि कभी प्रत्यक्ष पूछती कि आपने जो कहा था कि आपका बासी घाव मेरी कविता से ताज़ा हो गया था, वह क्या था ? क्या मंजुला उस घाव की पीड़ा को रंचमात्र भी कम करने योग्य है ! पर बात मुँह से निकल ही नहीं पायी। हाय अधमे, इतनी लज्जा भी क्या ?"

देवरात को हूक-सी उठी। वे कराहकर रह गये। ऐसा लगा जैसे किसी ने मर्मस्थल को ही छेद दिया है। आँखों से अविरल अश्रुधारा बह चली।

वे देर तक भ्रमित की भाँति, चकित की भाँति, खोये हुए की भाँति ध्यानमग्न बैठे रहे। मंजुला की एक-एक मुद्रा उनके सामने प्रत्यक्ष-सी उपस्थित होने लगी। प्रथम बार राज-सभा में जब उसे देखा था, तो उनका चित्त ललक उठा था। अभिमानिनी मंजुला ने उनकी ओर इस प्रकार देखा था, मानो किसी घृणास्पद व्यक्ति को देख रही हो। उसने तिरस्कार-भरी दृष्टि डालकर तुरन्त हटा ली थी, जैसे किसी अपात्र के संसर्ग से उसमें दोष आ जाने की आशंका हो। देवरात के चेहरे पर उस दिन उल्लास और परिताप एक साथ दौड़ आये थे। वे उसकी ओर साभिलाष-सी दृष्टि से देखते रहे। गणिका ने उपेक्षा की थी, पर उसके अन्तर्यामी ही जानते थे कि वह छिपी दृष्टि से उनके साभिलाष म्लान मुख को देखकर क्रूर आनन्द पा रही थी। उसे यह समझने में रस मिला था कि यह साधुवेशी देवरात लम्पट है, भण्ड है। किसी दिन वह उसके तलवे चाटने का प्रयास करेगा, यह वह निश्चित मान बैठी थी ! पर देवरात पर कुछ और ही बीत रही थी।

देवरात के वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह अग्निमित्र के प्रमुख सेनानियों में थे। सिन्धुनदी के तट पर यवनों को शिकस्त देने में उनका विशेष योगदान था। वे प्रख्यात यौधेय क्षत्रिय वंश के थे। उन्हीं दिनों उन्हें कुलूत राज्य का सामन्त-पद

दिया गया था। शुंगों के पतन के बाद भी यह राज्य बना रहा। देवरात के पिता यज्ञरात ने दीर्घकाल तक राज्य किया था। उनके शासनकाल में प्रजा में बहुत शान्ति और विश्वास था। देवरात जब अट्ठारह साल के हुए, तो उनकी विमाता की कुक्षि से एक और भाई उन्हें प्राप्त हुआ। उनकी विमाता देवरात से भयभीत रहती थीं। उन्हें भय था कि देवरात ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राजा होंगे और उनका पुत्र इससे वंचित रह जायेगा। वे नाना प्रकार से देवरात को अपदस्थ करने का उपाय करने लगीं। देवरात को राजा बनने का कोई लोभ नहीं था। उन्होंने विमाता को आश्वस्त करना चाहा कि वे छोटे भाई को ही राजा बनायेंगे, पर प्रजा इस समाचार से चिन्तित हुई। प्रजा देवरात को बहुत प्यार करती थी। प्रजा के इस व्यवहार से देवरात की माता ने और भी चण्ड-रूप धारण किया। देवरात जब उन्नीस वर्ष के हुए, तो उनके पिता ने उनका विवाह औशीनर वंश की एक रूपवती कन्या शर्मिष्ठा से कर दिया। शर्मिष्ठा रूप, गुण और शील में सचमुच शर्मिष्ठा थी। देवरात ऐसी पत्नी पाकर कृतार्थ हो गये। दोनों का प्रेम बहुत गाढ़ था। प्रजा में देवरात और शर्मिष्ठा राम-जानकी की भाँति श्रद्धा, विश्वास और प्यार की दृष्टि से देखे जाने लगे। विमाता की प्रतिक्रिया और भी तीव्र होती गयी। ऐसे ही समय हूणों का आक्रमण पश्चिमी सीमान्त पर हुआ। उसका धक्का कुलूत के पार्वत्य प्रदेश को भी अनुभूत हुआ। देवरात को पिता ने इस विपत्ति से रक्षा करने का भार दिया। वे यौधेय सेना के सेनापति के रूप में गन्धार की ओर रवाना हुए। शर्मिष्ठा ने कोई कातरता नहीं दिखायी, पर भीतर-ही-भीतर वह मुरझा अवश्य गयी। देवरात ने बड़ी बहादुरी से हूणवाहिनी को विध्वस्त किया। लेकिन उनकी विमाता ने झूठमूठ ही बहू को देवरात के मारे जाने का समाचार दे दिया। शर्मिष्ठा को बड़ा शोक हुआ। कहा जाता था कि उसके शरीर से स्वयं अग्नि की ज्वाला निकली और वह सती हो गयी। पर अधिक जानकार लोगों का विश्वास था कि विमाता ने स्वयं चिता सजाकर उसे सती होने को उत्साहित किया था। विजयी देवरात लौटे तो उनका संसार नष्ट हो चुका था। उन्हें शोक और निराशा ने विक्षिप्त बना दिया। राजपाट छोड़कर वे रमता-राम बन गये और देश-विदेश घूमते रहे, पर कहीं शान्ति नहीं मिली। अन्त में हलद्वीप में उन्हें शान्ति मिली। हृदय का घाव ताज़ा हो गया, पर चित्त का विक्षोभ जाता रहा। देवरात के अन्तर्यामी ही इसका कारण जानते थे, और किसी को इसका रहस्य मालूम नहीं।

हुआ यह कि जब राजा का आमन्त्रण स्वीकार कर देवरात प्रथम बार राजसभा में गये तो मंजुला भी आयी हुई थी। उसके नृत्य का उस दिन आयोजन था। देवरात ने मंजुला को देखा और आश्चर्य से ठक् हो गये। उन्हें ऐसा लगा कि शर्मिष्ठा ही स्वर्ग से उतरकर आ रही है। वही रूप, वही रंग, वही कान्ति, वही हँसी! मंजुला का क़द ज़रूर जौ-भर छोटा था, पर उससे कोई विशेष अन्तर नहीं आता था। उनके हृदय में टीस अनुभूत हुई, पर साथ ही सन्तोष भी हुआ। जिस रूप को देखने के लिए उनका हृदय व्याकुल था, वह अब भी देखने को

मिल सकता है। यह नहीं कि वे शर्मिष्ठा और मंजुला के अन्तर को नहीं समझ सके। भिन्न है, पर फिर भी उसका हल्का आभास मिल रहा है। वे साभिलाष दृष्टि से एकटक मंजुला को देखते रह गये। मंजुला ने उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा, देवरात को भण्ड तापस समझकर घृणा-भरी आँखों से चोट पहुँचानी चाही, पर देवरात को निधि-सी मिल गयी। मंजुला के बोल भी वैसे ही मीठे थे। जब वह गाती, तो उनका अंग-अंग पुलक-कम्प से सिहर उठता। देवरात इस लोभ से हलद्वीप में रुक गये कि कभी-कभी यह रूप देखने को मिलेगा। आज मंजुला भी नहीं है, वह रूप भी इस धरती से उठ गया है। रह-रहकर उनके हृदय में शर्मिष्ठा और मंजुला आती रहीं। देवरात निश्चेष्ट बैठे रहे। वे व्याकुल थे, व्यथित थे। हाँ देवि, बासी घाव ताज़ा हो गया था। इसके लिए प्राण देकर भी तुम्हारे ऋण से उद्धार नहीं होगा। हाय, बासी घाव अब ताज़ा नहीं होता। देवरात आज सचमुच अकिंचन हैं। कैसे बताऊँ देवि, तुम्हारे दर्शन-मात्र से क्यों सारा सत्त्व उमड़ आता था! तुम इस घाव का क्या उपचार कर सकती थीं, शुभे! घाव का बार-बार ताज़ा हो जाना क्या साधारण उपचार था? कृतज्ञ हूँ देवि, आज घाव पर घाव हो गया है; फिर भी, जो जी रहा हूँ सो तुम्हारे उपचार के सहारे ही। इस रोग की औषधि मृणालमंजरी है। तुम्हारा प्रसाद पाकर मैं धन्य हुआ हूँ। आश्वस्त हूँ देवि, मुझे शर्मिष्ठा और मंजुला का सम्मिलित रिक्थ मिल गया है। हाय देवि, कैसे बताऊँ कि तुमने इस शून्य हृदय में विश्वास का पारावार हिल्लोलित किया है, उल्लास की झंझा बहा दी है। आज जो हृदय शान्त है, जीवन लक्ष्यहीन नहीं जान पड़ता, पूजा निष्फल नहीं हो रही है, सेवा चरितार्थ बनती जा रही है, वह भी तुम्हारी ही कृपा है। तुममें मैंने शर्मिष्ठा को देखा था। मेरे हृदय-विहारी देवता ने तुम्हारे भीतर मृणालमंजरी को देकर मेरी शर्मिष्ठा को नया रूप दे दिया है। तुमने माध्यम की कल्पना की थी, मैंने रूपवती माध्यम-मूर्त्ति पायी थी। क्या करूँ देवि, जो तुम्हारी, शर्मिष्ठा की और मेरी स्नेहमूर्त्ति कन्या को सुखी बना सके! हाय देवि, कितनी बार तुम्हें देखकर लगा, शर्मिष्ठा ही मिल गयी है। कितनी बार मुँह से परिचित सम्बोधन 'प्रिये' आ-आकर लौट गया है। कितनी बार हृदय ऐसी उछालें भरता रहा है कि मानो कूदकर तुम्हारे हृदय में प्रवेश कर जायेगा, कितनी बार भुजाएँ ऐसी फड़की हैं जैसे संयम के सारे बन्धन तोड़कर तुम्हें कस लेंगी, कितनी बार, कितनी बार! मेरे हृदय में बैठी शर्मिष्ठा ने हर बार सावधान किया है—धोखा है, छलना है, भ्रान्ति है! और हर बार मेरी उमड़ी हुई मानस-तरंगें तट-देश पर पछाड़ खाकर गिरी हैं। देवि, तुम्हें नहीं मालूम, पर मुझे मालूम है। हाय देवि, बासी को ताज़ा करने का रहस्य जानना चाहती थीं? जानतीं तो तुम्हें कैसा लगता? विधाता ने बाह्य रूप का इतना साम्य देकर न जाने क्या करना चाहा था। अब देखता हूँ, आन्तर रूप भी वही है, वैसा ही कोमल है, वैसा ही कमनीय, वैसा ही कल्पनाशील। जो जीते-जी नहीं कह सका, वह अब कहना चाहता हूँ पर अब क्या लाभ है प्रिये!

देवरात के सामने शर्मिष्ठा की मनोहारिणी मूर्त्ति उदित हो आयी। हाय रानी, तुमने अपने ऊपर विश्वास क्यों खो दिया! जिसे तुम्हारी-जैसी सती नारी के सतीत्व का कवच प्राप्त हो, वह कहीं मृत्यु का शिकार बन सकता है? तुमने बड़ी जल्दी की, प्रिये! हाय, तुम चली गयीं, पर अभागा देवरात आज भी जीवित है। हाय रानी, मृत्यु के बाद भी तुम जिस निष्ठा के साथ देवरात की रक्षा कर रही हो, उसका विश्वास जीवित अवस्था में तुमने कैसे खो दिया? तुमने प्रेम का उज्ज्वल रूप आचरण से स्पष्ट कर दिया। अभागा देवरात क्षण-क्षण मरकर भी, तिल-तिल जलकर भी, कहाँ उसे छू सका? आज नीचे से ऊपर तक जल रहा हूँ रानी। कोई सहायता करनेवाला नहीं है। मृणाल तुम्हारी ही कन्या है, तुम्हारा ही रूप है, तुम जानती भी नहीं। जिस मंजुला को तुमने सदा मृग-मरीचिका बताया है, उसी के पेट से इसका जन्म हुआ है। मैं नहीं जानता, तुम नहीं जानतीं, पर है यह हमारी ही कन्या। आओ रानी, आज अपनी बेटी के मंगल-विवाह के अवसर पर आओ! दीन देवरात पर तरस खाओ! आओ!

हाय, दो माताएँ जिसकी हों, वह आज मातृहीना है! हाय रे भाग्य, देवरात आज अपूर्ण है, असहाय है, अनवलम्ब है!

बेटी मृणालमंजरी, क्या देकर तुझे विदा करूँगा? तेरे चले जाने के बाद तेरा यह भाग्यहीन पिता क्या जीवित रह सकेगा? हे स्वर्ग के पितृ-पितामहगण, तुम्हारे भरोसे इस कन्या को छोड़ रहा हूँ। हा विधाता!

देवरात का हृदय फट जाना चाहता है। शर्मिष्ठा छोड़कर चली गयी, मंजुला बिना आये ही चली गयी और दोनों की नयनतारा मृणाल कसकर बाँधकर जाना चाहती है। हाय बेटी, तू भी चली जायेगी?

पिता के लौटने में देर हो रही थी। उधर मृणाल भावी वियोग की आशंका से उदास बैठी थी। कब पिताजी आयें, कब उनकी गोद में मुँह छिपाकर वह रोकर मन हल्का करे। परन्तु कहाँ, पिताजी तो अपने उपासना-गृह में गये तो वहीं के हो रहे। लौटते क्यों नहीं? इतनी देर तो कभी नहीं हुई। मृणाल व्याकुल-भाव से उनकी बाट जोहती रही। अब वह शंकित होने लगी। कुछ हो तो नहीं गया? बाहर क्यों नहीं आ रहे हैं? वह धीरे-धीरे पैर दबाकर चलती हुई उपासना-गृह की ओर गयी। द्वार का कपाट बन्द था। वह कान लगाकर आहट लेने लगी। देवरात उस समय बेसुध थे। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। वे फफक-फफककर रो रहे थे—'हाय बेटी, अकिंचन पिता को क्षमा कर देना। तुझे कुछ भी नहीं दे सका। दो माताएँ जिसकी हों, वह मातृहीना, अनाथ! हा विधाता!'

मृणाल ने सुना तो फूट पड़ी। पिताजी मेरे लिए व्याकुल हैं। वह जोर-जोर से चिल्ला उठी—"पिताजी, हाय पिताजी!" और पछाड़ खाकर गिर पड़ी। जैसे किसी ने रस्सी से बाँधकर जोर से खींच लिया हो, इस प्रकार देवरात का ध्यान एकाएक कन्या की आवाज से खिंच गया। वे धड़फड़ाकर उठे और मृणाल को गोद में लेकर प्यार करने लगे। स्वप्न टूट गया। वे फूट-फूटकर रो पड़े।

देर तक मृणाल को गोदी में लिये हुए देवरात रोते रहे। देर तक पिता की गोदी में अलसशिथिला मृणाल सुदकती रही। किसी ने कुछ नहीं कहा। दोनों समझते रहे कि दोनों के मन पर क्या बीत रही है। अन्त में देवरात ने ही साहस बटोरा। बेटी का मुँह अपनी ओर किया। माथा सूँघा, ललाट चूम लिया। बोले, "बेटी, तू दो माताओं की प्यारी बेटी है। पर आज दोनों ही नहीं हैं। रह गया है यह अभागा अकिंचन पिता देवरात! विवाह के अवसर पर पिता अपूर्ण होता है, देवरात तो और भी अपंग है। मुझे ही तेरी माता का काम करना है। हाय बेटी, विश्वास हिल रहा है, आस्था टूट रही है। क्या करूँ! प्राण व्याकुल हैं। तू शर्मिष्ठा का सतीत्व और मंजुला की कला-चातुरी लेकर उतरी है। तेरी एक माता नारायण की करुणा का अवतार थी, दूसरी उनकी स्मित-रेखा का प्रत्यक्ष विग्रह थी। बेटी, तू नारी-धर्म का प्रतिमान बनेगी, तू पवित्रता की मर्यादा सिद्ध होगी, तू सतीत्व का निदर्शन होगी। तुझे देखता हूँ तो लगता है कि तू गोपवेशधारी विष्णु की वेणुमाधुरी का रूप है। तेरा अकिंचन पिता तुझे कुछ दे नहीं सकता, पर मेरी प्यारी बेटी, स्वर्ग से तेरी माताएँ ही वह सब देंगी, जो बेटी को दिया जा सकता है।"

मृणाल ने दो माताओं की बात पहली बार सुनी। उसे आश्रम में शुश्रूषा और सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से आयी हुई पौर-वधुओं से यह पता चल गया था कि वह हलद्वीप की नगरश्री मंजुला की औरस पुत्री है। उसे यह भी पता था कि वह देवरात की पालिता कन्या है। पर दो माताओं की बात उसकी समझ में नहीं आयी। वह देवरात की ओर आँखें फाड़कर देखती रही। उसने उन्हें ही अपना सब-कुछ जाना था। वह इतना समझती थी कि जन्म देना ही एकमात्र जनकत्व और जननीत्व नहीं है। देवरात उसके पिता, माता, गुरु सबकुछ थे। बाकी बातें उसके लिए गौण थीं। देवरात ने उसे कभी यह नहीं बताया था कि उसकी जननी कौन है, यद्यपि वे जान गये थे कि मुखरा पौरवधुएँ उसे सब-कुछ बता चुकी हैं। परन्तु आज जिस प्रकार यह बात कह रहे हैं उससे लगता है कि किसी अतल गाम्भीर्य की वेदना से सिक्त होकर ये शब्द उनके मुँह से निकल रहे हैं। वे कुछ कहना चाहते हैं, कह नहीं पा रहे हैं। उनका चित्त व्याकुल है, उत्क्षिप्त है, निर्मथित है। मृणाल ने अपने कोमल बाहुओं से उनका गला इस प्रकार जकड़ लिया जैसे वह नन्ही-सी बालिका हो। भरे स्वर में बोली, "मेरे एक ही पिता हैं, वही माता हैं, वही सब-कुछ हैं। पिताजी, मुझे और कुछ न बताओ। मैं इससे अधिक कुछ नहीं जानना चाहती।" देवरात इन शब्दों की सच्चाई के जानकार थे, पर कहे बिना उनसे रहा नहीं जा रहा था। केवल कहने का ढंग क्या हो, यही प्रश्न उनके सामने था। कहना वे अवश्य चाहते थे। आज नहीं कह सके तो फिर कभी नहीं कह सकेंगे। बोले, "बेटी, यह जो अपने पिता को देख रही है न, उसमें तीन प्राणियों का निवास है। एक तेरी प्रथमा माता है—शर्मिष्ठा। औशीनरों की बेटी, यौधेयों की बहू, देवरात की सब-कुछ—उसका प्राण, उसका मन, उसकी सम्पूर्ण सत्ता।

दूसरी है तेरी जननी मंजुला—छन्दों की रानी, लय की नर्मसंगिनी, माधुर्य की उत्सभूमि। वह थी देवरात की आशा, प्रेरणा, जीवनदात्री, मनःसंयमिनी, प्राण-रक्षिणी! तीसरा यह अकिंचन, अधूरा, निरवलम्ब, असहाय, तेरा पिता देवरात। तू एक-तिहाई से भी कम देख रही है बेटी! तेरी प्रथमा माता स्वर्ग से अजस्र आशीर्वाद बरसा रही है। देवरात जो मनुष्य की कुछ सेवा कर पाता है, तुझे कुछ प्यार दे पाता है, वह सब उसी की कृपा से सम्भव हुआ है। वह मेरे जीते-जी सती हो गयी, बेटी! संसार ने कभी ऐसा सुना है? उसे एक क्षण के लिए भी मेरा वियोग असह्य था। वह चली गयी, देवरात जी रहा है। मैं तुझे गोद में लेकर सो जाता था तो वह तुझे प्यार करती थी, तेरी देखभाल करती थी। तुझे यदि कुछ भी कष्ट होता था तो वह स्वर्गीय ज्योति के रूप में उतरती थी। मैंने प्रत्यक्ष देखा है बेटी, वह क्षण-भर के लिए भी तुझे नहीं भूलती। वही तेरी रक्षा करेगी। वह दिव्य लोक में है। वह निखिल चराचर की जननी भुवनमोहिनी है, वह अखण्ड सौभाग्य की रानी है, वह सतीत्व की अधिदेवता है, वह कुलवधुओं की मानरक्षिका है। वह तुझे कभी कष्ट में नहीं पड़ने देगी। जब कभी तुझे कोई ग्लानि हो, उसे अवश्य स्मरण कर लिया कर। देखेगी बेटी, कैसी दिव्य मूर्त्ति है तेरी माता शर्मिष्ठा! यह देख!" देवरात ने बड़े यत्नपूर्वक छिपाकर रखे हुए चित्र-प्रावरण को हटाया। यह उनके अपने हाथों बनाया हुआ शर्मिष्ठा का चित्र था। मृणालमंजरी ने देखा तो उसकी आँखें कानों तक फैल गयीं। चित्र के किनारों पर कहीं-कहीं धब्बे पड़े हुए थे। उन्हें वह पोंछने लगी। देवरात ने कहा, "वह कुछ नहीं, मेरी अंगुलियों का पसीना लग गया है।" मृणाल की आँखों में पानी भर आया। कैसी दिव्य मूर्त्ति है, कैसा प्रसन्न मुख, कैसी करुणावर्षिणी आँखें! तो यह उसकी प्रथमा माता है! उसे अधिक सोचने का अवसर न देकर देवरात ने कहा, "देख बेटा, यह तेरी जननी है, छन्दों की रानी, मंजुला! दोनों को देख बेटा, एक ही जैसी नहीं दिख रही हैं? मंजुला के दर्शन न हुए होते तो मैं विक्षिप्त हो गया होता, मर गया होता।" मृणाल ने दोनों माताओं को देखा। बयसु-बरनु-तनु एक! हाय-हाय, यह भी क्या सम्भव है? क्या विधाता के पास भी साँचे होते हैं? दोनों एक ही साँचे में तो ढली हैं! उसे उन दो माताओं की पुत्री होने का गर्व अनुभव हुआ। देवरात अधीर थे। बोले, "बेटी, दुनिया जानती है कि मंजुला गणिका थी, मैं जानता हूँ कि वह नारायण की स्मित-रेखा के समान पवित्र और मनोहर थी। भाव-विह्वला, भक्तिमती लीलारूपा। तुझे जन्म देकर उसने अपने को चरितार्थ माना था। मृत्यु के पूर्व वह तेरे लिए यह अलंकार छोड़ गयी है। ले, बेटा, देख इन्हें। ये उसके हृदय के समान ही सुन्दर हैं, उतने ही मूल्यवान्। देवरात तो कुछ नहीं दे सकेगा, बेटी! तेरी माताओं के अभाव में वह पंगु है, असहाय है।"

मृणाल ने पिता को कभी इतना बोलते नहीं देखा था। आज उनका रोम-रोम वाचाल हो उठा है। मृणालमंजरी की आँखों से अश्रु-धारा बह चली। देवरात स्तब्ध!

एकाएक वे चंचल हो उठे। जैसे कुछ नया दिख गया हो, एकदम नया ! बोले, "दे सकता हूँ बेटी, दे सकता हूँ । अपना सर्वस्व उलीचकर दे सकता हूँ । ये दोनों चित्र––चित्र नहीं, प्राण––तुझे देता हूँ । ले बेटा, सम्हालके रख !"

सात

श्यामरूप देर तक मथुरा की गलियों में घूमता रहा । चतुष्पथों पर स्थापित विशाल यक्ष-मूर्त्तियों को वह आश्चर्य और भय के साथ देखता । उनका ऊँचा क़द, भारी-भरकम डील-डौल, चामरधारी दक्षिण हस्त, कटिविन्यस्त मुद्रा में चिपके-से बायें हाथ, बड़े-बड़े कुण्डल, मोटे कड़े, महीन उत्तरीय और पंचकक्षी धौतवस्त्र उसे विचित्र प्रकार से आकर्षित करते थे । उसने ऐसी मूर्त्तियाँ इतनी प्रचुर संख्या में पहले नहीं देखी थीं । लोग इन मूर्त्तियों को प्रणाम करते और प्रदक्षिणा करके चल देते । एक विशाल मूर्त्ति अश्वत्थ वृक्ष के नीचे खड़ी की गयी थी । उसके पास तिकोनी लाल पताकाएँ लहरा रही थीं । श्यामरूप उसे देखकर ठिठक गया । इस मूर्त्ति का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में था । गले में एक तिखूँटा हार चिपका हुआ था । मुखाकृति भद्दी और भयजनक थी । पूछने पर उसे मालूम हुआ कि यह मणिभद्र यक्ष की मूर्त्ति है । समुद्र के रक्षक देवता हैं । नगर के सेठ लोग व्यापार के लिए जब बाहर जाते हैं और धन कमाकर जब बाहर से लौटते हैं तो मणिभद्र यक्ष की पूजा बड़ी धूमधाम से करते हैं । ये मथुरा के जाग्रत देवता हैं । इस चतुष्पथ से बायीं ओर एक भव्य मन्दिर दूर से ही दिखायी दे जाता था । श्यामरूप उधर ही बढ़ गया । निस्सन्देह वह मन्दिर नया था, पर वहाँ किसी प्रकार की भीड़ नहीं थी । इतने सुन्दर मन्दिर की यह अवस्था देखकर उसे कुछ आश्चर्य हुआ । निकट जाकर उसने देखा तो तोरण-द्वार पर ही लिखा पाया––'पंचवृष्णिवीराः' । उसे कुछ कुतूहल हुआ । हलद्वीप के आभीरों में चतुर्व्यूह की पूजा प्रचलित थी । यहाँ पाँच वृष्णिवीरों को देखकर उसे आश्चर्य हुआ । चार वृष्णिवीर––संकर्षण (बलराम), श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध––तो विश्वविख्यात हैं । यह पाँचवाँ कौन है ? मन्दिर भीतर से बन्द था । बाहर बहिर्द्वार पर दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा की अभिराम मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण थीं और चौखटों पर शंख, चक्र, हल, मुशल, गदा, और पद्म का अभिप्राय देकर कल्पवल्ली उरेही गयी थी । ऊपरी चौखट के मध्य स्थान पर एक अपूर्व तेजस्वी मूर्त्ति भी उत्कीर्ण थी, जिसके मुख के चारों ओर सूर्य के समान प्रभामण्डल उद्भासित हो रहा था । श्यामरूप उस तेजोमयी मूर्त्ति

को कुतूहल के साथ देखने लगा। उसकी मांसपेशियों का सुगठित तनाव उसे बहुत आकर्षक लगा। अंग-अंग से तेज और लावण्य साथ-साथ प्रवाहित हो रहे थे। जिस समय श्यामरूप भावमग्न होकर इस शिलपचातुरी का अवलोकन कर रहा था, उसी समय भीतर से मन्दिर का फाटक खुला और एक वृद्ध ब्राह्मण कुछ सशंक भाव से चारों ओर देखते हुए बाहर निकले। श्यामरूप को सन्दिग्ध दृष्टि से देखकर वे चुपचाप आगे बढ़ गये और तेज़ी से राजमार्ग पर आ गये। श्यामरूप भी उनके पीछे-पीछे राजमार्ग पर आ गया। ब्राह्मण ने ज़रा सन्दिग्ध भाव दिखाते हुए कहा, "कौन हो भद्र, यहाँ क्या कर रहे हो?"

श्यामरूप ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। विनीत स्वर में बोला, "परदेशी हूँ, आर्य! यह सुन्दर मन्दिर देखकर रुक गया। भीतर तो नहीं देख सका, पर बाहर-बाहर जो कुछ देखा, उसी से चकित हो गया हूँ। अच्छा आर्य, ये 'पंचवृष्णि-वीराः' कौन हैं?"

वृद्ध ने श्यामरूप की ओर कुतूहलपूर्वक देखा और हँसते हुए बोले, "सचमुच परदेशी जान पड़ते हो, भद्र! यह मथुरा तीन लोक से न्यारी है। इसमें नयी-नयी बातें रोज़ ही देखने को मिलती रहती हैं। कुषाण राजाओं ने यहाँ पंचध्यानी बुद्धों की उपासना चलायी। उन्हें धकेलकर भारशिव नाग राजा बन गये, तो उन्होंने पंचमुखी शिव की उपासना चला दी। इनको आभीर राजा भद्रसेन ने धकेला और चतुर्व्यूह में एक और वृष्णिवीर जोड़कर पाँच वृष्णिवीरों की पूजा चला दी। पाँच अवश्य होने चाहिए, चाहे बुद्ध हों, शिव हों या विष्णु हों!" वृद्ध ने हँसकर बताना चाहा कि यह बात कुछ विनोदजनक ही है। परन्तु श्यामरूप का कुतूहल बढ़ गया। आग्रहपूर्वक उसने पूछा, "ये पाँचवें वीर कौन हैं?" वृद्ध ब्राह्मण ने कुछ गम्भीर होकर कहा, "आयुष्मान्, चतुर्व्यूह तो जानते हो न? संकर्षण (बलराम), वासुदेव (श्रीकृष्ण), प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये ही चार प्रसिद्ध वृष्णिकुल के वीर हैं। इधर जब पद्मावती के आभीर सामन्त भद्रसेन ने मथुरा पर आक्रमण किया तो इन चार के अतिरिक्त एक अन्य लहुरा वीर भी इन चारों के साथ जोड़ दिये गये। लहुरा वीर साम्ब हैं। कहते हैं, शक लोग इन्हीं के प्रताप से विजयी हुए थे। तुम चौखट के मध्य भाग में जिस तेजस्वी मूर्त्ति को देख रहे हो, वह साम्ब की ही मूर्ति है। इन्हें ही लहुरा वीर कहा जाता है। बलराम को बुल्ला वीर कहा जाता है। बुल्ला अर्थात् विपुल, बड़ा; और लहुरा का अर्थ है छोटा। सबसे बड़े वृष्णिवीर बलराम हैं और सबसे छोटे साम्ब। लहुरा वीर जाग्रत देवता हैं। भद्रसेन के सैनिकों ने लहुरा वीर का जयजयकार करते हुए कुषाणराज दिमित को इस प्रकार ध्वस्त कर दिया जैसे प्रचण्ड आँधी पेड़ों को उखाड़कर फेंक देती है। उन्होंने ही इस मन्दिर की स्थापना करायी। परन्तु भगवान् की कुछ विचित्र लीला है। पता नहीं, क्या चूक हुई कि लहुरा वीर अप्रसन्न हो गये और दिमित के पुत्र धर्मघोष ने भद्रसेन को दस वर्षों के भीतर ही भगा दिया। अब तो वह कुषाण साम्राज्य के नये सपने देख रहा है। आज इस मन्दिर में आने भीमें लोग डरते हैं। मैं राजभय की उपेक्षा

करके सेवा-कार्य चलाये जा रहा हूँ, पर मन में अनेक प्रकार की आशंकाएँ उठती रहती हैं। कल ही मैंने स्वप्न में लहुरा वीर के दर्शन किये हैं। वे मुझे अभय दे रहे थे और कह रहे थे कि पूर्व से कोई परमवीर आ रहा है, जिसे वे अपना तेज देकर भेज रहे हैं। वही फिर से इस मन्दिर की प्रतिष्ठा बढ़ायेगा। पर स्वप्न का क्या विश्वास ! कभी मनुष्य वही बातें स्वप्न में देखता है, जिनकी उसे कामना होती है। अभीप्सित-दर्शन भी माया ही है !" वृद्ध चुप हुए और कुछ उद्विग्न भी लगे।

श्यामरूप ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "हो सकता है आर्य कि आपका स्वप्न फलित हो। परन्तु यदि धृष्टता मार्जित हो तो मैं इस नगर के बारे में कुछ और जानने का प्रसाद पाना चाहता हूँ।"

इस बार वृद्ध ने श्यामरूप को ध्यान से देखा। वृद्ध को उसके गठे हुए शरीर और चौड़ी छाती को देखकर आश्चर्य हुआ। बोले, "क्या जानना चाहते हो, भद्र ! तुम तो अच्छे मल्ल जान पड़ते हो ! तुम क्या यहाँ किसी मल्ल समाह्वय में बुलाये गये हो ?"

श्यामरूप ने हाथ जोड़कर कहा, "मुझे बिल्कुल पता नहीं है कि यहाँ कोई मल्लयुद्ध की प्रतियोगिता भी हो रही है। मैं तो बिल्कुल ही नया आदमी हूँ, परन्तु इस समय तो मैं थककर चूर हो गया हूँ। पिछले कई दिनों से मुझे खाने को भी कुछ नहीं मिला है। जो व्यक्ति प्रायः एक मास से बुभुक्षित हो, वह मल्ल-प्रतियोगिता में जाकर क्या कर लेगा ! मैं तो जानना चाहता हूँ कि इस नगरी में मल्ल-विद्या का सम्मान करनेवाले कोई श्रीमन्त हों तो उनका आश्रय मैं कैसे पा सकता हूँ ? मैं कुछ दिन इस नगरी में रहना चाहता हूँ। किन्तु मुझे इस नगरी के बारे में कुछ भी मालूम नहीं।"

वृद्ध ने श्यामरूप के मुरझाये हुए चेहरे को ध्यान से देखा। बोले, "भद्र, मल्ल-विद्या के सम्मानदाता तो यहाँ अवश्य हैं, परन्तु अभी तो तुम सचमुच बहुत क्लान्त जान पड़ते हो। इस नगरी में कई श्रीमन्तों से मेरा परिचय है, जो मल्ल-विद्या के बड़े प्रेमी हैं, परन्तु पहला काम तो यह जान पड़ता है कि तुम्हारे लिए थोड़े विश्राम की व्यवस्था की जाय। अगर तुम अन्यथा न मानो तो अभी मेरी कुटिया पर चलकर विश्राम करो, स्नान करो, भोजन करो, और फिर कुछ अन्य बात सोचो। निर्धन ब्राह्मण हूँ, किन्तु फिर भी सेवा तो कर ही सकता हूँ। आओ !" वृद्ध ने बड़े स्नेह के साथ श्यामरूप की पीठ थपथपायी और उसको कुछ बोलने का अवसर दिये बिना, हाथ पकड़कर अपने साथ ले लिया।

उपाध्यायपल्ली में एक छोटे-से किन्तु साफ-सुथरे घर में वृद्ध रहा करते थे। वे सचमुच निर्धन थे, लेकिन श्यामरूप को उनके स्नेह में बहुत-कुछ मिल गया। वृद्ध ने उसे स्नान करने को कहा और स्वयं उसके भोजन आदि की व्यवस्था में जुट गये। जब श्यामरूप नहा-धोकर लौटा, तो उन्होंने उसे कुशासन पर बैठाया और स्नेहार्द्र वाणी में पूछा, "तुम किस कुल में उत्पन्न हुए हो, बेटा ?"

श्यामरूप को बड़ी लज्जा मालूम हुई। उसकी वाणी रुद्ध हो गयी। पिछले कई

वर्षों का जीवन आँखों के सामने नाच गया। वह वृद्ध के सामने झूठ भी नहीं बोल सका और सच कहने का साहस भी खो बैठा। अपना यज्ञोपवीत दिखाता हुआ केवल यही कह सका, "संस्कारभ्रष्ट हूँ, आर्य !"

वृद्ध ने स्नेह के साथ कहा, "ब्राह्मण-कुमार हो ? मैंने क्षत्रिय समझा था। कोई बात नहीं, परमात्मा ने तुम्हें उत्तम शरीर-सम्पत्ति दी है। तुम श्रेष्ठ विद्या के जानकार हो। इसमें म्लान होने की क्या बात है ? आओ, भोजन करो।" यह कहकर वृद्ध ने जो कुछ भी बन पड़ा था, वह लाकर श्यामरूप के सामने रख दिया। श्यामरूप की आँखों में आँसू आ गये। बोला कुछ नहीं, चुपचाप खाने लगा। वृद्ध ने स्नेहपूर्वक पूछा, "नाम क्या है, बेटा ?"

श्यामरूप और भी संकोच में पड़ गया। क्या नाम बताये ! अनायास मुँह से निकल गया, "छबीला पण्डित !"

वृद्ध की आँखें आश्चर्य से टँगी रह गयीं। बोले, "क्या कहा बेटा, छबीला पण्डित ! तुम क्या वही मल्ल हो जिसने श्रावस्ती में मद्रदेश के अज्जुक मल्ल को पछाड़ा था ?"

श्यामरूप ने संकोचपूर्वक कहा, "हाँ आर्य, श्रावस्ती में मैंने ही अज्जुक मल्ल को पछाड़ा था। वह सचमुच महाबलशाली था। अखाड़े में जब उतरता था तो विकटाकार दैत्य के समान दिखायी देता था। यह तो गुरु की कृपा ही कहो आर्य, कि मैं उसे पराजित करने में समर्थ हुआ। नहीं तो वह बल और आकार में मुझसे तिगुना था।"

वृद्ध ने उल्लसित होकर कहा, "साधु वत्स, तुम्हें देखकर आँखें जुड़ा गयी हैं। मथुरा में जब तुम्हारी विजय का समाचार पहुँचा था तो लोगों को विश्वास ही नहीं हुआ। अज्जुक ने यहाँ के सारे मल्लों को मात दी थी। परन्तु श्रावस्ती से जब यह समाचार आया कि अज्जुक परास्त हुआ है, तो लोगों ने तरह-तरह की बातें फैलायीं। किसी ने कहा—कोई दूसरा अज्जुक होगा; किसी और ने कहा—यह निरी गप्प है। अज्जुक को कोई नहीं पछाड़ सकता। परन्तु जो लोग साधुशील हैं, गुणियों का सम्मान करना जानते हैं, उन्होंने अविश्वास नहीं किया। वे चाहते थे कि छबीला पण्डित को मथुरा की मल्लशाला का मल्ल स्वीकार किया जाय। परन्तु ऐसा हो नहीं सका; क्योंकि यहाँ बहुत दुर्मुख रहते हैं, जो अकारण दूसरों की निन्दा करते हैं। लेकिन जाने भी दो। मुझे आज का दिन बड़ा शुभ जान पड़ता है कि तुम बिना बुलाये इस नगरी में आये हो। तुम निश्चय ही यहाँ सम्मान पाओगे। लेकिन अभी अपना नाम तुम किसी को न बताना। मथुरा विटों, विदूषकों और बन्धुलों से भर गयी है। इसमें गुण का सम्मान बाद में होता है, गुणी का अपमान पहले। म्लेच्छ राजा की धर्महीन राजसभा परनिन्दकों और चुगलखोरों से भार-ग्रस्त हो गयी है। मैं तुम्हारे नाम को संस्कृत बना देता हूँ। कोई पूछे तो अपना नाम 'शार्विलक' बताना, छबीला नहीं।" वृद्ध की आँखें स्नेह से आर्द्र हो आयीं। पुलकित होकर उन्होंने प्यार से श्यामरूप के सिर पर हाथ फेरा और गद्गद-भाव

से बोले, "मथुराधिपति वासुदेव तुम्हारा कल्याण करेंगे बेटा ! यहाँ की जनता तुम्हें 'मल्ल-मौलिमणि' के विरुद से सम्मानित करेगी । शरत्कालीन चन्द्रिका की भाँति तुम्हारा उज्ज्वल यश संसार में फैलेगा । मैं तुम्हें कल किसी गुणज्ञ श्रीमन्त के निकट पहुँचाऊँगा । मेरी शक्ति का विभव बहुत थोड़ा है, परन्तु इतना तो मैं कर ही सकता हूँ ।" श्यामरूप वृद्ध के स्नेह से बिल्कुल ही भीग गया । उसने अपने हाथों को पीठ की ओर करके अर्द्धभुक्त अवस्था में ही अपना ललाट वृद्ध के चरणों में रख दिया । वृद्ध ने और भी स्नेहजड़ित वाणी में कहा, "उठो बेटा, भोजन समाप्त कर लो । मेरा आशीर्वाद अवश्य सफल होगा ।"

श्यामरूप ने यह सोचा भी नहीं था कि मथुरा में उसका नाम पहले ही पहुँच चुका है । वह मन-ही-मन गर्व अनुभव कर रहा था और सोचने लगा था कि परमात्मा ने उसकी मल्ल बनने की अभिलाषा पूरी कर दी है । क्षण-भर में श्यामरूप के सामने अपना विगत जीवन खेल गया । न जाने किस पुण्य से उसे वृद्धगोप का स्नेह मिला । उसने सुन रखा था कि उसके माता-पिता स्नान करते समय बोधसागर में डूबकर मर गये थे । वृद्धगोप ने उसे पिता का सम्पूर्ण वात्सल्य देकर पाला था । वह साहसी प्रकृति का युवक था । वृद्धगोप उसे धर्म-शास्त्र का पण्डित बनाना चाहते थे । उनकी दृष्टि में ब्राह्मण-कुमार का यही एकमात्र रूप हो सकता था । परन्तु उसके मन में साहसिक कार्यों के प्रति प्रबल आकर्षण था । विधाता की ओर से उसे प्रचुर शरीर-सम्पत्ति प्राप्त हुई थी । धर्म और दर्शन के सूक्ष्म विवेचन में उसे बिलकुल रस नहीं मिलता था । अट्ठारह वर्ष की कच्ची उमर में ही वह बड़े-बड़े पहलवानों को पछाड़ दिया करता था । परन्तु वृद्धगोप को यह सब पसन्द नहीं था । वे श्यामरूप को ब्राह्मण पण्डित के रूप में देखना चाहते थे और आर्यक को कुशल मल्ल बनाना चाहते थे । आभीर-पल्ली का वातावरण मल्ल-विद्या के अनुकूल था और धर्मशास्त्रीय विवेचन के लिए बिल्कुल प्रतिकूल । देवरात के आश्रम में उसने कुछ पढ़ा-लिखा अवश्य था, परन्तु मन उसका साहसिक कार्यों की ओर ही लगा था । वृद्धगोप ने उसे पल्ली से हटा दिया, किन्तु क्षिप्तेश्वर महादेव के मन्दिर की पाठशाला में उसे एकदम प्रतिकूल वातावरण में रहना पड़ा । वहीं उसने नटों की एक यायावर मण्डली से परिचय प्राप्त किया और उसी के साथ एक दिन चुपचाप खिसक गया ।

नटों का चौधरी जम्भल स्वयं बड़ा कुशल मल्ल था । उसने श्यामरूप को उपयुक्त चेला पाया । उसने मल्ल-विद्या के साथ नट-विद्या की भी शिक्षा उसे दी । रस्से पर चलना, ऊँचे बाँस पर सिर पर घड़ा लिये हुए चढ़ जाना, लम्बे बाँस के सहारे ऊँचे-ऊँचे पेड़ों को लाँघ जाना उसे धर्मशास्त्र और दर्शन के विवेचन की अपेक्षा अधिक प्रीतिकर जान पड़े । नटों का यायावर जीवन भी उसे बड़ा आकर्षक लगा । आज यहाँ, कल वहाँ घूमता हुआ वह अनेक देशों में नट-मण्डली के साथ कलाबाज़ी भी दिखाता रहा और मल्ल-विद्या भी सीखता रहा । अनेक जनपदों और नगरियों को देखना उसे बड़ा ही कौतूहलजनक जान पड़ता था । दो-तीन वर्षों

में वह अच्छा-खासा पहलवान और फुर्तीला नट बन गया। उसके ब्राह्मण-संस्कार प्राय: लुप्त हो गये। लेकिन यज्ञोपवीत उसने नहीं छोड़ा। उसे वह कभी गले में लटका लेता था, कभी कमर में बाँध लेता था, लेकिन फेंक नहीं सका।

चौधरी ने स्नेह और आदर के साथ उसे 'छबीला पण्डित' कहना शुरू किया और नट-मण्डली में यही उसका नाम पड़ गया। जम्भल चौधरी के मन से यह बात कभी दूर नहीं हुई कि छबीला पण्डित ब्राह्मण है। मल्ल के रूप में छबीला पण्डित का नाम और यश फैलने लगा था। पर श्रावस्ती में उसने जब मद्रदेश के अज्जुक मल्ल को पछाड़ा तो उसकी कीर्ति बड़ी तेज़ी से दूर-दूर तक फैल गयी। जम्भल चौधरी को अज्जुक के बल-पौरुष का पता पहले ही था। एक बार वह उससे पिट भी चुका था, परन्तु उसी समय उसे उसकी कमजोरी का भी पता चल गया था। वह उससे बदला लेना चाहता था। छबीला के बल-पौरुष और कौशल को बहुत निकट से देखकर उसे विश्वास हो गया था कि अज्जुक को यही मात दे सकता है। श्रावस्ती के मल्ल-समाह्वय में वह जान-बूझकर गया था। अज्जुक के दैत्याकार रूप को देखकर बड़े-बड़े नामी पहलवान आतंकित हो गये थे। परन्तु जम्भल ने छबीले को उत्साहित करते हुए कहा था, "पण्डित, उसके भयंकर रूप की चिन्ता न करो। तुम्हीं को परमात्मा ने इसका गर्व चूर्ण करने के लिए पैदा किया है। बहुत कम पहलवान मैंने ऐसे देखे हैं जिनके दोनों धड़ चलते हैं। अज्जुक तो बिल्कुल एकधड़ा है। मैं भी एकधड़ा हूँ। परमात्मा ने तुम्हें ही दोनों धड़ (बायाँ और दाहिना) का कौशल दिया है। साहस न खोना। अखाड़े में उतरते ही बिजली की तरह टूट पड़ना। एकदम बायीं ओर झपका देना और दाँव मार देना। खड़े घिस्से से भी काम चल जायेगा। मेरी हार का कारण यह था कि मेरे दोनों धड़ नहीं चलते। अज्जुक की भी यही कमज़ोरी है। रंचमात्र भी चिन्ता न करो। बस, इतना याद रखो कि पहला काम बायीं ओर झपका मारना है। दाहिनी ओर कोई भी दाँव मार सकते हो। अज्जुक मद्रदेशी यवन है। वह फाबड़ी और ढोका का उस्ताद है। सिर्फ़ इनसे बचने का प्रयत्न करना। देसी मल्ल उधस्ता में यवनों से बीस होता है। खड़े घिस्से में उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता।" फिर बड़े प्यार से उसकी पीठ थपथपाते हुए चौधरी ने कहा था, "बेटा, गुरु के अपमान का बदला भी लेना है।" छबीले ने भी वैसा ही किया जैसा जम्भल ने सिखाया था। पलक गिरते-न-गिरते उसने बायीं ओर झपका मारा कि अज्जुक भहरा गया। जब तक वह अपने को सम्हाले, तब तक छबीला घिस्सा मार बैठा और दूसरे ही क्षण उसकी छाती पर सवार दिखायी दिया। सहस्रों कण्ठों से निकली छबीला पण्डित की जय-ध्वनि आकाश फाड़ने लगी थी। जम्भल की मण्डली के लिए वह बड़ा आनन्ददायक दिन था।

पर उस दिन एक घटना और भी घटी थी, जिसने श्यामरूप के जीवन में नया मोड़ ला दिया। उस रात को नट-मण्डली ने जमकर मदिरा-पान किया। पुरुष तो पीकर धुत्त हो ही गये, स्त्रियाँ भी मत्त हो उठीं। नट-मण्डली में युवतियाँ श्याम-

रूप से देवर का नाता रखती थीं। वे सदा उसके साथ कुछ-न-कुछ ठिठोली करती रहती थीं; श्यामरूप केवल हँस दिया करता था। न कभी कोई उत्तर देता, न किसी की ओर आँख उठाकर देखता। उस रात को इन भाभियों में असंयत उल्लास दिखायी दिया। उन्होंने उसे घेर लिया और नाना भाव से उसका मनोरंजन करना शुरू किया। एक प्रौढ़ा भाभी ने कहा, "देवर, आज आनन्द मनाने का दिन है। तुम्हारी भाभियों का निश्चय है कि तुम हममें से किसी एक को चुन लो। जिसे चुनोगे, वही तुम्हारी सदा के लिए चेरी हो जायेगी।" श्यामरूप हँसकर रह गया। इस प्रकार का परिहास वह कई बार सुन चुका था। एक ने आगे बढ़कर कहा, "मेरे रहते यह किसी दूसरी को क्यों चुनेगा ?" वह श्यामरूप के पास आ गयी। उसे धक्का मारकर एक दूसरी प्रौढ़ा बोली, "नहीं देवर, तुम भोलेपन में आकर ग़लती न कर बैठना। मुझे चुनोगे तो बिना मिहनत के चार बच्चे भी मिल जायेंगे। हाँ !" एक और युवती ने उसे डाँटा, "चल हट, चार ही क्यों, तेरा वह तुझे छोड़ेगा ? बेचारे देवर के सिर पर तेरे चार पिल्लों के साथ-साथ एक सवट्टा (सौत-पुरुष) भी सवार हो जायेगा। ना देवर, ऐसा कभी न करना। मुझे चुनो, मैं अपने मरकहे दूल्हे को बिलकुल छोड़ दूँगी।" वह सचमुच श्यामरूप की बग़ल में आ बैठी। श्यामरूप इस प्रकार के परिहास से घबरा गया। वह पीछे हटा तो प्रौढ़ा भाभी ने उस स्त्री को वहाँ से हटाते हुए कहा, "चल हट, हमारा देवर अनसूँघा फूल सूँघता है।" और भीड़ में से एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की लजीली लड़की को घसीटकर ले आयी। बोली, "पसन्द है न, देवर !" श्यामरूप ने देखा कि वह लड़की लज्जा से सिकुड़ी हुई अपने को छुड़ाने के लिए छटपटा रही है। प्रौढ़ा हँसती हुई बोली, "अनसूँघा फूल है। तुम्हारी ही तरह वैष्णव है। सबने पिया है, यह नाक-भौं सिकोड़ती रही।" फिर उसे छोड़ती हुई और भोंडी हँसी हँसती हुई बोली, "पिया के हाथ नहीं पिया तो क्या पिया !" उसने बुरी तरह आँखें नचायीं। श्यामरूप को अब भागने के सिवा और कोई रास्ता नहीं था। वह भाग खड़ा हुआ, पर वह लजीली लड़की उसके मन में एक विचित्र करुणा उद्रिक्त कर गयी। कौन है यह ? कभी तो नहीं देखा था। श्यामरूप को वह बालिका बड़ी करुणाजनक लगी थी। वह उसका परिचय पाने के लिए व्याकुल हो गया। कुछ दिनों तक वह मण्डली में दिखायी नहीं दी तो श्यामरूप के पूछने पर एक दिन उसी प्रौढ़ा मुखरा भाभी ने बताया कि उसका नाम माँदी था। श्रावस्ती के ही निकट के किसी गाँव की अवमानिता कन्या थी। बेचारी सब समय रोती रहती थी। परेशान होकर चौधरानी ने उसे अच्छे दाम पर मथुरा की किसी गणिका के दलाल के हाथ बेच दिया। वह रोती हुई गयी थी।

श्यामरूप इस संवाद से घबरा उठा था। मन-ही-मन उसका दुख दूर करने का उसने निश्चय कर लिया, और नट-मण्डली को छोड़कर उस लड़की को खोजने के उद्देश्य से ही मथुरा आ पहुँचा था। यहाँ आकर वह दिङ्मूढ़ हो गया था। कैसे खोजे, कहाँ खोजे !

जब-जब उसे उस करुणा-कातर बालिका का ध्यान आता, तब-तब एक विचित्र प्रकार की हूक उसने मन में उठती। कहाँ होगी बेचारी! कितनी डरी हुई होगी! कितनी रो रही होगी! हाय, न जाने उसे किस प्रकार रखा गया होगा। उसका मस्तिष्क चिन्ताओं से इस बुरी तरह जकड़ गया था कि वह और सोचने का अवसर ही नहीं पाता था। ऐसा जान पड़ता था कि मस्तिष्क की शिराएँ फटी जा रही हैं। उसके अन्तरतर से यह ध्वनि बराबर निकलती थी कि वह बालिका यहीं कहीं है। परन्तु कहाँ है? वह इधर-उधर भटकता रहा। ऐसे ही समय इस वृद्ध ब्राह्मण से भेंट हो गयी। यह उसे शुभ शकुन-सा लग रहा था। वह वृद्ध का अयाचित स्नेह पाकर धन्य हो गया था। बड़े विनय और आदर के साथ हाथ जोड़कर बोला, "आर्य, मेरे भाग्य-देवता प्रसन्न हैं जो आपका वात्सल्य पाने का मुझे अवसर मिल गया है। मैं सोच नहीं पा रहा हूँ कि आपसे किस प्रकार उऋण हो सकता हूँ।"

वृद्ध ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "नहीं बेटा, ऐसा नहीं कहते। तुम्हारे जैसे गुणी का सम्मान करके मैं ही धन्य हुआ हूँ। ऐसे दरिद्र-गृह में किसी तेजवान का आगमन पूर्वजन्म के पुण्यों से ही होता है। मैं ही धन्य हुआ, बेटा! पर मेरी साध तब पूरी होगी जब मैं तुम्हें मथुरा के 'मल्ल-मौलिमणि' के रूप में देख सकूँगा। हाँ, यह पूछना तो मैं भूल ही गया था कि तुम किस देश से आये हो? कहाँ के निवासी हो?"

श्यामरूप ने उत्तर दिया, "हलद्वीप का निवासी हूँ, आर्य!"

वृद्ध को एक बार फिर धक्का लगा, "हलद्वीप! क्या वही हलद्वीप, जहाँ का निवासी गोपाल आर्यक है?"

अब श्यामरूप को धक्का लगा। पिछले सात वर्षों से न जाने कितनी बार गोपाल आर्यक की स्मृति उसे व्याकुल बनाकर उद्वेग-चंचल कर चुकी थी। न जाने कितनी बार गोपाल आर्यक का भोला मुँह याद करके उसकी छाती फटने को आयी थी। परन्तु प्रयत्नपूर्वक वह उसे भुला देना चाहता था। सोचता कि आर्यक सुनेगा कि उसका भाई नटों की मण्डली में भर्ती हो गया है, तो न जाने कैसी घृणा उसके मन में उत्पन्न होगी! वह अपने पुराने इतिहास को भुला देना चाहता था और मन-ही-मन संकल्प करता था कि वह अपने को अकेला समझेगा। ऐसा अकेला, जिसके न कोई पीछे था, न आगे है। इस विचार ने उसके मन में एक निरंकुश भाव उत्पन्न कर दिया था। आज पूरे सात वर्षों के बाद सुदूर मथुरा में अनजाने वृद्ध के मुँह से गोपाल आर्यक का नाम सुनकर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। बोला, "हाँ आर्य, हलद्वीप तो वही है, किन्तु आप गोपाल आर्यक को कैसे जानते हैं?"

वृद्ध की आँखों में कौतूहल दौड़ आया, "तुम्हें हलद्वीप छोड़े हुए कितने दिन हो गये, वत्स?"

"सात वर्ष से भी कुछ ऊपर हो गये होंगे, आर्य!"

"अच्छा, तभी तुम्हें गोपाल आर्यक का कोई समाचार मालूम नहीं। तुमने गोपाल आर्यक को बहुत छोटा देखा होगा। है न यही बात!"

"हाँ आर्य, बहुत छोटा। बिल्कुल दुधमुँहा !"

"सुना है बेटा, वह बहुत ही प्रतापी सेनापति बना है। कहते हैं कि हलद्वीप से पूर्व की ओर वह कहीं भागा जा रहा था एक अत्यन्त सुन्दर युवती को साथ लेकर। जहाँ गंगा और सरयू का संगम है, उसी स्थान पर किसी लिच्छवि राजकुमार से टक्कर हो गयी। झगड़े का कारण वह सुन्दरी स्त्री ही बतायी जाती है। यद्यपि लिच्छवियों का पुराना गौरव अब नहीं रहा, परन्तु फिर भी उनका यश अभी तक बना हुआ है। लिच्छवियों का लोहा सारी दुनिया मानती है। सुना है कि हर लिच्छवि राजकुमार ही होता है। शक्ति और श्रद्धा दोनों के वे धनी हैं। कोई पचास लिच्छवि युवक एक ओर थे और आर्यक अकेला था। जिन दुर्दान्त लिच्छवियों ने किसी का लोहा नहीं माना, वे आर्यक के बाहु-बल का लोहा मान गये। सुना जाता है कि वह अकेला ही शस्त्र-सज्जित लिच्छवि-व्यूह में इस प्रकार घिर गया जैसे मदमत्त हाथियों के झुण्ड में कोई किशोर सिंह-शावक घिर गया हो। पहर-भर तक वह अकेला ही जूझता रहा, लेकिन अन्त में लिच्छवियों ने उसे बन्दी बना लिया। जब उसे बन्दी बनाकर तीरभुक्ति ले जाया गया तो उस वीर पुरुष के दर्शन के लिए हज़ारों की संख्या में जनता उमड़ आयी। लिच्छवियों के 'गणमुख्य' ने जो सुना तो उसे बन्धनमुक्त कर दिया और लिच्छवि-युवकों को डाँटते हुए कहा, 'तुमने लिच्छवियों का नाम कलंकित किया है। लिच्छवि-गण वीरों का सम्मान करता है। तुमने उस गण की मर्यादा को कलंकित किया है।' उसने गोपाल आर्यक का राजकीय सम्मान किया। उसकी पत्नी को लौटा दिया और उसे समस्त लिच्छवि-गणराज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने की आज्ञा दे दी।" वृद्ध ने थोड़ा रुककर ऊपर की ओर देखा और कहा, "जब वासुदेव भगवान् प्रसन्न होते हैं तो विपत्ति में भी सम्पत्ति देते हैं।"

ब्राह्मण देवता थोड़े म्लान हुए। उन्होंने उदासी-भरे स्वर में कहा, "मथुरा से तो अब धर्म-कर्म उठ ही गया है। यहाँ कुछ भी अनर्थ क्यों न हो जाय, कोई पूछनेवाला नहीं है। सुना है, तीरभुक्ति में एक बड़ा अधिकारी होता है, जिसे 'विनय-स्थिति-स्थापक' कहते हैं। उसी ने वहाँ के राजकुमारों को दण्ड दिया है। कहा जाता है कि वे चम्पारण्य में निर्वासित किये गये हैं। इधर मथुरा में यह हाल है कि म्लेच्छ राजा स्वयं प्रजा का शील नष्ट करने पर तुला है। भगवान् वासुदेव की लीला-भूमि न जाने कब तक इस प्रकार के अनाचार का अखाड़ा बनी रहेगी ! ऐसा लगता है कि गोपाल आर्यक के रूप में वे फिर इस पवित्र लीला-भूमि की सुधि लेने आ रहे हैं। परन्तु धर्म-स्थापना के कार्य में कुछ विघ्न पड़ने के समाचार भी सुनायी दे रहे हैं।"

श्यामरूप साँस रोककर गोपाल आर्यक की कहानी सुन रहा था। उसके शरीर में रोमांच हो आया था, बाँहें फड़क रही थीं, ललाट पर पसीने की बूँदें उभर आयी थीं। अधीरतापूर्वक उसने पूछा, "फिर क्या हुआ, आर्य ?"

वृद्ध ने कुछ धीमी आवाज़ में कहा, "सुनी-सुनायी बातें कह रहा हूँ, वत्स !

सुना है कि लिच्छवियों की कन्या पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त से ब्याही है। लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध होने के बाद चन्द्रगुप्त बहुत शक्तिशाली हो उठा है। पहले तो वह एक बहुत सामान्य राजा था। सुना है, प्रयाग और साकेत के बीच कोई छोटा-सा राज्य था, वह वहीं का साधारण राजा था, लेकिन अब तो मगध साम्राज्य के खोये हुए यश को फिर से लौटा लाने के लिए उसका संकल्प दृढ़ हो गया है। उसकी सेनाएँ गंगा और यमुना के संगम तक बढ़ आयी हैं। अब तो मथुरा के दुर्बल शासकों का हृदय भी कम्पित हो उठा है। एक ओर तो शक-यवनों से वे आतंकित हैं और दूसरी तरफ़ गुप्तों की सेना बढ़ती आ रही है। पता नहीं, मथुरा के भाग्य में क्या बदा है?" वृद्ध ने दीर्घ निःश्वास लिया।

लेकिन श्यामरूप तो गोपाल आर्यक की कहानी सुनने को उत्सुक था। मथुरा के भाग्य का लेखा-जोखा उसके लिए विशेष महत्त्व की बात नहीं थी। उसने अधीर भाव से पूछा, "आर्य, मैं गोपाल आर्यक के बारे में जानना चाहता हूँ। उसके बारे में आपने क्या सुना है?"

वृद्ध हँसने लगे। बोले, "अपना गाँव बड़ा प्रिय होता है बेटा! तुम्हें अपने गाँव के लड़के की चिन्ता है, मुझे सारी मथुरा की। जो मैंने सुना है वह तुम्हें बताता हूँ। सुना है कि उन दिनों चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त अपने ननसाल आया हुआ था। समुद्रगुप्त गोपाल आर्यक की वीरता से प्रभावित हुआ और दोनों में गाढ़ी मित्रता हो गयी। वह गोपाल आर्यक को अपने साथ पाटलिपुत्र ले गया और गोपाल आर्यक को एक छोटी-सी सेना देकर हलद्वीप पर आक्रमण करने के लिए भेजा। लोग बताते हैं कि हलद्वीप के राजा से गोपाल आर्यक की अनबन हो गयी थी। आर्यक ने उस राजा को पराजित किया और हलद्वीप के राज्य पर अधिकार कर लिया। समुद्रगुप्त ने आर्यक को हलद्वीप का राजा घोषित करवा दिया। इधर समाचार आये हैं कि समुद्रगुप्त अब पाटलिपुत्र के सिंहासन पर विराजमान है और गोपाल आर्यक को उसने 'महाबलाधिकृत' के पद पर अभिषिक्त किया है। यह राजधानी है बेटा! यहाँ जितनी किंवदन्तियाँ फैलती हैं वे सब विश्वास-योग्य नहीं होतीं। इधर एक और प्रवाद फैला है कि समुद्रगुप्त को जब यह पता चला कि गोपाल आर्यक के साथ जो युवती लिच्छवि गणराज्य में बन्दी बनी थी, वह उसकी ब्याहता वहू नहीं है, बल्कि किसी और की पत्नी है, तो वह बहुत अप्रसन्न हुआ। सुनने में आया है कि गोपाल आर्यक की ब्याहता बहू कोई मृणालमंजरी है, जिसे उसने हलद्वीप में छोड़ दिया था और स्वयं किसी परस्त्री को लेकर भाग गया था। लोग कहते हैं कि गोपाल आर्यक की वास्तविक पत्नी मृणालमंजरी बहुत ही सती-साध्वी और पतिव्रता स्त्री है। ऐसी बहू का अकारण परित्याग करना निःसन्देह महापाप है और गोपाल आर्यक ने यही पाप किया है। समुद्रगुप्त के रोष से बचने के लिए गोपाल आर्यक फिर कहीं लोप हो गया है। मथुरा में यह समाचार बहुत आश्वस्तकारी सिद्ध हुआ है। यहाँ गोपाल आर्यक का नाम भय और आतंक पैदा किया करता था। यह महिमाशालिनी नगरी थोड़ी देर के लिए

आश्वस्त हुई है। सुना गया है कि समुद्रगुप्त की सेनाएँ साहस खो बैठी हैं और अहिच्छत्रा से आगे बढ़ने को प्रस्तुत नहीं हैं।"

श्यामरूप ने कहानी का जो उपसंहार सुना, वह उसके लिए बड़ा ही पीड़ादायक सिद्ध हुआ। उसका मुखमण्डल विवर्ण हो गया तथा होंठ सूखने लगे। आर्यक की वीरता की कहानी सुनकर वह जितना ही उल्लसित हुआ था, उतना ही मर्माहत हुआ उसकी चरित्रहीनता का समाचार पाकर। उसे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी कि गोपाल आर्यक का विवाह मृणालमंजरी से हो गया। परन्तु जब उसने यह सुना कि गोपाल आर्यक ने उसे ऐसे ही त्याग दिया है, तो उसका मन क्रोध और घृणा से भर गया। आर्यक क्या इतना हीन चरित्र का युवक सिद्ध हुआ? उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था। परन्तु वह दूसरी युवती कौन थी जिसके साथ आर्यक भाग गया था? वृद्ध ने उसे चिन्ताकातर देखकर आश्वस्त करते हुए कहा, "राजनीति में यह सब हुआ करता है, बेटा! सुना गया है कि समुद्रगुप्त अब पछता रहा है और वह आर्यक-जैसे सेनापति को कभी हाथ से न जाने देगा। फिर, ये सब सुनी-सुनायी बातें हैं। इनमें कितना सच है और कितना झूठ, यह कौन बता सकता है? मथुरा में रहोगे तो रोज़ ही नये-नये समाचार सुनोगे। सब बातों को सत्य मान लेना बुद्धिमानी नहीं है। राजधानी में बहुत-सी बातें जान-बूझकर तोड़ी-मरोड़ी जाती हैं। तुम चिन्ता न करो बेटा, आर्यक निश्चित रूप से फिर समुद्रगुप्त का सेनापति बनेगा। मथुरा की हालत तो आजकल बहुत बुरी है। कौन जाने, किसी दिन तुम्हें यहीं पर गोपाल आर्यक से मिलने का अवसर मिल जाय!"

आठ

श्यामरूप को वृद्ध ब्राह्मण के प्रयत्नों से अच्छा आश्रय मिल गया। राजा के पितृव्य चण्डसेन स्वयं मल्ल-विद्या के निष्णात थे, और उनके आश्रय में अनेक मल्ल रहा करते थे। श्यामरूप को देखते ही उनकी गुणज्ञ आँखों ने पहचान लिया कि यह युवक यशस्वी मल्ल होगा। उनका आश्रय पाकर श्यामरूप भी प्रसन्न हुआ। मथुरा के मल्ल-समाह्वय में उसने बड़ा यश प्राप्त किया। देखते-देखते वह मल्ल-मण्डली में सम्मानित स्थान प्राप्त करने में सफल हुआ। वृद्ध ब्राह्मण ने छबीला नाम को संस्कृत बना दिया था। उसका नाम शार्विलक ही प्रसिद्ध हुआ। शार्विलक अर्थात् छबीला! यद्यपि उन दिनों मथुरा के राजवंश में भय और आतंक बना हुआ था, तथापि मथुरा की साधारण जनता अपने ढंग से चलती जा रही थी।

नृत्य-गीत का आयोजन यथानियम होता रहता था। मल्लशालाएँ नित्य नवीन मल्लों के आगमन से बराबर आकर्षण का केन्द्र बनी हुई थीं। सरस्वती-विहारों में काव्य-गोष्ठियों का काम निर्विघ्न चलता रहता था और लाव-तित्तिर, मेष, कुक्कुट आदि की लड़ाइयों की प्रतिस्पर्द्धा में जनता खुलकर भाग लेती थी। इसीलिए श्यामरूप को मथुरा में यश प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

एक दिन चण्डसेन के आमन्त्रण पर विशाल मल्ल-प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। उस दिन राजा के साले भानुदत्त के प्रसिद्ध मल्ल मागू और शार्विलक की की भिड़न्त थी। मागू मद्रदेश का बहुत ही नामी पहलवान था। लोगों में उसके बारे में अतिरंजित कहानियाँ प्रचलित थीं। कहा जाता था कि भोजन करने के बाद जब वह अपनी मूँछें धोता था तो उनसे सेर-भर घी नित्य निकलता था। उसके आहार में प्रतिदिन प्रचुर मांस की व्यवस्था हुआ करती थी। कहा जाता था कि वह प्रातःकाल नित्य एक बड़े बकरे के ताज़े खून से जलपान करता था। प्रसिद्ध था कि एक बार राजा के मद-मत्त हाथी को उसने थप्पड़ मारकर ही गिरा दिया था। उसके बाहु-बल के बारे में प्रचलित कहानियों की सच्चाई के बारे में तो कुछ कहना कठिन है, लेकिन जनता में तो वह भीम का अवतार ही माना जाता था। राज-श्यालक भानुदत्त अपने मल्ल की विजय के बारे में बिल्कुल आश्वस्त थे। परन्तु चण्डसेन भी शार्विलक के बाहु-बल से कुछ कम आश्वस्त नहीं थे। मथुरा की जनता इस प्रतियोगिता को देखने के लिए समुद्र की भाँति उमड़ पड़ी। चण्डसेन ने बहुत बड़ी मल्ल-रंगभूमि का आयोजन किया था। शाल के सौ स्तम्भों पर विशाल पटवास का आयोजन था। अखाड़ा नीचे केन्द्र की ओर बनाया गया था और उसके चारों ओर लम्बी सोपान-दीर्घाएँ बनायी गयी थीं, जो ऊपर क्रमशः चौड़ी होती गयी थीं। इस मल्लशाला में पन्द्रह सहस्र नागरिकों के बैठने की व्यवस्था थी। राज्य की ओर से सशस्त्र दण्डधरों की व्यवस्था की गयी थी, ताकि उत्तेजित जन-समूह कुछ उत्पात न कर बैठे। तीक्ष्ण कुन्तवाही सौ अश्वारोही सैनिक पटवास के चारों ओर शान्ति-रक्षा के लिए तैनात थे। हर कोने में प्रत्येक स्थान पर सशस्त्र दण्डधर खड़े किये गये थे। जनता में अधिकांश मागू की शक्ति के प्रति विश्वास रखनेवाले थे। ऐसे लोग बहुत कम थे जिन्हें शार्विलक के बाहु-बल पर भरोसा था। प्रत्येक दर्शक ने मन-ही-मन अपना पहलवान तय कर लिया था। निस्सन्देह मागू मल्ल के प्रति अधिकांश लोगों का झुकाव था। राज-श्यालक भानुदत्त अपनी मण्डली के साथ अखाड़े की दाहिनी ओर बैठे थे और चण्डसेन उसी प्रकार मल्ल-मण्डली से समावृत होकर बायीं ओर विराजमान थे।

दोनों पहलवान अखाड़े में उतरे। भूमि-वन्दना करके उन्होंने अपने-अपने अन्नदाताओं को प्रणाम किया और गुँथ गये। दर्शक-मण्डली में अपार उत्तेजना का संचार हुआ। साँस रोककर लोग मल्ल-कौशल का अवलोकन करने लगे। मागू शार्विलक से दुगुना था। ऐसा जान पड़ता था कि पहाड़ के समान किसी हाथी के

साथ सिंह-किशोर गुँथ गया हो। जिन लोगों को यह आशा थी कि हार-जीत का फ़ैसला कुछ ही क्षणों में हो जायेगा, उन्हें निराश होना पड़ा। कुश्ती देर तक चली। जिन लोगों ने समझा था कि शार्विलक चींटी की तरह मसल दिया जायेगा, उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मागू उसको कसकर पकड़ भी नहीं पा रहा है। उसकी फ़ुर्ती देखने लायक थी। दोनों ही मल्ल पसीने से तर हो गये थे। कोई एक घड़ी की विकट भिड़न्त के बाद लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि मागू चित्त हो गया है और शार्विलक उसकी छाती पर सवार है। तुमुल जय-निनाद और साधुवाद से मागू ऐसा निस्तेज हुआ मानो उसकी सारी शक्ति शार्विलक में संक्रमित हो गयी हो। चण्डसेन ने उल्लसित होकर शार्विलक को छाती से लगा लिया। देखते-देखते जन-समुद्र शार्विलक के जय-घोष से तरंगित हो उठा। उस दिन मथुरा की जनता ने निःसन्दिग्ध रूप से शार्विलक को मल्लों का मौलमणि मान लिया। आयोजन समाप्त हुआ। शार्विलक के लिए एक ओर जहाँ इस यश ने बहुत दिनों की अभिलाषा की पूर्ति का वरदान दिया, वहीं दूसरी ओर वह सदा के लिए क्रूर राज-श्यालक भानुदत्त का द्वेष-भाजन भी बन गया। भानुदत्त प्रजा में बड़े ही क्रूर और घृणास्पद व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध था। लोगों ने उसे मथुरा का क्रूर ग्रह मान रखा था। आज के अपमान-बोध से उसके चित्त में भयंकर प्रतिक्रिया होगी, इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं था। लेकिन चण्डसेन भी कम शक्तिशाली नहीं थे। जनता का विश्वास था कि भानुदत्त मथुरा के लिए धूमकेतु की तरह अनिष्टकर होकर आया है। उनका यह भी विश्वास था कि इस भयंकर क्रूरकर्मा राज-श्यालक से मथुरा की मान-रक्षा यदि कोई कर सकता है तो वह चण्डसेन ही है। इस मल्ल-प्रतियोगिता के परिणाम से प्रजा के हृदय में एक प्रकार का प्रच्छन्न सन्तोष भी दिखायी दिया। लोगों ने ऐसा समझा कि अब चण्डसेन और भानुदत्त में खुलकर विरोध हो जायेगा।

शार्विलक जब अपने आवास-स्थल पर पहुँचा तो वहाँ एक सशस्त्र राजकीय दण्डधर उसकी प्रतीक्षा करता हुआ दिखायी दिया। शार्विलक ने उस दण्डधर की ओर ध्यान नहीं दिया। उस दिन नगरी में इस प्रकार के सशस्त्र दण्डधर हर नुक्कड़ पर तैनात थे। परन्तु जब शार्विलक उस दण्डधर के पास पहुँचा तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह व्यक्ति 'साँवरू भैया' कहकर उसके चरणों पर लोट गया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह कौन व्यक्ति है जो उसे इस नाम से जानता है। क्षण-भर ठिठककर वह पहचानने का प्रयत्न करने लगा। उसे उठाया, फिर ध्यान से उसके चेहरे की ओर देखा और स्तब्ध रह गया। वह तो हलद्वीप का वीरक है! यहाँ कैसे आ गया? उसे याद आया, आर्यक के साथ खेलनेवाला झम्मन दुसाध का लड़का वीरक। वह अचरज के साथ बोल उठा, "वीरक, तू यहाँ कैसे!" वीरक बोला, "भाग्य का मारा यहाँ आ गया हूँ, भैया! मगर मैंने तुम्हें कैसे पहचान लिया! जब तुम अखाड़े में उतरे, तभी मैंने मन-ही-मन कहा कि यह ज़रूर साँवरू भैया हैं, मगर पूरा विश्वास नहीं हुआ। पर जब तुम्हें नज़दीक से देखा तो पूरा

विश्वास हो गया। मैं कहीं साँवरू भैया को पहचानने में ग़लती कर सकता हूँ !" शार्विलक ने प्यार से उसकी पीठ थपथपायी। बोला, "देख रे वीरक, मैं साँवरू भैया नहीं, शार्विलक हूँ। मुझे शार्विलक भैया कहकर ही पुकार। आ मेरे साथ, तुझसे बहुत-सी बातें करनी हैं।" वीरक चुपचाप उसके पीछे हो लिया।

वीरक ने शार्विलक को हलद्वीप की बहुत-सी बातें बतायीं। जब उसने बताया कि वृद्धगोप उसके चले जाने के बाद कितने दुखी हुए, कितने ज्योतिषियों और तान्त्रिकों से उसका अता-पता बताने का अनुरोध किया, महीनों तक किस प्रकार खाना-पीना भी भूल गये, तो शार्विलक की आँखों में आँसू आ गये। उसने रोकर कहा, "वीरक, मैंने बड़ा पाप किया है जो ऐसे देवतातुल्य पिता को दुखी बनाया।" वीरक ने गोपाल आर्यक के बारे में भी नये समाचार दिये। उसने बताया कि गोपाल आर्यक तुम्हें खोजने के लिए आश्रम से भाग खड़ा हुआ। परन्तु भृगु-आश्रम के विष्णु-मन्दिर के अर्चक ने उसे पकड़कर वृद्धगोप के पास पहुँचा दिया। उसने एकाध बार और भी भागने की कोशिश की, लेकिन हर बार पकड़ लिया गया। साल-भर बाद वृद्धगोप ने देवरात की सलाह से उसे बाँधने का प्रयत्न किया और उसका विवाह मृणालमंजरी से कर दिया गया। वीरक ने मृणालमंजरी की प्रशंसा करते हुए कहा, "वह साक्षात् लक्ष्मी है, भैया ! जब से घर में आयी, सारा घर जगमग हो उठा है। खेतों में फ़सल दुगुनी होने लगी है, गायों के दूध बढ़ गये हैं और सारा गाँव खुशहाल हो उठा है। आर्यक भैया का मन भी घर में लग गया है। रह-रहकर वह तुम्हें याद करते अवश्य हैं, परन्तु अब भागने का प्रयत्न नहीं करते। कैसा गबरू जवान हुआ है, कहते नहीं बनता ! मैं तो उसे बीस वर्ष का जवान देखकर ही आया था, लेकिन लगता था जैसे कोई मदमत्त हाथी हो। राजुल दादा भी मान गये हैं कि उनका यह शिष्य एक दिन अपने पौरुष से संसार को चकित कर देगा। उसके पुट्ठे देखने लायक हैं। छाती ऐसी चौड़ी हो उठी है जैसे वज्र का कपाट हो। शरीर ऐसा गठा हुआ और चिकना है कि देखनेवाले की आँखें फिसल जाती हैं। उसके साथ जब भाभी बैठती हैं तो ऐसा लगता है कि राम-जानकी का ही जोड़ा है। लोग उसे अवतार मानते हैं, भैया ! गाँव की स्त्रियाँ मृणालमंजरी को मैना-माँजर-देई कहती हैं, और कहती ही नहीं, सचमुच मानती हैं कि वह देवी हैं। शुरू-शुरू में जाति में इस विवाह का विरोध भी हुआ था। लोग कहते थे कि वृद्ध-गोप वेश्या की लड़की को घर में ला रहे हैं। लेकिन अपने शील, सौजन्य और दयालुता से उसने सबका हृदय जीत लिया है। तुन्दिल गोप, जो पहले खूँटा तुड़वाने को तैयार थे, अब इतने प्रसन्न हैं कि जब उनकी नयी बहू आयी, तो पहले भाभी के चरण छू लेने पर ही वह घर में लायी गयी।"

शार्विलक अर्थात् श्यामरूप यह सब सुनकर गद्गद हो गया। वह आर्यक के बारे में बहुत सुनना चाहता था, लेकिन वृद्ध ब्राह्मण से उसने जो कुछ सुना था, वह उसके चित्त को कुरेद रहा था। वह जानना चाहता था कि आर्यक के बारे में उस तरह की कहानी क्यों फैल गयी। उसने आतुरतापूर्वक पूछा, "आगे क्या हुआ

वीरक ?" वीरक थोड़ा हिचका। ऐसा जान पड़ा कि उसके मन में दुविधा है कि आगेवाली बात कहे या नहीं। शार्विलक ने आतुरता के साथ कहा, "वीरक, सब कह जा ! कुछ छिपा मत। मेरा मन सुनने को व्याकुल है।" वीरक ने हकलाते हुए कहा, "कह ही तो रहा हूँ भैया !" और फिर रुआँसे स्वर में बोला, "विवाह के दो वर्ष बाद वृद्धगोप ने संसार ही छोड़ दिया। गोपाल आर्यक अनाथ हो गया। तुम इधर चले आये और पिता स्वर्ग सिधार गये। तुम ही बताओ, उस ग़रीब की क्या हालत हुई होगी ! लेकिन उसकी सहनशक्ति और धीरता अद्‌भुत है। उसने इस दुख को बहादुरी के साथ झेला है। गाँव के वृद्धों ने उसकी देख-रेख में कोई कमी नहीं आने दी है। सभी कहते हैं कि आर्यक हलद्वीप का यश सारे संसार में फैलायेगा। इसे कोई कष्ट नहीं होना चाहिए। मेरे पिता ने मुझसे कहा कि वीरक, तू आर्यक की सेवा कर। उसे कोई तकलीफ़ हुई तो तेरी चमड़ी उधेड़ दूँगा। सो मैं भैया की सेवा में लग गया। बड़ा सुखी था मैं। भाभी ने तो मुझे कभी यह समझने ही नहीं दिया कि मैं दूसरी जाति का हूँ और दूसरे घर का हूँ। बड़ा सुखी रहा मैं। लेकिन विधाता से यह सहा नहीं गया। मुझे हलद्वीप छोड़कर भागना पड़ा। भाग्य खोटा हो तो कोई क्या कर सकता है भैया !"

वीरक अपने भाग्य का दुखड़ा और भी रोना चाहता था, परन्तु शार्विलक का चित्त बुरी तरह से उत्क्षिप्त हो गया। "क्या कहा वीरक ! पिता भी नहीं रहे ! भोला आर्यक अनाथ हो गया और मैं शूलचक्रांकित साँड की तरह अनर्गल घूम रहा हूँ ! हाय वीरक, जिसने मुझ अनाथ को इतने प्रेम से पाल-पोसकर बड़ा किया, उस देव-तुल्य पिता के भी मैं किसी काम नहीं आ सका !" शार्विलक फूट-फूटकर रो पड़ा, "बता वीरक, उस भोले बालक की क्या दशा हुई होगी ! बेचारा ऊपर से बोला कुछ नहीं होगा। भीतर से उसका चित्त इस अभागे श्यामरूप को याद ज़रूर करता होगा। उस मक्खन की पुतली-सी मृणालमंजरी की क्या दशा हुई होगी ?" शार्विलक ने अपना सिर पीट लिया। वीरक ने उसे सम्हालते हुए कहा, "भैया, धीरज रखो।" शार्विलक ने फफककर कहा, "कैसे धीरज रखूँ वीरक, तू भी तो छोड़कर चला आया ! क्यों चला आया, क्यों चला आया ! क्यों चला आया तू ! अरे भाग्यहीन, कुछ दिन तो सहारा देता।" अब वीरक के रोने की बारी थी। "ठीक कहते हो भैया, मैं सचमुच भाग्यहीन हूँ। मैं छोड़कर आया नहीं, मुझे आना पड़ा, भागना पड़ा।" शार्विलक के मन में शंका हुई, "भागना पड़ा ? क्यों भागना पड़ा ?" "बताता हूँ, भैया ! तुम थोड़े शान्त हो जाओ।" वीरक ने कहा।

वीरक बोला, "मृणालमंजरी का विवाह करके आचार्य देवरात जो आश्रम से निकले तो निकले। कुछ भी पता नहीं चला कि वे कहाँ चले गये। उनके जाने के बाद और वृद्धगोप की मृत्यु के बाद हलद्वीप का राजा निरंकुश हो गया। आये-दिन प्रजा को लूटा जाता है, बहू-बेटियों का शील नष्ट किया जाता है, खेतों की पकी फ़सल काट ली जाती है। आर्यक के अतिरिक्त और किसी में साहस नहीं था कि

इन अत्याचारों का विरोध करता। हलद्वीप के नगर-सेठ वसुभूति का घर दिन-दहाड़े लूट लिया गया। राज-दरबार में कोई सुनवायी नहीं हुई, उलटे उसे अपमानित होकर लौटना पड़ा। बेचारा किसी और का सहारा न पाकर आर्यक के पास आया। बोला, 'वेटा, तुम्हारे पिता जीवित थे तो किसी का साहस नहीं था कि वह इस प्रकार अकारण भले आदमियों का अपमान करे। अभी तुम बालक हो, तुमसे मैं क्या कहूँ! लेकिन और जाऊँ भी कहाँ? मैं तो अपने परिवार को लेकर किसी और राज्य में चला जाऊँगा, परन्तु जाने के पहले तुम्हें अपनी विपदा सुना जाता हूँ, इस आशा से कि जब समर्थ होगे तो इस दुखिया की बात याद रखोगे।' आर्यक की भौंहें तन गयीं, बोला, 'तात, बालक हूँ, लेकिन हलद्वीप में अनर्थ हो, यह मुझे सह्य नहीं है। आप हलद्वीप छोड़ने की बात न सोचें। इस बालक की नसों में भी वृद्धगोप का रक्त बह रहा है। आप निश्चिन्त होकर घर जायें। आज से निरीह प्रजा की रक्षा का भार आर्यक के कन्धों पर आ गया। आप आश्वस्त होकर जायें।' वसुभूति ने दुलार के साथ आर्यक की ठोड़ी पकड़ ली, 'नहीं मेरे प्यारे, ऐसा साहस न करो। राजा इन दिनों चाटुकारों के हाथ में है। वह तुम्हारा भी अनिष्ट कर सकता है।' आर्यक कुछ बोला नहीं, केवल अनुनय के साथ इतना ही कह सका, 'तात, देश-त्याग न करें।' वसुभूति आशीर्वाद देकर घर लौट गया और दूसरे दिन सुना गया कि वह रातों-रात कहीं अन्यत्र चला गया है।

"आर्यक ने जब यह सुना तो अत्यन्त व्याकुल हो उठा। मुझे बुलाकर कहा, 'वीरक, धिक्कार है इस जवानी को। धिक्कार है इस बाहु-बल को। जो पुत्र पिता के यश की रक्षा नहीं कर सका, उसका जन्म अकारथ है। तुम गाँव के नौजवानों से मेरी ओर से कहो कि जो प्राण देने को प्रस्तुत हों, वे हमारे साथ आ जायें। राजा का गर्व चूर्ण करने के लिए आर्यक अकेला ही पर्याप्त है, परन्तु उसके साथ और भी कुछ समानधर्मा लोग हों तो क्या कहना!' बिजली की भाँति यह बात सारे गाँव में फैल गयी और सौ नौजवान आर्यक को घेरकर खड़े हो गये। हलद्वीप के राजा ने सुना तो उसने भी आर्यक को चींटी की तरह मसल डालने की प्रतिज्ञा की। लेकिन अत्याचारों का ताँता रुक गया और विरोध राजा और आर्यक में आकर केन्द्रित हो गया। प्रजा पूर्ण रूप से आर्यक के पक्ष में हो गयी। वृद्धों ने आशीर्वाद दिया, माताओं ने बलैया लीं, बहू-बेटियों का मस्तक गर्व से ऊँचा हो गया। आर्यक बिना अभिषेक का राजा सिद्ध हुआ। जहाँ कहीं भी पत्ता खड़कता था, हमारे नौजवान पहुँच जाते थे। दो-चार बार सैनिकों से हमारी मुठभेड़ भी हुई, लेकिन बात बहुत आगे नहीं बढ़ी। राजा डर गया। चाटुकार चुप्पी मार गये। कुछ दिन ऐसे ही बीते। मैं छाया की तरह भैया के साथ रहने लगा। भाभी ने मुझसे कहा था, 'वीरक, तू एक क्षण के लिए भी भैया का साथ न छोड़ना। बहू-बेटियों की शील-रक्षा के लिए, दुखियों की मान-रक्षा के लिए प्राण भी देना पड़े तो न झिझकना। उन्हें सदा उत्साहित करता रह। मेरा सतीत्व उनकी रक्षा करेगा,

तू चिन्ता न कर। आवश्यकता पड़ने पर तू अपनी भाभी को भी सिंहनी की भाँति दहाड़ती पायेगा। मैं इस समय उनका साथ नहीं दे सकती, इसलिए तुझसे प्रार्थना कर रही हूँ कि उन्हें अकेला न रहने दे।' "

शार्विलक को रोमांच हो आया। उसकी छाती दुगुनी हो गयी। एकाएक बोल उठा, "साधु आर्यक! साधु मृणालमंजरी! तुम लोगों से ऐसी ही आशा थी।" वीरक थोड़े उत्तेजित स्वर में बोला, "राजा के दुष्ट सभासद उसकी मति मारते हैं। उसकी आड़ में भले घर की बहू-बेटियों का शिकार करते हैं। यदि आर्यक भैया न होते तो हलद्वीप आज श्मशान बन गया होता।" फिर ज़रा प्रसन्नता से खिलता हुआ धीरे-से बोला, "भाभी हम लोगों के साथ जाना चाहती थीं भैया, लेकिन मैंने उन्हें रोक दिया। उन दिनों उनके पैर भारी थे। अब तो कोई बच्चा भी हुआ होगा।"

शार्विलक उछल पड़ा, "सच वीरक, तू सच कहता है! तू तो मेरे कानों में अमृत उँड़ेल रहा है!"

"सच कहता हूँ भैया, तुमसे मैं झूठ बोलूँगा! मेरी माँ ने खुद बताया था। वह दिन-रात भाभी के पास रहती है। मुझे डाँटती थी कि भाभी से इधर-उधर की बातें न किया कर। उसका शरीर भारी है। पहले तो मैं कुछ समझ नहीं पाया भैया, लेकिन बाद में माँ ने समझाकर बताया कि बच्चा होनेवाला है। तब से मैं लड़ाई-झगड़े की बात उनसे नहीं बताता था और आर्यक भैया के पेट से तो कोई बात निकलती ही नहीं थी। एक दिन ऐसा हुआ कि मैं आर्यक भैया के साथ हलद्वीप के बाज़ार से लौट रहा था। घुप्प अँधेरा था। हम दोनों के हाथ में लाठी के सिवा दूसरा कोई शस्त्र नहीं था। ऊपर-ऊपर से सारा हलद्वीप शान्त जान पड़ता था। लेकिन ऐसा प्रतीत होता था कि राजा के भेड़ियों के मुँह लहू का स्वाद लग गया था। वे लुक-छिपकर अब भी अपनी हरकतों से बाज़ नहीं आ रहे थे। हम दोनों जब नगर की सीमा से बाहर निकले तो एक आम्र-वाटिका में रोने का स्वर सुनायी पड़ा। स्पष्ट ही कोई ऐसी बात थी, जो असाधारण जान पड़ती थी। हमारे कान खड़े हुए। हमने धीरे-धीरे उस स्थान की ओर बढ़कर रहस्य जानने का प्रयत्न किया। अँधेरे में कुछ दिखायी नहीं दे रहा था, केवल एक करुण क्रन्दन सुनायी पड़ रहा था। वाटिका के बाहर तो ताराओं की झिलमिलाहट से थोड़ा प्रकाश भी आ रहा था, किन्तु भीतर तो एकदम सूची-भेद्य अन्धकार था। वाटिका में स्पष्ट ही जान पड़ता था कि कुछ दुर्वृत्त लोगों ने किसी बालिका को पकड़ रखा है। आवाज़ केवल उसी ग़रीब की आ रही थी। अँधेरे में पेड़ तक तो दिखायी नहीं दे रहे थे, आदमी का तो कहना ही क्या! फिर कितने आदमी थे और उनके हाथ में क्या-क्या शस्त्र थे, यह जानना तो असम्भव ही था। आर्यक भैया ने बुद्धिमानी की। भीतर न घुसकर बाहर से ही उन्होंने सिंह की भाँति दहाड़ा और धरती पर लाठी पटककर कहा, 'मैं आर्यक आ गया हूँ। दुष्टों को अपने किये का फल भोगना होगा। सावधान!' मैंने भी उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर दहाड़ा। न तो किसी के

बोलने की आवाज़ आयी और न किसी के भागने का ही लक्षण दिखायी दिया। सिर्फ़ रोनेवाली स्त्री ही 'बचाओ-बचाओ' कहती हुई आर्यक भैया की ओर दौड़ी। उसकी आवाज़ से हम समझ गये कि वह हमारी ही ओर आ रही है। फिर सिंह-गर्जन के साथ आर्यक भैया ने कहा, 'कोई भय की बात नहीं है। आर्यक के रहते कुल-ललनाओं का शील कोई नष्ट नहीं कर सकता। अभी इन नरक के कीड़ों को उचित स्थान पर पहुँचाता हूँ।' मगर कहाँ, उस स्त्री के सिवा न तो कोई आगे आया, न भागा। किसी ओर पत्ता खड़कने की आवाज़ न आयी और वह स्त्री दौड़ती हुई आकर आर्यक भैया से एकदम लिपट गयी। उसके बाल अस्त-व्यस्त थे, वस्त्र इधर-उधर हो गये थे और वह 'बचाओ-बचाओ' का कातर चीत्कार करती जा रही थी। मैं तो बुरी तरह डर गया।...

"मुझे ऐसा जान पड़ा कि यह भूतों का खेल है। मेरी आँखों से लुत्ती निकलने लगी और जब वह स्त्री आर्यक भैया का गला पकड़कर एकदम चिपट गयी तो मारे डर के मैं बेहोश हो गया। मुझे कोई सन्देह नहीं रहा कि हम लोग भूतों के चक्कर में पड़ गये हैं। फिर क्या हुआ, यह तो मुझे नहीं मालूम, लेकिन थोड़ी देर बाद भैया ने ही मेरा सिर सहलाया और ज़ोर-ज़ोर से आश्वस्त करते हुए बोले, 'डर नहीं वीरक, डरने की इसमें क्या बात है!' मेरी आँखें खुलीं तो मैंने देखा कि वह स्त्री आर्यक भैया की बग़ल में बैठी है। उसके मुख पर किसी प्रकार का भय का भाव नहीं था, उलटे वह थोड़ा-थोड़ा हँस भी रही थी। लेकिन भैया, तुम मानो या न मानो, ऐसा सुन्दर रूप मैंने नहीं देखा था। लोग स्त्रियों के मुख को पूर्णिमा के चाँद-जैसा कहते हैं। मगर मैंने पहली बार सचमुच पूर्णिमा के चाँद-जैसा मुख देखा। आर्यक भैया ने कहा, 'वीरक, यह पड़ोस के गाँव के श्रीचन्द्र की बहू चन्द्रा है। विपत्ति में फँस गयी थी, इसलिए डर गयी है। चलो, इसको इसके घर पहुँचा आयें। इसमें घबराने की कोई बात नहीं।' मेरा तो कलेजा धक्-से रह गया। इस चन्द्रा ने कई बार आर्यक भैया पर डोरे डालने की कोशिश की थी। चिट्ठियाँ भी भेजी थीं, पर आर्यक भैया को वह अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकी। उसकी चिट्ठियाँ उन्होंने भाभी को दे दी थीं। भाभी ने एक बार परिहास में मुझसे इन चिट्ठियों की बात बता दी थी। मेरे मन में कोई सन्देह नहीं रहा कि इस वराकी ने यह नया जाल रचा है। मेरे मुँह से तो निकल ही रहा था कि यह तो छैंछी (असती) है, परन्तु आर्यक भैया ने मेरे मन का भाव ताड़कर मुझे कुछ बोलने से रोक दिया। बाद में तो मुझे पक्का विश्वास हो गया कि वह छैंछी है।"

शार्विलक ने टोका, "देख रे वीरक, कुलवधुओं के बारे में ऐसी हल्की बातें नहीं किया करते।" अब वीरक रुआँसा हो गया। बोला, "मेरी बात तो सुन लो। तुम्हें विश्वास हो जायेगा कि मैं जो कह रहा हूँ, वह सब ठीक है।" शार्विलक ने कहा, "सुन तो रहा हूँ। लेकिन तुझे यह बात गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि कुलवधुओं के बारे में कभी ऐसी हलकी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।" वीरक ने कुछ विवशता का भाव दिखाते हुए कहा, "लो भैया, बाँध लिया। मगर मेरा तो देश

ही छूट गया ।" "सो कैसे ?" शार्विलक ने पूछा ।

"बता रहा हूँ । पहले तो वह स्त्री इसी बात का हठ पकड़े रही कि वह आर्यक भैया के साथ उनके घर जायेगी । पर वे बराबर उसको यही सिखाते रहे कि उसे अपने घर जाना चाहिए । जब मैंने देखा कि वह बुरी तरह आर्यक भैया के गले पड़ना चाहती है, तो मुझे बड़ा क्रोध आया । मैंने कहा, 'तुम सीधे अपने घर चलो। मैं तुम्हें ले जाऊँगा । आर्यक भैया को अभी बहुत काम करने हैं ।' और बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा के मैंने हाथ में लाठी उठायी और कहा, 'चलो' । ज़रा रोष के साथ मैंने आर्यक भैया से कहा, 'तुम घर जाओ ।' मेरे क्रोध का प्रभाव पड़ा । वह स्त्री मेरे पीछे-पीछे चल पड़ी । रास्ते में उसने ऐसी-ऐसी बातें कहीं कि जिन्हें अब भी स्मरण करता हूँ तो मेरा मुँह लज्जा से लाल हो उठता है । मैंने बिना कुछ उत्तर दिये चुपचाप उसे उसके घर तक पहुँचा दिया । संयोग से उसका पति द्वार पर ही मिल गया । उसने मुझे और चन्द्रा को सौ-सौ गालियाँ दीं । उसने कहा, 'निकल जा भाग्यहीना, जिसके साथ अभिसार करने गयी थी, उसी के यहाँ जा ।' और मुझे तो उसने जार, लम्पट आदि सब-कुछ कह दिया । मैंने तो इसकी कल्पना भी नहीं की थी, लेकिन चन्द्रा क्रुद्ध सर्पिणी की तरह फुफकारती रही । पति की एक-एक गाली के जवाब में उसने तीन-तीन गालियाँ दीं । पास-पड़ोस के बहुत-से लोग इकट्ठा हो गये । श्रीचन्द्र मेरे ऊपर झपटा और गाँव के लोगों को भी मेरी कुटम्मस के लिए ललकारा । सबने मुझे दुर्वृत्त और लम्पट मान लिया । मैं बुरी तरह घिर गया । अब तक मैं जड़ की तरह वहाँ खड़ा था । निरुपाय होकर मैंने लाठी सम्हाली और व्यूह-भेदन करके भाग खड़ा हुआ । गाँव के बाहर अँधेरे में आकर मैं देखने लगा कि आगे क्या होता है । थोड़ी देर तक हल्ला-गुल्ला चलता रहा । फिर ऐसा लगा कि चन्द्रा को भी पीटा जा रहा है । वह गालियाँ बकती हुई गाँव के बाहर चली आयी । अपने पति को वह कापुरुष, नपुंसक, न जाने क्या-क्या कहती रही और अकेली ही गाँव के बाहर निकल पड़ी । मुझे बड़ी लज्जा मालूम हो रही थी, परन्तु उसे अकेली जाते देखकर थोड़ी चिन्ता भी हुई । पता नहीं, वह कहाँ जा रही है ? अकेली पर संकट आ जाये तो बेचारी का क्या होगा ? आर्यक भैया को क्या मुँह दिखाऊँगा ? इसलिए मैं भी उसके पीछे हो लिया । उसने मुझे देखकर कोई अचरज का भाव नहीं दिखाया । मानो वह जानती थी कि मैं यहीं कहीं खड़ा मिलूँगा । मुझे देखते ही उसने कहा, 'देख लिया वीरक, जिसे मेरा पति कहा जाता है वह कितना निकम्मा पुरुष है ! वह मुझे अपने घर में घुसने नहीं देगा । मगर उसके घर में घुसना ही कौन चाहती है ! मैं तो आर्यक का मन रखने के लिए यहाँ तक चली आयी थी ।' मैंने पूछा, 'अब कहाँ चलने का विचार है ?' उसने हँसते हुए कहा, 'क्यों, आर्यक के रहते हुए मैं और कहाँ जा सकती हूँ ! उसी ने तो मेरी रक्षा करने का भार लिया है ।' मेरे हृदय में धक्का लगा । मैंने कहा, 'चन्द्रा, इससे आर्यक की बदनामी होगी । मेरी तो हो ही चुकी ।' चन्द्रा ने हँसते हुए कहा, 'क्या बदनामी हुई तेरी ? यही न कि तू चन्द्रा के साथ अनुचित सम्बन्ध

रखता है ! इसमें पुरुष की क्या बदनामी है ? तेरे-जैसा जवान पुरुष मैं होती तो न जाने कितनी लड़कियों से प्रेम करती। तू तो कायरों की तरह बात कर रहा है।' " वीरक ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "भैया, मेरे पैरों के नीचे से तो धरती खिसक गयी। मैं कैसी स्त्री से बात कर रहा हूँ ! यह अगर आर्यक भैया के पास पहुँच गयी तो उनको कितनी बदनामी होगी ! मेरी पार्वती-जैसी भाभी पर क्या बीतेगी ! मैंने हाथ जोड़कर कहा, 'चन्द्रा, ऐसा अनुचित काम नहीं करना चाहिए। चलो, तुम्हें मैं अपनी माँ के पास पहुँचा देता हूँ। कल सवेरे इसका कुछ फैसला होगा।' चन्द्रा ने रोष के साथ कहा, 'तू कापुरुष है। तू मुझे अपने घर में बैठाना चाहता है। जा यहाँ से तू। मेरा रास्ता छोड़ दे।' "

वीरक ने फिर दीर्घ निःश्वास लिया, "क्या बताऊँ भैया, मुझे तो कुछ सूझ ही नहीं पड़ा। बदनामी हुई सो अलग। अब मैं आर्यक भैया को क्या मुँह दिखाऊँगा ! कल सारे हलद्वीप में वीरक के नाम पर न जाने क्या-क्या कहानियाँ चलने लगेंगी। मैं मुँह दिखाने योग्य नहीं रहूँगा। यह सोचकर मैं भाग आया। चन्द्रा हमारे गाँव की ओर चल पड़ी। उसके बाद क्या हुआ यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन जो खबरें उड़ी हैं उनसे लगता है कि आर्यक भैया को भी देश छोड़कर भाग जाना पड़ा और वह छैंछी उनके गले पड़ गयी।"

शार्विलक गाढ़ चिन्ता में डूब गया। उसके मुँह से केवल एक ही शब्द निकला—"हूँ"। थोड़ी देर तक दोनों ही स्तब्ध रहे। ऐसा जान पड़ता था कि आगे कौन-सी बात उठायी जाये, यह दोनों में से किसी की भी समझ में नहीं आ रहा था। फिर एकाएक शार्विलक को बात सूझी, "क्यों रे वीरक, मृणालमंजरी का बच्चा तो चलने लगा होगा ?" वीरक ने मन-ही-मन हिसाब करके कहा, "हाँ भैया, अब तो उसके मुँह में दो दाँत भी चमकने लगे होंगे। बड़ा सुन्दर होगा !" शार्विलक मन-ही-मन बच्चे की कल्पना करके स्नेह-रस में पगने लगा। बोला, "क्यों रे वीरक, मैं जाऊँ तो मुझे पहचानेगा ?" वीरक ने कहा, "लो, वह तो मुझे भी नहीं पहचानेगा। तुम्हें कैसे पहचान लेगा !" फिर वीरक ने हँसते हुए कहा, "कहीं तुम्हें पहचान लिया तो बुरी गत कर देगा। तुम्हारी मूँछें पकड़कर लटक जायेगा। सारी पहलवानी भुला देगा।"

शार्विलक काल्पनिक बालक के स्नेह में डूब गया। उसे ऐसा लगा कि सचमुच ही एक छोटा बच्चा उसकी मूँछ पकड़कर खींच रहा है। थोड़ी देर तक वह कल्पना-रस से अभिभूत रहा, फिर एकाएक बोला, "वीरक, मुझे लगता है कि मृणालमंजरी अकेली उदास हो रही होगी। चल, हम दोनों घर लौट चलें।" वीरक ने कहा, "भैया, मैंने सुना है कि आर्यक भैया मथुरा पर चढ़ाई करनेवाले हैं समुद्रगुप्त की ओर से। ज़रा ठीक से पता लगा लेने दो तो फिर सलाह करेंगे।" शार्विलक को अब ध्यान आया कि वीरक राजा का दण्डधर है। उसने कहा, "देख वीरक, आर्यक यहाँ आये न आये, हमें हलद्वीप लौट चलना चाहिए। पर मुझे एक और काम करना है। तू राजा का दण्डधर है। शायद इसमें तू मेरी मदद कर

सके।" वीरक ने उत्साह के साथ कहा, "क्या काम है भैया, कहो!" शार्विलक ने मथुरा आने का अपना उद्देश्य उसे बताया और जिस बालिका को खोजने वह आया था, उसका हुलिया भी बता दिया। वीरक ने उत्साह के साथ उसका पता लगाने का आश्वासन दिया।

नौ

मथुरा में फिर एक बार खरभर मच गयी। सुना गया कि आर्यक के स्थान पर पाटलिपुत्र के सम्राट् ने किसी और दुर्धर्ष सेनापति को नियुक्त किया है और कड़ा आदेश दिया है कि दस दिन के भीतर मथुरा पर अधिकार कर लिया जाये। यह भी सुना गया कि नया सेनापति सम्राट् का अत्यन्त विश्वासपात्र कोई भटार्क है, जो सम्राट् के परिवार का भी सदस्य है। इस समाचार ने मथुरा के जीवन में खलबली पैदा कर दी। बड़े-बड़े सेठ और सामन्त भागने लगे। राजा भागे तो नहीं, पर आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त भाग निकलने की पूरी तैयारी कर लेने के बाद ही युद्ध की तैयारी में लगे। राज-पितृव्य चण्डसेन ने सच्चे शूर की भाँति मथुरा में रहकर ही शत्रु से लोहा लेने का निश्चय किया, पर इतनी सावधानी उन्होंने भी बरती कि अपने परिवार को चुपचाप उज्जयिनी भेजने की व्यवस्था कर ली। श्यामरूप के बल, पौरुष और शील पर उन्हें पूरा विश्वास हो गया था। उन्होंने श्यामरूप को परिवार के साथ जाने का आदेश दिया। श्यामरूप कुछ चिन्तित हुआ, पर स्वामी की आज्ञा का पालन करने के सिवा उसके पास कोई रास्ता नहीं रह गया था। माँदी की चिन्ता उसे बराबर बनी रही। उसके मथुरा आने का उद्देश्य ही माँदी का पता लगाना था। पता लग नहीं रहा है; लगेगा, ऐसी आशा भी नहीं है। वीरक आता है, नित्य आकर कह जाता है कि माँदी का पता वह अवश्य लगायेगा। पर कहाँ लगा पा रहा है!

वह उदास हो गया। उसे उज्जयिनी जाना पड़ेगा। माँदी का पता अब कभी नहीं लगेगा। वह गयी सो गयी। एक क्षण के लिए बिजली की जो रेखा कौंधी थी, वह उसके मस्तिष्क और हृदय को आर-पार चीर गयी थी। क्यों ऐसा हुआ? यह क्या एक क्षण की घटना है? श्यामरूप का मन कहता है कि यह एक दिन की बात नहीं है, यह जन्म-जन्मान्तर की कहानी है। नहीं तो माँदी से उसका क्या सम्बन्ध है, कौन होती है वह उसकी? क्यों वह इतना व्याकुल है? ऐसा तो होता ही रहता है। क्या रखा है इस अकारण उधेड़-बुन में?

परन्तु श्यामरूप जितना ही भूल जाना चाहता है उतना ही वह उलझता जाता है। शंख की चूड़ी बनानेवालों की एक कराती होती है—छोटी-सी आरी। वह नीचे से ऊपर जाती बार भी काटती है, ऊपर से नीचे आते समय भी काटती है। श्यामरूप की व्यथा उसी कराती के समान है। याद करने के प्रयत्न में भी काटती है, भुला देने के प्रयास में भी काटती है। श्यामरूप बेचैन है। उसे माँदी की बातें याद आयीं। मुखरा भाभियों का भोंड़ा परिहास याद आया, माँदी का विवश चेहरा याद आया, अपनी शिराओं की झनझनाहट याद आयी और फिर रात-भर उठती रहनेवाली हूक याद आयी। क्या हो गया था उस दिन, सारा दिङ्मण्डल ही घूम गया था, ब्रह्माण्ड ही केन्द्र-स्खलित-सा हो गया था, दिगन्त ही गतिशील हो उठा था !

उज्जयिनी जाना पड़ेगा, माँदी की खोज का कार्य रुक जायेगा। श्यामरूप फिर भी जीवित रहेगा। उसका मन बीती हुई घटनाओं में उलझ गया। उसे याद आयी भोंड़े परिहास के दूसरे दिन की सन्ध्या। वह नटों के आवास से थोड़ी दूर हटकर एक आम के पेड़ के नीचे उदास बैठा था। हाय, उसी सन्ध्या को तो उसका हृदय चिर गया था।

बड़ी ही मर्मन्तुद थी वह सन्ध्या। उसे सारी बातें साफ़ दिख रही थीं—एकदम साफ़। उस दिन श्यामरूप के मन में विचारों का बवण्डर उठ रहा था। ऐसे ही समय उसके पीछे किसी ने आवाज़ दी थी, 'किस अलबेली का ध्यान कर रहे हो देवर ?' श्यामरूप ने मुड़कर देखा था, वही प्रौढ़ा मुखरा भाभी खिलखिलाकर हँस रही है। श्यामरूप भी यथानियम हँस दिया था। मन-ही-मन बोला था—मोह-बुद्धि का। भाभी निकट आ गयी थी। बेचारी हृदय से श्यामरूप को वात्सल्य-रंजित प्यार की दृष्टि से देखती थी। उसके असंस्कृत शब्द केवल ऊपरी आवरण-मात्र थे, उसके अन्तर में शुद्ध प्रेम था जो सहज वात्सल्य से और भी उज्ज्वल हो उठा था। अपनी टोकरी से कुछ ताज़ा शहद निकालकर बोली थी, 'देखो, तुम्हारे लिए कैसी मीठी वस्तु ले आयी हूँ !' श्यामरूप ने हँसते हुए कहा था, 'भाभी, तू सब समय मेरे लिए मीठी चीजें ले आती है !' प्रौढ़ा ने गद्गद होकर कहा था, 'भोलेराम, उस दिन इससे भी मीठी चीज़ ले आयी थी। मगर तुम तो भाग ही गये !' और खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। श्यामरूप को कैसा-कैसा लगा था ! बोला था, 'भाभी, तू बड़ा बुरा परिहास कर गयी उस दिन। पता नहीं, वह बेचारी कौन लड़की थी। तू उसे घसीट लायी। बेचारी लाज से लाल हो गयी थी।' अब तो भाभी और ठहाका मारकर हँस पड़ी थी। बोली थी, 'माँदी की बात करते हो ? लजा तो गयी थी, मगर दस बार उसने मुझसे कहा था कि छबीला पण्डित के पास जाना तो मुझे भी साथ ले लेना। मैं क्या जानूँ कि देखने को आँखें भी तरसती हैं और दिखाने पर गाल भी लाल हो जाते हैं !' श्यामरूप ने भाभी के निश्छल भोलेपन को आश्चर्य से देखा था। भाभी हँस-हँसकर लोट-पोट हो रही थी।

अवसर देखकर श्यामरूप ने पूछा था, 'अच्छा भाभी, यह माँदी कौन है? कब से हमारे साथ है?' भाभी ने बताया था कि माँदी थोड़े ही दिनों से आयी है। श्रावस्ती के पास की ही किसी बस्ती की है। माँ-बाप उसके नहीं हैं। कहते हैं किसी ग़रीब ब्राह्मण की बेटी है। पता नहीं, क्या बात हुई थी, घरवालों ने निकाल दिया था। फिर किसी नटिनी के साथ हमारे दल में आ गयी थी। बहुत रोती थी। क्या करे बेचारी? चौधरानी ने उसे अपने पास ही रख लिया था। यहाँ तो उसे निकलने नहीं दिया जा सकता। सो छिपकर ही रहती थी। हम लोग कुछ और आगे बढ़ जायेंगे, तो उसे भी काम पर भेज दिया जायेगा। अभी तो नयी है। फिर चौधरानी का कहना है कि उसे किसी अच्छी जगह दिया जा सकता है। इस दल के साथ रहने योग्य तो है नहीं। सुन्दर है। नगर में किसी गणिका के यहाँ बेच देने पर अच्छा पैसा मिल सकता है!'

श्यामरूप सन्न रह गया था। भाभी इस प्रकार कह रही थी, मानो यह कोई बहुत मामूली बात हो, किसी प्रकार का अधर्म या पाप इसमें है ही नहीं। श्यामरूप ने कहा था, 'यह तो उचित नहीं है भाभी! हमारे दल को ऐसा काम तो नहीं करना चाहिए।' भाभी फिर हँसी थी, 'यह तो होता ही है देवर! तुम्हारी कई भाभियाँ ऐसे ही दल में आयी हैं। बहुएँ विपदा की मारी आ जाती हैं तो उन्हें दुत्कारा तो नहीं जा सकता और इस दल में कितनी खप सकती हैं? कहीं-न-कहीं तो उनको ठिकाने लगाना ही पड़ता है। जो ज़रा सुन्दर होती हैं उनकी माँग होती है; नहीं होतीं, वे हमारी तरह काम-धन्धा कर पेट पालती हैं। पिछले साल ही तो एक ऐसी सुन्दर लड़की आयी थी। दो दिन में ही ग्राहक मिल गये। इसके भी मिल जायेंगे। चौधरानी कहती है कि मथुरा या उज्जयिनी में किसी गणिका के यहाँ इसकी अच्छी कदर होगी।'

श्यामरूप का हृदय धक्-धक् करने लगा था। चौधरी जम्भल, उसका मल्ल-विद्या-गुरु, यह काम करता है! उसका हृदय उस दुःखिनी बाला के लिए रो उठा था। सोचने लगा था, कैसे लोगों के बीच रह रहा है! पर फिर उसने भाभी के सहज निर्विकार चेहरे को भी देखा था। कहती है, 'यह तो होता ही रहता है। विपदा की मारी वधुओं को कहीं-न-कहीं ठिकाने तो लगाना ही पड़ता है।' मानो विपदा की मारी वधुएँ कहीं भी बेच दी जायें, कोई दोष नहीं होता। यह सब क्या है? मगर इस बालिका के पास अपने कुल-परिवार में लौट जाने का उपाय भी तो नहीं है। श्यामरूप व्याकुल भाव से सोचने लगा था, चौधरी पाप कर रहा है या पुण्य?

उसका मन बुरी तरह मथित हो उठा था। उस बालिका का भोला, निरीह, सलज्ज मुखमण्डल उसे याद आया था। हाय-हाय, यह क्या अनर्थ होने जा रहा है! यह लड़की बेच दी जायेगी! सो भी किसी गणिका के हाथ! श्यामरूप का क्या कोई कर्तव्य नहीं है इस मामले में!

देवर को जल्दी पड़ाव पर पहुँचने का आदेश देकर, भाभी चली गयी थी और

श्यामरूप के हृदय में विचित्र हाहाकार की झंझा पैदा कर गयी थी।

परन्तु श्यामरूप ने निश्चय कर लिया था कि वह ऐसा नहीं होने देगा। वह सावधानी से चौधरानी के पास सुरक्षित बालिका पर दृष्टि रखने लगा था। नट-मण्डली आगे बढ़ती गयी। अहिच्छत्रा का रास्ता छोड़कर वह मथुरा की ओर जाने की तैयारी कर रही है, यह बात श्यामरूप से छिपी नहीं रही। बड़ी सावधानी से वह अपने मनोभावों को छिपाये रहा। सोचता रहा, कोई अनुकूल अवसर मिलने पर वह इस लड़की को अपने साथ लेकर दल छोड़ देगा। पर उस लड़की से वह मिल नहीं सका। कभी-कभी वह दिख अवश्य जाती थी। उसे देखकर श्यामरूप की आँखें झुक जाती थीं और उस बालिका की भी। उसका उदास मुख बड़ा ही मनोहर होता था। पर श्यामरूप को उससे पूछने का साहस नहीं हुआ था। जब कभी दिखती, उसके मुख की वेदना पहले से भी अधिक गहरी दिखायी देती। श्यामरूप की छाती फटने को आती। अपने पौरुष पर उसे क्रोध भी आता। क्यों नहीं वह उस दुःखिनी की मर्म-व्यथा को जानने का प्रयत्न करता? एक दिन उसने दृढ़ संकल्प किया था कि उस लड़की से वह किसी-न-किसी प्रकार मिलेगा अवश्य। उस दिन साहस बटोरकर वह चौधरानी के पास गया था। चौधरानी ने बड़े स्नेह से उसका स्वागत किया था। श्यामरूप ने साहस बटोरकर पूछा था कि माँदी क्या कर रही है। चौधरानी ने सन्देह से उसकी ओर देखा था और जानना चाहा था कि माँदी से उसे क्या काम है। श्यामरूप कोई उत्तर नहीं दे सका था। चौधरानी ने उपदेश देने के स्वर में उससे कहा था, 'लड़कियों के बारे में निरर्थक प्रश्न नहीं किया करते।' श्यामरूप लज्जित होकर लौट आया था। उसके मन में अपने प्रति धिक्कार का भाव भी आया था और उसी दिन दल छोड़कर भाग जाने की इच्छा भी हुई थी। पर उस बेचारी लड़की का क्या होगा, यह सोचकर अन-मना-सा रह गया था।

समय बीतता गया। मथुरा के निकट वे लोग पहुँच गये। श्यामरूप बहुत ही खिन्न रहने लगा।

प्रौढ़ा भाभी एक दिन एकान्त में फिर मिल गयी। श्यामरूप को उदास देखकर उसे व्यथा हुई। बोली, 'देवर, आजकल तुम बहुत उदास रहने लगे हो, क्या बात है?' श्यामरूप कुछ उत्तर नहीं दे सका। भाभी ने ही बात बढ़ायी थी—'सुना है देवर, चौधरी तुम्हारे ब्याह की बात सोच रहे हैं। जब से उन्होंने सुना है कि तुम माँदी के बारे में पूछताछ करने गये थे, तब से उन्हें यही चिन्ता सता रही है। मैंने चौधरानी से साफ़-साफ़ कह दिया है कि मेरे देवर को चाँद-सी बहू मिलनी चाहिए, हाँ! इसमें मैं उनके मन की नहीं होने दूँगी। सोचते क्या हैं वे लोग! हमारे देवर को लच्छिमी बहू नहीं मिलेगी तो ब्याह-वाह नहीं होगा। कोई भैंस-सी नटिनी गले मढ़ देंगे तो मैं नहीं सह सकूँगी। हाँ, बताये देती हूँ।'

श्यामरूप को सुनकर आश्चर्य हुआ था कि माँदी के बारे में पूछने का यही परिणाम निकला। वह भाभी की ओर चकित दृष्टि से देखता रह गया था। भाभी

ने व्याख्यान जारी रखा, 'मैं तो कहती थी, माँदी के साथ ही देवर का ब्याह कर दिया जाये। वह बेचारी बड़ी सुखी होती। एक दिन मैंने उसके मन की बात जान ली थी। वह तैयार थी। मैं सोच रही थी कि तुमसे पूछूं, पर इस चंट चौधरानी को आभास मिल गया। चटपट उसे मथुरा के दलालों के हाथ बेच दिया। पैसे के लिए वह सब कर सकती है। बेचारे चौधरी की तो कुछ चलती ही नहीं। वे तो माँदी के साथ तुम्हारे ब्याह की बात सोच ही रहे थे। कल दोनों में खूब लड़ाई हुई। मगर बेचारे करें भी तो क्या करें! माँदी तो चली गयी!'

भाभी की बात से श्यामरूप को आश्चर्य हुआ था। वह सोच रहा है कि क्या ही अच्छा होता यदि भाभी ने यह न बताया होता कि उसने माँदी का मन जान लिया था। निश्चय ही जिस दिन भाभी से उसकी बात हुई थी, वह वही दिन था जिस दिन अचानक माँदी के उदास चेहरे पर उसे देखकर एक मन्दस्मित की रेखा उभर आयी थी और वह अपराधी की भाँति जल्दी-जल्दी भाग गयी थी। वह मन्द-मधुर हँसी श्यामरूप के कलेजे को बेध गयी थी। उस हिम्मत में मानो साभिप्राय आश्वासन था, मानो उसमें एक सँदेशा था—'उस दिन की बात का बुरा न मानना, मैं प्रसन्न हूँ।' क्यों नहीं समझा तूने मूर्ख! तुझे समझना चाहिए था। माँदी क्या ढोल बजाकर अपनी स्वीकृति की सूचना देती! मुग्धाओं की यही तो रीति है। धिक् मूर्ख श्यामरूप!

माँदी उस दिन हल्की-सी सफ़ेद साड़ी पहने थी। उसके प्रफुल्ल चम्पक के समान मुख पर झीना घूँघट था। श्यामरूप को देखकर उसकी आँखें चंचल हो उठी थीं—मानहुँ सुरसरिता विमल जल उछरत जुग मीन!

और फिर वह हँसी भी क्या थी, जैसे क्षण-भर के लिए कुहरे के घने आवरण को भेदकर ऊषा की किरणें दिख गयी हों, जैसे बादलों की परत फोड़कर चन्द्र-मरीचियाँ चमक उठी हों। श्यामरूप उस मन्दस्मित को नहीं भूल सकता। वह उसे निरन्तर मथ रहा है। कब तक मथता रहेगा? हाय, विद्रुम पात्र में रखे मोती उस लाल-लाल अधरों में थिरक गयी मुसकान के सामने फीके हैं, प्रवालमणि के पुष्पाधान में हँसते हुए मल्लिका-कुसुम भी उसके सामने निष्प्रभ हैं। एक क्षण में श्यामरूप ने क्या पाया, क्या खोया!

श्यामरूप को स्मरण है कि भाभी की बात सुनकर वह उस दिन एकाएक व्याकुल होकर खड़ा हो गया था—'कब चली गयी, भाभी? मथुरा गयी? कहाँ गयी, कब गयी, रोते-रोते गयी? हाय भाभी, तूने पहले क्यों नहीं बताया?'

भाभी ने सोचा भी नहीं था कि वह ऐसा व्याकुल हो उठेगा। उसने सहज भाव से ये बातें कह दी थीं। जो होना था, सो हो गया। श्यामरूप अब शार्विलक बनकर मथुरा आ गया है और अब स्वामी के कार्य से उज्जयिनी जा रहा है। विधाता ही वाम हैं!

वीरक भी दो-तीन दिनों से नहीं आया। पता नहीं, क्या बात हो गयी है। आता है तो श्यामरूप का मन थोड़ा बहल जाता है।

अचानक वीरक की उल्लास-मुखर वाणी सुनायी पड़ी। श्यामरूप को उसकी वाणी में आशा की झलक मिली। उसने उल्लसित स्वर में कहा, "सँवरू भैया, माँदी के बारे में कुछ पता लगा है !" श्यामरूप एकदम उतावला हो उठा, "कहाँ है वह ? तुमने देखा है ? बता वीरक, मैं बहुत व्याकुल हूँ।"

वीरक ने हँसते हुए कहा, "यहाँ तो नहीं है। उज्जयिनी की ओर गयी है। कहाँ गयी है, यह भी नहीं मालूम। पर वह मथुरा से उज्जयिनी की ओर गयी है, इतना निश्चित है। यह भी पता चला है कि जिस गिरोह के यहाँ वह बन्दी है, उसके मुखिया का नाम कपोतक है। बस भैया, आज इतना ही पता चला।" श्यामरूप ने जब खोद-खोदकर पूछना शुरू किया तो वीरक ने वह कहानी बता दी। बताने के पहले भूमिका रूप में यह भी कह दिया कि कहानी ज्यों-की-त्यों सुना रहा हूँ ताकि तुम स्वयं इसकी प्रामाणिकता का निर्णय कर सको। फिर थोड़ा हँसते हुए बोला, "मुझे थोड़ा सन्देह है कि इस कहानी के कथा-नायक के मस्तिष्क की सभी कड़ियाँ दुरुस्त हैं या नहीं। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि कुछ कड़ियाँ एकदम हों ही नहीं। अच्छा, तो सुनो।"

श्यामरूप के मन में थोड़ी हलचल हुई, पता नहीं, क्या सुनने को मिले। पर वह सावधान होकर बैठ गया और पूरा सुनने का आग्रह प्रकट किया। वीरक ने कहा, "बात यों हुई सँवरू भैया, कि कल मैं राजकीय कार्य से यथानियम रात-भर राजमार्ग पर पहरा देता रहा। प्रातःकाल घर लौट रहा था कि रास्ते में एक अधमरा-सा आदमी सड़क पर कराहता दिख गया। ऐसा लगता था कि उसे किसी ने बुरी तरह पीटा है। उसके मुँह से मद्य की गन्ध भी आ रही थी। मैंने डाँटकर पूछा, 'कौन है ?' उसने कराहते हुए कहा, 'त्रेता ने मार डाला, पावर ने चूस लिया, हाय !' मेरी समझ में नहीं आया कि कह क्या रहा है। डपटकर पूछा, 'अरे, क्या बक रहा है ?' उसी प्रकार आधी जड़ता, आधी चेतना में लड़खड़ाता हुआ वह कहने लगा, 'र्नदित ने चूस लिया, कट्टा ने मूस लिया, हाय !' अब मेरी समझ में आया, निश्चय ही जुआड़ी है। त्रेता (तीया), पावर (दूआ), र्नदित (नक्का) और कट्टा (पूरा)—इन दाँवों का नाम ले रहा है।'* समझ में आ गया कि जुए में हारा है और कदाचित् पैसा न दे सकने में असमर्थ होने के कारण पिट गया है। मैंने आसपास दृष्टि फिरायी तो एक गन्दी पानशाला भी दिख गयी। यह भाग्यहीन यहीं जुआ खेलने आ गया होगा। उसे पैर से ठोकर मारते हुए मैंने डाँटा, 'जुआ खेलता है पाषण्ड, चल, अभी तुझे इसका मज़ा चखाता हूँ।' जुआड़ी ने आँखें खोलीं। देखा, सामने राजा का दण्डधर खड़ा है। भय से धड़फड़ाकर वह उठ खड़ा हुआ। कातर-भाव से हाथ जोड़कर बोला, 'माथुर और दर्दुरक ने बुरी तरह पीटा है,

* त्रेता हृत सर्वस्वः पावर-पतनाच्च शोषित-शरीरः।
र्नदित दर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो याभि॥

—'मृच्छकटिक'

बाबूजी। केवल दस सुवर्ण के लिए इतना मारा है। उन्हें पकड़िये। मैं तो परदेशी हूँ।' मुझे कुतूहल हुआ। परदेशी होने से अपराध कम हो जाता है? ज़रा और डाँटकर कहा, 'परदेशी है तो जुआ क्यों खेलने आया रे?' जुआड़ी ने डरते-डरते कहा, 'मेरे साथियों ने मुझे गाड़ी में से धकेलकर बाहर कर दिया। जुआ न खेलता तो क्या करता? यह विद्या बड़ी उत्तम विद्या है। जुआ तो युधिष्ठिर भी खेलते थे। मैं तो उन्हें अपना गुरु मानता हूँ। देखो न, धन भी पाया जुए से, घर और घरनी जुए से, खाया-पीया जुए से, सब-कुछ खोया जुए से।* मगर बड़ा मारा है मालिक, बड़ा मारा है। यहाँ के लोग बड़े लण्ठ हैं। श्रावस्ती में हारनेवाले को कोई मारता नहीं। उनको अवश्य दण्ड मिलना चाहिए। एक का नाम माथुर है, एक का दर्दुरक! पूरे पिशाच हैं दोनों।'

"उसकी बहकी-बहकी बातों से मुझे हँसी आ गयी। बोला, 'तो तू श्रावस्ती से यहाँ जुआ खेलने आया है। तुझे तेरे साथियों ने गाड़ी से क्यों धकेल दिया रे युधिष्ठिर के चेले?' जुआड़ी बोला, 'नाराज़ क्यों होते हो बाबू, जुए में जोखिम तो उठाना ही पड़ता है। श्रावस्ती में जुआ खेलकर बहुत जीता था, बहुत हारा भी था, युधिष्ठिर का चेला तो हूँ ही। उन्होंने द्रौपदी को दाँव पर रख दिया तो मैंने भी रदनिका को दाँव पर रख दिया। हार गया। युधिष्ठिर भी हार गये थे। किसी तरह दस सुवर्ण इकट्ठा किया कि फिर से नया घर बसाऊँ। देखा, तीन गाड़ियाँ लादे कपोतक अपनी कमाई पर निकला है। उसका काम ही स्त्रियों का क्रय-विक्रय है। मैंने एक लड़की को खरीदना चाहा। नाम उसका माँदी था, बेहद सुन्दर थी। बड़ा घाघ है वह। सौ सुवर्ण माँगता था, मैं पाँच से ऊपर नहीं जा सका। सोचा, थोड़ा मोल-भाव करने से दस तक पर राज़ी हो जायेगा। बात करते-करते गाड़ी पर बैठ गया। लोभी तो है, मगर गप्पी भी है। बैठा लिया और गप्प हाँकता रहा। मथुरा तक आते-आते मैं दस सुवर्ण तक उठ गया था, पर वह भाग्यहीन टस-से-मस नहीं हुआ। कहता रहा, मथुरा में सौ सुवर्ण तो बातों-बातों में मिल जायेंगे। पर मथुरा में इन दिनों आतंक छाया है। लोग घबराये हुए हैं, गणिकाएँ भाग रही हैं। कपोतक का टिप्पस नहीं बैठा। वह उज्जयिनी की ओर बढ़ा। उसे किसी ने बता दिया था कि उज्जयिनी में सौ-सौ सुवर्ण तो मामूली लड़कियों के मिल जाते हैं। मैंने सोचा कि यही मौक़ा है। कह दिया कि माँदी को दस सुवर्ण में दे दो, नहीं तो राजा के पास व्यवहार (मुक़दमा) करूँगा। उसने कुछ कहा तो नहीं, पर भाव दिखाया कि राज़ी हो गया है। बोला, नगर के बाहर चलो तो सब हो जायेगा। मैं बातों में आ गया। कुछ दूर जाने पर उसने अपने आदमियों को इशारा किया। वे झपटकर मेरी ओर बढ़े और हाथ-पैर बाँधकर किनारे फेंक दिया। स्वयं उज्जयिनी

* द्रव्यंलब्धं द्यूतेनैव, दारा मित्रं द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव, सर्वं नष्टं द्यूतेनैव॥

—'मृच्छकटिक'

की ओर बढ़ गये। रात-भर उसी तरह पड़ा रहा। ऊपर से झमाझम पानी बरसता रहा। रात यों ही बीत गयी। सवेरे कुछ लोग उधर से निकले और मुझे बन्धन-मुक्त किया। किसी तरह फिर मथुरा आया, जुआ खेला, कमाया, फिर खेला और फिर हार गया। आज बुरी तरह पीटा भाग्यहीनों ने। भाग्य ही बेकार हो गया है मेरा। नहीं तो इन्हीं हाथों से सैकड़ों सुवर्ण जीते-हारे हैं।' मुझे सचमुच क्रोध आ गया। डाँटकर बोला, 'भाग्यहीन, युधिष्ठिर की बराबरी करना चाहता है!' जुआड़ी ने अनुनय के साथ उत्तर दिया, 'क्रोध क्यों करते हो बाबू, क्रोध बुरी चीज़ है। युधिष्ठिर कभी क्रोध नहीं करते थे। लोगों ने उनका कितना-कितना अपमान किया, पर क्रोध उन्होंने नहीं किया। जुआड़ी के शास्त्र में क्रोध वर्जित है। माथुर और दर्दुरक पापी हैं, वे क्रोध करते हैं।' मुझे उसकी बातें रोचक लगीं। हँसते हुए पूछा, 'तुम तो ज्ञानी जान पड़ते हो! कहाँ सीखा इतना ज्ञान?' जुआड़ी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'जुए से।' उसकी आँखों में चकित कर देनेवाली सरलता थी। अपने ज्ञान और ज्ञान-प्राप्ति के साधन के बारे में उसे रंच-मात्र दुविधा नहीं थी। बोला, 'सौ बार सोचा कि अब नहीं खेलूँगा, पर कौड़ी की खनखनाहट सुनते ही सब भूल जाता है, जैसे ब्रह्म-समाधि के समय समस्त जगत्प्रपंच भूल जाता है। मथुरा में मेरा कौन है? किसी को तो नहीं जानता। पर कल रात को इस रास्ते से जा रहा था। सोचा, पानशाला में एक चषक पान कर लूँ। पीकर उठ भी नहीं पाया था कि पीछे से आवाज़ आयी—मम पाठे (मेरा दाँव है)। सुनते ही उधर दौड़ गया। कत्ता का शब्द, मम पाठे की ध्वनि, आहा! ब्रह्मानन्द और होता क्या है?' मैंने फिर डाँटा, 'क्या बक-बक कर रहा है। ब्रह्मज्ञानी बनता है!' प्रफुल्ल होकर बोला, 'ब्रह्मज्ञान ही है बाबू, संसार की नश्वरता, जगत्प्रपंच की असारता, अनिकेत-भावना, एकाग्र बुद्धि, सब मिल जाते हैं इससे। माँदी नहीं मिली, तो भी जैसा हूँ वैसा ही हूँ। मिल भी जाती तो क्या फ़र्क पड़ता? और मिल ही जाती तो कै दिन मेरे साथ टिकती? कपोतक कहता था कि वह तो किसी छबीला पण्डित पर रीझी हुई है। कुछ दिनों में वह उसे ठीक कर लेगा, पर कौन जाने!'

"सुना तो मुझे प्रसन्नता ही हुई। माँदी का कुछ पता तो चला। जुआड़ी को डाँटते हुए बोला, 'दर्दुरक और माथुर के बारे में व्यवहार करेगा न? चल मेरे साथ।' जुआड़ी अब पूरी तरह होश में आ गया था। इधर-उधर देखकर बोला, 'व्यवहार? व्यवहार तो जुआड़ियों के शास्त्र में निषिद्ध है। यह तो धर्म का मार्ग है, इसमें व्यवहार क्या!' कहकर वह तेजी से भागा। मैं उसे दूर तक भागते देखता रहा। पागल है क्या!"

श्यामरूप का चेहरा खिल गया, जैसे सूखते धान को पानी मिल गया हो। परमात्मा ने दया करके ही उसे उज्जयिनी जाने का अवसर दिया है। अब सन्देह कहाँ रहा! हर्ष के साथ बोला, "वीरक, मैं तेरा बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं उज्जयिनी जा रहा हूँ। तू भी चलेगा वीरक? कुछ दिन साथ-साथ रहेंगे। स्वामी की गोपनीय आज्ञा है। यदि चलना चाहे तो तुझे भी साथ ले जाने की व्यवस्था करा लूँगा।"

वीरक ने उछलकर कहा, "अवश्य चलूँगा भैया, मथुरा से जी भर गया है। श्यामरूप ने उसे साथ ले लेने की व्यवस्था करने का वचन दिया।

दस

विदिशा के उज्जयिनी जाने का मार्ग यद्यपि ऊँचे-नीचे पहाड़ों के भीतर से ही जाता था, तथापि वह काफी प्रशस्त था। उस पर दो रथ आसानी से चल सकते थे। दो व्यक्ति बात करते हुए उसी मार्ग पर चले जा रहे थे। इनमें से एक ठिगने क़द का गोल-मटोल शरीरवाला था। उसके शरीर पर यज्ञोपवीत इस प्रकार दिखायी दे रहा था, जैसे किसी बबूल के पेड़ पर मालती की माला आड़ी करके डाल दी गयी हो। उसके दाहिने कन्धे पर एक पीला उत्तरीय था और कमर में पंचकक्ष अधोवस्त्र बँधा हुआ था। एक हाथ में एक छोटी-सी पोटली थी जिसमें पता नहीं क्या-क्या बँधा था। लेकिन गाँठों के बन्धन की उपेक्षा करके एक लाल रंग का कनटोप दूर से ही दिखायी दे जाता था। उसके हाथ में बाँस की एक लाठी थी, जो ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ी थी। जान पड़ता था कि रास्ता चलने में सहारा देना उसका मुख्य उद्देश्य नहीं था। उसके ललाट पर त्रिपुण्ड्र की धवल रेखाएँ पसीने से बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गयी थीं। ऐसा जान पड़ता था कि अकाल-वृष्टि के कारण कोई मरुभूमि अचानक छोटे-छोटे नालों से सिक्त हो गयी है। उसके होंठ मोटे-मोटे और नाक चपटी थी। छोटी-छोटी आँखें बिल्व-फल में चिपकायी हुई कौड़ियों की तरह आकर्षक दीख रही थीं। सिर घुटा हुआ था, किन्तु पीछे की ओर एक मोटी-सी चोटी भी लटक रही थी। जब चलता था तो उसके पैर नाचने-से लगते थे। उसके साथ चलने-वाला व्यक्ति बहुत ही सौम्य प्रकृति का जान पड़ता था। उसका क़द लम्बा था, शरीर गौरवर्ण था और पहनावे में कौशेय उत्तरीय और कौशेय अधोवस्त्र भी थे। इस आदमी को फूलों का शौक़ जान पड़ता था। शिखा में, गले में और बाहु-मूल में उसने मालती की माला धारण कर रखी थी। उसके हाथ में एक वेत्रयष्टि थी, जो किसी समय निश्चित ही सुरुचिपूर्ण रही होगी, परन्तु अब धूलि-धूसर हो गयी थी। उत्तरीय को उसने बड़ी रुचि के साथ चुन्नट देकर सजाया था। उसके पास कोई गठरी नहीं, परन्तु कन्धे पर एक ऐसा झोला लटक रहा था, जो बड़ा ही सुरुचिपूर्ण और दोनों ओर से बन्द था। निश्चय ही उसने उसमें यात्रा के सम्बल रूप कुछ पाथेय रखे होंगे। उसका ललाट प्रशस्त था, आँखें हरिण की आँखों की तरह मनोहर थीं, कान लम्बे और नाक किंचित् शुक-तुण्ड की तरह से आगे की ओर

झुकी हुई थी। यद्यपि मार्ग की क्लान्ति के कारण उसके होंठ सूख गये थे, तथापि उनकी लाल-लाल कान्ति स्पष्ट हो उद्भासित हो रही थी। सारा मुखमण्डल आतप-ग्लान कमल-पुष्प के समान, आह्लाद और व्यथा, दोनों ही प्रकट कर रहा था। इन दोनों साथियों में बड़ा अन्तर था। एक को देखकर लगता था कि किशोर सौन्दर्य मूर्त्तिमान् होकर चल रहा है और दूसरे को देखकर लगता था कि प्रौढ़ कुरूपता रूप धारण कर निकल पड़ी है। लेकिन आश्चर्य यह था कि प्रौढ़ कुरूपता उल्लसित होकर चल रही थी और किशोर सौन्दर्य उदास होकर चला जा रहा था। पहले व्यक्ति का नाम था माढ़व्य और दूसरे का चन्द्रमौलि। माढ़व्य विदिशा के पास ही के किसी गाँव के ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ था, परन्तु चन्द्रमौलि किसी दूर देश का निवासी जान पड़ता था। दोनों का संयोग आकस्मिक ही था, चलते-चलते साथ हो गया था। यद्यपि दोनों की अवस्था में बड़ा अन्तर था, परन्तु माढ़व्य ने अपनी सहज मस्ती के कारण चन्द्रमौलि को शीघ्र ही अपना बना लिया था। बड़ी सहानुभूति के साथ उसने चन्द्रमौलि की अन्तर्निहित वेदना समझने का प्रयास किया था। चन्द्रमौलि कुछ लजीला और संकोची प्रकृति का था, परन्तु माढ़व्य के प्रेम और सहानुभूति से धीरे-धीरे खुलने लगा था।

माढ़व्य स्नेहपूर्वक पूछ रहा था, "मित्र चन्द्रमौलि, तुम क्या अकेले इस गहन विन्ध्याटवी को पार करते आ रहे हो?"

चन्द्रमौलि ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "अकेला ही आ रहा हूँ, आर्य! मार्ग में मैंने अनेक पर्वतों और नदियों को देखा है, वनचरों से मित्रता स्थापित की है, वन्य-जन्तुओं के भय से बचने के लिए मार्ग बदला है, ग्राम-वधुओं का अतिथि-सत्कार ग्रहण किया है और अनेक साधु पुरुषों का सत्संग भी प्राप्त किया है। विन्ध्याचल की ऊबड़-खाबड़ चट्टानों पर रेवा नदी को अनेक धाराओं में फैलकर बहते देखा है। देखकर ऐसा लगता है आर्य, जैसे किसी ने बड़े हाथी को भभूत से प्रयत्नपूर्वक चीत दिया है। जंगली हाथियों के दल-के-दल वहाँ के जंगलों में विचरते देखे हैं और उनकी मद-धारा से सिक्त रेवा नदी में स्नान करने का अवसर पाया है। बड़ा ही मनोहर दृश्य है वह आर्य, जब ऊपर बादल छा जाते हैं और नीचे हरे कदम्ब के फूलों पर भौंरे मँडराते हैं और कच्छ-भूमि में कदली-पुष्प इस प्रकार प्रफुल्लित हो उठते हैं जैसे प्राण-धारा ही पाषाण-पिण्ड को भेदकर ऊपर उठ आयी हो। दूर तक केवल पुष्पों की सुगन्ध, वल्लरियों का उल्लास-नर्तन, वृक्षों की स्तब्ध समाधि पाषाण-परम्परा में जीवन के संगीत का स्वर भरती रही है। मैंने सीधा रास्ता छोड़कर पर्वत-शिखरों पर आरोहण किया है, उन्मद मयूरों का नृत्य देखा है, जंगली जामुनों के पके फलों का आस्वादन करते हुए भालुओं की तृप्त मुद्रा देखी है, क्षुद्र जलाशयों में मोथा के अंकुर कुतरते हुए वन्य वराहों की विश्रब्ध आनन्द-दायिनी मुद्रा का रसास्वादन किया है, रास्ते में श्रान्त होकर रोमन्थन करते हुए स्वर्णमृगों के झुण्ड-के-झुण्ड देखे हैं। परन्तु आर्य माढ़व्य, मेरा हृदय इन सारे तृप्ति और आनन्द के दृश्यों के भीतर भी भयंकर मरुभूमि की भाँति झाँय-झाँय करता

रहा है। रस के उद्वेलित समुद्र में वह पिपासाकुल बना रहा है। आर्य, कहीं कुछ खो गया है जिससे मेरा अन्तर्जगत् बाह्य-जगत् की शोभा के साथ ताल मिलाकर नहीं चल रहा है।"

माढ़व्य ने चन्द्रमौलि के चेहरे की ओर देखा। उसे बड़ा करुण जान पड़ा। चन्द्रमौलि की पीठ थपथपाते हुए उसने सहानुभूति-पगे स्वर में कहा, "मित्र, तुम तो कवि जान पड़ते हो! मगर एक बात सुनो! तुम मुझे आर्य न कहा करो। सारा गाँव मुझे दादा कहता है। तुम भी दादा कहो। मैं तुम्हारा दादा हूँ और तुम मेरे मित्र। देखा, मेरे माँ-बाप ने बड़े प्रेम से नाम रखा था माधव शर्मा। गाँव-वालों ने बना दिया मधौआ। यही नाम राज-दरबार में पहुँच गया। तुम्हीं बताओ, यह मैं कैसे सहन कर सकता था! मैंने उसे फिर से संस्कृत बनाया। राजा से कहा—मधौआ नहीं, माढ़व्य। महाराज ने हँसकर अपनी सहमति प्रकट की। तब से उज्जयिनी में मैं महापण्डित माढ़व्य के नाम से ही विख्यात हूँ। राज-सम्मान मिला तो गाँववालों का भी रुख बदला, दादा कहने लगे। अब मैं बेटे का भी दादा हूँ, बाप का भी दादा हूँ। बहू का भी दादा हूँ, ससुर का भी दादा हूँ। जिधर निकलता हूँ बच्चे उधर ही 'दादा-दादा' का शोर करते हुए निकलते हैं। ससुराल गया तो सालियाँ भी दादा कहती पायी गयीं। अब तो मित्र, यदि कोई मुझे दादा नहीं कहता तो मैं समझता हूँ कोई ऊत है ऊत! इसलिए कहता हूँ मित्र, कि तुम मुझे दादा कहा करो, नहीं तो तुम भी ऊत समझे जाओगे, यद्यपि लगते तुम कवि हो।"

चन्द्रमौलि ने कहा, "अवश्य कहूँगा। आप जब गाँव-भर के दादा हैं तो मेरे भी दादा हैं।"

माढ़व्य प्रसन्न हुआ, "समझदार जान पड़ते हो। कभी-कभी कवि लोग भी समझदारी की बात करते हैं। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। परन्तु तुम्हें ठीक पहचाना है न मैंने! तुम समझदार भी हो और कवि भी।"

चन्द्रमौलि ने विषाद की हँसी हँसकर कहा, "हो सकता है दादा, कि मेरे अन्तर्जगत् में कवि निवास कर रहा हो। परन्तु मैं उसे पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं कर पा रहा हूँ। मेरे चित्त में निश्चय ही कोई व्याकुल वेदना है जो मुझे मथित करती है, आन्दोलित करती है और विह्वल बनाती है। श्लोक मैंने बहुत लिखे हैं, दादा! मैंने नागरिक जीवन की विलासवती ललनाओं के श्रृंगार-प्रसाधनों और भोग-लिप्सा का चित्रण करने के उद्देश्य से ही श्लोक लिखना शुरू किया था। उस समय मैं समझता था कि विभ्रम और विलास का मादक वर्णन ही कविता है। यह समझकर मन-ही-मन मैं उत्फुल्ल होता था कि मैं श्रृंगार-रस का उद्गाता कवि हूँ। परन्तु उन दिनों मुझे नहीं मालूम था कि प्रकृति के कण-कण में एक अद्भुत वेदना विलसित हो रही है। मैं जब निर्झर को वेगपूर्वक नीचे की ओर दौड़ता देखता हूँ तो मन रो उठता है। क्यों इतनी व्याकुलता है इसमें? किससे मिलने के लिए यह दुष्कर अभिसार-यात्रा शुरू हुई है? प्रथम मेघ-वर्षण के समय जब धरती

के आँचल में छिपे हुए बीज अंकुर के रूप में फूट पड़ते हैं तो मेरा हृदय हाय-हाय कर उठता है। किस अज्ञात प्रियतम के लिए यह कसमसाहट है? कौन है वह, जिसे पाने के लिए अग-जग में व्याप्त प्राण-शक्ति व्याकुल हो उठी है? मैं व्याकुल हो उठता हूँ दादा, जब देखता हूँ कि इन पर्वतों पर फैली हुई विशाल वनराजि रूप से, रंग से, गन्ध से न जाने किस अज्ञात प्रियतम के लिए आँख बिछाये बैठी है! क्या यह सारा आयोजन केवल बात-की-बात है? क्या इसका कोई प्रयोजन नहीं है? और, दूर की बात छोड़ो, मेरे ही मुँह से जो अजस्र श्लोक-धारा उमड़ती है, उसी का क्या उद्देश्य है? यदि वनस्थली के पुष्प-पल्लवों का सम्भार निरर्थक नहीं है तो इस श्लोक-धारा का भी कोई उद्देश्य होना चाहिए। कौन है जो इस उफनती हुई वाग्धारा का लक्ष्य है! अब तक मैंने जो कुछ किया है वह मुझे निरुद्देश्य, निरर्थक, बन्ध्य और लक्ष्यहीन जान पड़ता है। मैं सचमुच व्याकुल हूँ, दादा!"

माढ़व्य ने आश्चर्य के साथ किशोर कवि की ओर देखा। बोला, "मित्र, मैं तुम्हारी पूरी बात नहीं समझ पा रहा। या तो तुम मूर्ख हो या पागल। मैंने ऐसी बातें कभी नहीं सुनीं कि श्लोक लिखने का भी कोई ऐसा लक्ष्य होता है। मैं तो श्लोक लिखने का एक ही लक्ष्य जानता हूँ—'धन कमाओ, यश कमाओ, सुख से रहो। घर में कोई अच्छी गृहिणी ले आओ, सद्गृहस्थ बनो! राजा का सम्मान पाओ, प्रजा का मनोरंजन करो और बस!'—देखो बन्धु! मैं राजसभा में रह चुका हूँ। बहुत-से कवियों को देख चुका हूँ। खुद भी कभी-कभी श्लोक बनाने का प्रयत्न कर चुका हूँ, परन्तु तुम्हारे-जैसा लक्ष्य पाने के लिए व्याकुल कवि मैंने आज तक नहीं देखा। मेरी ब्राह्मणी एक बार ऐसी उलटी-पुलटी बातें कर रही थी। कह रही थी, 'मन बड़ा व्याकुल हो रहा है। रुलाई आ रही है। जी नहीं लगता।' मैंने पूछा, 'क्यों?' बोली, 'पता नहीं।' मैं समझ गया कि इसके मस्तिष्क में कुछ विकार आ गया है। मैंने कहा, 'देवीजी, सीधे मैके चली जाओ।' वह इस पर भी राजी नहीं हुई। फिर इस सोटे को देखते हो न, इसी का सहारा लिया। चुपके से चली गयी। दो महीने बाद अपने आप लौट आयी। मैंने पूछा, 'मन व्याकुल तो नहीं है?' बोली, 'ठीक है।'" फिर माढ़व्य ठठाकर हँसा, "मगर तुम्हें कहाँ भेजूँ मित्र? गृहिणी की दवा तो मैके में है। तुम्हारी कहाँ है?"

चन्द्रमौलि बुरी तरह आहत हुआ। दीर्घ निःश्वास लेकर बोला, "तुम तो परिहास करने लगे दादा, मगर मेरी भी दवा कहीं-न-कहीं तो होगी ही। कुछ दिन अगर तुम्हारा साथ रहा तो मैं भी ठीक होकर ही रहूँगा।" चन्द्रमौलि ने दीर्घ निःश्वास लिया।

अबकी बार माढ़व्य की आँखें भर आयीं। बोला, "सखे, बुरा मान गये? मैंने तो तुम्हारा मन फेरने के लिए ही ऐसी बात कही थी। सभी जानते हैं कि माढ़व्य मूर्ख है। तुम भी जान लो। उसे समय-असमय का ज्ञान नहीं रहता। शायद मुझसे चूक हो गयी हो। बुरा न मानो मित्र, मुझे अपना सच्चा हितू समझो। मूर्खता करूँ तो हँस देना। मगर एक बात जानने की इच्छा हो रही है। कहो तो पूछूँ?"

चन्द्रमौलि इस बार सचमुच हँसा। बोला, "पूछो दादा, तुम्हारी बातें बड़ी प्यारी लगती हैं। क्या जानना चाहते हो?"

माढ़व्य ने कहा, "जानना यह चाहता हूँ मित्र, कि तुम क्या माढ़व्य से भी बड़े मूर्ख हो? सारी दुनिया जानती है कि माढ़व्य से बड़ा मूर्ख और कोई नहीं। परन्तु माढ़व्य जानता है कि वह कितना चतुर है। जानते हो मित्र, सारी दुनिया अपनी कुशलता का मूल्य वसूल करती है, लेकिन माढ़व्य अपनी मूर्खता का दाम वसूल करता है। राजसभा में मूर्खता भी बिकती है मित्र, और माढ़व्य ही उसे बेचता है। वह विदूषक बनकर अपनी मूर्खता का दाम राजा से कसकर वसूलता है। अब तो तुम मानोगे न कि सबसे बड़ा मूर्ख होकर भी माढ़व्य चतुर है?"

चन्द्रमौलि ने विकसित नेत्रों से माढ़व्य को देखा और कहा, "अवश्य, तुम चतुर हो दादा!"

माढ़व्य ने आँखें नचाकर कहा, "माढ़व्य से बड़ा मूर्ख कौन होगा, जानते हो? पहला वह जो अपनी चतुरता का दाम न वसूल कर सके। दूसरा वह जो अपने को बिना दाम बेच आये। ठीक है न सखे?"

चन्द्रमौलि ने हँसते हुए कहा, "इसमें क्या सन्देह है!"

माढ़व्य आकाश की ओर देखता हुआ बोला, "मुझे सन्देह हो रहा है मित्र, कि तुम दूसरी श्रेणी के मूर्ख हो। कहीं बिना मोल के बिक आये हो। है न ठीक?"

चन्द्रमौलि हँसने लगा। माढ़व्य ने हाथ में यज्ञोपवीत लेकर सूर्य की ओर देखा और बोला, "सूर्य देवता को साक्षी रखकर कह रहा हूँ मित्र, माढ़व्य ही इस मूर्खता से तुम्हारा उद्धार करेगा।"

चन्द्रमौलि इस बार ज़ोर से हँस पड़ा। थोड़ी कृतज्ञता का भाव भी उसकी आँखों में दिखायी दिया। बोला, "तुम्हारे-जैसा दादा पाकर मैं धन्य हुआ हूँ, मगर तुमने अपने ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व ले लिया है; क्योंकि मैं कहाँ बिना मोल ही बिक आया हूँ, इसका पता भी तुम्हें ही लगाना पड़ेगा।"

माढ़व्य हँसने लगा। बोला, "देखने में ही अपरिपक्व जान पड़ते हो मित्र, तुम्हें पकड़ में ले आना ज़रा मुश्किल मालूम पड़ता है। इस समय तो मैं तुम्हें जैसा-जैसा बताऊँ, वैसा-वैसा करते जाओ। पहला काम करना होगा उज्जयिनी में चलकर राजा की स्तुति करना, बढ़िया श्लोक बनाकर। बाक़ी मैं देख लूँगा। और देखो, वह जो व्याकुल वेदनावाली बात है न, उसे मेरे-जैसे मूर्खों को मत बताना। उज्जयिनी में उनकी संख्या कम नहीं है।" फिर ज़रा रहस्यभरी मुद्रा में आँख चमकाते हुए माढ़व्य ने कहा, "वहाँ जुगाली करनेवाले ही भरे पड़े हैं। माढ़व्य अगर मूर्ख है तो राजसभावाले बैल हैं। ये सब बातें उसी से कहना जो तुम्हारा समानधर्मा हो। सबसे कहते फिरोगे तो पागल क़रार दिये जाओगे। मेरा प्रस्ताव स्वीकार है न मित्र?"

चन्द्रमौलि ने अनुतप्त स्वर में उत्तर दिया, "राज-स्तुति!"

माढ़व्य ने हँसते हुए कहा, "हाँ, राज-स्तुति।"

चन्द्रमौलि बोला, "यही नहीं होता दादा, और सब कर लेता हूँ।"

माढ़व्य ने चन्द्रमौलि की पीठ को फिर थपथपाया, "राज-स्तुति का मतलब तुम नहीं जानते। वह केवल शब्द होता है, अर्थ नहीं। अर्थ मन में होता है और शब्द ज़बान पर। लेकिन राज-स्तुति एक ऐसा विषय है जिसका अर्थ कहीं नहीं रहता। वह मूर्खों द्वारा, मूर्खों का किया हुआ, मूर्खतापूर्ण कथन-मात्र है। लेकिन तुम उसकी भी चिन्ता छोड़ो। देवता की स्तुति तो कर सकते हो ?"

चन्द्रमौलि असमंजस में पड़ गया। बोला, "देवता की स्तुति राजा की स्तुति कैसे हो जायेगी ?"

"हो जायेगी, किसी देवता का यश वर्णन करके अन्त में कह दो, 'पातुवः' (तुम्हारी रक्षा करें)। नहीं समझे ? अच्छा, तुम श्लोक बना देना, मैं ठीक कर दूंगा। जानते हो मित्र, माढ़व्य में सब गुण हैं, सिर्फ श्लोक बनाने नहीं आते। बड़े-बड़े नुस्खे रटे, लेकिन श्लोक नहीं बना। मगर छोड़ो भी इस बात को, यह बताओ कि कहाँ के रहनेवाले हो ?"

चन्द्रमौलि जैसे धूल से भरे आँगन से निकलकर बाहर आ गया हो। अब माढ़व्य उससे बेढंगे प्रश्न नहीं करेगा, इस आशा से उसे आश्वस्ति हुई। बोला, "मैं हिमालय की मध्यवर्तिनी यक्ष-भूमि का निवासी हूँ।"

माढ़व्य को आश्चर्य हुआ, "रहनेवाले हिमालय के हो और आ रहे हो विन्ध्याचल पार करके !"

चन्द्रमौलि ने दीर्घ निःश्वास लिया, "हाँ दादा, पैर में सनीचर बँधा हुआ है। देश-देश की ख़ाक छानता आ रहा हूँ।"

माढ़व्य ने एक बार फिर चन्द्रमौलि को सिर से पैर तक देखा और दोनों चुपचाप आगे बढ़ने लगे।

माढ़व्य ने एकाएक पीछे मुड़कर देखा कि चन्द्रमौलि कुछ चिन्तित मुद्रा में धीरे-धीरे चल रहा है। उसने निकट आकर प्रेमपूर्वक उसकी पीठ थपथपायी, "थक गये हो क्या बन्धु ?"

चन्द्रमौलि ने धीरे-से उत्तर दिया, "नहीं तो !"

माढ़व्य के मन में न जाने क्यों, उस तरुण यात्री के प्रति विचित्र-सा वत्सल-भाव उमड़ आया। बोला, "तुम नहीं, मैं थका हूँ। आओ, थोड़ा इस पेड़ की छाया के नीचे विश्राम कर लें।" और उसे खींचता हुआ पेड़ की छाया के नीचे ले गया और बिना किसी भूमिका के धप्प-से बैठ गया। चन्द्रमौलि को समझने में देर नहीं लगी कि माढ़व्य उसी के विश्राम के लिए स्वयं थकने का बहाना कर रहा है। उसके मन में इस व्यक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। कैसा दयार्द्र हृदय है !

किंचित् विश्राम करने के बाद माढ़व्य ने उससे प्रश्न किया, "मैंने सुना है मित्र, कि हिमालय में अप्सराओं का निवास है। तुमने तो देखा होगा ? तुम्हारे साथ मेरी मित्रता हुई है तो किसी दिन मैं भी चलकर अप्सराओं को देखना चाहता हूँ।"

चन्द्रमौलि का चेहरा प्रफुल्ल हो उठा। बोला, "हिमालय सचमुच ही अप्सराओं का निवास है, दादा! आपने जिन अप्सराओं की चर्चा सुनी है, उनको तो मैं नहीं जानता, लेकिन मेरे मन में नारी-सौन्दर्य का जो उत्तम रूप है, वह मैं हिमालय में सर्वत्र देखता हूँ।"

माढ़व्य बोला, "यह तो तुम अपने मन की बात बता रहे हो। उतना तो मैं भी जानता हूँ। यही मेरी ब्राह्मणी से कुछ उन्नीस-बीस होती होंगी। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुम्हारे-जैसा कवि मेरी ब्राह्मणी को देखकर तिलोत्तमा ही समझेगा। मैं तो देवयोनि की अप्सराओं की बात पूछ रहा हूँ। मेरे घर के पास एक बड़ी-सी झाड़ी है। बचपन से ही सुनता आ रहा था कि उसमें कोई चुड़ैल रहती है। जानते हो, मेरे किशोर मित्र, एक दिन चाँदनी रात में मैंने सचमुच उसे देख लिया। अहा, क्या रूप था उसका! तुम देखते तो ज़रूर कोई श्लोक बनाते। मगर मैं सोचने लगा था कि लोग उसे चुड़ैल क्यों कहते हैं? अप्सरा क्यों नहीं कहते? अप्सराएँ भी तो अपना रूप आप बना लेती हैं और जब चाहती हैं तो गुम हो जाती हैं! अब बताओ, तुमने कैसी अप्सरा देखी?"

चन्द्रमौलि हँसा। बोला, "दादा, तुमने जैसी अप्सरा की बात सुनी है वैसी अप्सरा तो मैंने नहीं देखी, लेकिन हिमालय की भूमि सचमुच ऐसी है कि वह देव-वधुओं की क्रीड़ा-स्थली कही जा सके। सुन्दरियों के शृंगार में काम आनेवाली गैरिक रंग की चट्टानें दूर-दूर तक फैली हुई हैं। जब कभी उनके ऊपर बादलों का संचार होता है जो ऐसा जान पड़ता है कि असमय में ही सन्ध्याकाल आ उपस्थित हुआ। क्योंकि बादलों के कोर पर उन धातुमयी शिलाओं की रंगीनी छा जाती है और सारा पर्वत अकाल-सन्ध्या की शोभा से जगमगा जाता है। सुन्दरियाँ जिन रंगों से अनेक प्रकार का प्रसाधन करती हैं और प्रेम-प्लुत अवस्था में जिनकी स्याही बनाकर प्रणय-गीत लिखा करती हैं, वे धातु-रस वहाँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं और प्रेम-पत्र लिखने के लिए तो वहाँ भोज-पत्रों के घने जंगल भरे पड़े हैं। मेरे गाँव से कुछ और ऊँचाई पर किन्नर देश है, जहाँ की सुन्दरियों का वंशी-वादन लोक-विश्रुत है। ये वंशियाँ एक विशेष प्रकार के कीचक नामक बाँस से बनती हैं। इनका घना जंगल दूर-दूर तक फैला हुआ है। देवदारु और शाल वृक्षों की कतारें सचमुच मनमोहक होती हैं। मदमत्त गजराज अपनी खुजली मिटाने के लिए जब शाल वृक्षों पर घिस्सा देते हैं तो वनस्थली आमोद-मग्न हो जाती है। हिमालय सब प्रकार से अभिराम है दादा! तुम्हारे मन में जिस प्रकार की अप्सराओं की कल्पना है, उसे मैं ठीक-ठीक पकड़ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु हिमालय के गाँव-गाँव में ऐसी सुन्दरियाँ तुम्हें मिलेंगी, जिनका भोलापन और सौन्दर्य कंचन में जड़ी हुई मणि की तरह तुम्हें अभिभूत कर देगा। मणियों की जन्म-भूमि, गज-मुक्ताओं का आश्रय-स्थान, वर्ण-गन्ध-सम्पन्न पुष्पों की मादक शोभा, निर्झरों का अनवरत संगीत, विविध भाँति के पक्षियों का कल-कूजन, बाल-व्यजन धारण करनेवाली चमरी गायों की नयनाभिराम शोभा, कृष्णसार मृगों की उन्मद मण्डलियाँ, सब

हिमालय को देवभूमि बना देती हैं।" चन्द्रमौलि अभिभूत की भाँति बोल रहा था।

माढ़व्य ने बीच में ही टोका, "सुना है मित्र कि हिमालय में हिम बहुत होता है। बड़ी सर्दी पड़ती है। जब मैं सुनता हूँ कि महीनों वहाँ बर्फ पड़ी रहती है तो मेरी ठठरी काँप उठती है।"

चन्द्रमौलि ज़रा उदास होकर कहने लगा, "सो तो है दादा! लेकिन एक बार यदि तुम योजनों तक फैले हुए रुई के फाहों की तरह सजे हुए हिमाच्छादित शिखरों को देखो, तो सर्दी की बात भूल जाओगे। ऐसा जान पड़ेगा कि ताण्डव-मत्त धूर्जटि का अट्टहास ही जमकर हिम बन गया है। शत-शत योजनों तक इस पुंजीभूत अट्टहास के समान हिम-परम्परा बढ़ती गयी है। हिमालय पृथ्वी का मान-दण्ड है, दादा। ऐसा जान पड़ता है कि विधाता ने निखिल ब्रह्माण्ड को तौलने के लिए ही एक विशाल तराजू बनाया है, जिसमें विशाल हिमालय मानदण्ड है और पूर्व और पश्चिम के महान समुद्र उस तराजू के पलड़े हैं। एक बार तुम मेरे साथ मेरा गाँव देखने अवश्य चलो, दादा!"

माढ़व्य बोला, "खतरा है मित्र, एक तो यदि मैं अप्सराओं का देश देखने का संकल्प करूँ तो मेरी ब्राह्मणी अखण्ड उपवास का व्रत लेगी और अगर इसकी उपेक्षा करके वहाँ पहुँच भी जाऊँ तो फिर इधर लौटने की कोई आशा नहीं। शिव के पार्षद अवश्य मुझे अपने गणों में भरती कर लेंगे। मेरा मानदण्ड मेरी ब्राह्मणी है। अप्सराओं की कल्पना करता हूँ तो उससे जौ-भर इधर-उधर की बात सोचता हूँ, और शिव के गणों की बात सोचता हूँ तो अपने-आपसे जौ-भर इधर-उधर समझता हूँ। ना बाबा, मेरा हिमालय और कैलास तो घर में ही पड़ा है। अब चलो, तुम्हें उज्जयिनी दिखाऊँ। यहाँ भी तुम्हें अप्सराएँ मिलेंगी और वे सारी बातें किसी-न-किसी रूप में मिल जायेंगी, जिनके कारण तुम इतने उच्छ्वसित हो रहे हो। मेरा मन कहता है कि एक बार अगर तुम उज्जयिनी देखोगे तो यक्षपुरी को भूल जाओगे।"

चन्द्रमौलि के चेहरे पर प्रसन्नता की रेखा दिखायी पड़ी, "दादा, तुम जहाँ रहोगे वहाँ स्वर्ग अपने-आप आ जायेगा। मैं तुम्हारे साथ अवश्य उज्जयिनी चलूँगा।" फिर दोनों उठ खड़े हुए और उज्जयिनी की ओर चलने लगे।

चन्द्रमौलि ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "उज्जयिनी! जानते हो दादा, उज्जयिनी देखने के उद्देश्य से ही निकला हूँ। इस नाम में ही एक जादू है। उज्जयिनी अर्थात् ऊपर की ओर जीतने की अभिलाषा रखनेवाली। मेरे हृदय में जब अकारण भयंकर ज्वाला धधकने लगती हैं तो मैं अनुभव करता हूँ कि इस विराट् विश्व में व्याप्त शिव और शक्ति की जो अनादि लीला चल रही है, वह उससे अलग नहीं होनी चाहिए। वही विराट् लीला तो, दादा, कण-कण में, रूप-रूप में स्फुरित हो रही है। उज्जयिनी ऊर्ध्वगामिनी अभिसार-यात्रा का प्रतीक है। पुराण-मुनियों ने बताया है कि शिव भी देवी का हृदय जय करने के लिए

उतने ही उत्सुक और चंचल हैं जितना देवी शिव का। जिस प्रकार नीचे से ऊपर की ओर अभिसार-यात्रा की चेष्टा चल रही है, उसी प्रकार ऊपर से नीचे की ओर भी अवतरण हो रहा है। शिव ने किसी समय पार्वती के प्रेम का प्रत्याख्यान किया था। उस समय देवी ने तपस्या की आयोजना की थी। उनकी आँखों के सामने रूप का आकर्षण व्यर्थ और असफल हो गया था। योगी के नेत्र से निकली हुई आग ने मन में उत्पन्न होनेवाले चंचल विकारों के देवता को जलाकर भस्म कर दिया था। भग्नमनोरथा पार्वती ने तपस्या के द्वारा शिव का हृदय जीता था। हिमालय का कण-कण हिमालय-पुत्री के प्रत्याख्यानजन्य दुख से आर्द्र है और तपस्याजन्य विजय से उल्लसित है। किन्तु उज्जयिनी की कहानी कुछ और है। पुराकाल में ब्रह्मा से वरदान प्राप्त करके त्रिपुर नामक महाअसुर ऐसा दुर्दान्त हो गया था कि समस्त यज्ञ-याग बन्द हो गये थे और देवता लोग त्राहि-त्राहि कर उठे थे। केवल पार्वती में ऐसा तपोवल था जो इस महाविनाशकारी शक्ति का ध्वंस कर सकता था। देवता और शास्त्रों की रक्षा के लिए महाकाल वन में स्वयं महादेव को इस बार तपस्या करनी पड़ी। उद्देश्य था देवी को प्रसन्न करना। शिव ने विकट तपस्या की, तब जाकर देवी कहीं प्रसन्न हो सकीं। उन्हीं की कृपा का फल था कि शिव को पाशुपत-अस्त्र प्राप्त हुआ। इस अस्त्र को पाकर ही शिव त्रिपुर को तीन खण्डों में विध्वस्त करने में समर्थ हुए। इस विजय के कारण ही इस पुरी का नाम उज्जयिनी पड़ा। पुराण-मुनियों की बतायी हुई इस कथा में बड़ा भारी रहस्य छिपा हुआ है, दादा! जब देवी की तपस्या से शिव प्रसन्न हुए थे, तो मनोजन्मा देवता को भस्म करने में समर्थ हुए थे। परन्तु जब शिव की तपस्या से देवी प्रसन्न हुईं, तो शिव को वह शक्ति प्राप्त हुई, जिससे उन्होंने तीन लोक के कण्टक महाअसुर का नाश कर दिया। शिव की प्रसन्नता से जो मनोजन्मा देवता नष्ट हुआ वह शरीरहीन होकर आज भी अग-जग में व्याप्त है। परन्तु देवी की प्रसन्नता से जो असुर नष्ट हुआ, सो सदा के लिए नष्ट हो गया। इसीलिए उज्जयिनी ऊपर की ओर जीतनेवाली पुरी है। मैं जब सोचता हूँ दादा, कि पिण्ड-रूप में द्विधा विभाजित शिव और शक्ति, पुरुष और नारी के रूप में विद्यमान हैं और जब देखता हूँ कि नारी को प्रसन्न करने के लिए पुरुष की तपस्या कहीं दिखायी ही नहीं देती, तो मेरा मन व्याकुल हो जाता है। देवता और शास्त्रों को नष्ट करनेवाले विचार कैसे नष्ट होंगे, यदि पुरुष ने तपस्या द्वारा नारी को प्रसन्न करने का यत्न नहीं किया? पुरुष उद्धत पौरुषवल पर भरोसा करता है और मोहन-आनन्ददायिनी शोभा और चारुता का तिरस्कार करता है। वह उसे भोग की सामग्री समझता है, मनोरंजन का साधन मानता है, अपना आश्रित समझकर उसके साथ अवांछनीय व्यवहार करता है। नतीजा जो होना चाहिए वह हो रहा है। धरती मदमत्त पौरुष से कसमसा उठी है, उद्धत सैन्य-शक्ति के पदचाप से शेषनाग का फण-मण्डल व्याकुल हो उठा है। सर्वत्र केवल मार-काट, लूट-पाट, नोच-खसोट का बवण्डर आसमान को रजोलिप्त बना रहा है। प्रकाश की कहीं

क्षीण रेखा भी नहीं दिखायी दे रही है। सारा आर्यावर्त विध्वंस की ओर बढ़ा जा रहा है। मैं उज्जयिनी में महाकाल के दरबार में आवेदन करने जा रहा हूँ कि 'देवता, बहुत हो चुका। यह उद्दाम ताण्डव क्षण-भर के लिए रोको। एक बार फिर ऐसा प्रयत्न करो कि शोभा और शालीनता की महिमा लोगों में प्रतिष्ठित हो।' देवी का स्मयमान दक्षिण मुख संसार की रक्षा करे। बड़ी वेदना लेकर उज्जयिनी जा रहा हूँ, दादा!"

माढ़व्य ने आँखें फाड़कर चन्द्रमौलि की ओर देखा, बोला, "पण्डित जान पड़ते हो मित्र। देखने में तो दुधमुँहे लग रहे हो, लेकिन बातें पते की कर रहे हो। संसार-भर की अशान्ति का तो मुझे पता नहीं, लेकिन इतना निश्चित जानता हूँ कि मेरी ब्राह्मणी जब तक अप्रसन्न हो, तब तक घर में अशान्ति बनी रहती है। मगर मेरे नौजवान मित्र, तुम कुछ बहकी-बहकी बातें कर रहे हो। मुझे तो इतना ही मालूम है कि विदिशा नगरी के तीक्ष्ण-धार करवाल अगर न होते तो यवन नर-पतियों ने धरती को श्मशान बना दिया होता। दुर्दान्त यवनवाहिनी को अगर रोका जा सका है, तो विदिशा में बननेवाले शस्त्रों के बल पर ही। तुम समझते हो कि यवनराज आन्तलिकित ने अपने राजदूत हेलियोडोरस को गरुड़ध्वज के साथ प्रचुर उपहार भेजकर राजाधिराज भागभद्र के दरबार में भेजा था, वह क्या यों ही मित्रता की बात थी? विदिशा का यह गरुड़ध्वज प्रचण्ड पौरुष का निदर्शक है। इस विदिशा के लोहे का ही प्रताप था कि शुंग-सेनाओं की विराट् जय-ध्वनि ने सिन्धु-तट के उस पार की म्लेच्छवाहिनी को चकित-कम्पित कर डाला था। आज विदिशा की यह जो दुर्दशा देख रहे हो वह उस पौरुष के अभाव के कारण ही है। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम महाकाल देवता के दरबार में जाकर पौरुष-बल को क्षीण करने की प्रार्थना क्यों करोगे? तुम्हारी बात मेरी समझ में ठीक-ठीक नहीं आ रही। क्या तुम नारी-सेना का संगठन करना चाहते हो?"

चन्द्रमौलि हँसने लगा, "नहीं दादा, तुमने मेरी बात पूरी तरह समझी नहीं। शायद मैं समझा भी नहीं सकूँगा। मैं इस देश या उस देश की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं सम्पूर्ण संसार की बात कर रहा हूँ। मैं हूणों के या यवनों के उद्धत पौरुष-दर्प से ही चिन्तित हूँ। मैं उनको मनुष्य की कोटि में गिनने को भी प्रस्तुत नहीं हूँ। भुक्खड़ भेड़ियों की तरह निरीह प्रजा पर टूट पड़नेवाले मनुष्य बन ही नहीं पाये हैं। मेरा हृदय इसलिए व्याकुल है कि मैं एकांगी पौरुष-दर्प को परास्त करने का उपाय उसी प्रकार के एकांगी पौरुष-दर्प को नहीं मान पाता। शोभा और शालीनता की उपेक्षा करनेवाले मनुष्य नहीं, असुर हैं। शोभा और शालीनता का जो आदर करते हैं और उसकी रक्षा करने में जो असमर्थ हैं, वे कापुरुष हैं। मैं आदर का भाव भी चाहता हूँ और रक्षा करने की सामर्थ्य भी। महाकाल से मेरी प्रार्थना यह होगी कि देवता, जो शोभा और शालीनता का सम्मान करना नहीं जानते उन्हें सम्मान करने की बुद्धि दो, और जो सम्मान करना जानते हैं उन्हें उसकी रक्षा करने की शक्ति दो। मैं न बर्बरता को बर्दाश्त कर पाता हूँ, न कापुरुषता को। यही

तो व्याकुलता है, दादा ! उज्जयिनी की कहानी में यही तो बताया गया है कि देवी की प्रसन्नता से शिव को असुर-विध्वंस करने में समर्थ शस्त्र प्राप्त हुआ। शोभा और शालीनता के प्रसाद रूप में प्राप्त अस्त्र ही अजेय होता है, दादा !"

चन्द्रमौलि का सहज-कोमल स्वर आवेश में कुछ उत्तेजित हो गया था। उसके मुख-मण्डल पर भी लाल कान्ति झलक उठी थी। माढ़व्य फिर कुछ परिहास की बात करने जा रहा था। इसी समय दूर से भागते हुए उसी तरफ बढ़नेवाले किसी व्यक्ति की पदचाप सुनायी पड़ी। थोड़ी ही देर में वह व्यक्ति भागता हुआ माढ़व्य और चन्द्रमौलि के निकट आ पहुँचा। निस्सन्देह वह बहुत परेशान नजर आ रहा था। शायद देर तक वह भागता चला आ रहा था। चन्द्रमौलि और माढ़व्य को देखकर वह ठिठक गया। माढ़व्य ने कुछ आगे बढ़कर उससे पूछा, "क्या बात है?"

उस आदमी ने भयत्रस्त दृष्टि से पीछे की ओर देखा और बोला, "अगर तुम लोग उज्जयिनी जा रहे हो तो लौटो। वहाँ बड़ी विध्वंस-लीला चल रही है। मुझे पकड़ने के लिए सशस्त्र दण्डधर इधर भी बढ़े आ रहे हैं। वे देवताओं के विध्वंसक हैं, ब्राह्मणों के शत्रु हैं, प्रजा के उत्पीड़क हैं। जल्दी किसी छिपने लायक स्थान की ओर भागो, नहीं तो वे तुम्हें खण्ड-खण्ड करके कुत्तों और सियारों को खिला देंगे।"

भय के मारे माढ़व्य चीख उठा। चन्द्रमौलि के ललाट पर भी चिन्ता की रेखाएँ उभरीं, परन्तु वह विचलित नहीं हुआ। उस मनुष्य ने कहा, "सब बताता हूँ। पहले छिपने की जगह खोजो। एक बार मेरे हाथ में कोई शस्त्र आ जाने दो और फिर मैं अकेले पूरी सेना को देख लूँगा। इन म्लेच्छों ने मुझे किसी प्रकार का शस्त्र लेने का अवसर ही नहीं दिया। मैं प्रतिशोध लूँगा। मैं जीवित रहना चाहता हूँ। इस समय भागो। कहीं छिपकर मेरे और अपने प्राणों की रक्षा करो।" उस मनुष्य की विशाल भुजाएँ, कपाट के समान वक्षस्थल, कसी हुई पेशियों, और लम्बे गठे हुए शरीर को देखकर विश्वास होता था कि वह जो कुछ कह रहा था, वह दर्पोक्ति-मात्र नहीं था। चन्द्रमौलि और माढ़व्य उसके साथ पार्वत्य मार्ग की ओर भागने लगे।

ग्यारह

आर्यक विजयी सेनापति के रूप में विख्यात हो चुका था। पर जिस समय उसकी कीर्त्ति बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच रही थी, उसी समय उसका दुष्ट ग्रह भी उच्च-

स्थान पर आ गया था। वह विरक्त होकर सेनापति का काम छोड़कर भाग खड़ा हुआ। बहुत दिनों तक वह गहन विन्ध्याटवी में निरुद्देश्य भटकता रहा। उसे अपने ऊपर ही क्रोध था। क्यों वह ऐसा शिथिल चरित्र का व्यक्ति है? क्यों वह कहीं जम नहीं पा रहा है? कीर्त्ति की भूख उसकी मिटी नहीं है, पर वह ठीक समझ नहीं रहा है कि कीर्त्ति क्या चीज़ है? उसने सुना है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि लोग अनन्त काल तक यश गाते रहें। यह शरीर नाशवान् है; यह रुग्ण होता है, वृद्ध होता है, मर जाता है। पर एक यश का शरीर है—यशःकाय। उसमें न रोग होता है, न जरा आती है, न मृत्यु का आक्रमण होता है। यह 'यशःकाय' मनुष्य के पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। आर्यक उसी यशःकाय को प्राप्त करने को व्याकुल है। परन्तु पा नहीं रहा है। विन्ध्याटवी उसे सोचने की प्रेरणा देती है। पत्थरों की छाती भेदकर निकले हुए विराट् वृक्ष उसे जीवनी-शक्ति की महिमा बताते हैं। कहते हैं, पुरुष वह है जो पाषाण को छेदकर, आँधी की उत्पाटिनी शक्ति की उपेक्षा कर, पाताल से अपना भोग्य खींच लाता है। आर्यक पाषाण-भेद के लिए व्याकुल है, आँधी की उपेक्षा करने को कृत-संकल्प है। पर कहीं कोई बाधा है जो उसे पथभ्रष्ट कर देती है। क्या है वह?

एक शिलाखण्ड पर बैठा हुआ वह सोच रहा है। सोचता जा रहा है, पर कोई परिणाम नहीं निकल रहा है। वह थककर चूर हो गया है पर शारीरिक क्लान्ति ने मानसिक उत्तेजना की वृद्धि ही की है। कहीं एक बड़ी कमज़ोरी उसके चरित्र में है जो उसे भागने को बाध्य करती है। उत्साह उसमें कम नहीं है, दीन-दुखियों की सहायता के लिए प्राण-दान का उसका संकल्प ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, सम्मुख युद्ध में अकेले ही सहस्रों को ललकारने की उसकी क्षमता में रंच-मात्र कमी नहीं आयी है, अनुगतों के लिए सर्वस्व उलीचकर दे देने की उसकी उदारता आंशिक रूप से भी शिथिल नहीं हुई है, स्वामी के लिए सब-कुछ निछावर कर देने की उसकी प्रतिज्ञा में कहीं भी त्रुटि नहीं आयी है, फिर भी उसे भागना पड़ा है। उसका चित्त अनुतप्त है। उसमें कहीं भयंकर अपराध का भाव है। क्यों? क्यों ऐसा हुआ? उसका शील कहीं-न-कहीं म्लान हो गया है। वह जानता है, पर जानकर भी अनजान बना फिरता है। वह सब जानता है, लेकिन ठीक समझ नहीं पा रहा है। जानना वस्तुस्थिति के प्रत्यक्षीकरण का नाम है, समझना वस्तुस्थिति की कारण-परम्परा की अवगति का नाम है। आर्यक जानता है, समझ नहीं रहा है।

हलद्वीप के भर राजा रुद्रसेन के विरुद्ध उसी ने सम्राट् को उकसाया था। पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आसीन होते ही उन्होंने आर्यक का आह्वान किया। बोले, 'आर्यक, तुम मेरे केलि-सखा हो। हलद्वीप के रुद्रसेन का मान-मर्दन करने का काम मैं तुम्हें ही सौंपना चाहता हूँ।' आर्यक ने उस आज्ञा को उल्लास के साथ स्वीकार किया था। परन्तु चलते समय उसका मन बैठ गया था। वहाँ मृणाल-मंजरी से भेंट होगी। क्या मुँह लेकर उसके सामने वह उपस्थित होगा? मृणाल को उसने क्यों छोड़ दिया? उसका क्या अपराध था? पर आर्यक का भी क्या

अपराध था ? चन्द्रा उसके गले पड़ गयी। उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए वह भागा। पर चन्द्रा उसका पीछा करती गंगा-पार भी आ पहुँची। उसने घृणा से मुँह फेर लिया। लेकिन चन्द्रा है कि हटने का नाम ही नहीं लेती। आर्यक को भय था कि लोग क्या सोचेंगे। वह और भी पूरब की ओर भागा। चन्द्रा ने पीछा नहीं छोड़ा। उसे कायर पुरुष कहती, सेवा में जुट जाती और आर्यक पानी-पानी हो जाता। चन्द्रा उद्वेल प्रेम है—प्रेम, जो सीमा नहीं जानता, उचित-अनुचित का विवेक नहीं रखता, जो सदा उफनता ही रहता है। चन्द्रा का प्रेम एक भयंकर बुभुक्षा है, एक सतत अतृप्त पिपासा। उसे समझ में नहीं आता कि इसमें दोष क्या है, क्यों आर्यक भागा-भागा फिर रहा है। क्या वह मृणाल और आर्यक दोनों को समान रूप से प्रेम नहीं कर सकती ? आर्यक को वह कायर और डरपोक कहती है। परन्तु आर्यक उसका कृतज्ञ भी है। उसी के कारण वह सम्राट् समुद्रगुप्त के निकट पहुँच सका। हलद्वीप-विजय का अवसर भी उसी के इशारे पर प्राप्त हुआ। पता नहीं क्यों, सम्राट् चन्द्रा के किसी इंगित की उपेक्षा नहीं कर सकते।

आर्यक ने हलद्वीप पर गुप्त-सम्राट् की ध्वजा फहरायी। महाराज समुद्रगुप्त 'उत्खात-प्रतिरोपण' की नीति में विश्वास करते थे। जिसे उखाड़ा, उसी को फिर से रोप दिया। समुद्रगुप्त की यह नीति ही भावी गुप्त-साम्राज्य की सफलता की नींव थी। जिस राजा का राज्य जीता, उसे ही अपना अधीनस्थ राजा बना दिया। यही 'उत्खात-प्रतिरोपण' कहा जाता था। परन्तु हलद्वीप में उन्होंने ऐसा नहीं किया। उखाड़ा रुद्रसेन को, सिंहासन पर आरोपित किया गोपाल आर्यक को। आर्यक हलद्वीप का अधिपति बन गया। आर्यक को कैसा-कैसा लगा ! उत्सव हुए, यज्ञ-याग हुए, पर अभिमानिनी मृणालमंजरी नहीं आयी। आर्यक को ही जाना पड़ा। कैसा देखा उसने अपनी प्राणप्रिया मृणालमंजरी को ! मुँह पीला पड़ गया था, केश लटियाकर एक वेणी बन गये थे, हिरण की आँखों से प्रतिद्वन्द्विता करने-वाली आँखें भीतर धँस गयी थीं। वह एक मलिन श्वेत साड़ी पहने हुए थी। पास में दो-ढाई वर्ष का बड़ा ही कमनीय-कान्ति बालक था। हलद्वीप के अधिपति आर्यक ने जाते ही मृणाल के चरणों पर सिर रख दिया, 'देवि, प्रिये, क्षमा करो इस भण्ड को !' मृणाल घबराकर खड़ी हो गयी। आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह चली। वाणी रुद्ध हो गयी। वह ताकती रही, जड़ की भाँति, स्तब्ध की भाँति। बच्चा भय और कुतूहल से आर्यक की ओर देखता रहा। उसने अपनी माँ से तुतलाकर पूछा, 'माँ, यह कौन है ?' मृणाल की संज्ञा लौट आयी। बोली, 'अपने भाग्य से पूछ बेटा !' आर्यक रो पड़ा। मृणाल ने आर्यक को उठाया। आज आर्यक के मन में मृणाल की वही स्नेहार्द्र मूर्ति बार-बार उठ रही है। हाय-हाय, मैंने कैसी देवी को कष्ट दिया ? और क्यों ? कुछ बात भी तो हो ! लोग क्या सोचेंगे ? यह एक चिन्ता ही उसे बुरी तरह ध्वस्त कर देती है। लोग क्या सोचेंगे, लोग क्यों सोचेंगे !

शिला-पट्ट को कसकर पकड़ लिया आर्यक ने, मानो गिरकर लुढ़क जाने का

भय हो। वह व्यथित भाव से कराह उठा, क्या उसका सारा जीवन इस एक ही प्रश्न की चट्टान पर टूट-टूटकर बिखर जायेगा ? हलद्वीप से फिर दूसरे युद्ध-क्षेत्र पर जाने में थोड़ा कष्ट हुआ। मृणाल को वह इतनी जल्दी छोड़कर नहीं जाना चाहता था। क्षमा मिलने पर वह थोड़ा प्रगल्भ भी हुआ था। लेकिन मृणाल ने उसे रुकने नहीं दिया। उसके कारण आर्यक के यश में रंचमात्र भी मलिनता आये, यह उसे बिल्कुल स्वीकार नहीं था। वह चाहती थी कि चन्द्रा भी वहीं आकर उसके साथ रहे। पर आर्यक चन्द्रा को भूल जाना चाहता था। महाराजाधिराज के बलाधिकृत के रूप में उसने विद्रोही और विरोधी राजाओं का दमन किया। उसे मथुरा तक विजय करने की आज्ञा थी। प्रत्येक युद्ध में वह सिंह की भाँति लड़ा। समुद्रगुप्त की विजय-पताका का अभियान कहीं नहीं रुका। इसी बीच एकाएक उसे सम्राट् का रोष-भरा पत्र मिला। सम्राट् को पता चल गया था कि चन्द्रा उसकी विवाहिता वधू नहीं है। पता देनेवाली स्वयं चन्द्रा थी। सम्राट् ने लिखा था कि उनके बलाधिकृत को इस प्रकार के पाप-कार्य में लिप्त जानने पर प्रजा में असन्तोष होगा और राजशक्ति को धक्का पहुँचेगा। सम्राट् ने आर्यक की वीरता से सन्तोष प्रकट किया था, पर उसके असदाचरण से रोष प्रकट किया था। वही प्रश्न सम्राट् के सामने था—'लोग क्या सोचेंगे ?' आर्यक की आँखों से लुत्ती निकलने लगी। सेना के लोग भी आज नहीं तो कल इस बात को अवश्य जान लेंगे। वे क्या सोचेंगे ? जो लोग श्रद्धा से आज जय-जयकार करते हैं वे कल घृणा से मुँह फेर लेंगे। वे क्या सोचेंगे ? कौन उसकी बात सुनेगा, कौन उस पर विश्वास करेगा ? कल हर सैनिक के मन में घृणा की लहर उठेगी। उनका सेनानायक परस्त्री-लम्पट है, वह अश्रद्धेय है, अपावन है, कुल-धर्म से पतित है। रात-भर उसे नींद नहीं आयी। नहीं, अब उसका पत्ता कट गया, अब उसका यश म्लान हो गया। अब वह सेना का संचालन नहीं कर सकेगा। उसे भाग जाना चाहिए। लोग क्या सोचेंगे ? वह सचमुच भाग खड़ा हुआ। अपने सबसे विश्वस्त सहयोगी भटार्क को बुलाकर उसने कहा, 'तात, मुझे आवश्यक कार्य से कुछ दिन बाहर रहना होगा। तब तक तुम सेना का संचालन करते रहो।' और चुपचाप वहाँ से खिसक गया था। अपनी परमप्रिय तलवार के सिवा उसने कुछ भी साथ नहीं लिया। पूरब की ओर जाने में भय था, इसलिए वह पश्चिम की ओर बढ़ता गया। उसे स्वयं नहीं मालूम कि वह कहाँ जा रहा है। केवल चलता ही चला है, दिङ्मूढ़ की भाँति। नदियाँ मिली हैं, पार कर गया है; पर्वत मिले हैं, लाँघ गया है; जंगल आये हैं, रौंद गया है। कहाँ, क्यों ? लोग क्या सोचेंगे ? यह एक प्रश्न उसके सारे किये-कराये को ध्वस्त कर देता है। उसकी सारी वीरता यहीं टकराकर चूर-चूर हो जाती है। उसके लिए लोकापवाद दुर्भेद्य चट्टान बन जाता है।

शिला-पट्ट पर आर्यक बैठा था, फिर लेट गया। दूर तक गिरि-शृंखला की ऊबड़-खाबड़ अधित्यका, वनपनसों के झाड़, खदिर की वनस्थली, महुओं की उच्च-शीर्ष वृक्षावली। दूर तक कोई मनुष्य नहीं दिखायी देता। निश्चय ही इसमें हिंस्र

जन्तु भी हैं। दिखायी नहीं दे रहे हैं, पर कभी भी दिखायी दे जा सकते हैं। आर्यक का मन व्याकुल है। रह-रहकर उसका चित्त अपने असफल जीवन को कोसता है। कोई सहारा नहीं। पिता स्वर्ग सिधार गये। गुरु देवरात जो घर से निकले सो लुप्त ही हो गये। भाई श्यामरूप का कहीं अता-पता नहीं। पर मृणालमंजरी है : सेवा और सतीत्व की मर्यादा, तपस्या की स्रोतस्विनी, साहस की उत्सभूमि, पर मृणाल को उसने कितना कष्ट दिया! क्या कारण था? यही कि लोग क्या सोचेंगे। उसके चित्त में मृणालमंजरी की दीप्त किन्तु शुष्क कान्ति उभर आयी। 'अपराधी हूँ देवि, तुम क्षमा कर सकती हो, मैं कैसे क्षमा करूँ अपने इस दुर्बल चरित्र को? लोग क्या सोचेंगे!'

आर्यक क्लान्त था, शरीर और मन दोनों से अवसन्न। कहाँ आ गया है वह! वह बुरी तरह उद्विग्न था। बिजली की तरह उसके मन में एक बात चमक उठी। यही क्यों सोचा जाये कि लोग क्या सोचेंगे! यह भी तो मन में प्रश्न उठना चाहिए कि मृणाल क्या सोचेगी? मृणाल ने जब भरे नयनों से उसे युद्ध के अभियान के लिए विदा किया था तो क्या उसने सोचा था कि उसका पति भाग खड़ा होगा? जब वह सुनेगी कि यह भाग्यहीन आर्यक भाग गया है तो वह क्या सोचेगी? उत्तर की कल्पना करके वह चीख उठा। हाय, दुनिया-भर की बात सोचनेवाला आर्यक कभी अपनी सती-साध्वी पत्नी की बात सोचता ही नहीं! धिक्!

ऐसा जान पड़ा कि आर्यक की छाती पर आरा चल रहा है। क्या अज्ञ अभाजन लोगों की बात का ही मूल्य है? मृणाल-जैसी शीलवती साध्वी की बात कभी उसके मन में क्यों नहीं उठी? क्या मृणाल के प्रति उसका प्रेम झूठा है? हाय, आर्यक का यह सहारा भी क्या मृग-मरीचिका है? वह फिर एक बार मृणाल की मानसी मूर्त्ति के चरणों पर गिर पड़ा। उसे शान्ति मिली। ऐसा लगा कि मृणाल उसके सिर पर हाथ फेर रही है। कह रही है, घबराते क्यों हो, मैं जो हूँ। वह शिला-पट्ट पर लुढ़क गया और सो गया। स्वप्न में उसने देखा कि मृणाल उसका सिर अपनी गोद में लेकर बैठी है। कह रही है, 'लोक का भय मिथ्या है। कर्त्तव्य का निर्णय बाहर देखकर नहीं किया जाता। तुम्हारा निर्णायक तुम्हारे भीतर है। जो भी तुम्हारे पास है, उसी से उसकी पूजा करो। कमज़ोरियाँ जब उसे समर्पित कर दी जाती हैं तो शक्ति बन जाती हैं। सदा बाहर ही न देखो, कुछ भीतर भी देखो। लोक-भय झूठी प्रवंचना है, आत्म-भय दुर्भेद्य कवच है। मेरे प्यारे, अपने को देखो। मेरे लहुरावीर, तुम्हें अन्याय से लोहा लेना है। कौन क्या कहता है, कहने दो। तुम्हारा अन्तर्यामी क्या कहता है, वही मुख्य वस्तु है। घबराने की क्या बात है! मैं मृणाल हूँ, सिंहवाहिनी की उपासिका, महिषमर्दिनी की अभिलाषिणी! भूल गये मेरे प्यारे, मेरे लहुरावीर, मेरे मानसिंह! अभी महिष-मर्दन का काम बाक़ी है।' आर्यक गाढ़ निद्रा में स्वप्न देख रहा है। वह अमृत-रस की वर्षा में भीग रहा है।

अचानक उसे लगा कि कोई जगा रहा है। कह रहा है, "उठ जा रे बटोही!

छिप जा कहीं। वे मेरा पीछा करते आ रहे हैं, तुझे भी मार डालेंगे। वे जंगली भैंसों के समान निर्घृण हैं। उठ, छिप जा कहीं। मैं अकेला हूँ। निःशस्त्र हूँ। भाग रहा हूँ। प्राण-भय से नहीं, प्रतिशोध की इच्छा से। लौटूँगा, एक-एक को यमराज के द्वार पहुँचाऊँगा। एक-एक को रगड़ूँगा। आज अकेला हूँ, निःशस्त्र हूँ। उठ, छिप जा कहीं।"

आर्यक को होश आया। यह कौन है जो जंगली भैंसों की बात कर रहा है? भैंसा—महिष! अन्तिम बात कहते-कहते वह आदमी दूर निकल गया था। आर्यक ने देखा, एक महा बलवान् मनुष्य तेज़ी से भागता जा रहा है। जब तक वह उससे कुछ पूछे, तब तक वह और दूर निकल गया। आर्यक को लगा कि स्वर कुछ पहचाना हुआ है। थोड़ी देर तक वह सोचता रहा कि यह परिचित स्वर किसका हो सकता है। अचानक याद आ गया। यह तो श्यामरूप का स्वर था। एकदम श्यामरूप का। निस्सन्देह यह श्यामरूप की आवाज़ थी। वह चिल्ला पड़ा, "भैया, मैं आर्यक हूँ! तुम अकेले नहीं हो! भैया, भैया, रुको!" स्वर आकाश में दूर तक फैलकर रह गया। जहाँ पहुँचना चाहिए था, वहाँ नहीं पहुँचा। आर्यक दौड़ा—"भैया, भैया!" पर वह आदमी अदृश्य ही हो गया।

आर्यक पीछे-पीछे दौड़ता गया, चिल्लाता गया, पर कुछ लाभ नहीं हुआ। जो मिलता है वही दूर निकल जाता है। पता नहीं, वह किधर चला गया। हाय, आर्यक का भाग्य ही ऐसा है। वह हताश होकर बैठ गया। उसका मन कहता है, निश्चय ही यह और कोई नहीं, श्यामरूप था। कौन लोग उसके पीछे पड़े हैं? निस्सन्देह वे लोग भयंकर रक्त-पिपासु होंगे। आ ही रहे होंगे। कहीं छिपने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें देखकर ही उनके बल-पौरुष का अनुमान लगाया जा सकता है। श्यामरूप कह गया है, वह लौटेगा। शस्त्र उसके पास नहीं है। आर्यक के पास है। उसने अपनी तलवार की ओर देखा। फिर आश्वस्त होकर छिपने का स्थान ढूँढ़ने लगा। पगडण्डी पकड़कर कुछ दूर चला। छिपने-लायक स्थान नहीं दिखा। फिर लौटकर पुरानी जगह पर पहुँचने का प्रयास किया। पर कदाचित् वह दूसरी ओर था। वह और पीछे की ओर मुड़ा। एक सघन झाड़ी की ओर बढ़ा। कदाचित् वहाँ छिपने का स्थान मिल जाये। वहाँ से चारों ओर देखा जा सकता है और शत्रु के बलाबल का अन्दाज़ा भी लगाया जा सकता है। वह झाड़ी के पास पहुँचा। उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि एक मोटा-सा ठिगना आदमी गाढ़ी नींद में सो रहा है। निश्चय ही यह भी भागता-भागता आया है। छिपने का स्थान पाकर एकदम सो ही गया है। हाथ की टेढ़ी लकड़ी हाथ में ही है। एक लाल-सा कनटोप सिर पर ही पड़ा हुआ है, जिसके अन्दर से उसकी मोटी चुटिया निकल आयी है। कन्धे पर की पोटली कन्धे से ही जुड़ी हुई है, पर तकिये का काम दे रही है। अब भी उसकी मोटी तोंद लुहार की भाथी की भाँति ऊपर-नीचे हो रही है। ब्राह्मण जान पड़ता है।

आर्यक का अनुमान सही था। यह हमारे परिचित माढ़व्य शर्मा थे।

आर्यक को लगा कि इस आदमी से कुछ अधिक जानकारी अवश्य प्राप्त हो सकती है। पर इसे उठाना नहीं चाहिए। बेचारा न जाने कितना दौड़ा है। डरा भी है। वह चुपचाप वहीं बैठ गया। उसे सन्तोष हुआ कि वह केवल छिपने के लिए ही आया था, पर अब उसे एक भय-त्रस्त ब्राह्मण की रक्षा का पवित्र कर्त्तव्य भी मिल गया है। उसने अपनी तलवार की मूठ पर कसकर हाथ रखा और सावधान होकर चुपचाप बैठ गया।

झाड़ी की ओट से बड़े ही मधुर स्वर में कोई गुनगुनाता हुआ आ रहा था। जान पड़ता था, इधर ही आ रहा है। उसका चेहरा तो नहीं दिखायी दे रहा था, पर गान के अक्षर स्पष्ट सुनायी दे रहे थे। जान पड़ता था, झाड़ी के निकट से ही कोई रास्ता था और यह आदमी उसी मार्ग पर गाता हुआ इधर ही आना चाहता था। आर्यक सावधान हुआ, पर उस अदृश्य गायक का स्वर इतना मधुर था कि वह निश्चित रूप से समझ गया कि यह आदमी क्रूरकर्मी आततायी नहीं हो सकता। कदाचित् इस सोये हुए ब्राह्मण-देवता का साथी हो। वह ध्यान से मधुर गान को सुनने लगा। अन्तिम पंक्तियाँ ही उसे स्पष्ट सुनायी पड़ीं—'हन्तैकत्र क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति!' (हाय कोपने, एक जगह कहीं भी तुम्हारा सादृश्य नहीं दिखता!) आर्यक ने अनुमान से समझा कि पहले की पंक्तियों में बताया गया होगा कि अलग-अलग उस देवी के सादृश्य अवश्य मिलते हैं।

इतने में दोनों हाथों में पानी से भरा पात्र लिये चन्द्रमौलि आ गया। उसने आर्यक को नंगी तलवार लिये बैठा देखा तो उसके मन में भय का संचार हुआ। क्या यह उन्हीं लोगों में से कोई है, जिनकी सूचना उस भागते हुए मल्ल ने दी थी? यहाँ इस प्रकार क्यों बैठा है? उसके माथे पर पसीने की बूँदें निकल आयीं। क्या हम आततायियों के हाथ में पड़ गये?

आर्यक ने चन्द्रमौलि को देखा। उसके सौम्य कमनीय मुख में एक विचित्र प्रकार का आकर्षण था। आर्यक को समझने में देर नहीं लगी कि यह मनोहर युवा उसे देखकर डर गया है। मीठी वाणी में बोला, "आओ मित्र, डरने की कोई बात नहीं है। मैं भी भटका हुआ बटोही हूँ। शस्त्रपाणि सैनिक हूँ। पण्डितों और साधुओं की सेवा की महिमा जानता हूँ, दीनों और असहायों की रक्षा के लिए प्राण देना भी जानता हूँ। मुझसे भीत होने की कोई बात नहीं है। आओ मित्र, तुम्हें आश्वस्त होना चाहिए कि एक विश्वासभाजन सेवक मिल गया है।" इस सुधा-स्निग्ध वाणी से चन्द्रमौलि का चित्त आश्वस्त हुआ। वह निकट आया, पानी रखकर बोला, "बन्धु, मैं अपने अकारण हितू के बारे में कुछ अधिक जानने का प्रसाद पा सकता हूँ?" आर्यक ने मन्दस्मित के साथ कहा, "कुछ विशेष बात नहीं है बन्धु, सैनिक हूँ, भटकता हुआ आ गया हूँ। पूर्व का निवासी हूँ। अभी एक व्यक्ति भागा जा रहा था। उससे मालूम हुआ कि कुछ दुर्वृत्त लोग इधर उत्पात करते हुए बढ़े आ रहे हैं। मुझे कहीं छिप जाने की सलाह देकर वह भाग खड़ा हुआ। मैं इधर छिपने का स्थान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आ पहुँचा हूँ। यहाँ इन महानुभाव को सोया देखकर रुक गया।

अब मैं आप लोगों के बारे में जानकर सुखी हूँगा ।'' चन्द्रमौलि ने प्रसन्नता प्रकट की। बोला, ''बन्धु, हम दोनों भी भय से ही इधर आ छिपे हैं। ये सोये हुए सज्जन पण्डित माढ़व्य शर्मा हैं, सहृदय, गुणज्ञ, अकारण बन्धु। मैं चन्द्रमौलि हिमालय की यक्ष-भूमि के निकट का निवासी हूँ। दक्षिणापथ की यात्रा करके लौट रहा हूँ। हम दोनों रास्ते में मिल गये हैं। हमें भी उस भागते हुए मनुष्य ने सावधान किया और हम लोग इधर आ गये हैं। हमारा अहोभाग्य है कि हमें अनायास एक वीर पुरुष की मैत्री प्राप्त हो गयी है।''

दोनों में शीघ्र ही मित्रता हो गयी। चन्द्रमौलि कुछ क्षणों तक इस नये मित्र की ओर ध्यान से देखता रहा। उसे गोपाल आर्यक के मुख में एक अपूर्व तेज दिखायी दिया। विनीत भाव से उसने पूछा, ''बन्धु, तुमने अपना ठीक परिचय नहीं दिया। मुझे लग रहा है कि मैं एक महान् पुरुष-सिंह के निकट बैठा हूँ। यदि अनुचित न समझो तो कुछ अधिक बताने की कृपा करो।'' आर्यक ने और भी नम्रता दिखायी, ''नहीं मित्र, मैं साधारण किसान-सन्तान हूँ। सैनिक हूँ। परन्तु मन मेरा क्षुब्ध है। मैं कुछ खिन्न हूँ कि अपने को अपने से ही छिपाना चाहता हूँ। तुम मुझे गोपाल समझो। यही मेरा कुल, यही मेरा परिचय।''

चन्द्रमौलि यह तो समझ गया कि गोपाल अपने को छिपाना चाहता है; पर उसे अधिक जानने का प्रयोजन भी क्या है, यह सोचकर बोला, ''बन्धु गोपाल, तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी जानने का आग्रह नहीं करूँगा, पर मेरी इच्छा इतनी अवश्य है कि यह बता दूँ कि मैं तुम्हें निस्सन्देह नर-केसरी मान चुका हूँ। तुम जो भी हो, मेरी श्रद्धा और सद्भावना के विषय हो। मन मेरा भी क्षुब्ध है। मैं भी समाधान खोजने का प्रयासी हूँ। परन्तु इतना ही जान पाया हूँ कि अपने अन्तर्यामी ही एकमात्र समाधानकर्त्ता हैं। मेरे निजी मानस की विक्षुब्धता केवल मेरे ही मानस में अँटती है। संसार में सर्वत्र उसके किसी-न-किसी अंश का साम्य मिलता है। हर पेड़-पौधा कुछ-न-कुछ उसका आभास दे जाता है; पर बन्धु, एकत्र वे साम्य अगर कहीं ठीक-ठीक विद्यमान हैं तो केवल मेरे मन में ही हैं। उसे बाहर की रूप-सामग्री के माध्यम से किसी प्रकार पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। शब्द उसे क्या प्रकट करेंगे। मैं समझता हूँ मित्र, तुम्हारी व्यथा भी केवल तुम्हारी ही है। तुम मेरे आग्रह पर कुछ बता भी दो तो मैं पूरा समझ नहीं सकूँगा। अच्छा है, इसे अपने तक सीमित रखना ही अच्छा है।'' गोपाल आर्यक को सुनकर विस्मय हुआ। तो क्या दूसरे लोग उसकी बात कभी ठीक-ठीक नहीं समझ सकते? वह मुग्ध भाव से चन्द्रमौलि की ओर देखता रहा। उसे लगा कि वह असाधारण व्यक्ति से बात कर रहा है। बोला, ''लगता है मित्र, कि तुम ठीक कह रहे हो, पर मैं पूरी तरह तुम्हारी बात समझ नहीं पा रहा हूँ।''

आर्यक को याद आया कि वह आदमी मृदु-मन्द स्वर में जो श्लोक गा रहा था, उसमें कदाचित् इसी प्रकार का कोई भाव था। उसे इस व्यक्ति के प्रति एक सहानुभूति-भरी संवेदना भी अनुभव हुई। बोला, ''बन्धु, तुम अभी कुछ गाते आ

रहे थे। अन्तिम पंक्ति बड़ी करुण थी। क्या उस श्लोक में ऐसी ही कोई बात थी जो तुम अभी समझा रहे थे ? अगर कुछ अन्यथा न समझो तो मैं पूरा सुनने का अभिलाषी हूँ।" फिर कुछ व्याकुल विनय के स्वर में बोला, "सुना दो न मित्र, मुझे बहुत अच्छी लगी थी वह पंक्ति !" चन्द्रमौलि ने हँसते हुए कहा, "काव्य-रसिक जान पड़ते हो मित्र ! वह एक श्लोक था। मैंने एक दिन यों ही बना लिया था। सुनना चाहते हो तो सुनाये देता हूँ।" चन्द्रमौलि सहज भाव से बिना किसी भूमिका के धीरे-धीरे सुनाने लगा, इस बात का पूरा ध्यान रखकर कि निद्रित माढ़व्य जाग न जायें। बड़ा ही करुण-मधुर स्वर था। श्लोक इस प्रकार था—

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकत्र क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥

[हाय प्रिये, श्यामा लताओं में तुम्हारे अंगों का सादृश्य मिल जाता है, चकित हरिणियों की दृष्टि में तुम्हारा दृष्टिपात दिख जाता है, मोरों के बर्हभार में तुम्हारे केशों की शोभा देखने को मिल जाती है, पहाड़ी नदियों की पतली धार की लहरों में तुम्हारे भ्रू-विलास की चारुता देखने को मिल जाती है, पर हाय कोपन-स्वभावे, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर की शोभा का सादृश्य एक जगह तो कहीं भी नहीं मिलता !]

वाणी इतनी आर्द्र थी कि आर्यक की आँखें छलक आयीं। चन्द्रमौलि ने ठीक ही समझाना चाहा था कि तुम्हारी वेदना के किसी-न-किसी अंश का सादृश्य मिल जाता है, पर पूरा कहीं नहीं मिलेगा। कैसी गाढ़ वेदना होगी यह ! कितनी विचित्र ! आर्यक को लगा कि यह तो उसके अपने ही हृदय की मर्म-व्यथा है। थोड़ी देर वह चुप बैठा रहा। फिर उल्लसित स्वर में बोला, "समझ रहा हूँ मित्र, पर पूरा नहीं समझ पा रहा हूँ।" चन्द्रमौलि के चेहरे पर स्निग्ध प्रसन्नता दिखायी पड़ी, "पूरी तरह कौन समझ सकता है मित्र, यही तो रोना है !" और वह खिल-खिलाकर हँस पड़ा। आर्यक अवाक् !

आर्यक एकटक चन्द्रमौलि की ओर देखता रहा। उसे बहुत दिन पहले की बात याद आ गयी। गुरु देवरात उसे समझा रहे थे कि वक्ता की इच्छा से ही शब्द का अर्थ निश्चित नहीं होता। कुछ मीमांसक दार्शनिक ऐसा कह गये हैं कि शब्द की एक ही शक्ति होती है, वक्ता का तात्पर्य। शब्द का अन्तिम और निश्चित अर्थ वही होता है जो कहनेवाले के मन में होता है। और किसी शक्ति को मानना आवश्यक नहीं है। पर आचार्य देवरात ने समझाना चाहा था कि ऐसी बात नहीं है। शब्द का अर्थ केवल वक्ता की इच्छा का विषय नहीं है, श्रोता और सन्दर्भ भी उसमें कुछ-न-कुछ जोड़ते-घटाते रहते हैं। आर्यक की समझ में वह बात नहीं आयी थी। आज चन्द्रमौलि भी कुछ उसी प्रकार की बात कह रहा है। क्या जो कुछ वह सुनता है वह कहनेवाले के तात्पर्य से कुछ भिन्न हुआ करता है ? चन्द्रमौलि

ने ही पुनः अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा, "मित्र गोपाल, मैं यह अनुभव करता हूँ कि मैं जब कभी अपनी व्याकुलता छन्दों की भाषा में अभिव्यक्त करना चाहता हूँ, तो सुननेवाले उसका ठीक अर्थ नहीं समझते। कुछ-न-कुछ वह बदलकर ही उन तक पहुँचती है। मेरे हृदय के साथ जिसका हृदय एकतान हो गया रहेगा, वही मेरी बात पूरी तरह समझ पायेगा। ऐसे समान हृदयवाले कम ही होते हैं, बहुत कम। मैं ऐसे लोगों को ही 'सहृदय' कहता हूँ। हृदय के अतल गाम्भीर्य की वेदना कदाचित् ऐसे सहृदय ही समझ सकते हैं। अधिकतर लोग कुछ-का-कुछ समझ लेते हैं। इसीलिए कुछ कहने और करने के विषय में, और लोग क्या सोचते हैं, इसकी परवा मैं कभी नहीं करता। लोकापवाद झूठ पर आधारित झूठा प्रपंच है। लोक-स्तुति उससे बड़ा धोखा है।"

आर्यक को धक्का लगा। वह अभी तक लोगों के सोचने को ही महत्त्व देता आया है और यह सुकुमार युवा कहता है कि वह लोगों के सोचने की परवा नहीं करता। सहृदय जो समझे वही समझना ठीक है, बाक़ी क्या समझते हैं, वह उपेक्ष्य है। आर्यक के मन में अनायास मृणालमंजरी आ उपस्थित हुई। मृणाल ही एक-मात्र सहृदय है। उसने दीर्घ निःश्वास लिया, "ठीक कहते हो बन्धु, कोई विरला ही हृदय की वेदना समझ पाता है। सब लोग सहृदय नहीं होते।"

अब तक माढ़व्य शर्मा की नींद कदाचित् टूट चुकी थी। कदाचित् वे अन्तिम वाक्यों को सुन चुके थे। उठकर एकाएक बैठ गये। बोल उठे, "सखे चन्द्रमौलि, ये कौन हैं?" चन्द्रमौलि ने प्रसन्न-भाव से कहा, "हमारे मित्र गोपाल हैं, दादा! महावीर हैं, पुरुष-सिंह!" माढ़व्य ने प्रसन्न-दृष्टि से आर्यक को देखा। बहुत उल्लसित स्वर में बोले, "स्वागत है वीरवर, क्या पूछ रहे हो इस कवि किशोर से? यह पता नहीं, तुम्हें क्या उलटा-सीधा समझा दे। सुनो, माढ़व्य भी मानता है कि पूरी बात कोई नहीं समझता। सहृदय भी थोड़े ही होते हैं। जो होते हैं वे भी थोड़ी देर के लिए ही। सहृदयता एक बीमारी का नाम है। एक बार मुझे भी इस बीमारी का शिकार बनना पड़ा था। पर उस दिन से अपना हृदय इस चुटिया में रख दिया है। अब निश्चिन्त हूँ। जान पड़ता है इस किशोर कवि की तरह तुम्हें भी सहृदयता का रोग है। मैं दोनों को ठीक कर दूँगा। चिन्ता की बात नहीं है। अच्छे चिकित्सक के पास आ गये हो।"

आर्यक के चेहरे पर प्रसन्नता झलक उठी। चन्द्रमौलि भी हँस पड़ा। बोला, "दादा, तुम्हें यह बीमारी कैसे लग गयी थी?" माढ़व्य गम्भीर मुद्रा में थोड़ी देर चुपचाप दिगन्त की ओर देखते रहे, फिर परम ज्ञानी की भाँति बोले, "सुनो, एक बार मेरी ब्राह्मणी मान करके अपने मैके चली गयी। मुझे सहृदयता का दौरा आया। तुम ठीक कहते हो कि जो सहृदय होता है वही किसी बात का या काम का अर्थ पूरी तरह समझ पाता है। मैं पूरी तरह समझ गया कि वह क्या चाहती है। दौड़ा-दौड़ा ससुराल पहुँचा। उद्देश्य था, उसकी इच्छा के अनुसार उसकी खुशामद करूँ। यही वह चाहती थी। थका-माँदा श्वसुर-गृह में प्रवेश किया ही

था कि छोटी साली मिल गयी। हर नाटक के पहले कुछ पूर्वाभ्यास की आवश्यकता होती है। मैं जिस नाटक के अभिनय के लिए आया था, उसके लिए भी थोड़ा पूर्वाभ्यास आवश्यक था। सहृदयता का दौरा पूरे चढ़ाव पर था ही। सो मैंने उसी की स्तुति शुरू कर दी, 'हे पूर्णचन्द्रनिभानने, अयि दुग्धमुग्ध-मधुरच्छविशालिनी, अहो शरच्चन्द्रमरीचिकोमले' इत्यादि। वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। चलते-चलते सिर पर एक चपत भी लगाती गयी, ठीक इसी शिखा-मूल में। मैंने कहा, 'अयि आताम्रबालतरुपल्लवकोमलांगुले, बड़ी चोट लगी।' साली देवी ने और भी खिल-खिलाकर हँसते हुए कहा, 'कहाँ ?' मैंने कहा, 'हृदय में !' वह अपनी सखियों को बुलाकर कहने लगी, 'देखो, देखो, जीजाजी का हृदय उनकी चुटिया में है।' अब तुम लोग ही बताओ, कि मैंने जो कहा वह कहाँ समझा गया ! मैंने तो मित्रो, उसी दिन से अपना हृदय चुटिया से बाँध लिया है। मैं मानता हूँ कि जो कहा जाता है, वह पूरी तरह से समझा नहीं जाता।"

आर्यक और चन्द्रमौलि हँसते-हँसते दोहरे हो गये। एक साथ ही बोल पड़े, "ठीक कहते हो दादा !"

बारह

मृणालमंजरी अकेली पड़ गयी। आर्यक के अचानक भाग जाने के समाचार से हलद्वीप और आस-पास के क्षेत्रों में किंवदन्तियों की बाढ़ आ गयी। जिसने सुना उसी ने कुछ जोड़-घटाकर अपने मन के अनुकूल बनाकर उसका प्रचार किया। मृणालमंजरी सुनती और सिर धुनती। उसे आर्यक की वीरता और साहस पर अखण्ड विश्वास था, पर कुछ समझ नहीं पा रही थी कि आर्यक ने सेना छोड़ी तो क्यों छोड़ी ! उसे लग रहा था कि अगर वह साथ होती तो आर्यक को बल मिलता। वह ऐसा कुछ न करता। लेकिन वह अब क्या करे ! निराश होकर वह गोवर्धन-धारी बालकृष्ण की मूर्त्ति की ओर देखती और कातर-भाव से प्रार्थना करती, 'प्रभो, आर्यक को किसी प्रकार मिला दो ताकि मैं उसके अभाव को भर सकूँ।' वह अन्य कार्यों से मन हटाकर गोवर्धनधारी की सेवा में लग गयी। छोटा शिशु शोभन कुछ भी नहीं समझ पा रहा था। वह भी माँ के साथ-साथ गोवर्धनधारी की सेवा के आयोजन में लगा रहता। गाँव में भी उदासी छायी हुई थी। मृणाल के प्रति गहरी सहानुभूति सारे गाँव में थी। ग्राम-तरुणियाँ मृणाल के मनोरंजन के जो भी उपाय करतीं, उनका प्रभाव उलटा ही पड़ता। बेचारी समझ ही नहीं पा रही थीं कि कैसे

मृणाल को सान्त्वना दी जाये। मृणाल ने कई बार उनसे कहा था कि मुझे क्यों प्रसन्न करना चाहती हो। प्रसन्न करो इन गोवर्धनधारी को, जिनकी प्रसन्नता मुझे भी प्रसन्नता दे सकती है और तुम लोगों को भी।

कार्त्तिकी पूर्णिमा को ग्राम-तरुणियों ने गोवर्धन-धारण की लीला करने का निश्चय किया। वह लीला बड़ी ही मनोहर थी। गोवर्धनधारी कृष्ण एक हाथ में वंशी लिये हुए और दूसरे हाथ की उँगली ऊपर किये खड़े थे। तरुणियाँ उनके चारों ओर उल्लसित होकर नाच रही थीं। प्रायः सारा नृत्य अशिक्षित चरण-न्यास से बोझिल हो उठा था। वर्षा-नृत्य में नूपुरों की झीनी ध्वनि उत्पन्न करने का उनका प्रयास बहुत सफल नहीं सिद्ध हो रहा था। मृणाल पहले तो हँसती रही, पर एकाएक उसमें भावावेश आया और उन्मत्त-भाव से थिरक उठी। तरुणियों का उत्साह सौ-गुना बढ़ गया, पर वे मृणाल के इशारे पर रुक गयीं। फिर तो मृणाल की मेखला, नूपुर और कंकण-वलय के युगपत् क्वणन का ऐसा समा बँधा कि मूसलाधार वर्षा का पूरा ध्वनि-चित्र उपस्थित हो गया। मृणाल देर तक भाव-मदिर नर्तन से अभिभूत रही। फिर वह गोवर्धनधारी के पास आकर ठिठक गयी। उसके इशारे पर तरुणियाँ फिर नाचने लगीं। मृणाल श्रान्त होकर गोवर्धनधारी के पास त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी हो गयी। अशिक्षित चरणों का असंयत नृत्य पूरे वेग पर था। मृणाल की एक सखी गा उठी :

जइ पावउँ केरीसु पिउ कुडुआ इक्कु करीसु।
पाणिहिं णवइ सरावि जिउँ अंगगेहिं पवसीसु॥
[कौनहु विधि पिय पाउँ जो, कौतुक एक करेउँ।
नव कलसी के नीर ज्यों, अंग-अंग पइसेउँ॥]

भाव-गद्गद होकर गाते-गाते उसने मृणाल को कसकर आलिंगन-पाश में बाँध लिया। गोवर्धनधारी के जय-जयकार के साथ यह उत्सव समाप्त हुआ। तरुणियों को लगा कि आज वे अपनी प्रिय सखी का मनोविनोद कर सकी हैं। यह ठीक भी था। पर अन्तिम गान मृणाल को एक विचित्र प्रकार की व्याकुलता दे गया। रात को वह और भी उदास हो गयी। रह-रहकर उसके मन पर वह गान आ जाता—'जइ पावउँ'। हाय, क्या ऐसा भी होगा ?

दूसरे दिन सुमेर काका आ गये। उनकी फक्कड़ाना मस्ती में उतार आ गया था। उन्हें किसी प्रकार ऐंसा लगा था कि मृणाल बहुत उदास है। वे स्वयं भी उदास हो गये थे। कहना कठिन है कि काका के आ जाने से मृणाल का मन अधिक आश्वस्त हुआ या काका का। काका ने मन-ही-मन मृणाल की जिस परिताप-वेदना की कल्पना की थी वह आंशिक रूप से ही सत्य सिद्ध हुई। उन्होंने सोचा था कि मृणाल वृन्तच्छेदित पुष्प की भाँति मुरझा गयी होगी, उसके मनोहर कपोल शरत्कालीन धूप से व्याकुल केतकी-पुष्प के भीतरी दलों की भाँति पाण्डुर हो गये होंगे, उसके शरीर की सुवर्ण-कान्ति मुरझाकर प्रभात-काल में गिरे हुए शेफालिका-कुसुम के कोमल पत्रों की भाँति झुलस गयी होगी। पर मृणाल को उन्होंने केवल

ऐसा ही नहीं देखा। निःसन्देह उसकी परिपाण्डु-दुर्बल देह-वल्लरी हेमन्त की दुर्वह वायु से परिम्लान पत्रहीन लता के समान करुण हो गयी थी, पर आँखों में एक प्रकार की विशिष्ट ज्योति भी आ गयी थी, जैसे शाण-घर्षित मणि हो, शरत्कालीन कमलिनी के उत्फुल्ल पद्म हों। काका ने आश्वस्त भाव से देखा कि देवरात की कन्या क्षीण होकर भी दीपवर्त्तिका-सी जल रही है, निराभरण होकर भी तारकहीन आकाश में परिपूर्ण शुभ्र चन्द्र-कला की भाँति प्रदीप्त हो रही है। उसका सारा समय गोवर्धनधारी वासुदेव की पूजा-अर्चा में व्यतीत हो रहा है। उसका छोटा बच्चा प्रातःकाल से ही माँ की पूजा के लिए फूल चुनने में व्यस्त रहता है। उसके मन में रंच-मात्र भी अकेलेपन का भाव नहीं था !. काका वहीं रुक गये। मृणाल को छोड़कर जाना उन्हें सम्भव नहीं लगा।

मृणाल उदास अवश्य थी, परन्तु वह कातर नहीं थी। गोवर्धनधारी वासुदेव की छोटी-सी मूर्त्ति, जो उसकी आराध्य थी, बड़ी ही सुन्दर थी। वासुदेव गोप-वेशी बालक के रूप में एक लाल शिला-पट्ट पर उत्कीर्ण थे। वे त्रिभंगी मुद्रा में खड़े थे, केवल लीलापूर्वक कनीनिका पर ही विशाल पर्वत धारण किये हँस रहे थे। उस हँसी में बेपरवाही का भाव था और आँखों में शरारत-भरी चपलता खेल रही थी। कण्ठ से लेकर गुल्फों तक विशाल वैजयन्ती माला कुछ आड़ी-तिरछी झूल रही थी। काका जब मृणाल को उस मूर्त्ति के सामने जानुपातपूर्वक ध्यानावस्थित देखते, तो उन्हें लगता कि वे विग्रहवती भक्ति को ही देख रहे हैं, तपोनिरता पार्वती का ही आभास पा रहे हैं।

सब था, लेकिन काका का चित्त उत्क्षिप्त ही बना रहता था। वे इस आराधना को मन बहलाने का साधन ही समझते रहे। वे आश्वस्त होकर भी उदास थे। क्या-का-क्या हो गया है ! कई दिन तक वे खोये-खोये-से रहे। उनका मन उद्वेग-व्यथित बना रहा ! दोनों, दोनों के मन की बात समझने का भान कर रहे थे। आर्यक के बारे में किसी ने कुछ कहा नहीं।

एक दिन मृणालमंजरी से नहीं रह गया। बोली, "काका, तुम उदास क्यों रहते हो ?" काका ने दीर्घ निःश्वास लिया। बात बदलना चाहते थे, पर प्रश्न इतना सीधा था कि बदल सकना सम्भव नहीं था। कुछ सोचकर बोले, "तू भी तो उदास रहती है। तेरा बाप होता तो तेरी उदासी देखकर रो पड़ता। मैं तो पत्थर का बना हूँ। थोड़ा उदास हो जाता हूँ, यही क्या कम है ?" मृणाल के मन में वृद्ध के प्रति श्रद्धा का भाव उमड़ आया। बोली, "मुझे देखकर उदास हो काका ? मेरी उदासी तो तुम एक क्षण में दूर कर सकते हो। मैं तो इसलिए उदास हूँ कि मैं सोच नहीं पा रही हूँ कि उनकी किस प्रकार सहायता करूँ। अच्छा काका, तुम भी क्या यही समझते हो कि उनके जैसा महावीर शत्रु-भय से भाग गया है ?" वृद्ध का चेहरा गम्भीर हो गया। मौन द्वारा ही उन्होंने स्वीकृति दी। मृणाल व्यथित हुई। वह ऐसा मानना आर्यक का अपमान समझती थी। ज़रा उत्तेजित भाव से बोली, "नहीं काका, यह झूठ है। मैं ऐसा नहीं मान सकती। मेरा हृदय साक्षी है कि यह

बात झूठ है। मैं यह तो नहीं जानती कि उन पर क्या बीती है, वे इस समय किस स्थान पर हैं और क्या कर रहे हैं, परन्तु इतना मैं जानती हूँ कि वे शत्रुओं के भय से नहीं भागे हैं। मैंने आज स्वप्न में देखा है कि वे बहुत व्याकुल हैं। मैंने देखा है कि वे किसी अन्धकार-भरी गुफा में रास्ता खो जाने के कारण व्याकुल-भाव से इधर-उधर घूम रहे हैं और मेरा नाम ले-लेकर चिल्ला रहे हैं—'मैना, किधर हो? दीपक ले आओ, मुझे रास्ता नहीं दिखायी दे रहा है!' अच्छा काका, सपना क्या सच होता है?"

सुमेर काका ने तड़ाक् से जवाब दिया, "बिल्कुल नहीं। तेरे बाप ने मुझे एक दिन बहुत-सी बातें समझानी चाही थीं। वह मुझे बताना चाहते थे कि स्वप्न से कुछ-न-कुछ जाना जा सकता है। उनका तो विश्वास यह था कि स्वप्न में मनुष्य जो कुछ देखता है, वह किसी-न-किसी वास्तविक परिस्थिति का ही रूप होता है। परन्तु उनकी बात मेरी समझ में कभी नहीं आयी। बहुत-से लोग जागते में भी सपना देखते हैं। वे काल्पनिक जगत् का निर्माण करके अपने-आपको भुलावा देते रहते हैं। यह भी एक प्रकार का सपना ही है। मैं भी किसी समय आर्यक के बारे में बड़े-बड़े सपने देखा करता था, परन्तु सब झूठ है बिटिया। जागे का सपना सोये के सपने से भी कहीं अधिक झूठ है।" सुमेर काका के सदा-प्रसन्न चेहरे पर विषाद की काली रेखा उभर आयी। मृणाल ने टोका, "तुम्हारे सपने कभी झूठ नहीं हो सकते, काका! तुम्हारा चित्त सात्त्विक है, निष्कलुष है, मन-हृदय पवित्र है। तुम्हारे मन में उनके सम्बन्ध में जो सपने थे, वे सब केवल आशीर्वाद ही नहीं, वरदान थे। वे सत्य होकर रहेंगे, पवित्र मन की कल्पना अवश्य साकार होती है। मेरी बात गाँठ बाँध लो काका! तुमने जो कुछ भी सोचा था, सब ठीक होगा। मुझे केवल यही लगता है कि मैंने जो सपने में देखा है, वह सत्य है। वे अन्धकार में रास्ता खो बैठे हैं। मृणाल से वे दीपक के प्रकाश की आशा रखते हैं। कुछ ऐसा उपाय बताओ काका, कि मैं उनके पास उज्ज्वल दीप-शिखा ले जा सकूँ।"

सुमेर काका के सामने सचमुच ही प्रकाश की ज्योति उद्भासित हो उठी। उनकी फक्कड़ाना मस्ती में ज्वार आया, बोले, "मेरे पास तो पहुँच गयी रे! तूने तो, बेटी, अपूर्व दीप-शिखा प्रज्वलित कर दी। तू नहीं जानती, तेरा सुमेर काका हार गया था। देवरात से कभी नहीं हारा, लेकिन आर्यक से हार गया था।"

मृणाल को अच्छा लगा। थोड़ा उत्फुल्ल होकर बोली, "काका, मैं अकेली पड़ी-पड़ी ऊब गयी हूँ। मेरा निश्चित विश्वास है कि वे कहीं भटक गये हैं। मैं क्या उनकी कुछ भी सहायता करने योग्य नहीं हूँ? पिताजी ने एक बार मुझसे कहा था कि 'देख मैना, जैसे हर व्यक्ति का एक मन होता है वैसे ही एक समष्टि-चित्त भी है। व्यक्तियों का मन, समष्टि-चित्त का एक अंग ही होता है। अगर ऐसा न होता तो प्रत्येक मनुष्य लाल रंग को लाल ही रंग नहीं देखता; किसी को कष्ट में देखकर उद्विग्न न होता, किसी को प्रसन्न देखकर आह्लादित नहीं होता। पूरे समष्टि-मानव का एक चित्त है। उसीका अंग होने के कारण व्यक्ति-चित्त दूसरों के समान

ही सुख-दुख का अनुभव करता है। बहुत दूर से भी कोई व्यक्ति यदि किसी अन्य व्यक्ति को गाढ़ अनुभूति के साथ स्मरण करे, लगन के साथ पुकारे या अपने दुख को संवेदित करना चाहे तो समष्टि-चित्त के माध्यम से वह उस व्यक्ति-विशेष के चित्त में उसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है।' उस समय मैं उनकी बात समझ नहीं सकी थी। लेकिन अब मेरी प्रत्येक शिरा उस बात के स्मरण-मात्र से झनझना उठती है। मुझे लगता है कि वे कहीं निविड व्यथा से व्याकुल होकर मुझे पुकार रहे हैं। कह रहे हैं, 'मैना, मैं व्याकुल हूँ। मैं रास्ता नहीं पा रहा हूँ। मैं भटक गया हूँ। जल्दी आओ और मुझे प्रकाश की ज्योति दो।' मैं सुन रही हूँ काका, उनके क्लान्त-श्रान्त मुख को प्रत्यक्ष-सा देख रही हूँ। वे मुझे पुकार रहे हैं। हाय काका, वे कितने व्याकुल हैं! परन्तु मैं यह नहीं सोच पा रही हूँ कि उन तक कैसे पहुँच जाऊँ?"

सुमेर काका की आँखें आश्चर्य से कानों तक फैल गयीं। बोले, "बेटी, मैं तो अटट गँवार हूँ। मुझे इन बातों का न तो कोई ज्ञान है, न अनुभव। लेकिन एक दिन मैंने भी एक विचित्र सपना देखा। तेरे यहाँ आने से पहले मैं बहुत उदास हो गया था। मुझे एक बार तेरी याद आती थी, एक बार देवरात की और एक बार आर्यक की; तेरे ऊपर दया आती थी, देवरात पर तरस आता था और आर्यक पर क्रोध आता था। मुझे बार-बार देवरात का सौम्य-शान्त मुख-मण्डल याद आ जाता था। मैं सोचता था—देवरात ने इस लड़के से कैसी-कैसी आशाएँ लगा रखी होंगी और यह इतना निकम्मा निकला! फिर मैं सोचता था—बेचारे देवरात को अगर पता चले कि उनकी प्यारी बेटी कितनी असहाय हो गयी है, तो उनकी क्या दशा होगी? मैं जाग्रत अवस्था में ही यह अनुभव कर रहा था कि देवरात कह रहे हैं—'सुमेर भाई, जल्दी करो, जाओ बिटिया के पास। वह अकेली पड़ी है।' सोचते-सोचते मुझे नींद आ गयी। उस समय मैंने सपना देखा। सपना क्या था बेटी, लगता था जैसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। ऐसा लगता था कि आसमान में हल्के-हल्के बादल छाये हुए हैं। उन पर से कोई मीठे स्वर में पुकार रहा है—'आर्य देवरात, तुम मुझे भी भूल गये? मेरी बिटिया को भी भूल गये?' चारों ओर देखता हूँ, कहीं कोई नहीं है। केवल यह करुण-कातर स्वर रह-रहकर सुनायी दे रहा है। मैं इधर-उधर देखने लगा। देवरात हैं किधर? फिर क्षण-भर में दृश्य बदल गया। ऐसा लगा कि दूर दिगन्त के कोने से देवरात की ही कण्ठ-ध्वनि सुनायी पड़ी। कोई दिखायी नहीं दे रहा था, पर यह वाणी देवरात की ही थी। ठीक जैसी वह बोलते थे, वैसी ही। मुझे उस मोहक गम्भीर वाणी को पहचानने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं हुआ। साफ़ सुनायी दिया, 'भूलना चाहता हूँ देवि, पर भूल नहीं पा रहा हूँ। स्वयं को भूलना चाहता हूँ, तुम्हें भूल जाना चाहता हूँ, मृणाल को भूल जाना चाहता हूँ, पर भूल नहीं पा रहा हूँ। भूल सकता तो मुक्त हो जाता।' बादलों से आवाज़ आयी, 'भूलो मत आर्य, मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। मुझे शान्ति मिले, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी। अपनी शान्ति की मृगमरीचिका में

मेरी शान्ति की वलि न दो। जब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी, तुम्हें कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती। मैं संसार के इस पार से देख रही हूँ। अपनी शान्ति के लिए तपस्या करना सबसे बड़ा स्वार्थ है। वह सबसे बड़ी छलना भी है। औरों की शान्ति के लिए अशान्त होना ही सच्ची साधना है। आर्य देवरात, मैं साधनहीन हूँ। मनुष्य को जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय मिली हैं, जिनके द्वारा वह दूसरों की शान्ति का प्रयत्न कर सकता है, वह मेरे पास नहीं हैं। मैं केवल भाव-मात्र हूँ। तुम्हारे पास ये साधन अब भी विद्यमान हैं। छोड़ दो अपनी इस छलनामयी झूठी तपस्या को; तुम जो साधना पहले करते थे, वही सच्ची साधना है। मनुष्य के दुख से दुखी होना ही सच्चा सुख है।' देवरात की आवाज़ काँपने लगी। मुझे स्पष्ट सुनायी दिया, 'तुम्हारा कहना सत्य हो सकता है देवि, देवरात व्याकुल है। वह तुम्हारी इस बात को समझने का प्रयत्न करेगा।' फिर एकाएक वह आवाज़ मेरे बहुत नज़दीक आ गयी, 'सुमेर भाई, मृणाल के पास जाओ। वह असहाय है। अकेली है। उसे सान्त्वना दो।' मेरी नींद एकाएक खुल गयी। कहीं तो कुछ भी नहीं था। मैंने अपने मन को समझा लिया कि थोड़ी देर पहले जो सोचता था, वही सपने में देख रहा हूँ। पर तू जो कह रही है बेटी, यदि वह सच है तो मानना होगा कि देवरात भी कहीं मेरी और तेरी बात सोच रहे हैं।"

मृणाल की आँखों में आँसू आ गये। उसे ऐसा लगा कि उसकी प्रत्येक शिरा झनझना उठी है—"निस्सन्देह काका, पिताजी मुझे और तुम्हें याद कर रहे हैं। परन्तु ठीक से स्मरण करो, उन्होंने मेरे लिए कोई रास्ता नहीं बताया ? कुछ-न-कुछ बताया होगा काका, याद करके कहो।" सुमेर काका ने स्मरण-शक्ति पर बल देने का प्रयास किया, बोले, "और तो कुछ याद नहीं आ रहा है, बेटा ! मैंने तो इस सपने को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया था। मुझे तो यही लगा था कि जो बात जागते में सोच रहा था, वही मैंने सपने में देखी है। मैं जो तेरे यहाँ चला आया, वह सपने के कारण नहीं, जाग्रत अवस्था में सोच-समझकर।"

थोड़ी देर दोनों मौन रहे। मृणाल बोली, "काका, तुम एक बार बता रहे थे कि विन्ध्याचल में कोई नये सिद्ध आये हैं, जो महिषमर्दिनी की पूजा का प्रचार कर रहे हैं। सुना है कि वे भूत-भविष्य सब बता सकते हैं। एक बार मुझे उनके पास ले चलो न ! मैं उनसे पिताजी के बारे में और आर्यक के बारे में कुछ प्रश्न पूछूँगी। सिद्ध लोग मनुष्य का पता-ठिकाना भी बता दिया करते हैं। ले चलोगे काका ?"

सुमेर काका को मृणाल के भोलेपन पर हँसी आ गयी। "देख बिटिया, तू जहाँ कहेगी, वहीं तेरा काका तुझे ले जायेगा। पर मुझे इन सिद्धों पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं है। तेरा काका तो उतना ही मानता है जितना कि मानने योग्य होता है। भूतकाल कोई बता दे, यह तो मेरी समझ में आ रहा है, पर भविष्य कैसे बतायेगा ? जो दावा करता है कि भविष्य बता देगा, वह ढोंगी है।" मृणाल का चेहरा म्लान हो गया। उसे काका की बात से दुख हुआ। काका ने उसके मन की बात ताड़ ली। बोले, "बुरा मान गयी बेटा ! तेरा काका गँवार है। उसकी बातों का

बुरा न माना कर। चल, तेरे साथ मैं चलूँगा। उसका ढोंग तो मैं चलने नहीं दूँगा। यदि काम की बात कुछ करेगा तो सुन लूँगा। भूत-भविष्य तो वह क्या बतायेगा, लेकिन तेरे मन को सन्तोष हो जायेगा।" मृणाल ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "अवश्य ले चलो काका, पर मेरी एक बात मान लो। तुम यह सब सिद्ध के सामने मत कहना। मैं पूछूँगी और तुम चुपचाप सुनोगे।"

सुमेर काका को मृणाल का यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। उन्हें यह समझ में नहीं आ रहा था कि सिद्ध अगर उल्टा-सीधा कुछ कहता रहेगा, तो उन्हें चुप क्यों रहना चाहिए। किन्तु हाथ घुमाकर उन्होंने स्वीकृति-सूचक मौन धारण किया। मानो अभी से चुप रहने का अभ्यास कर रहे हों।

लेकिन सिद्ध के पास जाने का कार्यक्रम रुक अवश्य गया। हुआ यह कि जब सुमेर काका बाहर आये, तो लड़कों का एक दल कूदता-फाँदता-चिल्लाता आकर कह गया कि चन्द्रा आ रही है। सुमेर काका को चन्द्रा के नाम से ही चिढ़ थी। उन्होंने मृणाल से बातचीत करते समय पूरी सावधानी बरती थी कि चन्द्रा का नाम या प्रसंग न आने पावे। कभी-कभी वे यह भी सोचते थे कि चन्द्रा अगर मिल जाये तो डण्डों से उसकी खबर लेंगे। अब सचमुच चन्द्रा दिख जानेवाली है और उनका डण्डा भी उनके हाथ में ही है। मारे क्रोध के उनका चेहरा लाल हो गया। उनकी निश्चित धारणा थी कि आर्यक के पतन के मूल में यही दुश्चरित्रा स्त्री है। यह हतभाग्या इस गाँव में आने का साहस कैसे कर सकी है? क्या लज्जा-जैसी कोई वस्तु विधाता ने इसे दी ही नहीं? उनके मन में क्रोध से भी अधिक घृणा का भाव आया। ना, इसका मुँह देखना भी पाप है। पर वह आ क्यों रही है? क्या मृणाल को चिढ़ाने आ रही है? अगर ऐसा हुआ तो काका उसका झोंटा पकड़कर घसीटेंगे और यमराज के घर का रास्ता दिखा देंगे। इस घर में तो उसे पैर नहीं रखने देंगे। जनम की अभागिन, करम की छैंछी, चरित्रहीना, कुलटा! सुमेर काका के मन में और भी अपशब्द आ रहे थे, परन्तु चन्द्रा सचमुच ही आ गयी। आते ही उसने अत्यन्त मधुर वाणी में कहा, "कौन, सुमेर काका हैं? प्रणाम करती हूँ काका, मैं चन्द्रा हूँ।" सुमेर काका ने घृणा से मुँह फेर लिया। लेकिन चन्द्रा ने तो नत-जानु होकर काका के पैरों पर सिर ही रख दिया।

अजब ढीठ है यह वराकी! बे-मन से काका ने आशीर्वाद दिया, "सुखी रह, सच्चरित्र बन, परमात्मा तेरा मुँह काला न होने दें।" फिर बोले, "जा यहाँ से, यह कुल-वधू का घर है। तू यहाँ कैसे आयी? जा, अपने घर जा। भाग जा, जल्दी भाग जा! तूने अपना भी मुँह काला किया और हलद्वीप का भी काला किया। जा, जा यहाँ से, हट!"

चन्द्रा ने अविचलित-अस्खलित मृदु वाणी में कहा, "कुल-वधू नहीं तो क्या हूँ तात! अपने घर ही तो आयी हूँ। मैं चली जाऊँगी तो मेरी बहन मृणाल की कौन देख-रेख करेगा? श्यामरूप भाग गया, आर्यक भाग गया, देवरात भाग गया। मैंने सुना तो दौड़ी चली आयी। छोटा बच्चा भी तो है काका। मेरे रहते वह क्यों

कष्ट पायेगा ? मैं उसे कैसे छोड़ सकती हूँ ?" काका को धक्का लगा। चन्द्रा की वाणी में स्नेह था, वेदना थी, आत्मीयता थी। उन्होंने अब उसकी ओर दृष्टि फिरायी। चन्द्रा है ! उन्हें आश्चर्य हुआ। चन्द्रा एक बहुत साधारण हल्की नीली साड़ी पहने थी। उसका सुन्दर मुख सूखा-सूखा दिखायी दे रहा था। अधरोष्ठ काले पड़ गये थे। अलंकार के नाम पर एक सोने का कंगन हाथों में इस प्रकार झूल रहा था, मानो अब गिरा, अब गिरा ! गोल गोरे मुख के ऊपर केश लटिया गये थे, पर सिन्दूर की मोटी रेखा सावधानी से अंकित दिखायी दे रही थी। चन्द्रा ही तो है ! नील परिधान की छाया से उसका चन्द्रमा के समान मुख नीलाभ ज्योति से झिलमिला रहा था। काका ने आश्चर्य के साथ उसकी शामक आभा देखी। हाँ, चन्द्रा ही तो है—मनहु कलानिधि झलमलत कालिन्दी के नीर ! पर सुमेर काका ने उसका जो रूप सोचा था, उससे कितनी भिन्न है ! अवश्य कोई निदारुण अन्तर्वेदना की ज्वाला उसके भीतर दीर्घकाल से सुलग रही है। काका का मन पसीज गया। बोले, "कुल-वधू तो तू थी ही, पर यह सब क्या किया भाग्य-हीने !" चन्द्रा की बड़ी-बड़ी आँखें डबडबा गयीं। रुआँसी होकर बोली, "पाप नहीं किया काका !"

पाप नहीं किया ? कैसी निर्विकार मुद्रा है चन्द्रा की ! काका का सरल चित्त चकित हो उठा। वे एक बात ही जानते आये हैं। पापी आँखें चुराता है। उसके मन का विकार उसके वाक्यों से प्रतिफलित होता रहता है। चन्द्रा की वाणी सहज है, आँखें साफ़ हैं, मन में कहीं कोई अपराध-भावना नहीं है। काका हैरान हैं। बोले, "क्यों री चन्द्रा, यहाँ जो सब बातें फैली हैं वे सब झूठ हैं ? तू अपने पति को छोड़कर आर्यक के साथ भाग नहीं गयी थी ? बोल चन्द्रा, ये सब बातें झूठ हैं ?"

चन्द्रा ने अस्खलित वाणी में कहा, "मैं क्या जानूँ काका, कि यहाँ क्या-क्या बातें फैली हैं और उनमें कौन बात झूठ है और कौन सच ! तुम एक-एक करके पूछोगे तो सब बताऊँगी। फिर तुम स्वयं सच-झूठ का निर्णय कर लेना। अच्छा काका, स्त्री का विवाह पुरुष से ही होता है न ?"

"और किससे होगा री ?"

"और स्त्री का विवाह पुरुष से न होकर किसी ऐसे से हो जाये जो पुरुष न हो ? क्या ऐसा विवाह किसी भी दृष्टि से मान्य होगा ?"

काका ने तड़ाक्-से उत्तर दिया, "नहीं।"

चन्द्रा ने फिर एक बार सुमेर काका के चरणों का स्पर्श किया। इस बार उसका आँचल भी हाथ में था। बोली, "अब तुम्हें जो पूछना हो, पूछो। सबका उत्तर दूँगी।"

काका को कुछ विचित्र-सा लगा। उनके मन में यह बात कभी आयी ही नहीं कि स्त्री का विवाह किसी ऐसे से हो सकता है जो पुरुष न हो। वे कुछ सोचने लगे। चन्द्रा ने उन्हें विशेष सोचने का समय नहीं दिया। बोली, "मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य-रूपधारी पशु से कर दिया जो पुरुष

है ही नहीं। मैं उसे पति नहीं मान सकती। हलद्वीप के मुँह में कालिख लगती है तो सौ बार लगा करे! जो समाज इस प्रकार के विवाह की स्वीकृति देता है वह अपने मुँह में कालिख पहले ही पोत लेता है। मैंने आर्यक को ही अपना पति माना था। वह मेरा था, और रहेगा। मैं उसके साथ भागकर कहीं नहीं गयी। वह भागा जा रहा था, मैं साथ हो ली थी। फिर कहीं भागा है, उसकी खोज में हूँ। मैं आर्यक की पत्नी हूँ और बनी रहूँगी। मैं अपने घर आयी हूँ, मैं अगर कुल-वधू नहीं हूँ तो संसार में कोई कुल-वधू आज तक पैदा ही नहीं हुई।"

काका हैरान। इसी समय मृणालमंजरी का छोटा शिशु बाहर आया। चन्द्रा ने झपटकर उसे गोद में उठा लिया और बार-बार उसे चूमने लगी। एकाध बार शिशु ने भागने की चेष्टा की, लेकिन चन्द्रा ने उसे भागने नहीं दिया। काका अभी तक अपने को सम्हाल नहीं पाये थे। शिशु 'माँ-माँ' कहकर चिल्ला उठा। चन्द्रा ने उसे और कसकर छाती से चिपका लिया। बोली, "मैं ही तो तेरी माँ हूँ रे!" आवाज़ सुनकर मृणाल बाहर निकली। वह चकित होकर देखने लगी, यह कौन स्त्री है! शिशु ने कातर-भाव से कहा, "देख माँ, मुझे छोड़ नहीं रही है।" चन्द्रा ने और कसकर उसे छाती से लगा लिया। हँसते हुए कहा, "तेरे बाप को तो छोड़ा नहीं, तुझे कैसे छोड़ सकती हूँ!" मृणाल कुछ समझ नहीं पा रही थी। काका ने ही बताया—चन्द्रा है! एक बिजली की धारा सट-से मृणाल के पैरों से उठी और सिर तक बह गयी। चन्द्रा ने मृणाल को देखा तो बच्चे को छोड़कर उसी से लिपट गयी, "मेरी मैना, मेरी प्यारी बहिन मैना! देखती क्या है रे, मैं तेरी दीदी चन्द्रा हूँ। हाय, तुझे बड़ा कष्ट हुआ। आर्यक महापापिष्ठ है जो तुझे ऐसी अवस्था में छोड़कर चला गया! कायर! गँवार!" फिर उसने मृणाल को इस प्रकार उठा लिया, जैसे वह कोई गुड़िया हो। वह उसे सिर से पैर तक चूमती रही। लगातार। मृणाल लज्जा से विजड़ित हो उठी। बोली, "दीदी, भीतर चलो!" पर कहने की आवश्यकता नहीं थी। चन्द्रा ही उसे और बच्चे को लेकर भीतर चली गयी। ऐसा लगा, वह चिर-परिचित घर में चिर-परिचित स्वजनों के साथ सहज भाव से जा रही हो। काका काठ की मूर्त्ति की तरह जैसे थे, वैसे ही बने रहे। न हिले, न बोले, न आगे बढ़े—न ययौ न तस्थौ।

गाँव की स्त्रियाँ धीरे-धीरे इकट्ठा होने लगीं, काका जहाँ-के-तहाँ देर तक उसी तरह खड़े रहे। दूर से स्त्रियों के कलकण्ठ से गाने की मधुर ध्वनि उनके कानों से टकरा-टकराकर लौट गयी, उनकी चेतना उसी प्रकार जड़ीभूत बनी रही। अन्त में वे हारे हुए जुआरी की तरह वहाँ से लड़खड़ाते हुए चल पड़े। भीतर कोई स्त्री गा रही थी—

अह संभाविअमग्गो सुहय तुए ज्जेव णवरि णिव्वुट्ठो।
एणिहं हिअए अण्णं, अण्णं बाआइ लो अस्स॥
[सजन निबाह्यो एक तुम, आरज-पथ, पथ मैन।
आजि काल्हि के लोग तो, कछु हियरे कछु बैन॥]

एकाएक उनका ध्यान अतीत की ओर मुड़ गया। वह तो मंजुला की गायी गाथा है। मंजुला के घर के सामने से वे एक बार जा रहे थे, उसी समय वह बड़े व्यथापूर्ण स्वर में यह गाथा गा रही थी। आज कौन वही गान गा रही है!

तेरह

उज्जयिनी में महाकाल देवता का निवास है। महाकाल केवल गति-मात्र हैं, निरन्तर धावमान गति, एक क्षण के लिए भी न रुकनेवाला प्रचण्ड वेग। देवरात महाकाल के दरबार में पहुँचकर भी शान्ति नहीं पा सके। वे स्थिति की खोज में हैं। महाकाल के धावमान वेग से वे केवल खिंचे जा रहे हैं और फिर भी उनके भीतर चलते रहनेवाले तूफ़ान की गति में कोई कमी नहीं आ रही है। शान्ति चाहिए, पर महाकाल देवता प्रचण्ड नर्त्तन में व्यापृत हैं। उनके एक-एक पद-संचार से महाशून्य प्रकम्पित हो रहा है और उस प्रचण्ड गति से समुत्थित कम्पन से सृष्टि मृत्यु-धारा में स्नान कर नित्य नवीन जीवन की ओर अग्रसर हो रही है। जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, गला-सड़ा है, वह ध्वस्त होता जा रहा है, नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का ताण्डव दिखायी दे रहा है। काल की यह प्रचण्ड धारा रुक नहीं सकती, मृत्यु और जीवन की यह परस्पर सापेक्षता दूर नहीं हो सकती। परन्तु रुको महाकाल, एक क्षण के लिए रुको! देवरात रुकना चाहते हैं। कोई प्रार्थना कारगर नहीं हो रही है। वे केवल कातर-भाव से पुकार सके, "रुद्र, यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्!" हे रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्न मुख है उसी के अनुग्रह द्वारा मेरी रक्षा करो! परन्तु क्षिप्रा की तरंगों में उस प्रसन्न मुख का दर्शन नहीं हो सका। देवरात दिग्भ्रान्त हो गये थे। उन्हें लगता था, जैसे वे लोहे के टुकड़े हों और कोई अदृश्य चुम्बकीय शक्ति उन्हें खींच रही हो।

देवरात शान्ति नहीं पा सके। वे नैमिषारण्य के जंगलों में भटके, काशी की शीतल गंगा-धारा में अवगाहन करते हुए आगे बढ़े, त्रिवेणी-तट पर कल्पवास में विरमे, यमुना की निर्मल धारा में स्नान करते-करते मथुरा पहुँचे और अन्त में उज्जयिनी में महाकाल के दरबार में उपस्थित हुए। साधु-संग, शास्त्र-चर्चा, देव-दर्शन, व्रतोपवास—सब किया, पर शान्ति कहीं नहीं मिली। न वे औशीनरों की प्राण-दुहिता को भूल सके और न हलद्वीप की नगरश्री की माया काट सके। वे सब-कुछ करते गये, यन्त्र-चालित की भाँति। उन्हें अनुभव हुआ कि महाकाल का अकुण्ठ नर्त्तन रुकनेवाला नहीं है। समस्त सुख-दुख को रौंदता हुआ वह चल रहा

है—निर्मम, निर्मोह !

देवरात इस निर्मम-निर्बाध ताण्डव को समझ नहीं सके। महाकाल की मूर्त्ति में उन्हें केवल दुर्निवार वेग की विभीषिका का ही दर्शन हो सका। उन्हें यह प्रचण्ड गति केवल क्रूर परिहास-सी दिखायी पड़ी। जो-कुछ है वह होने को बाध्य है, मानो कोई विराम-विहीन घूर्णा-चक्र उबा देनेवाले एकघृष्ट स्वर में घूम रहा है और उस अबाध वेग में नक्षत्र-मण्डल से लेकर अणु-परमाणु तक उद्भूत और विनष्ट होने को बाध्य हैं। सम्पूर्ण चराचर-सृष्टि केवल उद्भव और विनाश के लिए विवश है, उसी प्रकार जैसे शाण-चक्र पर रखे लौह-खण्ड से छिटकी सहस्रों चिनगारियाँ छिटकने, भटकने और बुझने को बाध्य हैं। ऐसा निरुद्देश्य-निर्लक्ष्य वेग भी किस काम का ? मनुष्य केवल जन्म-मरण के दुरन्त वात्या-चक्र में पच-पचकर मरने के लिए ही बना है ? अनन्त वेग के लिए छोटे-मोटे सहस्रों आदि और अन्त निरर्थक परिहास-मात्र हैं ? काल-चक्र के सिंहासन पर आसीन महादेव, क्यों बनाया था तुमने माया-ममता के द्वारा जकड़े हुए सुकुमार मानव-हृदय को ? इस हृदय में जो दारुण झंझा बह रही है, वह क्या तुम्हारे प्रचण्ड वेग के इंगित पर ही बह रही है ? इसका भी कोई अन्त नहीं है, इसमें भी कहीं ममता का स्पर्श नहीं है, यह भी अपनी सत्ता के लिए आप ही प्रमाण है ? महाकाल देवता, बड़ी दुर्निवार है तुम्हारी माया ! देवरात क्षिप्रा की वारि-धारा में भी एक अतृप्त अधीर वेग को ही देख सके। शान्ति कहाँ है ? महाकाल का प्रसन्न मुख उन्हें कहीं नहीं दिखायी दिया। देख सके केवल निर्बाध वेग की निर्मम प्रचण्ड ज्वाला।

वे खोये-खोये-से खड़े रहे। भक्त-गण आते-जाते रहे, उन्हें लगा जैसे सब-के-सब किसी प्रचण्ड जीवन-धारा के फेन-बुद्बुद हों।

मन्दिर-द्वार से दूर कोई बड़ी ही मधुर वाणी में धीरे-धीरे गा रहा था। देवरात उस छन्दोबद्ध संगीत के अन्तिम चरण को सुनकर एकाएक चौंक पड़े। गानेवाला गा रहा था—'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः' (पिनाक धारण करनेवाले देवता [शिव] के यथार्थ स्वरूप को जानने-समझनेवाले नहीं हैं !) वह और भी गाता रहा। एक बार उसने कुछ ऐसा कहा जिसे सुनकर देवरात स्तब्ध रह गये। कवि ने जो कुछ कहा, उसमें शिव के भयंकर और मोहन रूपों की चर्चा थी। उपसंहार में कहा था—शिव विश्वमूर्त्ति हैं, उनके रूप की अवधारणा नहीं करनी चाहिए।

देवरात का मन इस प्रकार उसकी ओर खिंच गया, जैसे किसी ने पाश फेंककर बलात् खींच लिया हो। वे सचमुच ही क्या विश्वमूर्त्ति शिव की अवधारणा नहीं कर रहे हैं ? क्या फ़र्क पड़ता है यदि शिव मनोहर वेश में दिख जाते हैं या यदि वे भयंकर रूप में दिखायी दे जाते हैं ? विश्वमूर्त्ति शिव विभूषणों से जगमगाते मनोहर वेश में हों तो, और भयंकर सर्पों की डरावनी माला धारण किये हों तो, वे सब प्रकार से वन्दनीय हैं, मनोरम या भयंकर तो मनुष्य के सीमित चित्त का विकल्प-मात्र है। जो सर्वरूप है, सर्वमय है, उसके लिए दुकूल और हाथी के रक्तरंजित चर्म का परिधान तो बहुत नगण्य विकल्प है। उसके हाथ में कपाल कर्पर है या

माथे पर चन्द्रमा जगमगा रहा है, यह भी कोई बात-की-बात हुई ! विश्वमूर्त्ति, बस विश्वमूर्त्ति हैं। रूप-रूप में उन्हीं की लीला मुखरित है। एकांगी दृष्टि से क्यों देख रहे हो ? समग्र दृष्टि से देखो !

देवरात को विचित्र लगा। कौन है यह किशोर गायक ? कितनी मधुर वाणी में गा रहा है, कितनी तन्मयता के साथ ! 'न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपुः।' वाह, क्या अमृत-सी वाणी है—'न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपुः।' विश्वमूर्त्ति के रूप की अवधारणा ही तो वे कर रहे थे।

देवरात को लगा कि वे सचमुच अवधारणा के शिकार हो गये हैं। सहस्रों विषय इन्द्रियों से टकराते हैं। मन उन्हीं का संचय करता है जो अच्छे लगते हैं। इसी का नाम धारणा है। जो संचय-योग्य होते तो हैं, पर मन उन पर रम नहीं पाता, उनकी धारणा का नाम ही अवधारणा है। संचय भी करते हो, रमते भी नहीं, यह कैसी माया है ? किशोर गायक ठीक कह रहा है, सर्वव्यापक के एक अंश-मात्र को हृदय में संचित करके भी उसकी अवधारणा करना 'वदतो व्याघात' है, अपनी ही बात का अपने से ही प्रतिवाद करना है। धारणा केवल इसलिए विकृत होती है कि मनुष्य धारणीय के स्वरूप को ठीक समझ नहीं पाता। देवरात ने महाकाल को विश्वमूर्त्ति के रूप में नहीं समझा। वे केवल पिनद्धभोगि (साँप-लपेटा) रूप से कातर हो उठे हैं। पर यह तरुण गायक है कौन ? देवरात को लगा कि इन छन्दों का रचयिता वह स्वयं है। तो यह केवल गायक नहीं, कवि भी है !

विचित्र है यह कवि। एकाग्रभाव से क्षिप्रा की चटुल तरंगों को देख रहा है। निःसन्देह उसे केवल विनाशकारी प्रचण्ड वेग से कुछ भिन्न वस्तु का साक्षात्कार हो रहा है। वह गा रहा है, बड़ी सावधानी से, धीरे-धीरे। समाधिस्थ भी नहीं है, असंयत भी नहीं है। शोभा देखकर वह मुग्ध अवश्य हो रहा है, पर उत्क्षिप्त नहीं है। बहुत सावधान तो है, पर रागोत्क्षिप्त एकदम नहीं। कितनी कमनीय हैं उसकी बड़ी-बड़ी पद्म-पलाश-सी आँखें। देवरात भी मुग्ध होकर उसे देखने लगे। मुग्धता भी संक्रामक होती है, नहीं तो इस तरुण गायक की मुग्धता से वे कैसे मुग्ध हो गये !

देवरात ने सोचा, इससे कुछ बात करनी चाहिए। बड़ा ही मधुर लगता है इसका शील। वे उसके निकट जाकर खड़े हो गये। तरुण गायक ने उन्हें नहीं देखा। वह अपने में ही मस्त बना धीरे-धीरे गाता रहा। ऐसा लगता था, उसके मन में रह-रहकर विभिन्न भावों की तरंगें उठ रही हैं, और वह बिना प्रयास छन्दों में उन्हें मूर्त्त करता जा रहा है। कहीं-न-कहीं उसके मन में भी कोई व्यथा होगी। देवरात उस चारुदर्शन युवक से बात करने के लिए व्याकुलता अनुभव करने लगे। क्या बात करें, कैसे उसे सम्बोधित करें, यह निश्चय नहीं कर सके। देर तक वे उत्सुक की भाँति खड़े रहे।

तरुण गायक चुप हो गया। वह अंजलि बाँधकर किसी अज्ञात देवता को प्रणाम करने की मुद्रा में दिखायी दिया। फिर चलने को प्रस्तुत हुआ। उठा तो ऐसा लगा

जैसे किसी अनुभाव-राशि को चीरकर निकल रहा हो। वह चल पड़ा। देवरात ने चुपचाप अनुसरण किया।

कुछ दूर तक धीरे-धीरे चलने के बाद वह एकाएक तेज़ चलने लगा। देवरात को लगा कि उसमें अचानक कोई नया भाव आ गया है। वे भी तेज़ चलने लगे। युवक अपने-आपमें ही रमा जान पड़ता था। उसने फिरकर देखा ही नहीं। अब देवरात ने अधीर भाव से टोका, "सुनो आयुष्मान्, मैं कुछ जानना चाहता हूँ।" युवक ने पीछे फिरकर देखा। देवरात को देखकर उसे कुछ आश्चर्य हुआ, पर उसके चेहरे पर आह्लाद का भाव भी आया। बोला, "अवहित हूँ आर्य, क्या पूछना चाहते हैं ?" देवरात ने कहा, "आयुष्मान्, मैं देवरात हूँ, तीर्थों में भटकता फिर रहा हूँ, शान्ति पाने के लिए। पर मेरी व्याकुलता दूर नहीं हुई है। तुम्हारे मधुर कण्ठ से अभी मैंने जो कुछ सुना है उससे मुझे विश्वास हुआ है कि तुमसे मुझे प्रकाश मिल सकता है। भद्र, तुम्हें देखकर मुझे ऐसा लगा है कि मेरे जन्म-जन्मान्तर का पुंजीभूत पुण्य ही प्रत्यक्ष विग्रह धारण कर उपस्थित हो गया है। बोलो, आयुष्मान्, तुम कौन हो ? कौन-सा कुल तुम्हें पाकर पवित्र हुआ है, कौन भाग्यशालिनी माता तुम्हें जन्म देकर कृतार्थ हुई है ?" युवक के प्रफुल्ल चेहरे पर प्रसन्नता की लहरें खेल गयीं। कुछ विनय-मिश्रित व्रीड़ा के साथ बोला, "आर्य, मेरा प्रणाम स्वीकार करें, पर आप तो मुझे लज्जित कर रहे हैं। आप मुझे अनुचित गौरव दे रहे हैं। केवल आशीर्वाद का अधिकारी हूँ। मेरा नाम चन्द्रमौलि है। हिमालय की गोद में खेला हूँ। अब पूरे भारतवर्ष को देखने की लालसा से घर से निकल पड़ा हूँ।" देवरात को और भी कुतूहल हुआ। उल्लसित भाव से बोले, "साधु आयुष्मान्, मैंने तुम्हें देखकर ही तुम्हारे शील और विनय का अनुमान कर लिया था। भगवान् ने तुम्हें जैसा रूप, वैसा ही शील, वैसी ही वाणी दी है। बहुत प्रीत हूँ वत्स, तुम जो कविता अभी गा रहे थे, वह बड़ी ही मधुर और नयी-नयी-सी लग रही थी।" चन्द्रमौलि के मुख पर संकोच-मनोहर मन्दस्मित दिखायी दिया। बोला, "आपका बालक हूँ, आर्य ! अनपहचानी वेदनाएँ मुझे व्याकुल बना देती हैं। कभी-कभी सोचता हूँ आर्य, कि किसी देवता के आशीर्वाद से मुझे छन्दों की वाणी का वरदान मिल जाता, तो सारी वेदनाएँ उँड़ेल देता। कहाँ मिला आर्य, मैं व्याकुल हूँ ! नदियों का प्रवाह मुझे प्रलुब्ध करता है, अरण्यों की शोभा मुझे आकर्षित करती है, शस्य-श्यामल मैदान मुझे खींचते हैं, जनपद-जनों के सहज व्यवहार मुझे मोहित करते हैं, नगरों की विलास-लीला मुझे उल्लसित करती है। क्या परिचय दूँ अपना, मैं सबकी ममता में बँधा हूँ, पर मेरा अपना कोई नहीं दिखायी देता। मैं सर्वत्र किसी व्याकुल अभ्यर्थना से खिच जाता हूँ। पाने की लालसा से नहीं, लुटाने के लोभ से। मेरा क्या परिचय हो सकता है, आर्य ? जो पाना नहीं चाहता, वह क्यों व्याकुल हो जाता है, यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आता। पर व्याकुलता मुझमें है। शान्ति क्या होती है, यह मुझे नहीं मालूम, आर्य ! पर मुझे ऐसा लगता अवश्य है कि सच्चा सुख अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर उपलब्ध माधुर्य

रस को लुटा देने में है। भटक मैं भी रहा हूँ, आर्य ! लुटा सकना इतना आसान नहीं है !"

देवरात चकित होकर सुनते रहे। युवक अपने मन की बात कह रहा है, पर कितने सुन्दर ढंग से। हाय देवरात, तुमने पाने की लालसा से कहाँ छुटकारा पाया ? युवक के अधरों पर मन्द-मन्द मुसकान थी, पर आँखें सजल थीं। शायद वह जो कह रहा था उसका ठीक-ठीक अर्थ देवरात की पकड़ में नहीं आ रहा था। पर वे और भी उत्सुकता के साथ बोले, "आयुष्मान्, तुम सच्चे कवि जान पड़ते हो, पर अपने-आपको छिपा भी रहे हो। मैं अधिक जान सकता तो कृतार्थ होता, पर जितने का अधिकारी हूँ उससे अधिक का लोभ नहीं करूँगा। मैंने तुम्हारे मुख से मनोहारिणी और प्राणतोषिणी कविता सुनी है। इतना पर्याप्त होना चाहिए कि तुम कवि हो। मुझमें अकारण उत्सुकता जाग उठी, क्योंकि मैं कवि को उसके सारे वातावरण में प्रतिष्ठित देखना चाहता था।" युवक अत्यन्त विनीत भाव से बोला, "आर्य, क्षमा करें। मैंने भी कई बार रम्य वस्तुओं को देखकर, मधुर शब्दों को सुनकर अकारण उत्सुकता अनुभव की है। जाने क्यों, हृदय मसोस उठता है, जैसे कोई पुराना सम्बन्ध हो, पर याद न आ रहा हो ! अच्छा आर्य, क्या यह नहीं हो सकता कि पूर्व जन्मों में कोई सम्बन्ध इन वस्तुओं से रहा हो, और अब याद नहीं आ रहा हो, केवल चित्त-भूमि पर एक हल्की-सी अस्पष्ट रेखा-भर रह गयी हो ?" देवरात को यह बात बहुत अद्भुत लगी। अनुभव तो उन्होंने भी किया है, पर ऐसी बात तो उनके मन में नहीं उठी। क्या इस अकारण स्नेहोद्रेक के उत्पादक युवक के साथ भी उनका जन्मान्तर का कोई सम्बन्ध है ? अवश्य होगा। कह रहा है, हिमालय की गोद में खेला है। इतना सम्बन्ध तो है ही। वे भी हिमालय की गोद में पले हैं। पर यह तरुण कवि कुछ अधिक बताना नहीं चाहता। मगर इतना ही बहुत है। देवरात का मन स्नेह-सिक्त था।

थोड़ी दूर साथ-साथ दोनों चलते रहे। एक स्थान पर वह रुक गया। बोला, "आर्य के सत्संग से बहुत आनन्दित हुआ। पर यहाँ मेरे एक मित्र आयेंगे। मुझे प्रतीक्षा करनी होगी। मैं तो यहाँ नया आया हूँ। आर्य को क्या कुछ देर यहाँ विश्राम करने में कोई बाधा है ? यदि बाधा न हो तो यहाँ आप भी थोड़ा विश्राम कर लें, मेरे मित्र बड़े विनोदी हैं। उनसे मिलकर आपको भी प्रसन्नता होगी।"

देवरात को अच्छा लग रहा था। उन्हें इस युवक कवि में शील, सौजन्य और प्रतिभा का मिलित रूप मिल रहा था। वे युवक के साथ ही एक टीले पर बैठ गये। युवक विनीत भाव से बोला, "आर्य देवरात, मेरा मन कहता है कि मैं किसी असामान्य महानुभाव को देख रहा हूँ। आप कह रहे हैं कि आप भटके हुए हैं, प्रकाश खोज रहे हैं, शान्ति पाना चाहते हैं; किन्तु अविनय क्षमा करें, मुझे ऐसा कहने की अनुमति दें कि आपकी यह भव्य आकृति, आजानुलम्बित बाहुएँ, प्रशस्त ललाट और घन-कुंचित केश-राशि आपको सामान्य मनुष्यों से अलग कर रही है। आर्य, आप कैसे भटक सकते हैं ? विधाता ने आपको प्रकाश देने के लिए इस धारित्री

पर भेजा है। मैं कुछ अलीक तो नहीं कह रहा हूँ, आर्य ?"

देवरात को लगा, जैसे कोई वेदना हृदय में चिपके हुए शल्य को उखाड़ने के लिए हिला रही हो। यह वेदना बड़ी ही दारुण सिद्ध हुई। पर वे आह भी नहीं भर सके। चन्द्रमौलि की ओर इस प्रकार ताकने लगे, जैसे कोई अपराध कर बैठे हों।

चन्द्रमौलि का मन उनकी उस मुद्रा से थोड़ा विचलित हुआ। हाथ जोड़कर बोला, "कुछ अनुचित कह गया होऊँ तो क्षमा करें, आर्य ! मैंने आपको दुखी बनाने का अपराध किया है !" देवरात ने स्नेह-सिक्त वाणी में कहा, "नहीं वत्स, तुम ठीक ही कह रहे होगे। मुझे भटकना नहीं चाहिए था, पर भटक गया हूँ; मोह-कातर नहीं होना चाहिए था, पर हो गया हूँ। कदाचित् मैं विधाता के दरबार में अपराधी सिद्ध हूँगा। कदाचित् वे मुझसे जो कराना चाहते थे, वह मैं नहीं कर सका। योगी नहीं बन सका, भोगी नहीं बन सका; कर्मी नहीं बन सका, त्यागी भी नहीं बन सका। प्रकाश देने योग्य 'स्नेह' नहीं था, जलने योग्य 'दशा' भी नहीं थी। प्रकाश कैसे दे सकूँगा वत्स, जलता हूँ तो नीरस काठ की तरह धधक उठता हूँ; केवल ताप दे पाता हूँ, आलोक नहीं दे पाता। विधाता ने कराना कुछ और चाहा होगा, अपनी क्षुद्रता के कारण कर कुछ और रहा हूँ। तुम बता सकते हो आयुष्मान्, कि जो स्नेह पाता रहा, वह अपने-आपको मिटाकर प्रकाश क्यों नहीं दे सका ? मगर तुम अभी बालक हो, अपनी मर्मव्यथा से तुम्हें दुखी नहीं करूँगा। मैं अपना प्रतिवाद आप हूँ, वत्स !"

चन्द्रमौलि को ऐसी आशा नहीं थी कि बात इस प्रकार व्यथावाली दिशा में मुड़ जायेगी। वह सोच नहीं सका कि क्या कहने से सहज स्थिति लौट आयेगी। थोड़ी देर वह गुम-सुम बैठा ताकता रहा। फिर बात को दूसरी ओर मोड़ने के उद्देश्य से बोला, "बड़ी दूर से नाना देशों का भ्रमण करता हुआ यहाँ पहुँचा हूँ। रास्ते में विचित्र मनुष्यों के दर्शन हुए हैं। अपूर्व सुन्दरियों का साक्षात्कार हुआ है। हर जगह मैंने अनुभव किया है कि विधाता ने जिस उद्देश्य से ऐसे मनोहर रूपों की सृष्टि की होगी, वह पूरा नहीं हो रहा है। कहीं कोई बाधा पड़ रही है। मनुष्य के बनाये हुए विधान विधाता के बनाये विधानों से टकराते हैं, उन्हें मोड़ते हैं, विरूप कर देते हैं। आपके साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ जान पड़ता है, आर्य ! विधाता अपनी सृष्टि-परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए प्रकृति को निर्देश दे चुके हैं—'उतना ही, जितने से काम चल जाये।' वह अनेक रूप, रंग, वर्ण, प्रभा के द्वारा उसी निर्देश का पालन करती जा रही है। मनुष्य के चित्त ने इस निर्देश का औचित्य अस्वीकार कर दिया है। वह कहता है, 'उतना, जितना मुझे अच्छा लगता है।' और इन दोनों का द्वन्द्व विषम परिस्थितियों की सृष्टि कर रहा है। सारे कष्टों और दुःखों के पीछे यही द्वन्द्व है। 'जितने से काम चल जाये' और 'जितना मुझे अच्छा लगता है' का संघर्ष ही दुःख है। पर मैं इसका न तो कोई समाधान ही ढूँढ़ पाता हूँ और न इस द्वन्द्व की आवश्यकता का ही रहस्य समझ पाता हूँ।"

देवरात चुपचाप ताकते रहे। उनके चित्त के अतल गह्वर से आवाज़ आयी—

'नया नहीं सुन रहा हूँ। यही शाश्वत वाणी बराबर सुनता रहा हूँ। पर इस बार वह बहुत स्पष्ट और वेधक होकर सुनायी दे रही है।'

चन्द्रमौलि ने देवरात की प्रतिक्रिया जानने के लिए थोड़ी देर मौन भाव से प्रतीक्षा करना उचित समझा, पर देवरात मौन ही रहे।

चन्द्रमौलि को आशंका हुई कि बात कहीं फिर अनुचित स्थान पर न टकरा जाये। वह और सतर्क भाव से बोला, "बाल-बुद्धि से विचार करता हूँ, इसलिए भूल-चूक तो होगी ही आर्य, पर कितने ही महानुभावों को देखकर इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि विधाता की इच्छा पर कहीं-न-कहीं आघात अवश्य पहुँच रहा है। अभी हम लोग जब उज्जयिनी की ओर आ रहे थे, तो एक ऐसे ही सुलक्षण महावीर युवक से हमारा परिचय हो गया। संयोग ही कुछ ऐसा था कि वे मिल गये। देखकर मुझे लगा कि किसी अत्यन्त भाग्यशाली का सान्निध्य पा रहा हूँ, पर दुखी वे भी लगते थे। दुखी भाग्यशाली अपने-आपको छिपाया करता है। वह इतना संवेदनशील होता है कि हमेशा डरता रहता है, उसके व्यक्तिगत दुख से किसी और को कोई कष्ट न पहुँचने पाये। मेरे ये नये मित्र गोपाल भी ऐसे ही थे। उन्होंने अपने को छिपाया। कहते थे, 'गोपाल ही मेरा नाम समझो, यही जाति समझो और यही विरुद मान लो।' मान लिया, पर मेरे दूसरे मित्र माढ़व्य शर्मा बड़े विनोदी हैं। खोद-खोदकर उन्होंने अन्त तक उन्हें पहचान ही लिया। वे गुप्त सम्राटों के प्रसिद्ध सेनापति गोपाल आर्यक थे। पत्नी-वियोग से म्लान थे और लोकापवाद-भय से कुण्ठित। मैंने थोड़ी सहानुभूति दिखायी तो रो पड़े। बड़ा महानुभाव व्यक्तित्व है उनका, पर सब होने पर भी बड़ी दुर्वह व्यथा ढोते फिर रहे हैं। नाम तो आपने भी सुना होगा, आर्य ?"

देवरात का हृदय धक्-धक् करने लगा। बोले, "गोपाल आर्यक ? नाम तो अवश्य सुना हुआ है बेटा, पर वे गुप्त सम्राटों के सेनापति हैं, यह तो मैं नहीं जानता। क्या ये वही गोपाल आर्यक हैं जो हलद्वीप के निवासी हैं ? तुमने उनको कैसे देखा, कहाँ देखा ?"

चन्द्रमौलि उत्फुल्ल हो गया। "कहाँ के निवासी हैं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर वे सम्राट् के सेनापति अवश्य थे। उनके अनुपम शौर्य की कहानी से सभी जनपद गूँज रहे हैं। पर वे हैं कि लोकापवाद-भय से छिपते फिर रहे हैं। मैं उनके विशाल कन्धों और प्रशस्त ललाट को देखकर ही समझ गया था कि वे कोई महावीर हैं, विधाता ने उन्हें अपार सामर्थ्य देकर दुखियों का दुख दूर करने के लिए इस धरती पर भेजा है। पर वे भी आपकी ही भाँति कह रहे थे कि वे भटक गये हैं। मेरे साथ उनकी बड़ी गाढ़ी मित्रता हो गयी थी।" देवरात उत्सुकता के साथ सुनते रहे। हो न हो, यह महावीर और कोई नहीं, उनका प्यारा शिष्य गोपाल आर्यक ही है। पर सेनापति कब हुआ ? यह कवि किसी और की बात तो नहीं कर रहा है ? मिलते-जुलते नाम तो होते ही हैं। और अधिक जानने के उद्देश्य से उन्होंने पूछा, "अच्छा कवि, तुमने गोपाल के व्यक्तिगत जीवन के बारे में और

कुछ सुना ?" चन्द्रमौलि ने सहज भाव से कहा, "हाँ आर्य, एक दिन मैंने उनके दुख की बात जानने का प्रयत्न किया। वे समुद्र के समान गम्भीर जान पड़े। अपना दुख छिपाये ही रहे। एक दिन बड़े कातर दिख रहे थे तो मुझे बड़ा कष्ट हुआ। मैंने कुछ रोष के साथ कहा कि मित्र गोपाल, तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते, अपने दुख का रंचमात्र भी आभास नहीं देते, मैं तुम्हारे कष्ट का सहभागी होने का सुयोग भी नहीं पा रहा हूँ। वे मेरी बात से विचलित हुए और एक क्षण की दुर्बलता में कह गये—'मित्र, सदा यही सोचता रहा हूँ कि लोग क्या कहेंगे; एक बार भी यह नहीं सोचा कि मृणालमंजरी क्या सोचेगी। यह विषम शल्य हृदय में जो धँसा सो निकला ही नहीं।' उनके इस कथन से मैं अनुमान कर सका कि कोई मृणालमंजरी उनकी प्रिया होगी। इससे अधिक उनके बारे में मैं कुछ भी नहीं जान पाया, पर उनके महाशौर्य के बारे में कोई भी बिना बताये ही सब-कुछ समझ सकता है। अन्तर्मदावस्थ गजराज को पहचानने में कोई कठिनाई होती है, आर्य?"

अब सन्देह का अवसर ही नहीं रहा। गोपाल आर्यक मृणालमंजरी की बात कह रहा था। परन्तु वे ठीक समझ नहीं सके कि गोपाल के हृदय में दुख किस बात का है ? कौन-सा लोकापवाद उसे मथित कर रहा है ? समुद्रगुप्त का सेना-पति कब बना ? वे उन्मथित-से ताकते रहे, फिर कातर-भाव से बोले, "तुम्हारे ये मित्र इस समय कहाँ हैं, आयुष्मान् ? मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।" चन्द्रमौलि ने कुछ उदास स्वर में कहा, "यही तो कठिनाई है कि वे अपने को छिपाते हैं, अपनी यश-कीर्त्ति को छिपाते हैं और दुख-ग्लानि को भी छिपाते हैं। हुआ यह कि मेरे विनोदी मित्र माढ़व्य शर्मा ने उन्हें पहचान लिया। उन्होंने कुछ विनोद के साथ ही कह दिया कि 'मित्र गोपाल, मुझे कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रबल पराक्रमी गोपाल आर्यक के नाम-श्रवण-मात्र से सम्पूर्ण उत्तरापथ काँप रहा है वह माढ़व्य से भी बड़ा मूर्ख है। माढ़व्य शर्मा लोकापवाद को पूँजी बनाकर अपना कारबार करता है और गोपाल आर्यक अपनी कीर्त्ति बेचकर लोकापवाद की पूजा करता है।' बस, इसी बात पर वे चुपके से खिसक गये। पता नहीं, कहाँ चले गये। बहुत सुकुमार हृदय उन्हें विधाता ने दिया है। ज़रा-सा विनोद भी उनको क्षत-विक्षत कर देता है। मेरे मित्र माढ़व्य शर्मा बहुत दुखी हुए थे। उनका उद्देश्य उनका दिल दुखाना नहीं था। वे उन्हें फिर से उनकी सहज अवस्था में ले आना चाहते थे, पर परिणाम बड़ा दुखद हुआ। माढ़व्य शर्मा का विश्वास है कि वे कहीं उज्जयिनी में ही होंगे। बेचारे कल से ही खोज रहे हैं। आते ही होंगे।"

चन्द्रमौलि उच्छ्वसित भाव से अपने मित्र गोपाल आर्यक के विषय में बोलता गया। उसे देवरात के चेहरे पर खेलनेवाले भावों को देखने की सुधि ही नहीं रही। बोला, "हम लोग बहुत डरे हुए थे, आर्य। एक भागते हुए बलिष्ठ पुरुष ने हमें छिप जाने को कहते हुए बताया था कि कुछ हीन-चरित्र के दुर्वृत्त उसे मारने के लिए पीछा कर रहे हैं। गोपाल आर्यक-जैसे महावीर को इससे क्या भय होता? वे उन दुर्वृत्तों को दण्ड देने के लिए उतावले हो गये। माढ़व्य पण्डित ने उन्हें ऊँच-

नीच समझाकर रोक लेना चाहा, पर उन महावीर का निश्चय नहीं बदला। जब वे चल ही पड़े तो अगत्या हम भी साथ हो लिये। सच कहता हूँ आर्य, उनके साथ चलने से भय एकदम दूर हो गया, सूर्य के साथ चलनेवाले के पास कहीं अन्धकार फटक सकता है ? 'हम लोग निर्विघ्न यहाँ पहुँच गये। गोपाल दुर्वृत्तों को खोजते रहे, कहीं पा नहीं सके।''

देवरात कुछ बोले नहीं, दीर्घ निःश्वास लेकर रह गये।

चन्द्रमौलि समझ नहीं सका कि देवरात के हृदय में कौन-सा तूफान चल रहा है। थोड़ी देर दोनों ही चुपचाप दिगन्त की ओर देखते रहे। चन्द्रमौलि ने ही मौन भंग किया। बोला, "आर्य, अन्यथा न समझें तो एक बात पूछूं ?" देवरात ने चुपचाप इंगित से बताया कि पूछ सकते हो। चन्द्रमौलि ने कहा, "आप शास्त्र-मर्मज्ञ हैं, साधु-संग किया है, धर्माचरण से मन और वाणी को पवित्र बनाया है, इसीलिए आपसे पूछ रहा हूँ। यह क्या सत्य है जो पुराण-ऋषियों ने बताया है कि मनुष्य अपने पूर्वजन्म के पापों का ही फल भोग रहा है ?" देवरात ने सहज भाव से कहा, "ऐसी ही लोगों की धारणा है।" फिर ज़रा सजग होकर चन्द्रमौलि बोले, "मैंने अनुभव से जो कुछ जाना है उसे निवेदन करना चाहता हूँ। मेरे मन में आशंका है कि मैं या तो पुराण-ऋषियों की विरुद्ध दिशा में चला गया हूँ या लोगों की ऐसी धारणा ही भ्रान्त है।" देवरात ने कुतूहल के साथ पूछा, "तुम्हारा अनुभव क्या कहता है बेटा ?" चन्द्रमौलि को थोड़ा संकोच हुआ। फिर कुछ रुक-रुककर कहने लगा, "दो तरह की रचनाएँ होती हैं। एक प्रकार की रचनाएँ विधाता का सृष्टि हैं, दूसरी तरह की रचनाएँ मनुष्य की सृष्टि हैं। स्वयं मनुष्य पहली श्रेणी में आता है। मनुष्य और प्राकृतिक वस्तुओं, जीव-जन्तुओं, लता-पादपों की रचना एक ही कर्त्ता के द्वारा हुई है। इसीलिए हम इन प्राकृतिक वस्तुओं की निर्माण-विधि की आलोचना नहीं करते। वह जैसी बनी हैं, वैसी बनेंगी ही। हम उनसे सुख पा सकते हैं, दुख पा सकते हैं—पर वे हैं; हम यह कहने के अधिकारी नहीं हैं कि वे क्यों वैसी बनी हैं। हम स्वयं भी उसी की सृष्टि हैं पर जो व्यवस्था मनुष्य ने बनायी है उसकी बात और है। उसमें दोष हो तो उसे बदला जा सकता है।" देवरात ने कुछ सोचकर कहा, "ज़रा समझाकर कहो, बेटा !" चन्द्रमौलि बोला, "मुझे ऐसा लगता है आर्य, कि मेरे मित्र गोपाल की व्यथा मनुष्य की बनायी सामाजिक व्यवस्था की देन है। इस व्यवस्था की आलोचना करने और बदलने का अधिकार मनुष्य को मिलना चाहिए। विधाता ने उन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करने को इस धरित्री पर भेजा है, परन्तु मनुष्य की बनायी सामाजिक व्यवस्था ने विधि-व्यवस्था में हस्तक्षेप किया है। क्षमा करें आर्य, आप जो अपने को भटका हुआ अनुभव कर रहे हैं, वह भी किसी-न-किसी रूप में विधि-विधान में मानवीय समाज-व्यवस्था का ही हस्तक्षेप होना चाहिए। मेरी बातों में दोष हो तो उसे क्षमा कर दें, यह बाल-बुद्धि का ही अनुभव है।"

देवरात आश्चर्य से चकित होकर सुनते रहे। उनके संस्कार इस तरह के

विचार के विरुद्ध जा रहे थे, पर उनका अन्तर्मन इस कथन का मर्म समझने को व्याकुल हो उठा। बोले, "तुम्हारी बात मान लूँ तो उस मूल भित्ति के भहरा जाने की आशंका है जिसे आज तक समस्त सामाजिक व्यवस्था को सामंजस्य देने का आधार समझता रहा हूँ। तुम्हारे कथन का अर्थ तो यह होता है कि शास्त्रों में जो समाज-सन्तुलन की व्यवस्था है वह मनुष्य की बनायी है, विधाता के इंगित पर नहीं बनी है। सारा अपौरुषेय समझा जानेवाला ज्ञान, विधि-विधान का अंग नहीं है। मनुष्य के बनाये घर-द्वार और ईंट-पत्थर के समान वह भी आलोच्य और परिवर्तितव्य है। ठीक कह रहा हूँ, आयुष्मान् ?"

चन्द्रमौलि ने सहज भाव से सिर हिलाया। देवरात सोच में पड़ गये—'यह तरुण कवि साहसी जान पड़ता है। इतनी बड़ी बात इतने सहज ढंग से कह गया! उनके मन में अपनी जीवन-गाथा आलोच्य बनकर उपस्थित हो गयी। वे सोचने लगे कि क्या सचमुच ही मनुष्य-रचित व्यवस्था का हस्तक्षेप उनके जीवन को बार-बार मोड़कर कुछ-का-कुछ बनाने में उत्तरदायी नहीं है? शायद है! मगर यह धर्म-कर्म, संयम-नियम क्या व्यर्थ के ढकोसले हैं? क्या विधाता की बनायी सृष्टि से ये भिन्न हैं? क्या गोपाल आर्यक किसी कृत्रिम सामाजिक विधान से आहत हुआ है? क्या, कैसे?' कुछ देर मौन रहकर चन्द्रमौलि की ओर शून्य दृष्टि से ताककर उन्होंने निःश्वास लिया—"हुँ!" चन्द्रमौलि ने अनुनय के साथ कहा, "बुरा मान गये आर्य? मैं अपौरुषेय माने जानेवाले वाक्यों की अवमानना करने के उद्देश्य से ऐसा नहीं कह रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि वाक्य-मात्र सीमा में बँधे हैं; उनका आदि भी होता है और अन्त भी होता है। पर सीमा को मैं मामूली गौरव नहीं देता। सीमा मनुष्य को विधाता का दिया हुआ अनुपम साधन है। मैं अगर एक फूल बनाऊँ, चाहे वह चित्र हो, लकड़ी का बना हो, पत्थर का हो, सीमा के चौखटे में बँधा हुआ होगा। पर उसकी शोभा इसीलिए दीर्घजीवी हो जायेगी। विधाता के बनाये फूल क्षण-क्षण परिवर्तित होंगे, मुरझायेंगे, झड़ेंगे, फिर नये फल बनने में निमित्त बनेंगे, पर मेरा बनाया फूल अपेक्षाकृत स्थायी होगा। होगा न आर्य? यह सीमा की महिमा है। अपौरुषेयत्व अधिक-से-अधिक एक उत्तम कल्पना है। मनुष्य उससे सीमा के भीतर असीम का इंगित पाता है।" देवरात ठक् रह गये। हाय, विधाता की बनायी शर्मिष्ठा तो कब की समाप्त हो गयी, पर उन्होंने अपने हृदय में जो कमनीय मूर्त्ति गढ़ी है, वह तो अब भी ज्यों-की-त्यों है। देवरात ने सीमा के इस माहात्म्य क अभी तक नहीं समझा था। युवा कवि बरबस उन्हें समझने को प्रेरित कर रहा है। सीमा की भी अपनी महिमा है।

इसी समय माढ़व्य शर्मा हाँफते-हाँफते उपस्थित हुए। उन्होंने चन्द्रमौलि का अन्तिम वाक्य सुन लिया था। एकदम आकर धप्प-से बैठ गये, उनका कनटोप छिटक गया और मोटी चुटिया अस्तव्यस्त-सी उनके सारे मुण्ड पर बिखर गयी। हाँफते-हाँफते ही बोले, "सीमा टूट रही है मित्र, भटार्क ने मथुरा जीत ली है। उज्जयिनी-नरेश पालक घबरा गया है। मगर धन्य है भटार्क, राज्य-पर-राज्य

जीतता आ रहा है, पर गोपाल आर्यक के नाम से ही लड़ता आ रहा है। सुना गया है कि उसने मगध के सम्राट् को कड़ा पत्र लिखा है। कहता है, सेनापति तो हमारे गोपाल आर्यक ही हैं। सम्राट् ने पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम करके गोपाल आर्यक को अनुचित पत्र लिखा है। सुना है, सम्राट् भी पछता रहा है। उज्जयिनी में तो भीषण आतंक छा गया है। प्रजा पहले से ही असन्तुष्ट है। राजा पालक के साथियों ने सबको चिढ़ा दिया है। सीमा टूट रही है। इस समय यह भाग्यहीन गोपाल न जाने कहाँ जा छिपा है। मैं कहता हूँ, सखे, पालक जायेंगे, गोपाल आर्यक का राज्य होगा। कहीं मिल गया तो प्रजा उसे कन्धे पर उठा लेगी। माढ़व्य शर्मा मन्त्री बनेगा मित्र, तुम बनोगे राजकवि! सुना? हाँ!"

माढ़व्य उल्लास से उत्क्षिप्त थे। उन्होंने देखा ही नहीं कि चन्द्रमौलि के पास कोई और भी बैठा है। चन्द्रमौलि ने हँसते हुए कहा, "दादा, आर्य देवरात को देखिये। महान् शास्त्रज्ञ और तपोनिष्ठ महात्मा हैं।" दादा उल्लास से आत्म-विस्मृत-से हो गये थे। अब सामने ज्वलन्त अग्नि-शिखा के समान तपस्वी की ओर देखकर विनीत भाव से बोले, "अपराध हो गया आर्य, इस भोलेराम से आपकी मित्रता कब हो गयी? इसकी कविता सुन रहे थे क्या? अच्छे-भले को पागल बना देता है। अपने दादा को तो बिल्कुल वश में कर लिया है। सर्वत्र सुन्दर ही देखता है। मेरा प्रणाम स्वीकार करें आर्य, मैं भूल गया था। कहाँ के रहनेवाले हैं?"

देवरात हँसने लगे। उन्हें भी माढ़व्य शर्मा को दादा कहने की इच्छा हुई। "तीर्थों में घूमता फिर रहा हूँ दादा, आपके ये तरुण मित्र सचमुच मोहते हैं। मुझे इनकी बातों से बड़ी प्रेरणा मिल रही है।"

माढ़व्य ने मुँह बिचकाया। "प्रेरणा? इसी से तो मैं घबराता हूँ आर्य, इसने न जाने गोपाल आर्यक को क्या प्रेरणा दी कि वह चुपचाप खिसक गया। मैं क्या जानूँ कि वह प्रेरणा के चक्कर में है। उस दिन उसने मुझसे इतना ही कहा था कि 'दादा, मेरा मोह टूट गया है, मैं असाध्य-साधन करने जा रहा हूँ।' चला गया। भाग्यहीन, यहीं कहीं छिपा होगा। मिलेगा तो उसे बता दूँगा कि सबसे बड़ा असाध्य-साधन यही है कि माढ़व्य को मन्त्री बना लो। लोग ठीक बात ठीक ढंग से समझते ही नहीं। सत्य कहता हूँ आर्य, जब समझने लगेंगे तो माढ़व्य-जैसे सभी मूर्ख मन्त्री हो जायेंगे। इससे बड़ा असाध्य-साधन और क्या हो सकता है भला!"

देवरात हँसने लगे। माढ़व्य शर्मा ने बनावटी रोष दिखाते हुए कहा, "आप तो हँस रहे हैं, पर कवि मौन है। जानते हैं, क्यों? कविजी मुझे समझा चुके हैं। कहेंगे, मूर्ख विधाता की सृष्टि हैं, उनकी न आलोचना की जा सकती है, न उनमें परिवर्त्तन की बात सोची जा सकती है; पर मन्त्री मनुष्य की बनायी समाज-व्यवस्था की सृष्टि है, उसमें विधाता के बनाये मूर्ख की नियुक्ति ही विधि-विधान में हस्तक्षेप होगा! है न यही बात, मेरे प्यारे मित्र! ले भाई, गुस्सा न कर, तेरा दादा मन्त्री नहीं बनेगा। गोपाल आर्यक आकर गिड़गिड़ाकर कहेगा—दादा, मेरे मन्त्री बन जाइये! और मैं कहूँगा—कदापि नहीं, तुम मुझसे विधि-विधान में हस्तक्षेप करने

का पाप कराना चाहते हो ? जाओ, अपना रास्ता नापो ! ले भई, अब तो खुश हो जा।" अब चन्द्रमौलि भी हँस पड़ा। बोला, "दादा, तुम कभी मन्त्री मत बनना। तुम जैसे हो, वैसे ही बने रहो। मगर गोपाल आर्यक के बारे में तुमने कुछ बताया ही नहीं।" माढ़व्य शर्मा ने आर्य देवरात की ओर देखकर कहा, "देखा न आर्य, मेरा मन्त्री होना अब खटाई में पड़ गया। अभी गोपाल का ही क्या ठिकाना है। इतना ही पता लगा है कि नगर के पूर्वी छोर पर कोई एक जीर्ण उद्यान है, वहाँ कोई मनुष्य दिखायी दिया है जो उससे मिलती-जुलती आकृति का है। सुना है, राजा पालक के आदमी उसकी तलाश में हैं। कानाफूसी चल रही है कि उसे बन्दी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, लेकिन पता नहीं, क्या ठीक है और क्या नहीं।"

देवरात ने सुना तो एकदम विचलित हो उठे। वे उठ पड़े और हाथ जोड़कर बोले, "मित्रो, विदा लेता हूँ। आप लोगों की कृपापूर्ण मैत्री कभी भूलेगी नहीं। फिर कभी मिलना होगा कि नहीं, कौन जाने।"

चन्द्रमौलि ने विस्मय के साथ उन्हें देखा, "कहाँ जायेंगे आर्य, मैं भी तो आपकी ही भाँति यात्री हूँ। साथ हो लूँ ?"

देवरात बोले, "अभी तो अकेला ही जाऊँगा, आयुष्मान् ! कल अगर आप दोनों कहीं मिल सकें तो एक बार और सत्संग का लाभ उठा लूँगा।"

कल उसी स्थान पर मिलने का निश्चय करके देवरात चल पड़े। उनके मन में दुश्चिन्ता थी।

चौदह

देवरात गोपाल आर्यक को खोजने निकल पड़े। उन्हें यह जानकर बड़ी चिन्ता हुई कि उज्जयिनी का राजा पालक उसे बन्दी बनाना चाहता है। पिछले कई वर्षों से वे तीर्थों और अरण्यों में भटक रहे हैं। उन्हें बिलकुल पता नहीं कि बीच में इतिहास ने कैसा पलटा खाया है। माढ़व्य शर्मा की बात से उन्हें ऐसा आभास मिला कि समुद्रगुप्त का विजय-अभियान पूरे वेग से चल पड़ा है। किसी प्रकार गोपाल आर्यक सम्राट् का विजेता सेनापति बन गया है। कदाचित् वह मृणालमंजरी को छोड़ आया है और किसी लोकापवाद से भीत होकर समुद्रगुप्त की सेना का नेतृत्व छोड़कर भाग खड़ा हुआ है। उन्होंने अनुमान से यह भी समझा कि कोई दूसरा सेनापति भटार्क इस समय उस विजयिनी सेना का नेतृत्व कर रहा है और गोपाल आर्यक का अत्यन्त विश्वसनीय अनुगत होने के कारण अब भी उसी के नेतृत्व को

स्वीकार करता है। देवरात को कुछ बातें तो बिल्कुल विश्वसनीय लगीं। गोपाल आर्यक निस्सन्देह महावीर है और उसका शील भी ऐसा ही है कि जो भी उसके सम्पर्क में आयेगा, वह उसके आचरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। सम्राट् समुद्रगुप्त से यदि उसका कभी सम्पर्क हुआ हो तो निश्चय ही वह उससे प्रभावित हुआ होगा। और एक बार अवसर मिलने पर गोपाल निस्सन्देह अपने शौर्य और पराक्रम से उसे आसमुद्र-धरित्री का विजेता बना देगा। गोपाल में महाशूर होने के लक्षण निश्चित रूप से विद्यमान हैं। पर लोकापवाद क्या है, यह वे नहीं समझ सके। मृणालमंजरी पर क्या बीत रही होगी, यह सोचकर वे बहुत ही विचलित हुए। पता नहीं, वह इस समय किस अवस्था में होगी। वे गोपाल आर्यक को खोजेंगे। मिला तो उसके हृदय की व्यथा दूर करेंगे। नहीं मिला तो एक बार फिर हलद्वीप को लौट जायेंगे। परन्तु उज्जयिनी उनका कोई परिचित स्थान तो है नहीं। गोपाल आर्यक को कहाँ खोजें, किससे पूछें, क्या पूछें ? राजा यदि विरुद्ध है तो खुलकर किसी से पूछना ठीक नहीं जान पड़ता। माढ़व्य शर्मा कह रहे थे कि नगर के पूर्वी छोर पर कोई जीर्ण उद्यान है, वहाँ किसी ने उसके समान किसी पुरुष को देखा है। वे नगर के पूर्वी किनारे की ओर ही बढ़ते गये।

वे आगे बढ़ते जा रहे थे, पर उनके मन में विचारों का तूफ़ान उठ रहा था—'कवि ने ठीक ही कहा है कि सीमा की अपनी महिमा है। यह सीमा ही है कि शर्मिष्ठा उनके मानस में ज्यों-की-त्यों विराजमान है, नवविकसित प्रफुल्ल स्वर्ण-कमल के समान वे उसे देख रहे हैं, पा रहे हैं, सदा पाते रहेंगे। दुनिया बदल रही है, देवरात बदल रहे हैं पर शर्मिष्ठा स्थिर है, शाश्वत है, मोहन है। मंजुला ने कहा था, मैं बासी को ताज़ा कर सकती हूँ। देवरात ने भी मान लिया था कि बासी ताज़ा हो रहा है। शायद यह उनके मन का विकार था। कवि ने आज बता दिया है कि मनुष्य द्वारा सीमा में रचित रचना बासी होती ही नहीं। देवरात को कुछ नया मिल रहा है। कवि ने उन्हें झकझोर दिया है। हाय प्रिये, देवरात मोह-ग्रस्त हो गया था। तुम्हें बासी समझना आत्म-वंचना थी, विशुद्ध आत्म-वंचना ! तुम नित्य-प्रफुल्ल, नित्य-मनोहर, नित्य-नवीन होकर सदा इस मानस-मन में विद्यमान हो। तुम मेरे अन्तर्यामी की सृष्टि हो, शुद्ध चैतन्य के उपकरणों से बनी हो, कहीं भी उसमें जड़ तत्त्वों का स्पर्श नहीं है—विशुद्ध चैतन्यमूर्त्ति ! मैं व्यर्थ ही भटक गया था। सीमा में बँधी देवि, तुम चिर सत्य हो ! ...'

यह कवि कह रहा है कि अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर उपलब्ध रस को लुटा देना ही सुख है। कैसे मिलेगा यह सुख ? दीर्घकाल से ऐसा ही मानता आया हूँ, पर सुख कहाँ मिला ? इस प्रकार की चिन्ताओं में उलझे हुए वे आगे बढ़ते जा रहे थे। रास्ते पर कुछ लोग बात करते जा रहे थे। बातचीत के दो-चार शब्द उनके कानों में पड़े। बातचीत गोपाल आर्यक के बारे में थी। वे ध्यान से सुनने लगे, पर थोड़ा दूर रहकर ही। एक दुबला-सा नौजवान कुछ उत्तेजित स्वर में कह रहा था, "देख लेना, ऐसा अत्याचार भगवान् भी नहीं सह

सकेंगे। सबकी मर्यादा होती है। किसी के घर में घुसकर बहू-बेटियों पर कुदृष्टि डालने का परिणाम भयंकर होगा। राजा का साला है तो क्या जो चाहे सो कर सकता है? इसी पाप से इस राजा का सत्यानाश हो जायेगा।" दूसरा व्यक्ति धीरे-धीरे बोलने को कह रहा था, "जानते नहीं, राजा के चर चारों ओर घूम रहे रहे हैं। किसी ने जाकर कुछ कह दिया तो चमड़ी उधेड़ ली जायेगी।" एक ठिगने-से ब्राह्मण देवता कह रहे थे, "सत्यानाश हो जायेगा। रावण और कंस नहीं टिके तो यह म्लेच्छ राजा कै दिन टिकेगा! गोपाल आर्यक की सेना बढ़ती आ रही है।" पहले व्यक्ति ने ज़रा आश्वस्त मुद्रा में पूछा, "यह ग्वालारिक कौन है महाराज?" ठिगने ब्राह्मण ने डाँटा, "तू मूर्ख ही रह गया रे भीमा, गोपाल आर्यक भी नहीं बोल सकता?" उसने विनीत भाव से कहा, "हम लोग तुम्हारे समान सासतर थोड़े ही पढ़े हैं पण्डितजी, ठीक-ठीक बोल पाते तो हम भी तुम्हारी तरह पुजवाते न फिरते? तुमने जो नाम बताया वह क्या कहा—गोवाल आरिक, बड़ा कठिन नाम है। ग्वालारिक-जैसा ही तो सुनायी पड़ता है देवता!" एक और व्यक्ति ने बीच में पड़कर कहा, "इस बेचारे को क्यों डाँटते हो देवता, वह तो बहुत दूर तक ठीक-ठीक ही उच्चारण कर रहा है, उधर मथुरा में तो लोगों ने और भी संक्षेप कर लिया है। वे अपने गीतों में ग्वालारिक भी नहीं कहते। कह देते हैं—'ल्वारिक' या 'लोरिक'। सुना नहीं वह प्राकृत दोधक, जिसमें गोपाल आर्यक को महावराह की भाँति धरती का उद्धार करनेवाला कहा गया है? अब तो विदिशा के गाँवों में भी ल्वारिक को अवतार कहकर उसकी कीर्त्ति-कथा गायी जाने लगी है। जो पूछ रहा है वह बताओ। हम लोग सुनने को व्याकुल हैं।"

ठिगने ब्राह्मण देवता को अच्छा नहीं लगा कि महावीर गोपाल आर्यक का नाम बिगाड़कर ल्वारिक कर दिया जाये, पर गँवार लोगों की मूर्खता से खिन्न होकर बोले, "मूर्खो, नाम बिगाड़कर जो भी बना दो, उससे उस महावीर का क्या बिगड़ता है जिसने म्लेच्छ-भार से अकुलायी धरती का उद्धार किया है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को 'कान्हा' या 'कन्हैया' कह देते हो तो उनकी महिमा कुछ कम थोड़े ही हो जाती है। पर वह दोधक क्या है भाई रेभिल, सुना दो न!" रेभिल ने गुनगुनाना शुरू किया। वह कानों के पास हाथ ले जाकर आलाप करने जा ही रहा था कि भीमा ने उसका हाथ झटक दिया। बोला, "धीरे-धीरे सुनाओ, चिल्लाकर गाने से तो सभी पकड़े जायेंगे।" रेभिल ने कहा, "यह भी ठीक ही कह रहे हो। धीरे-धीरे ही सुना रहा हूँ!" फिर उसने धीरे-धीरे सुनाया :

"बुड्डमाण धरई विअल, को उद्धरिहइ णाहु।
दन्तरूव करवालहरु ल्वारिकु विअडु वराहु॥
जाव ण ल्वारिक करि पड़इ सीह चवेडु चडक्कु।
ताव सु णरवइ मयगयहँ पइ पइ बज्जइ ढक्कु॥"
[बूड़ि रही धरती विकल, को उद्धारिहि नाह।
दन्त रूप करवाल धर, लोरिक विकट वराह॥

जु पै न लोरिक कर पड़इ, सिह चपेट चटाक।
तौ लौं नृप मदमत्त गज, पग-पग बाजत ढाक ॥]

ब्राह्मण देवता उत्फुल्ल हो उठे—"वाह, गँवई-गाँव के लोग भी अद्भुत काव्य लिख देते हैं! गोपाल आर्यक वस्तुतः महावराह के अवतार हैं। उन्होंने धरित्री को एक दाँत पर उठा लिया था और गोपाल आर्यक ने तलवार की नोक पर उठा लिया है। मैं कहता हूँ, जिस दिन उनकी तलवार उज्जयिनी में चमकेगी, उस दिन म्लेच्छ राजा बिना युद्ध किये ही भाग जायेगा। पापी ने अपने साले शकार को नगर में इस प्रकार छोड़ रखा है, जैसे व्याध अपने कुत्ते को ललकार देता है। चारुदत्त जैसे साधु सेठ को छेड़ने से तो अब उसके पाप का घड़ा पूरा ही भर गया है।" रेभिल ने कहा, "क्या कहना है आर्य चारुदत्त का! ऐसा रूप, ऐसा शील, ऐसा विनय, ऐसा औदार्य—संसार में दुर्लभ है! सुना है आर्य, कि नगर की श्री आर्या वसन्तसेना उनके गुणों पर मुग्ध है। गणिका होने से क्या हुआ, उसके समान पतिव्रता मिलना भी दुर्लभ ही है। लोग कहते हैं, यह दुष्ट शकार उसके पीछे पड़ा है। उसने ऐसा दुत्कारा है कि बच्चू भाग खड़े हुए। निर्लज्ज पामर है। सुना जाता है कि वसन्तसेना को मरवा देना चाहता है। और यह नपुंसक राजा सब-कुछ जानकर भी चुप है।" भीमा अवसर पाकर बोल उठा, "महाराज, दो ही तो इस नगरी के तिलक के समान पूजनीय हैं—धर्मनिधि आर्य चारुदत्त और शोभा की रानी आर्या वसन्तसेना। कल ही किसी को गाते सुना था:

दोज्जेव पूअणीआ इह णअरीए तिलअ भूदा अ।
अज्जा वसन्तसेणा धम्मणिही चारुदत्तो अ॥"

[पूजनीय दुइ ही यहाँ, नगरी-तिलक ललाम।
वह वसन्तसेना सती, चारुदत्त गुनधाम॥]

ठिगने ब्राह्मण ने उचककर कहा, "मरवा देगा? क्या धर्म रसातल को चला जायेगा, कला का गला घोंट दिया जायेगा, शील का नाश हो जायेगा! हे भगवान्, यह पापलीला कब तक चलती रहेगी!" रेभिल बोला, "अब अधिक नहीं चलेगी देवता! बड़ा हल्ला है कि गोपाल आर्यक छिपकर आ गया है। राजा उसे पकड़ने की सोच रहा है। दो-एक दिनों में देखोगे, कुछ होके रहेगा।"

ठिगने पण्डितजी बोले, "अनर्थ न हो जाये रेभिल, वसन्तसेना कलानिधि है। मैंने उसका नृत्य महाकाल के मन्दिर में देखा है। उसके एक-एक पद-निक्षेप में शोभा बरसती है। विधाता ने उसे अद्भुत कण्ठ दिया है। आलाप लेती है तो वायुमण्डल काँप उठता है, अन्तरतर से निकले हुए शब्दों से पत्थर पिघल जाते हैं, भक्ति तो मानो उसका रूप ही है। हाय, यह पापी उसे मरवा देगा?" रेभिल ने कहा, "कह तो रहा हूँ देवता, कि गोपाल आर्यक आ गया है, यहाँ के पाप के अन्धकार को कोई चीर सकता है तो गोपाल आर्यक की तलवार ही। घबराओ नहीं, महाकाल के दरबार में देर होती है, अन्धेर नहीं!"

ब्राह्मण देवता अनमने बने रहे। उन्होंने रेभिल की बात जैसे सुनी ही नहीं।

कुछ भाव-गद्गद अवस्था में बोल उठे, "रेभिल, गान-वाद्य की रुचि तो तुम्हें प्राप्त है, पर तुमने शायद वसन्तसेना के भक्ति-भरे नृत्य को नहीं देखा। वह भावानुप्रवेश की अधिष्ठात्री देवी है। आज से कई वर्ष पहले की बात है। उस समय वह सुकुमार बालिका ही थी, उसने 'कलादिगुरु' नृत्य किया था। कलादिगुरु नृत्य! समझे?" रेभिल कुछ असमंजस के साथ बोला, "नहीं देवता, यह नृत्य क्या होता है? मैं नहीं जानता।" ब्राह्मण देवता ने कहा, "कैसे जानोगे? म्लेच्छ राजा के राज्य से तो यह सब उठ ही गया है। कलादिगुरु नृत्य कभी मथुरा की विशेषता माना जाता था। भगवान् श्रीकृष्ण ने कालिय नाग के सहस्र फणों पर विकट नृत्य किया था। उसकी विशेषता यह थी कि नाचनेवाला बालक जानता ही नहीं था कि वह भयंकर मृत्यु के फूत्कारों से घिरा हुआ है; वह खेल रहा था, सहज भाव से। और मृत्यु का भीषण विग्रह कालिय नाग अपने विकराल फण-मण्डल के साथ चूर-चूर होता जा रहा था। वह पूर्ण रूप से जीवन के उगते अंकुर को विदारण करने पर तुला हुआ था और जीवन था कि किलकारी मारकर थिरक रहा था। वसन्तसेना ने भगवान् कृष्ण बनकर उस विकट-मनोहर नृत्य को उजागर किया था। मैं तो अपने गुरुजी के साथ देखने चला गया था। आहा, बड़े दुर्लभ योग से ऐसा नृत्य देखने का अवसर मिलता है! वसन्तसेना तो कृष्णमय हो गयी थी। उसका भावानुप्रवेश बस देखने ही योग्य था। मेरे गुरुजी तो ऐसे अभिभूत हुए मानो उन्हें साक्षात् भगवान् के ही दर्शन हो रहे थे। वह एक-एक थिरकन, एक-एक चारी, एक-एक किलकार, एक-एक पदाघात अपूर्व था। गुरुजी भाव-विह्वल होकर गा उठे थे:

"'एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसम्
आनम्य तत् पृथुशिरः स्वधिरूढ आद्यः।।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त।' "

रेभिल ने कहा, "ज़रा गुरुजीवाले श्लोक का मतलब भी समझा दो देवता।"

"अब मतलब तुम्हें क्या समझाऊँ? चपल बालिका वसन्तसेना ने जब यह श्लोक सुना, तो एक बार फिर थिरक उठी। पसीने से तर थी, पर गुरुजी के भाव-विह्वल स्वर से ऐसी प्रभावित हुई कि फिर उठ पड़ी। मतलब तो उसी ने समझा दिया। गुरुजी ने जो श्लोक पढ़ा था, वह महर्षि द्वैपायन व्यास की रचना थी। उसका अर्थ समझना क्या कोई हँसी-खेल है! पर धन्य है वसन्तसेना! उसने एक-एक भाव को पकड़कर नाचना शुरू किया और छन्द और ताल की भाषा में उसे साकार कर दिया। लोकभाषा में ताल दे-देकर वह गाती जाती थी। आशुकवित्व का वह वैभव बस देखने की ही बात थी। उसने गाया था:

'तत्तत्थेई थेई नाचत शिशु हरि
निखिल कलादिगुरु
तत्थत्थिरकत चण्ड नागसिर,
चारु चारिका

भ्रमत निरन्तर।
धद्धद्धसकत उन्नत फण शत-
ओज तेज-हत
नमत भुजंगम,
झज्झज्झरत विषाक्त दर्प-मद
दद्दद्मकत मूर्धरत्न शत-
किरण समुज्ज्वल
चरणाम्बुज द्रुत।
धद्धद्धरकत नाग-वधू-उर
किलकत पुलकत
विहँसत सुमधुर
ठट्ठट्ठमकत एक-एक सिर,
नाचत छम-छम
फेरि फेरि फिरि
तत्तत्थेइ थेइ, तत्तत्थेइ थेइ
निखिल कलादिगुरु!' "

सबने एक स्वर से कहा, "धन्य है, धन्य है!"

सुनकर देवरात के हृदय में प्रकाश की रेखा कौंध गयी। कलादिगुरु—जीवन के आदिदेवता समस्त विध्वंसक जड़ शक्ति को अभिभूत करके नाच रहे हैं! आहा!

"जानते हो रेभिल, वसन्तसेना इस नगर की लक्ष्मी है। सत्यानाश हो जायेगा, यदि किसी ने उस पर उँगली उठायी।" इसी समय भीमा ने पीछे की ओर धीरे-धीरे चलते देवरात को देख लिया। कुछ फिसफिसाकर बोला और एक ओर खिसक गया। रेभिल भी डरा और पण्डित को अकेला छोड़कर दूसरी ओर खिसक गया। ठिगने ब्राह्मण अकेले रह गये। जब तक भागे, तब तक देवरात निकट आ गये। ब्राह्मण देवता सकपकाकर उनकी ओर देखने लगे और अन्दाज़ा लगाने लगे कि इस भलेमानस ने कुछ सुन तो नहीं लिया है। देवरात ने ऐसा चेहरा बना लिया कि जैसे कुछ सुना ही न हो। विनीत भाव से पास आकर बोले, "आर्य, परदेशी तीर्थयात्री हूँ। अनुमति हो तो कुछ पूछना चाहता हूँ।" ब्राह्मण देवता डर गये थे। देवरात को घूरने लगे।

देवरात समझ गये कि ब्राह्मण देवता को उन पर सन्देह हो रहा है। अत्यन्त विनीत-भाव से बोले, "कुछ अनुचित हो गया हो तो क्षमा करें आर्य, परदेशी हूँ, इसलिए टोकने का साहस किया। मैं किसी और से पूछ लूँगा। कुछ अन्यथा न मानें।" अब ब्राह्मण देवता कुछ पसीजे। बोले, "भद्र, इन दिनों उज्जयिनी में तीर्थयात्री कम आते हैं, गुप्तचर अधिक। पूछिए, आपको क्या पूछना है। जो जानता हूँ, उसे छिपाऊँगा नहीं।" ब्राह्मण के स्वर में अब भी सन्देह विद्यमान था। देवरात ने कुछ न पूछना ही उचित समझा। बोले, "आप ठीक कह रहे हैं आर्य,

परदेशी पर सन्देह तो होता ही है। अच्छा, प्रणाम स्वीकार करें।" अब ब्राह्मण कुछ आश्वस्त जान पड़े। बोले, "नहीं भद्र, हर परदेशी पर सन्देह करना उचित नहीं है। इन दिनों उज्जयिनी कुछ असाधारण परिस्थिति में है, इसलिए सन्देह होता है। हम स्वभाव से ऐसे नहीं हैं, परिस्थितियों से लाचार हैं।" देवरात ने विनीत भाव से कहा, "ठीक कहते हैं आर्य, परिस्थितियाँ मनुष्य के व्यवहार में अन्तर तो ला ही देती हैं। मैं स्वयं उद्विग्न हूँ, इसलिए आपके उद्वेग को समझ सकता हूँ।"

ब्राह्मण पण्डित ने कुतूहल के साथ देवरात को देखा। फिर बोले, "भद्र, चित्त में जमे हुए संस्कारों को जब ठेस लगती है तो उद्वेग होता है। हमारा राजा प्रजा के बद्धमूल संस्कारों पर चोट कर रहा है। कदाचित् म्लेच्छ देश में इन संस्कारों का ऐसा ही रूप नहीं है। इसीलिए म्लेच्छ राजा को हमारे संस्कारों को ठेस पहुँचाने में कोई दुविधा नहीं होती। सारी उज्जयिनी आज इसलिए उद्विग्न है कि हमारे संस्कारों की अवमानना हो रही है। नहीं तो प्रजा को राजा से द्वेष करने का कोई कारण नहीं है। परन्तु तुम क्यों उद्विग्न हो भद्र, तुम्हारे संस्कारों को कहाँ से ठेस पहुँची है?" देवरात को उद्वेग की ऐसी परिभाषा से थोड़ा आश्चर्य ही हुआ। वे उद्वेग को ऐसा-कुछ नहीं समझते थे। उनकी धारणा थी कि मन में कोई भी चिन्ता उद्वेग का कारण हो सकती है। बोले, "आर्य, आप जैसा बता रहे हैं वैसा कारण तो मैं नहीं जानता, मैं तो अपने व्यक्तिगत पारिवारिक कष्टों से अभिभूत हूँ। शान्ति की खोज में भटक रहा हूँ, मिल नहीं रही है। इसी को मैं मानसिक उद्वेग कह रहा था।" ब्राह्मण पण्डित ने एक बार फिर उन्हें नीचे से ऊपर तक देखा। ऐसा जान पड़ा कि वे आश्वस्त हो आये थे। बोले, "भद्र, तुममें सुपुरुष के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। अभी तक मैं तुम्हें अविश्वास के साथ देख रहा था। मेरा नाम श्रुतिधर है। नाम ही नाम है, गुण वैसा नहीं है। नगरी के पूर्वी छोर पर मेरी छोटी-सी पाठशाला है। लोग उसे उपाध्यायकुल कहते हैं, प्राकृत में 'ओझाउल'। अगर कोई और करणीय न हो तो वहीं चलकर थोड़ा विश्राम कर लो। मुझे लगता है कि मैं तुम्हारी कुछ सेवा या सहायता कर सकूँगा। कुछ अन्यथा न मानो तो कहना चाहूँगा कि तुम्हारी आकृति असाधारण जान पड़ती है। तुम अपने को छिपा रहे हो। अच्छा भद्र, मैं तुम्हारा कुछ परिचय पा सकता हूँ?"

देवरात कुछ असमंजस में पड़ गये। फिर अत्यन्त विनीत स्वर में बोले, "आर्य, आपके इस अकारण स्नेह से अनुगृहीत हुआ। मैं क्या अपना परिचय दूँ? मेरा नाम देवरात है। कुछ भटक ही गया हूँ।"

श्रुतिधर एकाएक चौंक उठे। बोले, "क्या कहा भद्र, देवरात?" उनके प्रश्न से ऐसा लगा जैसे यह नाम और इस नाम का मनुष्य चिरकाल से उनके परिचित हों। उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही उन्होंने नया प्रश्न किया। उनकी वाणी में आदर का भाव था—"अविनय क्षमा करना भद्र, क्या मैं हलद्वीप के तपोनिरत महात्मा आर्य देवरात से बात कर रहा हूँ!"

देवरात को आश्चर्य हुआ। यहाँ उनका नाम कैसे पहुँच गया! कुछ चकित-से बोले, "हाँ आर्य, मैं हलद्वीप का देवरात ही हूँ। पर आपको इस अभाजन का नाम कैसे ज्ञात हुआ?" श्रुतिधर के मुख पर आदर-मिश्रित प्रसन्नता का भाव दिखायी दिया। बोले, "महामल्ल शार्विलक के गुरु महाभाग आर्य देवरात का यथोचित सम्मान न कर सकने के कारण मैं अपने को अपराधी समझ रहा हूँ। परन्तु महापुरुष के लक्षणों के पहचानने में मुझसे कोई भूल नहीं हुई है। आज मेरा अहोभाग्य है कि मैं महान् पुरुष-रत्न का दर्शन पा रहा हूँ। आर्य, चलकर थोड़ी देर के लिए मेरी कुटिया को अवश्य पवित्र करें!"

देवरात को कुछ विचित्र लगा। उन्हें स्पष्ट लगा कि ब्राह्मण देवता किसी और के भ्रम में उनका सम्मान कर रहे हैं। महामल्ल शार्विलक का तो उन्होंने नाम भी नहीं सुना, गुरु होने की तो कोई बात ही नहीं है। अत्यन्त विनीत-भाव से बोले, "अनुगृहीत हूँ आर्य, परन्तु ऐसा लगता है कि आपको कुछ भ्रम हो रहा है। शार्विलक नाम के किसी शिष्य को मैं नहीं जानता। किसी अन्य देवरात को आप मेरे साथ मिला रहे हैं। मिलते-जुलते नाम तो होते ही हैं।"

श्रुतिधर कुछ दुविधा में पड़ गये। उनका चेहरा कुछ म्लान हो गया। उन्हें लग रहा था कि वे ठीक ही पहचान रहे हैं, पर कहीं कुछ भ्रम का अवकाश रह अवश्य गया है। बोले, "अच्छा आर्य, हलद्वीप में क्या आप किसी अन्य देवरात को भी जानते हैं? ऐसे कोई आर्य देवरात, जिन्होंने महामल्ल शार्विलक और उसके अनुज महावीर गोपाल आर्यक को पढ़ाया हो?" देवरात ने असमंजस-भाव अनुभव किया, "आर्य, हलद्वीप में तो किसी और देवरात के होने का ज्ञान मुझे नहीं है। यह भी सत्य है कि गोपाल आर्यक मेरे परम शिष्य रहे हैं। पर उनके भाई का नाम तो श्यामरूप था। आप कुछ और बता रहे हैं।"

श्रुतिधर का चेहरा खिल गया। "हाँ आर्य, श्यामरूप ने बाद में शार्विलक के नाम से ख्याति पायी है। मैंने श्रद्धेय को श्रद्धा-निवेदन करने में कोई प्रमाद नहीं किया है। श्यामरूप ही शार्विलक का पूर्व नाम था। आपने जब से हलद्वीप छोड़ा है तब से बहुत-सी नयी बातें हुई होंगी, आपको पता नहीं है।"

देवरात विस्मय-विमूढ़ होकर सुन रहे थे। यह कौन आदमी है जो मेरे बारे में इतना-कुछ जानता है? कोई हलद्वीप का निवासी ही है क्या? पर हलद्वीप का निवासी होता तो पहचानने में इतनी देर क्यों करता? विचित्र रहस्य है!

श्रुतिधर ने फिर कहा, "आपको आश्चर्य हो रहा होगा आर्य, कि मैं आपके बारे में इतना-कुछ कैसे जानता हूँ। संयोग की बात है कि मैं महामल्ल शार्विलक, जो आपके प्रिय शिष्य श्यामरूप ही हैं, का बन्धुत्व प्राप्त कर सका। आपको पता नहीं है कि आपका यह शिष्य आपका कितना बड़ा भक्त है। विधाता की कुछ विचित्र लीला है कि आपका आश्रय छोड़ना उसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। श्रावस्ती से लेकर उज्जयिनी तक उसकी कीर्त्ति-कथा फैली हुई है। एक-से-एक बलशाली मल्लों का मान-मर्दन करके भी वह आज भी आपका दुलारा श्यामरूप

ही है। निश्छल, निरभिमान ! शक्ति और सौजन्य का तो वह मिलित रूप ही है।"

देवरात का हृदय आनन्द-गद्‌गद हो उठा। श्यामरूप ने यशस्वी मल्ल के रूप में ख्याति पायी है, यह बात उन्हें बिल्कुल मालूम नहीं थी। उनके हलद्वीप छोड़ने के पहले ही श्यामरूप कहीं भाग गया था। वृद्धगोप ने बहुत प्रयत्न किया, पर उसका कुछ पता नहीं चला। इतने दिन बाद आज उसका नाम सुनायी पड़ा। देवरात तो ऐसा ही मान चुके थे कि अब वह इस संसार में ही नहीं है। उन्हें इस बात में तो रंच-मात्र सन्देह करने की आवश्यकता नहीं कि अवसर मिलने पर श्यामरूप महान् मल्ल के रूप में कीर्त्ति पाने के योग्य था। आज यह सुनकर कि उसकी कीर्त्ति सर्वत्र फैली हुई है, उनका मन आनन्द-विह्वल हो उठा। वे बार-बार आग्रह के साथ पूछने लगे, "आर्य, आपने श्यामरूप को कहाँ देखा है ? कहाँ है वह ? कैसे आपसे उसकी मित्रता हुई ? आपने उसे प्रसन्न देखा है ? कहीं निकट ही रहता है क्या ? बताओ आर्य, आज मेरे ग्रह प्रसन्न जान पड़ते हैं !"

श्रुतिधर को प्रसन्नता हुई। बोले, "सब बताऊँगा आर्य, परन्तु यहाँ नहीं। आप मेरी कुटिया तक चलने की कृपा करें। बहुत दूर नहीं है।" देवरात ने उतावली के साथ कहा, "ठीक है। चल रहा हूँ।" कुछ दूर तक दोनों चुपचाप चलते रहे। फिर देवरात ने ही मौन भंग किया। इतना सावधान अवश्य थे कि विषय बदला जान पड़े। पूछा, "आर्य, आप किस विषय का अध्यापन करते हैं ?" श्रुतिधर ने कुछ प्रतिवाद-सा करते हुए कहा, "बड़े अविनय का आचरण कर चुका हूँ, आर्य ! आप मुझे इस प्रकार गौरव देकर सम्बोधित न करें। आपके शिष्य का मित्र हूँ, मुझे भी शिष्य ही समझें। शार्विलक से अवस्था में थोड़ा बड़ा अवश्य हूँ, पर हूँ आपका शिष्य-कल्प ही। यहाँ के ओझाउल में व्याकरण का अध्यापन करता हूँ और काव्य और संगीत से मनोविनोद करता हूँ। यथासम्भव भीड़-भाड़ से बचकर रहता हूँ। मेरे विद्यार्थियों की संख्या बहुत है। जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए किसी के द्वार नहीं जाना पड़ता।" देवरात को अच्छा लगा। वे श्रुतिधर के विनय और शील से आह्लादित हुए। प्रसन्न-भाव से बोले, "देखो आर्य, भूल न जाना। मेरा यह शरीर क्षत्रिय का है। आपके प्रति मेरा वात्सल्य तो बराबर उसी प्रकार बना रहेगा जैसा श्यामरूप के प्रति है, पर गौरव तो मुझे देना ही चाहिए। ब्राह्मण — तत्रपि विद्वान् ब्राह्मण — को सम्मान देना तो मेरा कुल-धर्म है।" श्रुतिधर ने विमर्शपूर्वक कहा, "जानता हूँ आर्य, जानता हूँ। परन्तु जो बात आप नहीं जानते वह भी जानता हूँ।" आश्चर्य के साथ देवरात ने पूछा, "वह कौन-सी बात है ?" श्रुतिधर ने कुछ इतस्ततः करते हुए कहा, "यही कि श्यामरूप बेचारा इसी कारण से मारा गया। यदि आपने उसे ब्राह्मण-आचार में दीक्षित करने के उद्देश्य से क्षिप्तेश्वर महादेव की पाठशाला में न भिजवा दिया होता, तो वह नटों की मण्डली के साथ न भागता और कदाचित् इतना कष्ट न भोगता। उसके मन में बड़ी कचोट है आर्य !"

देवरात के हृदय में विचित्र प्रकार की धड़कन होने लगी। हाँ, श्यामरूप के भटक जाने का कारण क्या उनके यही रूढ़ विचार हैं? उन्होंने ही वृद्धगोप को सलाह दी थी कि श्यामरूप ब्राह्मण-कुमार है, उसे अपने कुल-धर्म के अनुरूप वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा देनी चाहिए। क्या कुल-धर्म और व्यक्तिगत रुचि में विरोध भी होता है? उन्हें अपने संस्कारों की सच्चाई में कभी सन्देह नहीं हुआ था। आज पहली बार उनके ऊपर कड़ी चोट पड़ी है। श्रुतिधर ने उनके मन के क्षोभ को पहचाना, उन्हें देवरात का हृदय दुखाने का कष्ट भी हुआ। बात दूसरी ओर मोड़ने के उद्देश्य से बोले, "विधाता जब कुछ करना चाहते हैं तो विचित्र संयोग दे देते हैं, आर्य! श्यामरूप का भटक जाना अच्छा ही हुआ। अगर नट-मण्डली के साथ न भाग गया होता तो आज उसे भुवन-विश्रुत मल्ल होने की कीर्त्ति न मिली होती। अच्छा ही हुआ आर्य, मैंने आपको व्यर्थ ही व्यथा पहुँचायी। मेरे कहने का उद्देश्य केवल इतना ही था कि आप मुझे अपना स्नेह-भाजन शिष्य ही समझें। मुझे अनावश्यक सम्मान देकर लज्जित न करें। मुझे मेरा नाम लेकर ही पुकारें। यदि मेरी प्रार्थना आप नहीं स्वीकार करते तो सच मानिये आर्य, आपके कुल-धर्म के संस्कारों पर और भी चोट पहुँच सकती है, मैं पैर पकड़ लूंगा।" श्रुतिधर ने देवरात के हृदय को ठीक ढंग से सहलाया। वे प्रसन्न मुद्रा में कहने लगे, "साधु आयुष्मान्, तुम्हारे इस शील-गुण से मैं पराजित हो गया हूँ। चलो, अपनी कुटिया में। मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ। मैं तुम्हारी बातों से अपने को ही पा रहा हूँ। चलो, देर करने से क्या लाभ।"

पन्द्रह

उज्जयिनी में एक बहुत पुराना बगीचा था, जिसे चण्डसेन के पूर्व-पुरुषों ने निर्माण कराया था। उसमें एक छोटा-सा प्रासाद और एक तालाब भी था। दीर्घकाल से उपेक्षित होने के कारण प्रासाद अत्यन्त जीर्ण हो गया था और इसे 'जीर्णोद्यान' कहा जाता था। किसी समय यह उद्यान और भवन निश्चय ही बहुत सुन्दर रहे होंगे, परन्तु अब यह भुतहा समझा जाने लगा था। उज्जयिनी में इसके बारे में अनेक भयजनक कहानियाँ प्रचलित हो गयी थीं। बहुत-से प्रत्यक्षदर्शियों ने इसमें विकराल आकृति के भूत देखने का दावा भी किया था। रात को उधर जाने का साहस बहुत कम लोगों को होता था। उज्जयिनी में उस समय पालक नामक शक राजा का राज्य था। मथुरा में इन्हीं के सौतेले भाई उप्यवदात राज्य करते थे।

दोनों भाइयों में परस्पर विश्वास और प्रेम बताया जाता था, परन्तु साधारण प्रजा दोनों को म्लेच्छ समझती थी और दोनों से असन्तुष्ट थी। मुख्य कारण राजा और प्रजा के धार्मिक और सामाजिक आदर्शों का विरोध था। दोनों ही राज्यों के सैनिक प्रजा के धार्मिक विश्वासों का तिरस्कार करते थे और आये-दिन सैनिकों के अत्याचारों की झूठी-सच्ची खबरें उड़ती रहती थीं। केवल चण्डसेन के प्रति जनता में श्रद्धा रह गयी थी, क्योंकि वे प्रजा की भावनाओं का आदर करते थे। मथुरा और उज्जयिनी एक ही वंश द्वारा शासित राज्य थे। चण्डसेन पालक और उप्यवदात दोनों के पितृव्य होने के कारण दोनों के ही सम्मान के पात्र थे, पर नगर में कुछ इस प्रकार की कानाफूसी चल रही थी कि वे पालक से किसी बात पर अप्रसन्न थे, इसलिए मथुरा चले गये थे। शार्विलक ने चण्डसेन के परिवार को चुपचाप इसी उद्यान-भवन में ला रखा था। चण्डसेन की आज्ञा से किसी प्रकार की कोई सफाई नहीं की गयी। भवन के भीतरी हिस्से को स्वयं शार्विलक और वीरक ने झाड़-पोंछकर साफ़ किया था। बाहर ज्यों-का-त्यों रहने दिया था। बाहर से देखनेवालों को बिलकुल पता नहीं चलता था कि इसके भीतर कोई रह रहा है। शार्विलक भी अपने को छिपाकर ही इसकी देख-रेख करता था। इस कार्य में उसे अनायास ही बहुत अच्छी सहायता मिल गयी थी।

जीर्णोद्यान के टूटे हुए सरोवर की दूसरी ओर एक पाठशाला थी। साधारण जनता में यह 'ओझाउल' (उपाध्याय-कुल) के नाम से प्रसिद्ध थी। इसका खर्च स्वयं चण्डसेन चलाते थे। परन्तु वह खर्च नाममात्र का ही था। पाठशाला के आचार्य श्रुतिधर उज्जयिनी में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। नगर के अनेक प्रतिष्ठित परिवारों के बालक उनसे शिक्षा प्राप्त करते थे। अपनी वृत्ति के लिए उन्हें किसी के द्वार नहीं जाना पड़ता था। इन्हीं श्रुतिधर से शार्विलक की मैत्री हो गयी। स्वयं चण्डसेन ने ही यह मैत्री करा दी थी। चण्डसेन का श्रुतिधर पर अगाध विश्वास था। उज्जयिनी में केवल ये ही एक मनुष्य थे जिन्हें यह जानकारी थी कि चण्डसेन का परिवार जीर्णोद्यान के भग्न प्रासाद में निवास कर रहा है। श्रुतिधर की प्रेरणा पाकर उनके विद्यार्थियों ने जीर्णोद्यान के भूतों की कहानियाँ नगर में और भी अधिक फैला दी थीं। अनेक रूपों में ये कहानियाँ फैली थीं, पर साथ-ही-साथ श्रुतिधर के अनजाने ही उनकी दैवी शक्तियों का भी प्रचार होता रहता था। विद्यार्थियों ने ऐसी बातें भी गढ़ ली थीं कि उनके गुरु ही जीर्णोद्यान के भूतों को वश में रख सकते हैं। गुरु के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण उन्होंने उनकी अलौकिक शक्तियों का प्रचार बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया था, स्वयं श्रुतिधर का उसमें कोई हाथ नहीं था, परन्तु नगर में वे सिद्ध पुरुष के रूप में ख्याति तो पाने ही लगे थे।

श्रुतिधर का उपाध्याय-कुल (ओझाउल) इसी पुराने उद्यान में था। किसी ज़माने में यह उद्यान बहुत मनोरम रहा होगा, लेकिन इस समय उसकी हालत बहुत अच्छी नहीं थी। ऐसा लगता था जैसे दीर्घकाल से उसको सुशिक्षित हाथों

का यत्न नहीं मिला था। जिन स्थानों पर कभी चम्पक, सिन्दुवार, कर्णिकार, कदम्ब आदि मनोहर पुष्पोंवाले वृक्ष रहे होंगे, वहाँ अब अयत्नवर्द्धित करवीर और भाण्डीरक गुल्मों का आविर्भाव हो आया था। कुएँ से वृक्षों तक जानेवाली नालियों में घास निकल आयी थी और केदारों में दूब, कुश और सरकण्डों का प्रादुर्भाव हो आया था। उद्यान को घेरनेवाली दीवारों में पीपल और बरगद के पेड़ निकल आये थे और गर्वपूर्वक अपनी जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहे थे। उद्यान किसी बड़ी योजना और सम्पत्ति से बना होगा। उसमें एक बड़ा-सा महल भी था और उसके मालिक के मनोविनोद के लिए बने हुए रंग-गृह और आस्थान-मण्डप भी थे, पर दीर्घकाल से उनकी कोई देख-रेख न होने से वे बहुत जीर्ण लगने लगे थे यद्यपि उतने पुराने वे वास्तव में थे नहीं। इस महल से थोड़ी दूरी पर बनी हुई श्रुतिधर की कुटिया सचमुच ही कुटिया थी। उसके बाहर एक विशाल बकुल वृक्ष था। उसकी छाया में श्रुतिधर का अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ सब कुछ चलता था। कुटिया का उपयोग केवल बरसात के समय ही कुछ हो जाता था। बकुल वृक्ष के नीचे भूमि अवश्य साफ़ कर ली गयी थी और मिट्टी-पत्थर से कुछ वेदियाँ भी बना ली गयी थीं।

चण्डसेन का परिवार बहुत छोटा था। उनकी पत्नी साध्वी महिला थीं। उनके पिता अलकदात पुरुषपुर के शक सरदार थे और बौद्ध-धर्मी थे। पुत्री को उन्होंने बौद्ध उपासना-पद्धति में दीक्षित किया था। वे दिन-रात पूजा-पाठ में लगी रहती थीं। अष्ट-सहस्री प्रज्ञा-पारमिता का वे नित्य पाठ किया करती थीं, और बुद्ध-प्रतिमा के सामने ध्यानावस्थित होकर महायान शाखा के मन्त्रों का जप किया करती थीं। उज्जयिनी के जीर्णोद्यान में उन्हें और कोई कष्ट तो नहीं था, लेकिन एक दुःख उन्हें अवश्य था। वे अपने नित्य नियमों के अनुसार श्रमण साधुओं को यथेष्ट दान नहीं दे पाती थीं, क्योंकि बाहर जाना सम्भव नहीं था और वहाँ श्रमणों को बुला लाने पर नगर में उनके प्रच्छन्न आवास का पता लग जाने की आशंका थी। उनके दो छोटे-छोटे पुत्र थे। आचार्य श्रुतिधर ने उन्हें अपनी पाठशाला में ले लिया था और स्पष्ट निर्देश दे दिया था कि वे अपना सही परिचय किसी बालक को न दें। रात को उन्हें प्रच्छन्न रूप से माता के पास पहुँचा दिया जाता था। शार्विलक भी रात को ही स्वामिनी से मिलता था और आवश्यक आदेश प्राप्त करता था। वह पाठशाला में एक ऐसे स्थान पर बैठकर जीर्ण प्रासाद पर कड़ी नज़र रखता था, जहाँ से प्रासाद-द्वार स्पष्ट दिखायी देता था। वीरक भी प्रासाद के एक अंश में रहता था और स्वामिनी की सेवा के लिए जो कुछ आवश्यक होता था, उसे जुटा दिया करता था। सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था। आचार्य श्रुतिधर शार्विलक को छोटे भाई की तरह स्नेह देते थे। धीरे-धीरे उन्होंने शार्विलक के पूर्वजीवन की सारी बातों का पता लगा लिया। दोनों का दोनों पर पूर्ण प्रेम और विश्वास हो गया था।

एक दिन चण्डसेन की पत्नी ने शार्विलक को बुलाकर कहा कि उन्होंने भिक्षुओं

के निमित्त कुछ दान सामग्री रखी है। उन्होंने आदेश दिया कि शार्विलक चुपचाप उसे बौद्ध विहार में पहुँचा दे।

उज्जयिनी में अनेक बौद्ध विहार थे। सबसे प्रसिद्ध विहार श्रेष्ठिचत्वर के निकट था। नगर के बड़े-बड़े महाजन इस विहार के अनुयायी थे। यहाँ सौ भिक्षुओं का निवास था। विहार के वरिष्ठ भिक्षु महानन्द स्थविर थे। उनकी विद्वत्ता और तपस्या की बड़ी ख्याति थी। यद्यपि श्रुतिधर बौद्ध मत के विरोधी थे, परन्तु वे भी महानन्द स्थविर के शास्त्र-ज्ञान के प्रशंसक थे। उनसे परामर्श करके शार्विलक ने इसी विहार में दान सामग्री पहुँचाने का निश्चय किया।

विहार तक पहुँचने का रास्ता श्रेष्ठिचत्वर के बीच से होकर जाता था। नगर से पूरी तरह परिचित न होने के कारण शार्विलक को कई लोगों से पूछकर रास्ता पहचानना पड़ा। वह सूर्यास्त के बाद ही निकला था। विहार से लौटते समय अन्धकार घना हो गया था। श्रेष्ठिचत्वर के सामने के रास्ते पर बड़े-बड़े मकानों के गवाक्षों से छन-छनकर हल्का प्रकाश पड़ रहा था, जिससे मार्ग साफ़-साफ़ दिखायी देता था। शार्विलक इस हल्के प्रकाश से रास्ते का अन्दाज़ा लगाते हुए जीर्णोद्यान की ओर बढ़ा जा रहा था। अचानक उसे किसी गली से चिल्लाने की आवाज़ सुनायी पड़ी। वह उधर ही मुड़ा और देखकर आश्चर्य से स्तब्ध रह गया। एक प्रौढ़ व्यक्ति, जो वेशभूषा में ब्राह्मण जान पड़ता था, दो-तीन दण्डधरों से उलझा हुआ था। दण्डधर उसे बुरी तरह पीट रहे थे। वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था—"देखो लोगो, आर्य चारुदत दरिद्र हो गये हैं तो ये पापी उनके घर में घुसकर महिलाओं का अपमान कर रहे हैं।" दरवाज़े के भीतर से कोई स्त्री ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही थी। उसके हाथ का दीया एकाएक गिर गया। वह और ज़ोर से चीखने लगी। ऐसा जान पड़ता था कि उस स्त्री को पकड़ने के लिए दण्डधरों में से कोई भीतर घुस गया था और उसे उठा लेने की कोशिश कर रहा था। ब्राह्मण बुरी तरह चिल्ला रहा था। एक क्षण में उस स्त्री को भी घसीटकर बाहर ले आया गया। शार्विलक को समझने में देर नहीं लगी। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यह सारा अत्याचार बीच नगर में हो रहा है, परन्तु कोई इस ब्राह्मण और इस स्त्री की सहायता करने के लिए बाहर नहीं आ रहा है। बाहर आना तो दूर रहा, कहीं कोई विरोध में एक शब्द भी नहीं कह रहा है। विचित्र आतंक था!

शार्विलक क्रोध से तमतमा गया। ऐसा अनर्थ उसने कभी देखा नहीं था। उसे एक क्षण के लिए लगा कि वह भण्डों और कापुरुषों की बस्ती में आ पहुँचा है। सिंह की भाँति वह दहाड़ उठा, "कौन है जो स्त्रियों पर अत्याचार कर रहा है! मैं हूँ शार्विलक, मेरे सामने यह सब नहीं चल सकता, मैं एक-एक को मसल दूंगा।" आवेश में वह भूल ही गया कि उसे अपना परिचय नहीं देना चाहिए था, वह तो छिपकर उज्जयिनी में रह रहा था। वह तेज़ी से दण्डधरों पर टूट पड़ा, परन्तु उसे बहुत उलझना नहीं पड़ा। उसके नाम ने जादू का-सा काम किया। दण्डधर आपस में फुसफुसाये—यह शार्विलक कहाँ से आ गया! और तेज़ी से भाग गये। ब्राह्मण

देवता संज्ञा-शून्य होकर गिर पड़े थे। भागते समय दण्डधरों ने उस स्त्री को धकेल-कर उनके ऊपर गिरा दिया था। अँधेरे में शार्विलक ने टटोलकर ब्राह्मण देवता को उठाया और उनके ऊपर बेहोश गिरी स्त्री को भी अलग किया। दण्डधरों के भाग जाने के बाद कुछ गृहस्थों में भी साहस का संचार हुआ। वे दीपक लेकर घटना स्थल पर पहुँच गये। पानी मँगाया गया और दोनों को होश में लाया गया। होश में आते ही ब्राह्मण फिर तनकर खड़ा हो गया और आविष्ट के समान बोलता गया, "आर्य चारुदत्त के घर में यह अत्याचार मेरे रहते नहीं हो सकता। यदि किसी ने इस दासी पर हाथ लगाया तो उसका सिर तोड़ दूँगा।" शार्विलक ने ब्राह्मण देवता को आश्वासन दिया, "घबराने की कोई बात नहीं है, गुण्डे भाग गये हैं। मैं शार्विलक हूँ। मुझसे भी यह अत्याचार नहीं देखा जायेगा। मेरी ओर देखो, मैं गुण्डों का काल हूँ।" वहाँ जितने लोग थे, शार्विलक को देखकर चकित रह गये। ब्राह्मण ने कहा, "भद्र, तुम हमारे रक्षक होकर यहाँ आ गये, नहीं तो इन अत्या-चारियों ने इस घर की मान-मर्यादा नष्ट ही कर दी थी।" फिर एकाएक पीछे मुड़कर चिल्ला पड़े, "मदनिका! हाय-हाय! यह दूसरे घर की दासी यहाँ आकर अपमानित हो गयी। अब चारुदत्त पर किसी की आस्था रहेगी!" इसी समय मदनिका की संज्ञा भी लौट आयी। उसने अर्ध-चेतनावस्था में शार्विलक का नाम सुन लिया था। फटी-फटी आँखों से शार्विलक की ओर देखती हुई फफककर रो पड़ी, "हाय, आर्य शार्विलक, तुम यहाँ कैसे पहुँचे! मैं माँदी हूँ।" शार्विलक एक क्षण के लिए सन्न रह गया। वह क्या सुन रहा है, यह माँदी है! पास खड़े मनुष्य के हाथ से दीपक लेकर उसने माँदी को अच्छी तरह देखा। माँदी ही तो है! जी में आया कि एकदम उसे उठाकर छाती से लगा ले, परन्तु इतने लोगों के बीच वह ऐसा न कर सका। केवल आश्वासन देने के स्वर में इतना ही कह सका, "माँदी, मदनिका, मैं शार्विलक ही हूँ।" थोड़ी देर तक विचित्र सन्नाटा रहा। फिर ब्राह्मण देवता ने ही मौन भंग किया, "आर्य शार्विलक, आपके नाम और यश से परिचित हूँ, परन्तु ऐसीं विषम स्थिति में आपके दर्शन होंगे, यह मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। मैं हूँ आर्य चारुदत्त का मित्र मैत्रेय। यह चारुदत्त का निवास-स्थान है। यह मदनिका है। यह आर्या वसन्तसेना की नयी दासी है। आर्या वसन्तसेना ने इसके हाथों कुछ सन्देश आर्या चारुदत्त को भिजवाया था, परन्तु वे घर पर नहीं हैं। मैं इसे आर्या वसन्तसेना के निवास-स्थान तक पहुँचाने के लिए जा रहा था कि अत्याचारी म्लेच्छ राजा का साला अपने दण्डधरों के साथ यहाँ पहुँच गया और बलपूर्वक इसका अपहरण करना चाहा। अगर तुम न आ गये होते तो आज इस नगरी के ललाम-भूत दो सहृदयों का अपमान हो गया होता। एक आर्य चारुदत्त का और दूसरा उनकी प्रिय सखी आर्या वसन्तसेना का। अपमान तो अब भी हो गया है, लेकिन अनर्थ नहीं हो पाया। मैं तो बुरी तरह से आहत हो गया हूँ। पता नहीं, इस बेचारी मदनिका को कितनी चोट आयी है! हाय-हाय, इस उज्जयिनी में ऐसा अनर्थ भी होने लगा! तुमने अपनी आँखों देखा कि इस असहाय ब्राह्मण

को किस बुरी तरह ताड़ित और अपमानित किया गया। भय के मारे मेरी छाती धड़क रही है। काश, इसे किसी प्रकार से सुरक्षित आर्या वसन्तसेना के स्थान पर पहुँचा सकता ! क्या तुम मेरी थोड़ी और सहायता कर सकते हो ?" शार्विलक ने ब्राह्मण को आश्वस्त करते हुए कहा, "आर्य, आप चिन्ता न करें। आप घर के भीतर जाकर विश्राम करें, आपको बहुत चोट आ गयी है। मदनिका मेरी पूर्व-परिचित है। मैं इसे आर्या वसन्तसेना के निवास स्थान पर पहुँचा दूंगा।" फिर मदनिका की ओर घूमकर पूछा, "भद्रे, मेरे साथ अपने निवास पर जाने में तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है ?" मदनिका का चेहरा प्रफुल्ल हो गया। उसमें लज्जा की थोड़ी अरुणिमा भी आ गयी, बोली, "आर्य, आप पर विश्वास न करूँ, ऐसी अधमा नहीं हूँ। मैं पूर्णरूप से आश्वस्त हूँ कि आप मुझे केवल इसी समय निरापद स्थान में नहीं पहुँचा देंगे, अपितु भविष्य में भी सदा-सर्वदा मेरी रक्षा करते रहेंगे।" शार्विलक के हृदय में इस गूढ़ अभिप्रायवाले वाक्य से गुदगुदी पैदा हो गयी। मैत्रेय से घर के भीतर जाने का अनुरोध करते हुए मदनिका से उसने कहा, "चलो देवि, मैं तुम्हें आर्या वसन्तसेना के घर पहुँचा दूँ, परन्तु रास्ता तुम्हें ही बताना होगा। मैं इस नगरी में अपरिचित हूँ।"

मदनिका अर्थात् माँदी, शार्विलक के साथ वसन्तसेना के घर की ओर चल पड़ी। थोड़ा एकान्त पाकर वह फफक-फफककर रो पड़ी, "हाय, आर्य, मेरा उद्धार कैसे होगा ! मुझे उन दुष्टों ने पाँच सौ सुवर्ण पर बेच दिया है। परन्तु मेरी मालकिन आर्या वसन्तसेना सचमुच देवी हैं। उनकी शरण में आकर मुझे सुख-ही-सुख मिला है, कोई कष्ट नहीं पहुँचा। परन्तु आर्य, मेरे हृदय में निरन्तर एक आँधी चलती रहती है। मेरे भाग्य में क्या यही बदा था ? तुम फिर मिल गये हो, अब मुझे छोड़ो मत, मेरा उद्धार करो ! अब मैं तुम्हारी हूँ !" रास्ते में एकाएक माँदी शार्विलक के चरण पकड़कर रो पड़ी। शार्विलक ने कहा, "उठो माँदी, यह उपयुक्त स्थान नहीं है। तुम्हारे लिए ही पागलों की तरह मैं भटकता रहा हूँ। मथुरा से उज्जयिनी तक इसी आशा से आया हूँ कि तुम कहीं मिल जाओगी। सौभाग्य की बात है कि तुम मुझे मिल ही गयीं। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि तुम आर्या वसन्तसेना की शरण में हो। पाँच सौ सुवर्ण कोई ऐसी चीज़ नहीं है। मैं कहीं-न-कहीं से इतना धन इकट्ठा करूँगा और धर्मतः तुम्हें मुक्त करके अपने साथ रखूँगा। तुमने बहुत दुख भोगा है, उसके लिए अपराधी मैं ही हूँ। मेरी ही कुण्ठा के कारण तुम्हें इतना भोगना पड़ा। अब तुम निश्चिन्त रहो। मैं शीघ्र ही तुम्हें मुक्त कराऊँगा और स्वयं तुम्हारे प्रेमपाश में बँध जाऊँगा। शार्विलक अब तक उत्साहहीन होकर निर्जीव की भाँति पड़ा हुआ था। तुमने उसमें आशा और उत्साह भरा है। अब वह असाध्य-साधन करने को कृत-संकल्प है। चिन्ता न करो। एक सप्ताह के भीतर ही मैं तुम्हें अवश्य मुक्त करा लूँगा।"

माँदी के चेहरे पर उज्ज्वल प्रकाश प्रदीप्त हो उठा, बोली, "सच कहते हो मेरे प्यारे, सिर्फ़ एक सप्ताह में मुझे छुड़ा लोगे ?" शार्विलक ने उसी प्रकार

हँसते हुए कहा, "सच कहता हूँ प्रिये, सिर्फ एक सप्ताह का समय मुझे चाहिए।"

वसन्तसेना के आवास तक माँदी को पहुँचाकर शार्विलक बाहर से ही लौट पड़ा। माँदी ने बहुत आग्रह किया कि वह भीतर आर्या वसन्तसेना से मिल ले, परन्तु शार्विलक ने यह उचित नहीं समझा और बाहर से ही लौट पड़ा। थोड़ी दूर आकर उसने देखा कि माँदी अत्यन्त सतृष्ण नेत्रों से उसका लौटना देख रही है, वह भीतर नहीं जा रही है। वह फिर लौट आया, बोला, "प्रिये, क्या तुम्हें विश्वास नहीं होता कि मैं एक सप्ताह के बाद लौट आऊँगा ?" माँदी की आँखों से आँसू गिरने लगे, कुछ बोल नहीं सकी, केवल करुण नेत्रों ने बताया कि उसका विश्वास हिल रहा है। शार्विलक ने कहा, "विश्वास रखो और भीतर जाओ।" इस स्वर में अनुनय नहीं था, आदेश था। मदनिका भीतर जाने लगी। अब शार्विलक के ठिठकने की बारी थी। उसने देखा, माँदी भीतर जा रही थी, लेकिन उसकी आँखें बाहर आने को बाध्य कर रही थीं। उसने फिर कहा, "भीतर जाओ !" और बिना रुके चला गया।

वह इधर-उधर भटकता जीर्णोद्यान की ओर अग्रसर होने लगा। इसी बीच एक दण्डधर ने उसे पहचान लिया। उसने अपने एक साथी से कहा, "यही दुष्ट है, पकड़ो !" फिर दोनों ने अन्य दण्डधरों को चिल्ला-चिल्लाकर पुकारा। चारों ओर से आवाज़ें आने लगीं—"पकड़ो, पकड़ो, वह भागा जा रहा है···पकड़ लो।" कई सशस्त्र दण्डधर उसकी ओर लपके। शार्विलक के हाथ में कोई शस्त्र नहीं था। उसके जी में आया कि किसी दण्डधर का कोई शस्त्र छीन ले। यह सोचकर वह उनकी ओर लपका ही था कि दूसरी ओर से दस-पन्द्रह शस्त्रधारी दण्डधर उस पर झपट पड़े। एक क्षण में उसने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। इस अवस्था में वह लड़ नहीं सकता। अगर वह घायल हो गया तो एक सप्ताह में माँदी के पास आने की प्रतिज्ञा नहीं पूरी कर सकेगा। फुर्ती से सामनेवाले दण्ड-धर को धकेलकर आगे निकल गया और बड़ी तेज़ी से राजमार्ग पर दौड़ने लगा। उसने देखा कि दण्डधरों की एक विशाल वाहिनी उसके पीछे दौड़ रही है। वह बड़ी फुर्ती से भागता गया। उसे स्वयं पता नहीं कि वह कितना दौड़ा। मन में माँदी का करुण मुख था। उसे माँदी को छुड़ाना है। पाँच सौ सुवर्ण चाहिए, शस्त्र चाहिए, कहाँ मिलेगा यह सब ! उसकी बाहरी चेतना सिमटकर इन्हीं तीन बातों में उलझ गयी थी—माँदी, सुवर्ण, शस्त्र। वह सोचता जाता था, दौड़ता जाता था—कहाँ ? कुछ पता नहीं।

उन दिनों दूर तक संवाद भेजने के लिए क्रोश-पद्धति प्रचलित थी ! 'क्रोश' चिल्लाकर आवाज़ देने को कहते थे; जितनी दूर तक आवाज़ स्पष्ट रूप से पहुँच जाती थी उतनी दूरी को भी 'क्रोश' ही कहा जाता था। प्राकृत-जन में यह शब्द घिस-घिसाकर 'कोस' बन गया था। उज्जयिनी में प्रत्येक 'क्रोश' (कोस) पर एक दण्डधर-वाहिनी का अड्डा था। किसी कठिन स्थिति में एक क्रोश-स्थान का दण्डधर चिल्लाकर आनेवाले क्रोश-स्थान के दण्डधरों को सूचना दे देता था। क्रोश-

स्थान पर 'प्रहरी' नियुक्त रहते थे, जो साधारणतः नागरिकों को समय बताने के लिए एक घण्टा बजाया करते थे। घण्टे पर प्रहार करने के कारण ही ये लोग 'प्रहरी' कहे जाते थे। पर सार्वजनिक विपत्ति के समय ये लोग निरन्तर घण्टे पर प्रहार करने लगते थे। शार्विलक को इस व्यवस्था के कारण बड़ी विपत्ति में पड़ना पड़ा। दण्डधरों ने क्रोश-स्थानों को चिल्लाकर सूचना दी—"चोर भागा जा रहा है।" शीघ्र ही नगर-भर के घण्टे टनटना उठे। सर्वत्र नागरिक सावधान हो गये; वह जिधर ही भागकर जाता था उधर ही लोग 'चोर-चोर' चिल्लाकर उसे पकड़ने का प्रयास करने लगे। एक ओर से भागता तो दूसरी ओर उसी विपत्ति में पड़ जाता। कई जगह उसे व्यूहबद्ध लोगों का सामना करना पड़ा। अन्धकार उसका सहायक भी था, बाधक भी। वह फुर्ती से भागकर किसी अँधेरी गली में मुड़ जाता। वहाँ बाधा मिलने पर दूसरी ओर मुड़ता। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे। वह भाग रहा था, केवल भाग रहा था। सर्वत्र उसे एक ही ध्वनि सुनायी पड़ती थी—'चोर, चोर! पकड़ो, पकड़ो!' बिना सोचे-समझे वह भागता रहा। इस भाग-दौड़ में रात प्रायः बीत गयी। अब उसे अपने बच निकलने की आशा नहीं रही। यों भी वह थक गया था। थकान से चूर, हताश शार्विलक की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह नाक की सीध में भागा। रास्ता सीधा था। आगे कोई आवाज़ नहीं थी। अँधेरे में लुढ़ककर नीचे गिर गया। छपाक्-सा शब्द हुआ। शार्विलक ने अपने को नदी की गोद में पाया, वह अवश भाव से पड़ा रहा। तैरने की कोशिश नहीं की, निढाल होकर अपने को धारा में बहने दिया। अब भी नगर में खरभर थी। घण्टे टनटना रहे थे। उसने बहते रहने में विश्राम पाया। सूर्य निकल आया था। वह दम साधकर बहता रहा। परिखा और नदी के संगम पर उसे आवर्त्त में उलझना पड़ा। रही-सही शक्ति समेटकर वह आगे बढ़ गया। परिखा पीछे छूट गयी, नगर से वह बाहर आ गया। थोड़ी देर तक वह नदी की पुलिन भूमि पर निढाल पड़ा रहा। भीगे हुए वस्त्र ज्वलन्त आतप से शरीर पर ही सूख गये। मध्याह्न तक वैसे ही पड़ा रहा, मूर्च्छित, निःसंज्ञ। तीसरे पहर आँख खुली। कहाँ है वह! कुछ पता नहीं। एकाएक कानों में वही ध्वनि गूँज उठी—'चोर, चोर! पकड़ो, पकड़ो!' वह भड़भड़ाकर उठा और भागा। आवाज़ उसके भय-भ्रान्त चित्त का विकल्प ही थी। कहीं कोई आवाज़ नहीं थी। केवल कानों में एक प्रकार की भ्रान्ति समा गयी थी। रास्ते से वह अलग हट गया। जो कोई दिख गया उसे ही सावधान किया, पर रुका नहीं। वह पहाड़ी, जंगली ऊबड़-खाबड़ मार्ग से भागता ही चला गया।

वह थककर चूर हो गया। अनेक विकट अरण्य मार्गों और ऊबड़-खाबड़ गिरि पथों को लाँघ गया था, अब चला नहीं जाता था। एक पहाड़ी कन्दरा में वह पर-कटे बाज की तरह गिर गया। स्थान निरापद था, सन्ध्या उतर आयी थी। शार्विलक का अंग-अंग शिथिल हो गया था, पर मन में जो आँधी चल रही थी वह ज्यों-की-त्यों थी—माँदी, सुवर्ण, शस्त्र! उसे तीनों को प्राप्त करना होगा। क्रम

अवश्य उलटा होगा। पहले शस्त्र, फिर सुवर्ण, फिर माँदी ! मगर कैसे मिलेंगे। पहले शस्त्र चाहिए। वह बहुत कठिन नहीं होगा, पर पाँच सौ सुवर्ण मुद्राएँ कहाँ मिलेंगी ? तीन ही रास्ते हैं—भिक्षा, ऋण और चोरी। भिक्षा वह नहीं माँगेगा। माँगे भी तो पाँच सौ सुवर्ण मुद्रा उसे कौन दे देगा ? और ऋण भी उसे कौन देगा ? क्या देखकर कोई उसे ऋण देगा ? वह सब प्रकार से निःस्व है। अपनी कही जाने योग्य कुछ भी सम्पत्ति उसके पास नहीं है। और चोरी ? शार्विलक का अन्तरतर काँप उठा। नट-मण्डली के साथ रहता था, उस मण्डली के अनेक पुरुष चोरी में प्रवीण थे। पर नटों के चौधरी जम्भल ने उससे कभी चोरी करने को नहीं कहा। यही नहीं, भरसक वह इस बात का प्रयत्न करता था कि उसका होनहार शिष्य छबीला पण्डित जान भी न पावे कि नट लोग ऐसा पाप-कर्म भी करते हैं। उसे छबीला पण्डित को पवित्र और निष्पाप बनाये रखने में गर्व अनुभव होता था। आज छबीला पण्डित 'शार्विलक' बना घूम रहा है। क्या अब वह ऐसे पाप-कर्म में लिप्त होगा। देवरात का दुलारा, जम्भल का लाड़ला, चण्डसेन का विश्वासभाजन शार्विलक अब चोरी करेगा ? फट जाओ धरित्री, इस पाप-चिन्तक को निगल जाओ ! धिक् !

शार्विलक सोच भी नहीं पा रहा है कि ऐसी पाप-चिन्ता उसके मन में क्यों आ रही है। माँदी के कारण ? उसने आज तक किसी स्त्री की ओर कुदृष्टि नहीं डाली। माँदी की ओर वह आकृष्ट हो गया। क्यों हो गया, वह ठीक-ठीक नहीं जानता। आरम्भ उसके प्रति करुणा से हुआ। क्या यह पाप था ? उसके अन्तर्यामी जानते हैं कि उसमें कलुष का स्पर्श भी नहीं था। पर जिस दिन मुखरा भाभी ने कहा था कि माँदी का छबीला के प्रति अभिलाषभाव है उस दिन उसकी शिराएँ झनझना उठी थीं। वह बुरी तरह आहत हुआ था। तब से जिस प्रकार लोहा चुम्बक के पीछे भागता है, उसी प्रकार वह भी माँदी के पीछे भाग रहा है। उसके अन्तर्यामी जानते हैं, इसमें उसका कोई दोष नहीं है। क्यों ऐसा हुआ ? शार्विलक कारण नहीं जानता। कहीं कोई झकझोर रहा है, मसल रहा है, चिथड़ रहा है। वह क्यों खिंचा, यन्त्र की भाँति, विवेकहीन की भाँति ! सारा संसार चक्र की भाँति घूम रहा है। शार्विलक कर्त्तव्यमूढ़ हो गया है। माँदी फिर मिल गयी, पर क्या यह अच्छा हुआ ? उसका पहला पतन हुआ प्राण बचाने के लिए भागने के रूप में। उसे कभी प्राणों का ऐसा मोह नहीं हुआ। वह भागता रहा है, केवल एक मोह के कारण—प्राण बचाना है, माँदी को पाना है। यह मोह पाप है। दूसरा पतन हुआ है इस पाप-चिन्ता के रूप में। उसके मन में चोरी की बात उठी है। शास्त्रकारों ने बताया है कि जो एक बार विवेकभ्रष्ट होता है उसका शतमुख विनिपात होता है। दोमुख विनिपात तो हो ही गया। और भी होगा। शार्विलक, सावधान ! तुम्हारा और भी विनिपात होनेवाला है।

शार्विलक सोच नहीं पा रहा है कि किस जगह वह विवेक से भ्रष्ट हुआ है। हुआ अवश्य है।

परन्तु माँदी को छुड़ाये बिना वह रह कैसे सकता है ! उसे भूल जाना अगर

विवेक है तो विवेक निश्चित रूप से घटिया चीज़ है। माँदी को वह भूल नहीं सकता। उसे छुड़ाने के लिए वह जो भी करेगा, सब पुण्य-कार्य होगा। पाप इसमें नहीं है। पाप किसी और जगह है। माँदी को छुड़ाने का संकल्प पाप नहीं है। उसके लिए उपाय सोचना भी पाप-चिन्ता नहीं है। उसके अन्तर्यामी कहते हैं, यह पाप नहीं है। सारा सत्त्व गलकर माँदी के निकट ढरक जाना चाहता है। महामाया का त्रिभुवन-मोहिनी रूप प्राणों को जलाकर आलोकित हो रहा है। सोचना नहीं है, उसे करना है। बिना करनी के सोचते रहना ही कदाचित् असली पाप है! शार्विलक बेचैन है। कहीं कुछ फट रहा है, कुछ मथ रहा है। दारुण उद्वेग से हृदय फटा जा रहा है, फिर भी वह खण्ड-खण्ड होकर बिखर नहीं रहा है; शरीर विकल है, परन्तु चेतना नहीं छूटी है, संज्ञा भाव भी बना हुआ है; भीतर-ही-भीतर ज्वाला भभक रही है, लेकिन जला नहीं पा रही है। वह जल भी नहीं रहा है, केवल धुँधुआ रहा है, कोई क्रूरता से मर्मच्छेदन कर रहा है, पर प्राण नहीं निकल रहा है। शार्विलक व्याकुल है।

अन्धकार घना हो गया और उसके साथ ही शार्विलक की चिन्ता भी घनी होती गयी। धीरे-धीरे वह सो गया। गाढ़ निद्रा ने सारी चिन्ताओं को आच्छादित कर लिया। भगवती महामाया का निद्रा-रूप बड़ा शामक होता है। वह शरीर और मन की थकान पर सुधालेप करता है। वह जीवनी-शक्ति को सहलावा देता है और प्राणों को नये सिरे से ताज़गी देता है। शार्विलक को निद्रा आ गयी। देर तक वह सोता रहा, दीर्घकाल तक संजीवनी-धारा से उसके प्राण प्रक्षालित होते रहे। जब होश में आया तो दिन निकल आया था। उसे अब भूख और प्यास दोनों की अनुभूति हुई। बाहर आकर उसने चारों ओर देखा कि कहीं अन्न और पानी की सम्भावना है या नहीं। दूर-दूर तक खदिर और वन-पनसों की झाड़ियाँ फैली हुई थीं, पथरीली चट्टानों का सपाट विस्तार दिखायी दे रहा था, दूर-दूर तक मनुष्य के निवास का कहीं कोई चिह्न नहीं था। वह निराश हुआ। शरीर बिल्कुल चूर हो गया था। पैर आगे बढ़ने को एकदम तैयार नहीं थे। बड़ी कठिनाई से वह एक छोटी पहाड़ी पर चढ़ सका। उद्देश्य था—ऊँचाई पर से कुछ और दूर तक देखने का प्रयत्न करना। उसका श्रम सफल हुआ। पहाड़ी की दूसरी ओर एक छोटा-सा मन्दिर दिखायी दिया। मन्दिर है, तो मनुष्य के होने की सम्भावना भी है। वह शिथिल गति से मन्दिर की ओर बढ़ा।

मन्दिर के पास पहुँचते ही उसे संकट का सामना करना पड़ा। एक वृद्ध उसकी ओर झपटे, "आ गया यमराज का दूत। आगे बढ़ा तो हड्डी-पसली चूर कर दूँगा। ले जाना हो तो मुझे ले जा। ख़बरदार जो उधर बढ़ा!" वृद्ध ने सचमुच ही उस पर डण्डा चला दिया। शार्विलक इस संकट के लिए तैयार नहीं था, पर जब डण्डा सिर पर आ ही गया तो फुर्ती से उछलकर अपने को बचा लिया। वृद्ध के केश बिखरे हुए थे, आँखें लाल हो रही थीं और नासिका का अग्रभाग बुरी तरह काँप रहा था। शार्विलक को लगा, वृद्ध विक्षिप्त हैं। शरीर-सम्पत्ति के नाम पर उनके

पास मुट्ठी-भर ठठरी ही थी, पर क्रोध से वे काँप रहे थे और अनर्गल गालियाँ बकते जा रहे थे। श्यामरूप हतबुद्धि !

इसी समय मन्दिर के भीतर से कोमल कण्ठ की आवाज़ आयी, "हैं-हैं ! क्या कर रहे हो ?" एक वृद्धा तपस्विनी मन्दिर से बाहर आयीं। शार्विलक ने देखा तो आश्चर्य से ठक् हो गया। इस वृद्धावस्था में भी उनके मुख-मण्डल से दीप्ति-सी झड़ रही थी। ललाट दर्पण के समान चमक रहा था। सम्पूर्ण शरीर से शालीनता बिखर रही थी। क्या पार्वती भी वृद्ध होती हैं ! साक्षात् पार्वती ही तो हैं। क्या शोभा ने वैराग्य धारण किया है, क्या तपस्या भी तप करती है, क्या कान्ति भी शरीर धारण करती है, दीप्ति को भी वार्द्धक्य का बाना धारण करना पड़ता है ? वह क्या देख रहा है ? उस वृद्धा ने आते ही वृद्ध को पकड़कर एक ओर किया। अत्यन्त मृदु कण्ठ से उन्हें डाँटा, "तुम मनुष्य भी नहीं पहचान सकते ? यह यमदूत है कि ब्राह्मण-बालक है ? तुम्हारा बेटा ही तो है ! क्यों क्रोध करते हो ? शिव आज प्रसन्न हैं। उन्होंने हमारा पुत्र लौटा दिया है। ध्यान से देखो !" वृद्ध ने ध्यान देने का प्रयत्न किया। पथराई आँखों से वृद्धा की ओर देखकर भीगे स्वर में बोले, "श्यामरूप है ?" फिर एकदम झपटकर शार्विलक को छाती से लगा लिया, "हाय, बेटा, तुझे मार दिया, अब नहीं मारूँगा, नहीं मारूँगा ! तू अब बूढ़े बाप पर विश्वास कर, हाय बेटा !" वे सारी ताक़त लगाकर शार्विलक को छाती से चिपकाते जा रहे थे। वह कुछ भी नहीं समझ पा रहा था, पर वृद्ध के गाढ़ आलिंगन से उसे अपूर्व शान्ति भी मिल रही थी। वह वृद्धा की ओर चकित भाव से देख रहा था। श्यामरूप तो उसी का नाम है। यह वृद्धा उसे कैसे जान गयीं ! निश्चय ही यह साक्षात् भगवती हैं। वृद्ध की छाती से चिपका हुआ वह करुण नेत्रों से भगवती को देखता जा रहा था। उसका सिर वृद्ध की अश्रुधारा से सिक्त हो रहा था। यह कैसा विचित्र संयोग है !

वृद्धा ने बड़े प्यार से वृद्ध को समझाया, "अभी इसे छोड़ दो। थका हुआ आया है। इसे मुझे ले जाने दो। तुम शान्त होकर शिवजी का ध्यान करो।" वृद्ध ने शार्विलक का सिर सूँघा। कुछ कातर वाणी में बोले, "तू अब जायेगा तो नहीं बेटा !" शार्विलक के उत्तर देने के पहले ही वृद्धा बोल उठीं, "जायेगा क्यों नहीं ! सयाना हो गया है। कामकाज भी तो है। आता-जाता रहेगा। बूढ़े बाप और माँ को कैसे छोड़ सकता है ?" फिर शार्विलक की ओर देखकर बोलीं, "आता-जाता रहेगा न बेटा ?" उत्तर की उन्हें अपेक्षा नहीं थी। वृद्ध से बोलीं, "हाँ, आता-जाता रहेगा ! तुम क्रोध मत करना।"

शार्विलक को विचित्र नाटक-सा दिखायी दे रहा था। वृद्ध ने डबडबायी आँखों से उसकी ओर देखा, बोले, "मैंने यमदूत समझा था बेटा! अब गुस्सा नहीं करूँगा।" वृद्धा माता ने काटकर कहा, "यमदूत पर भी क्यों करते हो ? वह अपने श्यामरूप को कहाँ ले गया है ? यही तो सामने है, देखो !" वृद्ध ने आश्वस्त होकर कहा, "ठीक कहती हो ! यमदूत का कोई अपराध नहीं है। मेरी ही मति मारी गयी है।

नहीं, अब किसी पर क्रोध नहीं करूँगा, किसी पर नहीं !"

शार्विलक इस सारे नाटकीय संवाद का मूक साक्षी बना रहा। उसे कुछ बोलने का अवसर ही नहीं दिया गया, यद्यपि मुख्य पात्र वही था। वृद्धा ने उसका हाथ पकड़कर बड़े प्यार से कहा, "आ बेटा, तू थका-थका लग रहा है।" वृद्ध चीत्कार के साथ बोल उठे, "कभी क्रोध नहीं करूँगा, कभी नहीं।" वे एकटक देखते रहे। फिर थके हुए-से, हारे हुए-से शिव मन्दिर की ओर चले गये।

वृद्धा माता शार्विलक का हाथ पकड़कर अपनी कुटिया में ले गयीं। शार्विलक मन्त्र-मुग्ध-सा खिंचता गया। उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

वृद्धा ने स्नेह-सिक्त स्वर में उसे हाथ-मुँह धोने और जलपान करने को कहा। वह यन्त्र-चालित के समान आदेश-पालन करता गया। किसी माया के वश में हो गया है क्या ?

जलपान के लिए कुछ फल-फूल के सिवा कुछ और नहीं था, परन्तु उसमें मातृत्व की गरिमा थी। श्यामरूप (शार्विलक) इस स्नेह-सिक्त जलपान से जहाँ अननुभूत तृप्ति पा रहा था, वहीं रहस्य न समझ पाने के कारण संकुचित भी था। वह कुछ जानना चाहता था, परन्तु मुँह से कोई शब्द नहीं निकल पा रहा था। थोड़ी देर में वृद्धा ने ही रहस्योद्घाटन किया, बोलीं, "बेटा, बड़े भाग्य से तुम यहाँ आ गये। इनको तो तुम देख रहे हो न ? एकदम पागल हो गये हैं। क्रोधी तो ये शुरू से ही थे, परन्तु अब मस्तिष्क का साम्य एकदम नष्ट हो गया है। अच्छे विद्वान् थे, लोगों में सम्मान प्राप्त था, दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास शास्त्र का अध्ययन करने के लिए आते थे, पर अब कैसी अवस्था हो गयी है ! हमारे भाग्य में विधाता ने केवल कष्ट ही लिखा था। बहुत पूजा-पाठ और व्रत-उपवास करने के बाद एक पुत्र प्राप्त हुआ। सुन्दर ऐसा कि रास्ता चलते लोग देखकर ठिठक जाते थे। बहुत-कुछ तुम्हारे-जैसा ही था। बुद्धि भी उसकी बहुत अच्छी थी। पिता उस पर जान देते थे और मैं अपनी बात क्या बताऊँ ! उसे पाकर मैंने अपने जीवन को कृतार्थ समझा था, लेकिन ये उसे जल्दी-जल्दी पण्डित बना देना चाहते थे। कभी-कभी क्रोध में पीट भी दिया करते थे। जब सोलह वर्ष का हुआ तो वह सचमुच शास्त्रज्ञ के रूप में आदर-सम्मान पाने लगा। इनकी बड़ी इच्छा थी कि वह वाद-सभा में सदा विजयी बनता रहे। एक बार उज्जयिनी की वाद-सभा में उसे बहुत सिखा-पढ़ाकर भेजा। इन्हें बड़ी आशा थी कि इनका लड़का दिग्विजयी पण्डित घोषित होगा। मैं इन्हें बार-बार कहती थी कि उतावले क्यों होते हो, अभी उसकी अवस्था ही कितनी है। कुछ और पढ़े-लिखेगा तो तुम्हारी आशा अवश्य पूरी होगी, परन्तु विधाता ने इन्हें धैर्य-जैसी चीज़ दी ही नहीं। थोड़ी-सी बात पर चिढ़ जाते थे और क्रोध से जल-भुन जाते थे। उज्जयिनी की वाद-सभा में बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् आये हुए थे। वहाँ इस बच्चे की क्या सामर्थ्य थी ? इनकी आशा पूरी नहीं हुई। लड़का कुछ लज्जित-सा होकर घर लौटा। मैंने उसे प्यार किया, ढाढ़स बँधाया, कहा कि कोई बात नहीं है, अभी तुम बच्चे हो, अगली बार तुम अवश्य विजयी

होगे। खूब मन लगाकर पढ़ो। शिवजी तुम्हें शास्त्र-मर्मज्ञ बनायेंगे। जानते हो बेटा, शास्त्रार्थ-सभा में विजयी होना मेरी दृष्टि में पाण्डित्य की कसौटी नहीं है। जिसे सचमुच शास्त्र-ज्ञान हो जायेगा, वह भला जीत-हार के लिए क्यों भटकता फिरेगा! परन्तु इन्हें मेरी बात नहीं सोहाती थी। ज्यों ही इन्होंने सुना कि लड़का शास्त्रार्थ में हार गया है, क्रोध से तमतमाये हुए आये और आते ही उसे पीटने लगे। अगर मैं बीच में न पड़ गयी होती तो शायद मार ही डालते। इनकी सारी मार का अधिकांश मैंने ही झेला। सोलह वर्ष का सयाना लड़का क्या कभी इस तरह पीटा जाता है? परन्तु उस दिन इनका पारा बहुत चढ़ा हुआ था। मैंने अपने पड़ौसी को बुलाकर किसी तरह लड़के को इनसे अलग कर दिया। ये घर की चीज़ें तोड़ते-फोड़ते रहे। दूसरे दिन कुछ शान्त हुए।...

"उधर लड़का घर से भाग गया। भागा तो फिर लौटा ही नहीं। कई दिन बाद पता लगा कि वह कुएँ में डूबकर मर गया। मैंने सुना तो सिर पीट लिया। पिता की उतावली ने कैसा अनर्थ कर दिया! यह तो पागल ही हो गये। जिस किसी अपरिचित को देखते हैं उसे ही यमराज का दूत समझकर मारने दौड़ते हैं। इनके मन में कुछ भय समा गया है कि यमराज का दूत लड़के को तो ले ही गया, पत्नी को भी ले जायेगा। मेरी अवस्था तुम समझ सकते हो। यमराज के दूत अगर उठा ले जाते तो अच्छा ही होता, परन्तु इनके कारण मैं यमराज के दूत को बुला भी नहीं सकती। भगवान् ने जो सबसे सुन्दर प्रसाद दिया था उसे तो उठा ही ले गये, मुझे यह चिन्ता सताने लगी कि कहीं इन्हें भी न खो दूँ। गाँव में न जाने कितने लोगों से झगड़ा हो गया। जिसे मारने दौड़ते, वह भी दो-चार हाथ इन्हें लगा ही देता। गाँव में रहना मुश्किल हो गया। फिर मैं इन्हें लेकर इस निर्जन स्थान में आ गयी। यहाँ कोई मनुष्य आता ही नहीं। इसलिए ये कुछ शान्त रहने लगे। कोई बारह साल से मैं इस मन्दिर में शिव की आराधना कर रही हूँ। नित्य प्रार्थना करती हूँ कि प्रभो! जिसे ले लिया उसे तो ले ही लिया, जिसे रहने दिया है उसे सुबुद्धि दो। इनका मानसिक सन्तुलन ठीक कर दो और जीवन के अन्तिम क्षणों में इनको सेवा करने की सुबुद्धि दो। मेरा गाँव यहाँ से थोड़ी ही दूर पर है। बीच-बीच में इन्हें छोड़कर चली जाती हूँ और जो कुछ भी इनके शिष्यों से मिल जाता है उसे ले आती हूँ और किसी प्रकार शिव की आराधना करती हुई मृत्यु के दिन गिन रही हूँ।...

"बेटा, मैंने जो नाटक आज रचा है, वह इन्हीं परिस्थितियों में। मेरे बेटे का नाम श्यामरूप था, इसीलिए मैंने तुम्हें श्यामरूप कहा। ऐसा लगता है कि इन्हें विश्वास हो गया है कि तुम वही श्यामरूप हो। कौन जाने, आज से इनकी दशा सुधरने लगे! बेटा, तुमसे यहाँ रहने को तो नहीं कहूँगी, परन्तु अगर इनकी दशा सुधरने लगे तो यह आशा अवश्य करूँगी कि तुम कभी-कभी आ जाया करो। मेरा विश्वास है कि शिवजी ने ही इनके मानसिक उपचार के लिए तुम्हें भेजा है। बुरा न मानना बेटा, मैंने तुम्हारे बारे में कुछ पूछा ही नहीं, केवल अपना ही दुखड़ा

रोती रही। यदि ये कभी तुमसे तुम्हारा नाम पूछें तो श्यामरूप ही बताना।"

वृद्धा थोड़ा रुकीं और फिर दुलार से सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं, "तुम मेरे श्यामरूप ही तो हो। हाय बेटा, तुम क्या इस वृद्धा माँ को नहीं समझ सकते ?"

वृद्धा की आँखों से आँसू झरने लगे। श्यामरूप भी डबडबा गया। बोला, "माँ, मैं सचमुच श्यामरूप ही हूँ। कैसा विचित्र संयोग है ! मैं अनाथ बालक हलद्वीप के वृद्धगोप दम्पती का पाला हुआ हूँ। मेरा नाम श्यामरूप ही है। मैंने सुना है कि मेरे पिता-माता किसी मेले में मुझे लेकर आये और किसी दुर्घटना में डूबकर मर गये। मैं अभागा बच गया। यह तो विचित्र बात है। माता, तुम कहती हो कि तुम्हारा श्यामरूप डूबकर मर गया। और यह श्यामरूप भी जानता है कि उसके माँ-बाप डूबकर मर गये। तुम अपने डूबे श्यामरूप को मुझमें देख रही हो और मैं अपने डूबे हुए माता-पिता को तुम लोगों में देख रहा हूँ। यह विचित्र संयोग नहीं है, माँ ?"

वृद्धा माता चकित भाव से उसे देखने लगीं, बोलीं, "सचमुच विचित्र है बेटा ! मैंने अपने डूबे हुए लाल को पाया, तुमने अपने डूबे हुए माँ-बाप को पाया। अच्छा बेटा, आये कहाँ से हो ?"

श्यामरूप ने दीर्घ निःश्वास लिया, बोला, "आ तो उज्जयिनी से रहा हूँ, माँ ! मथुरा में तुम्हारे इस पुत्र को 'मल्ल-मौलिमणि' का सम्मान मिला था, लेकिन इसका नाम बदल गया था। अब मैं 'शार्विलक' नाम से जाना जाता हूँ, लेकिन मेरा मूल नाम श्यामरूप ही है। उज्जयिनी में एक विचित्र संकट में पड़कर भाग खड़ा हुआ। भागता-भागता यहाँ आकर छिपा। मुझे बिल्कुल पता नहीं कि मैं उज्जयिनी से कितनी दूर और किस ओर आ गया हूँ। माँ, तुम्हारा यह लड़का कायर नहीं है, परन्तु कुछ ऐसा ही संयोग बना कि प्राण बचाना आवश्यक हो गया। हाथ में कोई हथियार नहीं था। कहीं से शस्त्र-संग्रह करके फिर मैं उज्जयिनी जाना चाहता हूँ। कुछ ऐसी बात है कि मुझे लौटना ही पड़ेगा। परन्तु माँ, अब तो मैं अपने माँ-बाप को पा गया हूँ। उज्जयिनी से फिर लौटकर दर्शन करूँगा। तुम अवश्य मेरी माँ हो। मैं इस बात को कभी भी भूलूँगा नहीं !"

वृद्धा ने शिव-मन्दिर की ओर उत्सुकता-भरी दृष्टि से देखा और मानो अपने से ही बोलीं, "यह कैसी लीला है, प्रभो !" फिर उन्होंने बड़े प्यार से शार्विलक का सिर सहलाया, अस्त-व्यस्त बालों को ठीक किया और देर तक एकटक उसकी ओर देखती रहीं। फिर वहाँ से दृष्टि हटाकर मन्दिर की ओर देखने लगीं। थोड़ी देर तक वे अवश-भाव से एकटक उसी ओर देखती रहीं। वह दृष्टि विचित्र थी। उसमें कृतज्ञता भी थी, कातरता भी थी और उल्लास भी था। बीच-बीच में किसी अदृश्य श्रोता को लक्ष्य करके कुछ बोलती-सी जाती थीं। शब्द स्पष्ट होते थे, वाक्य अधूरे। अदृश्य श्रोता उसका अर्थ समझता था, शायद कुछ प्रत्युतर भी देता था, परन्तु शार्विलक उन प्रत्युत्तरों को नहीं सुन पाता था। देर तक एकटक देखते रहने के बाद वृद्धा के मुँह से शब्द निकले थे, "प्रभो ! ममता में बाँधते हो, यह कैसी

मुक्ति देते हो ?" अदृश्य श्रोता ने क्या उत्तर दिया, वह शार्विलक ने नहीं सुना। पर वृद्धा माता के कपोल दर-विगलित अश्रुधारा से भीग गये। आँखें खुली रहीं। कुछ देर चुप रहने के बाद वह बोलीं, "ठगते हो, ठगी को बढ़ावा देते हो !" फिर मौन, फिर अश्रुपात ! "ममता में ही मुक्ति देते हो तो यह प्रपंच-लीला क्यों ?" फिर बिना रुके अर्द्धस्फुट स्वर में बोलीं, "सब तो लिया तुमने, यह ममता भी क्यों नहीं ले लेते ! क्यों नाटक रच-रचके भरमाते हो ! तुम्हारी दया भी छलना है !" पता नहीं, अदृश्य श्रोता ने क्या उत्तर दिया। वृद्धा माता उसी प्रकार अभिभूत मुद्रा में ताकती रहीं। आँखों से अश्रुधारा उसी प्रकार झरती रही। फिर हारी हुई की भाँति अपने-आपसे बोल उठीं, "भाग्यहीना, सब छलना है, सब धोखा है, सब अभिनय है। क्यों व्यथा पाती है ! व्यथा भी छलना है !"

शार्विलक कुछ समझ नहीं पाया कि माताजी के मन में क्या द्वन्द्व चल रहा है। कहीं मर्म पर चोट पहुँची है। उनका सारा अस्तित्व ही झनझना उठा है। वे मौन हो गयी हैं, पर कहीं अन्तरतर की अत्यन्त गहराई में कुछ झनझना उठा है। उनका सारा शरीर उद्भिन्न-केसर कदम्ब-पुष्प के समान रोमांच-कंटकित हो उठा है। वे निर्वात-निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति ऊर्ध्वमुख जल रही हैं। धरती का जड़ आकर्षण उन्हें नीचे नहीं खींच सकता। वे उत्फुल्ल हैं, रोमांचित हैं, निःस्पन्द हैं।

धीरे-धीरे वे सहज अवस्था में आने लगीं। आँखों की स्निग्धता लौट आयी, अधरों की लालिमा अपनी जगह आ गयी। नास-पुट का स्पन्दन बन्द हो गया। उन्होंने स्निग्ध दृष्टि से श्यामरूप (शार्विलक) की ओर देखा। फिर श्यामरूप की ओर मुड़कर उन्होंने पूछा, "कौन शस्त्र तुम्हें चाहिए, बेटा ? तुम क्या क्षत्रिय-कुमार हो ?" श्यामरूप (शार्विलक) ने कुछ लज्जित होकर कहा, "माता, हूँ तो ब्राह्मणकुमार ही, लेकिन संस्कार-भ्रष्ट हूँ।" वृद्धा ने गद्गद होकर कहा, "कोई बात नहीं, बेटा ! परमात्मा ने तुम्हारे भीतर जो शक्ति दी है उसी का विकास करो, उसी को दीन-दुखियों के कष्ट दूर करने में उपयोग करो, उसी को अखिलात्मा पुरुष की सेवा में लगा दो। मैंने तो केवल इसलिए पूछा कि साधारणतः क्षत्रिय-कुमार ही शस्त्र ग्रहण करते हैं। हम तो अकिंचन हैं। हमारे पास कोई शस्त्र नहीं है। केवल एक शस्त्र है जो इस मन्दिर में मुझे मिला था। उसे देख लो, अगर तुम्हारे काम का हो तो ले जा सकते हो। वह शिव का ही वरदान है, इसलिए उससे कोई अनुचित कर्म नहीं करना।" शार्विलक एकदम उत्फुल्ल हो उठा, "कहाँ है माता, मैं उसे देखूँगा। विश्वास करो माँ, अनावश्यक रूप से इस शस्त्र का उपयोग नहीं करूँगा। केवल दीन-दुखियों की रक्षा के लिए आवश्यक हुआ तो भगवान् शिव की अनुज्ञा से ही उसका उपयोग करूँगा, परन्तु वह है कहाँ ? मैं देखना चाहता हूँ।" वृद्धा ने श्यामरूप को आश्वस्त किया और कहा, "पहले तुम स्नान कर लो, कुछ विश्राम कर लो, फिर सन्ध्या समय मैं तुम्हें दिखा दूँगी।" इसी बीच वृद्ध सज्जन आ गये। उन्होंने आते ही शार्विलक के सिर पर हाथ फेरा।

और बोले, "बेटा श्यामरूप, तुम कहाँ-कहाँ भटक रहे हो ? अब इस बूढ़े को न छोड़ना, बेटा !" श्यामरूप ने उनके चरणों पर सिर रख दिया और बोला, "पिताजी, दो-चार दिन के लिए मुझे बाहर जाना होगा और फिर लौटकर आपके चरणों के पास आ जाऊँगा।" वृद्ध ने फटी-फटी आँखों से देखते हुए कहा, "अब क्रोध नहीं करूँगा बेटा, कभी भी नहीं करूँगा।" वृद्ध के कातर स्वर से शार्विलक को कष्ट हुआ। उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसने फिर चरणों में सिर रखकर कहा, "पिताजी, आप कभी क्रोध न करियेगा।" वृद्ध ने उसे फिर छाती से चिपका लिया, "कभी नहीं, कभी नहीं ! अब मैं तुझे शास्त्रार्थ-सभा में नहीं भेजूँगा। तुझसे शास्त्र-चर्चा भी नहीं करूँगा। तू जैसा है वैसा ही मुझे स्वीकार है।" कहकर वे चले गये।

सायंकाल वृद्धा माता शार्विलक को मन्दिर में ले गयीं। वहाँ एक पत्थर से दबी हुई तलवार निकाली। बोलीं, "देख बेटा, इससे तेरा काम होगा ?" श्यामरूप ने उस तलवार को उठाकर हाथ में लिया। भारी मालूम हुई। कोष में से निकालकर देखा तो ऐसा लगता था, जैसे सूर्य ही चन्द्रमण्डलाकार होकर चमक रहा है। किसकी तलवार हो सकती है यह ! गद्‌गद होकर बोला, "माँ, यह तो बहुत अच्छी चीज है !" फिर माता के चरणों में सिर रखकर बोला, "इसे दीन-दुखियों की रक्षा के अलावा कहीं भी प्रयोग नहीं करूँगा। यह शिव का वरदान है, तुम्हारा आशीर्वाद है। मेरा विश्वास है कि मुझे इसे चलाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसे देखकर शत्रु स्वयं निस्तेज हो जायेंगे। माँ, मैं तुम्हारा बहुत ऋणी हूँ।" माता ने बहुत प्यार से कहा, "ले जा, यह तेरी रक्षा करेगी और तुझे दीन-दुखियों की रक्षा करने का साहस देगी। यह तलवार कैसे यहाँ आ गयी, यह मैं भी नहीं जानती। मैं यह भी नहीं जानती कि मेरे आने के पहले की पड़ी है या बाद में किसी ने छोड़ दी है। एक दिन मन्दिर में झाड़ू देते समय एक पत्थर हटाने पर मुझे यह अनायास मिल गयी। मैंने इसे छुआ तक नहीं। क्या करती इसे लेकर ? यदि तुम्हारा काम हो जाये तो इसे शिवजी की सम्पत्ति समझकर पीछे यहीं रख सकते हो। जान पड़ता है कि यह किसी महावीर की तलवार है।" शार्विलक ने सिर झुकाकर माता का प्रसाद ग्रहण किया।

सोलह

हलद्वीप शान्त था। आर्यक के राजपद पर अभिषिक्त होने से विरोधी दब गये थे। कुछ लोग तो राज्य छोड़कर अन्यत्र चले गये थे। आर्यक जब साम्राज्य-

वाहिनी का महाबलाधिकृत होकर चला गया, तब भी वहाँ शान्ति बनी रही। सम्राट् के दूर के सम्बन्ध के मामा के पुत्र लगनेवाले लिच्छवि राजकुमार पुरन्दर अमात्य-पद पर अभिषिक्त थे। वही राज-काज देखते रहे। उन्होंने कई बार मृणालमंजरी से अनुरोध किया कि वह आकर प्रजा-पालन करे, परन्तु मृणालमंजरी अपना गाँव छोड़ने पर राजी नहीं हुई। फिर भी पुरन्दर उसका सम्मान रानी के रूप में ही करते रहे। कठिन समस्याओं के बारे में वे मृणालमंजरी की अनुमति अवश्य लेते रहे। यद्यपि मृणालमंजरी ने सदा यही कहा कि आर्य को जो उचित जान पड़े, वही करें। परन्तु इतनी-सी बात को भी वे आदेश ही मानते थे। मृणालमंजरी ने कभी अपने को रानी नहीं समझा। वह यथानियम व्रत-उपवास का तपोमय जीवन बिताती रही। प्रजा में पुरन्दर के व्यवहार से सन्तोष था। वह अपनी तपस्विनी रानी को पाकर प्रसन्न थी। राज-कार्य पुरन्दर ही सम्हाल रहे थे, पर कभी भी उन्होंने अपने को एक थाती के व्यवस्थापक से अधिक नहीं समझा। वे मृणालमंजरी के तपोमय जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित करते थे, पर प्रजा में यह धारणा अवश्य दृढ़ करते रहते थे कि महीयसी रानी की अनुमति के बिना कोई पत्ता नहीं हिल सकता। प्रजा सन्तुष्ट थी। सारा कामकाज सहज गति से चल रहा था। कहीं कोई कठिनाई नहीं दिखायी देती थी।

परन्तु चन्द्रा के आने और मृणालमंजरी के साथ रहने लगने से नगर में थोड़ी अशान्ति दिखायी पड़ी। हलद्वीप के प्रायः सभी लोग चन्द्रा को चरित्रहीन नारी समझते थे। वह किसी और की ब्याहता बहू है, अपने पति को छोड़कर वह आर्यक के पीछे लग गयी। यह धर्म-कर्म के विपरीत आचरण था। उसके इस स्वैराचार से सबसे अधिक कष्ट स्वयं रानी मृणालमंजरी को हुआ और फिर भी यह उसी के साथ रहने लगी है। और कोई स्त्री होती तो उसकी खाल खिंचवा लेती; पर मृणालमंजरी है कि उसे बड़ी बहिन का सम्मान देती है। इससे प्रजा में जहाँ मृणालमंजरी का मान और भी बढ़ गया, वहीं चन्द्रा के प्रति रोष और घृणा भी बढ़ गयी। चन्द्रा के पति श्रीचन्द्र ने अवसर देखकर अमात्य पुरन्दर के दरबार में व्यवहार (मुकद्दमा) खड़ा कर दिया। उसकी इच्छा केवल यही थी कि चन्द्रा को दण्ड मिले और आर्यक की कुत्सा हो। पुरन्दर बड़े असमंजस में पड़े। उनके मन में भी चन्द्रा के प्रति रोष था, पर इस व्यवहार में स्वयं राजा आर्यक के घसीटे जाने की आशंका थी।

असमंजस के और भी कई कारण थे। पुरन्दर को प्रामाणिक रूप से तो कुछ पता नहीं था, पर सारे हलद्वीप में लोग जान गये थे कि स्वयं सम्राट् ने आर्यक और चन्द्रा के सम्बन्ध को अनुचित ठहराया है और इस कार्य के लिए अपने प्रिय वयस्य और सेनापति आर्यक की भर्त्सना की है। इस प्रकार सम्राट् ने स्वयं निर्णय कर दिया है कि यह सम्बन्ध अनुचित है। व्यवहार में किसी-न-किसी बहाने सम्राट् का निर्णय भी घसीटा जायेगा। उन्होंने मृणालमंजरी से भी इस विषय में परामर्श लिया। मृणालमंजरी ने लज्जा और संकोच के कारण इस विषय में विशेष कुछ

नहीं कहा, लेकिन दृढ़ता के साथ इतना अवश्य कहा, "धर्मतः यह मामला मेरे, चन्द्रा के और आर्यक के बीच का है, कोई चौथा इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता—राज्य भी नहीं।" पुरन्दर सुनकर कुछ आश्चर्य के साथ बोले, "क्या कहती हो देवि, इस सम्बन्ध में चन्द्रा के पति श्रीचन्द्र को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है ?" मृणालमंजरी ने दृढ़ता के साथ कहा, "हाँ आर्य, धर्मतः श्रीचन्द्र चन्द्रा का पति नहीं है।" पुरन्दर इस दृढ़तापूर्वक कहे गये वाक्य से स्तब्ध रह गये। उन्हें मृणालमंजरी से ऐसा सुनने की कल्पना भी नहीं थी। उनकी चिन्ता और भी बढ़ गयी।

ऐसे व्यवहारों में मध्यदेश में प्राड्विवाक की राय ली जाती थी। शक-प्रभावित क्षेत्रों—मथुरा, उज्जयिनी आदि—में परामर्शदाता को 'प्राश्निक' कहा जाता था। दोनों का काम एक ही था। वे लोग वादी-प्रतिवादी और साक्षियों से प्रश्न करके सच्चाई का पता लगाते थे। अन्तर यह था कि प्राड्विवाक स्थायी धर्माधिकारी होता था, जबकि प्राश्निक मामले की प्रकृति के अनुसार अस्थायी रूप से नियुक्त किया जाता था। मथुरा को अधिकार में लेने के बाद भारशिव नागों ने दोनों प्रथाओं को मान्यता दी थी। प्राड्विवाक चाहे तो अस्थायी प्राश्निक नियुक्त कर सकता था। मथुरा के हाथ से निकल जाने के बाद भी यह प्रथा चलती रही। हलद्वीप में तो अब भी यह प्रथा प्रचलित थी। यहाँ के प्राड्विवाक कान्तिपुरी से आये महान् धर्मशास्त्रज्ञ आचार्य पुरगोभिल थे, जो अपनी निष्पक्षता और धर्म-प्रेम के कारण जनता में सम्मानित थे। राज्य के उलट-फेर के बाद भी वे अपने पद पर बने रहे। उनकी विद्वत्ता और धर्म-बुद्धि का सम्मान सभी वर्गों के लोग करते थे।

पुरन्दर ने प्राड्विवाक पुरगोभिल को परामर्श के लिए बुलाया। उन्हें आशा थी कि वे मामले की गुत्थियाँ सुलझा देंगे।

धर्म-मर्मज्ञ आचार्य पुरगोभिल पूजा-पाठ से निवृत्त होकर राजभवन के लिए निकले तो द्वार पर ही सुमेर काका मिल गये। आचार्यपाद सुमेर काका को भली-भाँति जानते थे। वे उनकी खरी बातों और फक्कड़ाना स्वभाव का आदर करते थे। सुमेर काका ने दण्डवत् प्रणाम किया। कुशल-प्रश्न के बाद आचार्यपाद ने काका के आगमन का कारण पूछा। काका ने हाथ जोड़कर कहा, "अविनय क्षमा हो आर्य, यह जानते हुए भी कि आप राज-प्रतिनिधि अमात्य से श्रीचन्द्र के व्यवहार के विषय में वार्त्ता करने जा रहे हैं, मैंने आपको थोड़ी देर के लिए रोक देने की धृष्टता की है। मुझे केवल इतना निवेदन करना है कि यदि यह व्यवहार चलाने की अनुमति दी गयी तो मेरा भी एक अभियोग विचारार्थ स्वीकृत होना चाहिए। अपने अभियोग के लिए प्रमाण देने को प्रस्तुत हूँ।" सुमेर काका की बात सुनकर आचार्यपाद रुक गये। बोले, "तात सुमेर, मैं जानता हूँ कि तुम ऐसे प्रपंचों में नहीं पड़ते, निश्चय ही कोई गम्भीर बात होगी, जिससे तुम इस व्यवहार में अपने को उलझाना चाहते हो। मैं तुम्हारा अभियोग सुनना चाहता हूँ। बोलो, मैं पूर्ण-

रूप से अवहित हूँ।"

सुमेर काका ने बिना किसी भूमिका के अपनी बात कह दी, "आर्य, हलद्वीप के सभी स्त्री-पुरुषों की तरह मैं भी चन्द्रा के आचरण का विरोधी था। मुझे भी उससे घृणा थी, परन्तु कुछ नयी जानकारी मुझे मिली है। मेरा अभियोग यह है कि श्रीचन्द्र में पुरुषत्व है ही नहीं, और चन्द्रा के साथ उसका विवाह धर्म-सम्मत नहीं हुआ। यह विवाह चन्द्रा के पिता ने कन्या की इच्छा के विरुद्ध कराया है, जो मेरी दृष्टि में सामाजिक बलात्कार है। आपके सामने जो व्यवहार आनेवाला है उसकी मूल भित्ति ही यह है कि श्रीचन्द्र दावा करता है कि चन्द्रा उसकी पत्नी है। मेरी समझ में यह दावा ग़लत है। आर्य, मैं धर्म-शास्त्रों का ज्ञाता नहीं हूँ। सीधी बात सीधे समझने का अभ्यासी हूँ। श्रीचन्द्र को मैं मिथ्याचारी समझता हूँ। उसने समाज को धोखा दिया है। आप मुझे शूल-विद्ध भी कर दें तो भी मैं इस मिथ्याचार का प्रतिवाद करूँगा। पुराण-ऋषियों ने क्या कहा है, मुझे नहीं मालूम, परन्तु सत्य सत्य है, बलात्कार बलात्कार! मुझे इतना ही कहना है। आगे आप और राज-प्रतिनिधि पुरन्दर जैसा चाहें निर्णय दें, परन्तु यदि आपने इस भित्ति को स्वीकार करके व्यवहार चलाया तो सुमेर उसका विरोध करेगा।"

आचार्यपाद सुनकर एकदम ठिठक गये। बोले, "तात सुमेर, तुम बड़ी गम्भीर बात कह रहे हो, इसे प्रमाणित कर सकोगे?"

सुमेर काका ने अकुण्ठ-अस्खलित वाणी में उत्तर दिया, "हाँ!" और प्रणाम करके आचार्यपाद के उत्तर की अपेक्षा किये बिना चलते बने।

आचार्यपाद के मन में सैकड़ों शास्त्र-वाक्य घूमने लगे। वे विचार-मग्न होकर धीरे-धीरे चलते हुए पुरन्दर के आवास पर उपस्थित हुए।

उचित स्वागत-सत्कार के बाद पुरन्दर और पुरगोभिल एकान्त में विचार करने के लिए बैठे। पुरन्दर ने संक्षेप में उनसे व्यवहार की बात और अपने मन की उलझन बतायी और साथ ही मृणालमंजरी की बातें भी उन्होंने खोलकर आचार्यपाद के सामने रख दीं।

आचार्यपाद आदि से अन्त तक चुप सुनते रहे। उनके चेहरे पर कोई विकार नहीं आया। सब सुन लेने के बाद उन्होंने राज-प्रतिनिधि अमात्य पुरन्दर की ओर वेधक दृष्टि से देखते हुए कहा, "धर्मावतार, आप राजा के प्रतिनिधि हैं। आपके मन में यह उलझन है कि इस व्यवहार में हलद्वीप के वास्तविक राजा गोपाल आर्यक घसीटे जा सकते हैं। धर्म की दृष्टि में अनुचित कार्य करनेवाला दण्डनीय है, चाहे वह राजा हो या सामान्य जन। इसलिए इस उलझन की न तो कोई आवश्यकता है और न इसका कोई महत्त्व। धर्म की दृष्टि में गोपाल आर्यक हो या चन्द्रा, कोई भी अनुचित आचरण करता है तो उसे दण्ड भोगना ही पड़ेगा। आपकी दूसरी उलझन यह है कि आपकी धारणा है कि सम्राट् ने स्वयं इस विषय को निर्णीत कर दिया है। यह धारणा भी निरर्थक है। धर्मतः राजा या महाराजाधिराज अकेले में बैठकर कोई निर्णय नहीं ले सकते। धर्मावतार, पितामह और

शुक्राचार्य-जैसे धर्मज्ञों ने यह कठोर निर्देश दिया है कि राजा या न्यायाधीश या मन्त्री—किसी को भी अकेले में न तो विवाद सुनना चाहिए और न तो निर्णय लेना चाहिए। निर्णायक को पाँच दोषों से बचना चाहिए—राग, लोभ, भय, द्वेष और एकान्त में वादियों की बातें सुनना। इससे पक्षपात की आशंका बनी रहती है। यदि सम्राट् ने प्राड्विवाक, मन्त्री, पुरोहित और धर्म-शास्त्रियों से परामर्श किये बिना कोई निर्णय लिया है तो उसका कोई मूल्य नहीं है, वह निरर्थक है। फिर आपके पास कोई ऐसा प्रमाण भी नहीं है कि सम्राट् ने सचमुच ही कोई निर्णय किया है। किया भी हो तो वह धर्म-सम्मत नहीं है। तीसरी बात यह है कि मुझे ऐसे व्यक्ति से एक सूचना मिली है जिसे राग-द्वेष से विचलित होते नहीं देखा गया है। सूचना यह है कि श्रीचन्द्र का यह दावा ग़लत है कि वह चन्द्रा का धर्म-सम्मत पति है। मुझे बताया गया है कि उसमें पुरुषत्व नहीं है और धर्मतः वह किसी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। मुझे यह बताया गया है कि चन्द्रा की इच्छा के विरुद्ध उसके पिता ने किसी लोभवश यह विवाह कराया था। इन बातों के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। परन्तु यह बात यदि प्रमाणित हो भी जाये तो उसके बाद भी समस्या उलझी ही रहेगी। इस विचित्र स्थिति में क्या करना चाहिए, अस्पष्ट ही है। धर्मशास्त्र में ऐसा कोई वचन नहीं दिखता जो इस प्रकार के जटिल व्यवहार का निर्णय करने में सहायक हो। अन्ततोगत्वा राजा ही इस विषय पर निर्णय दे सकता है। राजा की अनुपस्थिति में सबसे पहला अधिकार रानी का होना चाहिए। उनका निर्णय आपने सुन ही लिया है। फिर भी, उनका निर्णय भी एकान्त का निर्णय है, इसलिए अमान्य है।"

आचार्यपाद की इस स्पष्ट उक्ति से पुरन्दर और भी परेशान हुए। उन्हें यह देखकर प्रसन्नता हुई कि आचार्यपाद धर्म-सम्मत बातें निर्भीकता के साथ कर रहे हैं, परन्तु उनकी परेशानी यह थी कि इससे कोई मामला सुलझ नहीं रहा था। उन्होंने विनीत भाव से कहा, "आचार्यपाद के स्पष्ट धर्म-सम्मत कथन से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। आपने सम्राट्, राजा, राज-प्रतिनिधि और रानी किसी को भी 'धर्म द्वारा अननुमोदित और असमर्थित मार्ग' की ओर जाने का प्रतिवाद किया है। यह आप-जैसे धर्माधिकारी के उपयुक्त वचन हैं। परन्तु इस विवाद को सुलझाने का कोई रास्ता नहीं दिखायी दे रहा है। कैसे सुलझाया जाये, इस सम्बन्ध में आचार्यपाद का क्या विचार है?"

आचार्य पुरगोभिल ने कहा, "धर्मावतार, मेरे कथन का उद्देश्य सम्राट्, राजा या रानी की अवमानना बिल्कुल नहीं है। मैं केवल धर्मसंगत निर्णय की ओर ही आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा था। जो-कुछ भी होना चाहिए, धर्म द्वारा अनुमोदित और समर्थित होना चाहिए। धर्म के आगे सभी समान हैं। किन्तु महाराज, मैं वृद्ध हो गया हूँ, मेरे पिता कान्तिपुरी के प्रसिद्ध धर्माधिकारी थे। मेरे पितामह मथुरा में नाग राजाओं के धर्माधिकारी थे। मैंने केवल धर्मशास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, बल्कि अपने पिता और पितामह से नवीन परिस्थितियों में

नवीन धर्मसंहिताओं के निर्माण की कहानी भी सुनी है। मैंने सुना है कि शक और कुषाण नरपतियों ने अनेक विद्वत्-सभाओं का आयोजन किया था, जिनमें धर्मज्ञ, अलूक्ष और सम्मर्शी धर्मवेत्ता उपस्थित हुए थे। विदेशी जातियों के आने के कारण समाज में नयी-नयी परिस्थितियों का प्रादुर्भाव हुआ है। उनके बारे में निर्णय देने में पुराने धर्म-सूत्रों और स्मृतियों के वचन प्राप्त नहीं होते थे। इन अलूक्ष और सम्मर्शी विद्वानों ने नयी धर्मसंहिताओं का निर्माण किया है, ऐसा मैंने अपने पिता के मुख से सुना है। मुझे ऐसा लगता है कि धर्म तो स्थिर और शाश्वत है, लेकिन इस व्यवहार की मूल भित्ति पर ही सन्देह किया गया है। इसका निर्णय मथुरा और उज्जयिनी की विद्वत्-सभाओं में दिये गये निर्णयों के अनुसार ही किया जायेगा। इसलिए मेरे दो सुझाव हैं। पहला तो यह कि अपने राज्य के प्रचलित नियमों के अनुसार हमें सुयोग्य प्राश्निक नियुक्त करने चाहिए जो सम्बद्ध व्यक्तियों से पूछताछ करके इस बात का पता लगायें कि श्रीचन्द्र और चन्द्रा का विवाह जिन परिस्थितियों में हुआ था, वे धर्म-सम्मत अथवा वैध हैं या नहीं। मुझे आज्ञा दी जाये कि मैं इस बात के लिए अधिकारी प्राश्निक नियुक्त करूँ जो वता सकें कि श्रीचन्द्र में वास्तव में पुरुषत्व है या नहीं। इस बात की जानकारी मिलने में कुछ समय लगेगा। इस बीच किसी विश्वसनीय व्यक्ति को मथुरा और उज्जयिनी भेजकर विद्वत्-सभाओं के नये निर्णयों को प्राप्त कर लिया जाये। इस नवीन धर्म-संहिता को हम श्रुति और स्मृति की कोटि में तो नहीं रखेंगे, परन्तु श्रुति और स्मृति के मूल उद्देश्यों को समझने में सहायक के रूप में उनका उपयोग करेंगे। वस्तुतः जो व्यवहार इस समय हमारे सम्मुख है उसका निदर्शन अधिकतर शकों और यवनों द्वारा प्रभावित आर्य-जनों के समाज में ही मिल सकता है। सारी बातों का विवेचन करके विद्वान्, अलूक्ष, और सम्मर्शी ब्राह्मणों ने जो निश्चय किया होगा, वह अवश्य हमारे काम आयेगा।"

राज-प्रतिनिधि अमात्य पुरन्दर ने शान्ति और धैर्य के साथ आचार्यपाद की बातें सुनीं। किन्तु ऐसा लगा कि वे आचार्य की बातों को गौरव के साथ सुन तो रहे हैं, पर उनका अनुमोदन नहीं कर पा रहे हैं। जिज्ञासु भाव से वे बोले, "आर्य, अज्ञजन का अपराध क्षमा हो, बात स्पष्ट नहीं हो रही है। ये नयी परिस्थितियाँ क्या हैं? ये प्रच्छन्न प्रभाव कैसे हैं?" आचार्यपाद ने उसी गम्भीरता से कहा, "आपके प्रश्न उचित हैं। मैं इसी प्रसंग से कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँ। आपने देखा होगा धर्मावतार, कि आजकल लोक में एकान्तिक प्रेम-गाथाएँ बहुत प्रचलित हो गयी हैं। पहले इतनी नहीं थीं। इस देश के कवियों ने गृहस्थी के अनेक उत्तरदायित्वों के पालन के साथ चलनेवाले पति और पत्नी के प्रेम को ही उत्कृष्ट माना है। इधर ऐसी गाथाएँ प्रायः सुनने को मिलने लगी हैं जब प्रेमिका या प्रेमी विवाह के पूर्व गाढ़ प्रेम से आकर्षित होते हैं और परिवार और समाज द्वारा खड़ी की गयी सारी बाधाओं का तिरस्कार करके मिलन का प्रयास करते हैं। लोक-चित्त में धीरे-धीरे ऐसी अविवाहित कुमारियों की प्रेम-

प्रतिष्ठा के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है जो अपने प्रेम के मार्ग में खड़े किये गये सारे पारिवारिक और सामाजिक अवरोधों को निरस्त करके अभीप्सित प्रेमी से मिलने का प्रयास करती हैं। है न ऐसा ही धर्मावतार, या मैं अतिरंजना कर रहा हूँ ?"

आचार्य पुरगोभिल जब गम्भीर शास्त्र-चर्चा कर रहे थे, उसी समय स्त्रियों का कोई उत्सव भी राजभवन के भीतर चल रहा था। थोड़ी देर तक तो वह धीरे-धीरे ही चल रहा था, पर अब उसने उद्दाम रूप ग्रहण किया। ऐसा जान पड़ता था कि अन्तःपुर में कुछ गाने-बजानेवाली स्त्रियाँ गा-बजाकर राज-बालाओं का मनोरंजन कर रही थीं। वाद्यों का स्वर तीव्र हो गया और ऐसा लगा कि साथ-ही-साथ कांस्य, ताल और नूपुरों की झनकार में भी तेज़ी आ गयी। आचार्य और अमात्य अपनी गम्भीर वार्त्ता में खोये हुए थे। उन्होंने इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि आचार्यपाद ने ज्यों ही अपनी बात समाप्त की, त्यों ही झम्म से नृत्य-गान बन्द हो गया। उत्ताल वाद्यों के एकाएक शान्त हो जाने से वातावरण एकदम शान्त हो गया। कोलाहल इन दो गम्भीर विचारकों का ध्यान भंग नहीं कर सका था, पर उसके अचानक बन्द होने से जो शान्ति आयी, वह अधिक मुखर सिद्ध हुई। दोनों का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। बिना पूछे ही अमात्य पुरन्दर ने बताया कि कोई आभीर महिलाओं की मण्डली जान पड़ती है। ऐसे उद्दाम-मनोहर नृत्य उन्हीं की मण्डली किया करती है। परन्तु यह क्षण-भर की शान्ति अचानक टूट गयी। एक युवती कोमल कण्ठ से अकेली ही कुछ सुनाने लगी। कण्ठ मनोहर था, स्वर स्पष्ट था और जान पड़ता था कि वह जान-बूझकर प्रत्येक पद का स्पष्ट उच्चारण करती जा रही थी। आचार्य पुरगोभिल के कान उसी ओर लग गये—बिना किसी चेष्टा वा इच्छा के। तरुणी ने एक-एक पद पर बल देते हुए गाया :

सत्थर - लोय - निवारिय पिय - उक्किखिरिय,
मुअइ धुअइ पुणु सुक्खइ संगम वावरिय।
सुविणन्तरि वि न लहइ सुहय पिय तण-फरसु।
को पुणु रहसालिगणु मोहणु मिलण-रसु॥
सो जलउ सुवित्थरु सत्थरु पुरजन-वज्जणउ।
जो पिय जण मिलणु णिवारइ मारइ सज्जणउ॥

[शास्त्र और लोक से निवारित प्रिय के लिए उत्कण्ठित तरुणी संगम के लिए व्याकुल होकर मर रही है, काँप रही है, सूख रही है। वह सपने में भी सुभग प्रिय के शरीर का स्पर्श नहीं पा रही है, फिर प्रत्यक्ष गाढ़ आलिंगन के सुख और मिलन के मोहन-रस की तो बात ही कहाँ उठती है! वह शास्त्र और पुरजनों का वरजना जल जाये, जो प्रिय-मिलन का निवारण करता है और साजन को मार डालता है।]

इस कोमल कण्ठ से पठित छन्द के तुरन्त बाद कांस्य-करताल झनझना उठे, मर्दल और संयवक गमगमा उठे और एक ही साथ अनेक नूपुरों का कल्लोल मुखर

हो उठा। श्रोतृ-मण्डली में ज़ोर का ठहाका हुआ, कदाचित् गानेवाली ने किसी अश्लील मुद्रा में अपनी बात प्रकट कर दी थी।

आचार्य पुरगोभिल ने अमात्य की तरफ़ देखा और मुस्कराते हुए कहा, "सुन लिया धर्मावतार, हर गाँव में, हर हाट में, हर गली में ये गाने सुनायी देंगे। आज आप इसे केवल भाव-लोक का विद्रोह कहकर टाल सकते हैं। पर लोक-मानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यताओं के प्रति यह भाव-लोक का विद्रोह किसी दिन वस्तु-जगत् के विद्रोह का रूप ले सकता है! जानते हैं धर्मावतार, आदि-मनु ने धर्म के लिए हृदय-पक्ष को ध्यान में रखने पर भी बल दिया था—'हृदयेनाभ्यनुज्ञात:' कहा था। पुराण-ऋषि जानते थे कि शुष्क आचार-मात्र धर्म नहीं है।"

अमात्य चिन्ता में पड़ गये। उन्हें लगा कि आचार्यपाद के कथन में सच्चाई है। पर इसकी संगति धर्म के साथ कैसे बैठ सकती है?

आचार्यपाद ने कहा, "धर्म के साथ इसकी संगति बैठ सकती है। लोक-चित्त के समष्टि-रूप के अन्तर्यामी जिस सत्य को ग्रहण करते हैं वह अपना भाव अवश्य विस्तार करता है। थोड़ा सोचकर देखिए, अमात्मवर!"

अमात्य इस धर्मपरायण के मुख से ऐसा सुनने की आशा नहीं रखते थे। परन्तु इस कथन के शब्द-शब्द से उनकी शिराएँ स्पन्दित होती गयीं। यह जो प्रेमिक युगल के चित्त में अनुराग का विकट आकर्षण है, जो शास्त्र को नहीं मानना चाहता, लोक को नहीं सुनना चाहता, पुरजन-परिजन की उपेक्षा करता है, आजन्म-लालित समस्त सम्बन्धों को क्षण-भर में तोड़ देता है—यह भी क्या किसी अन्तर्यामी का इंगित है? यह क्या व्यक्तिगत स्तर से उठ-उठकर समष्टि-चित्त को प्रभावित करता रहता है? धर्म के साथ इसका क्या सम्बन्ध है? कैसा सम्बन्ध है? क्या दोनों में कोई सामंजस्य या संगति खोजी जा सकती है? आचार्य कहते हैं, ऐसा हो सकता है, किया भी जाता है।

थोड़ा सोचकर पुरन्दर बोले, "ठीक ही कह रहे हैं, आर्य!"

आचार्यपाद ने कहा, "मैं बिल्कुल अतिरंजना नहीं कर रहा हूँ। अब सोचिये कि लोक-चित्त में प्रच्छन्न भाव से सामाजिक विधि-व्यवस्थाओं की अवमानना की प्रवृत्ति बढ़ रही है या नहीं। निश्चय ही बढ़ रही है। पर यह केवल काल्पनिक रस-भोग-मात्र है। अगर सचमुच किसी की पुत्री सामाजिक विधि-निषेध का उल्लंघन करके प्रेम निभाना चाहे तो लोग पसन्द नहीं करेंगे। परन्तु लोग चाहें या न चाहें, सुकुमार मति की कर्मठ बालिकाओं के वैचारिक सम्मान को कार्यरूप में परिणत करने की इच्छा कभी-न-कभी प्रबल रूप धारण कर सकती है। विचारों और कल्पना की दुनिया में जो बात आज मान्य होती है उसे व्यवहार की दुनिया में स्थान पाने में देर लगती है, पर वह पाती अवश्य है।"

पुरन्दर की आँखें फैल गयीं। बोले, "तो?"

"इसी तरह विधि-व्यवस्था-सम्बन्धी परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। जिसे आज अधर्म समझा जा रहा है वह किसी दिन लोक-मानस की कल्पना से उठकर

व्यवहार की दुनिया में आ जायेगा। अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा, तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।"

पुरन्दर की प्रतिक्रियाओं को जानने के लिए थोड़ा रुककर आचार्यपाद ने कहा, "देखिये, धर्मावतार, इस व्यवहार को ही लीजिये। चन्द्रा ने मन-ही-मन आर्यक को अपना वर चुना और समस्त सामाजिक विधि-विधान को मसलकर उसे पाने का प्रयास किया। लोक-गाथाओं में किसी कवि ने ऐसी कहानी गढ़ी होती तो चन्द्रा उत्तम प्रेमवती नायिका मानी जाती। वास्तविक जीवन में तो यह व्यवहार (मुक़द्दमा) है।"

पुरन्दर ने केवल 'हूँ' कहकर दीर्घ निःश्वास लिया।

आचार्यपाद ने कहा, "नयी-नयी जातियाँ आयी हैं, नये-नये आदर्श आये हैं। कल्पना-जगत् में जो आ रहा है वह व्यवहार में आयेगा। भविष्य में लोग पूछेंगे कि चन्द्रा ने अपने अन्तर्यामी के निर्देश से जो प्रेम किया, क्या वह पाप था? धर्मशास्त्र के पास इसका क्या उत्तर है? फिर, अगर धर्म लोक-मानस का नियन्त्रण न कर सके, तो उसकी सार्थकता ही क्या है? इसीलिए कहता हूँ धर्मावतार, कि लोक-मानस में प्रच्छन्न भाव से जो बात सत्य रूप में प्रतिष्ठित हो रही है, उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यहाँ हो रही है। शक और कुषाण नरपति इनकी उपेक्षा नहीं करते। धर्म के अन्तर्निहित तत्त्व भी इनकी उपेक्षा नहीं करते। बार-बार देखने की आवश्यकता है।"

ऐसा जान पड़ा, पुरन्दर के मन में उथल-पुथल हो रही है। फिर थोड़ी देर सोचने के बाद वे बोले, "आचार्यपाद के दोनों प्रस्ताव मुझे उचित जँचते हैं। पहला काम तो यह है कि आप प्राश्निक नियुक्त करके चन्द्रा के विवाह के विषय में सभी प्रश्नों का प्रामाणिक विवरण प्राप्त कर लें। दूसरे प्रस्ताव के लिए आप ही किसी व्यक्ति का नाम सुझा दें जो मथुरा या उज्जयिनी जाकर नयी परिस्थितियों-वाली शास्त्र-व्यवस्था को ले आ सके।"

आचार्यपाद ने थोड़ी देर सोचने के बाद निर्णय देने के स्वर में कहा, "धर्मा-वतार, नयी व्यवस्थाओं के ले आने के लिए सुमेर काका को नियुक्त करता हूँ। वे सत्यवादी हैं, लोभ-मोह से विचलित होनेवाले नहीं हैं और बहुत अधिक पढ़े-लिखे न होने के कारण उनसे यह आशंका भी नहीं है कि वे अपनी ओर से उन व्यवस्थाओं में कोई फेर-बदल कर देंगे। आज ही उनके नाम से राजाज्ञा निकल जानी चाहिए। मैं कल प्रातःकाल नये प्राश्निकों की नियुक्ति कर दूँगा।"

पुरन्दर ने आश्वस्त होकर कहा, "ठीक है आचार्य, आप जो करेंगे वह निश्चय ही शास्त्रसम्मत होगा।"

सुमेर काका को राजाज्ञा भिजवायी गयी। उनकी समझ में नहीं आया कि क्यों उनको उज्जयिनी भेजा जा रहा है। प्रातःकाल उन्होंने राज्य के प्राड्विवाक आचार्य पुरगोभिल से जो बातें की थीं, उनसे इसका कोई सम्बन्ध है या नहीं? वे

तो इस व्यवहार का विरोध करने के लिए ही कह आये थे, फिर यह राजाज्ञा क्यों मिली ? राजाज्ञा में स्पष्ट लिखा हुआ था कि वे आचार्यपाद से मिलकर यथोचित आदेश और पत्र आदि ले लें। यह आचार्यपाद ही बता सकते हैं कि कहाँ जाने पर यह व्यवस्था उन्हें प्राप्त होगी। वे कुछ उदास-से आचार्यपाद के पास पहुँचे। उनकी फक्कड़ाना मस्ती में उतार आ गया था। वे आवश्यकता होने पर इस राजाज्ञा का विरोध भी करना चाहते थे। आचार्यपाद के निवास-स्थान पर पहुँचते-पहुँचते उनका उत्साह ठण्डा पड़ गया था। आचार्यपाद ने उन्हें इस अवस्था में देखा तो उनकी मानसिक अवस्था का अनुमान करके मुस्कराने लगे। यथाविधि प्रणाम-निवेदन करके उन्होंने राजाज्ञा आचार्यपाद के हाथों में रख दी। बोले, "आर्य, यह राजाज्ञा मिली है। आपने ही इसे भिजवाया होगा। मैं क्या यह जानने की धृष्टता कर सकता हूँ कि इतने लोगों के रहते मुझे क्यों इस कार्य के लिए चुना गया ?" आचार्यपाद ने हँसते हुए कहा, "इसलिए चुना गया कि हलद्वीप-भर में केवल सुमेर काका ही ऐसे व्यक्ति हैं जो द्विधाहीन होकर मानते हैं कि सत्य सत्य है और बलात्कार बलात्कार।" सुमेर काका ने कहा, "देखो आर्य, पहेली मत बुझाओ। सुमेर काका अटट गँवार है। उसने कुछ अनुचित कहा हो तो क्षमा कर देना। परन्तु धर्मशास्त्रीय व्यवस्था ले आने का कठिन कार्य इस गँवार से नहीं होगा।" आचार्यपाद ने हँसते हुए कहा, "तात सुमेर, तुमने बड़ी विकट समस्या खड़ी कर दी है। जैसी परिस्थिति तुमने चन्द्रा के विवाह के समय की बतायी है, वह यदि सत्य है तो मेरे लिए एक विकट समस्या है। अब तक पुराण-ऋषियों द्वारा लिखे गये सूत्रों और स्मृतियों में इस प्रकार की परिस्थिति में क्या करना चाहिए, यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है। तुम्हारा आरोप सत्य है या नहीं, इसकी परीक्षा तो तुरन्त कर लूँगा। परन्तु यदि वह सत्य सिद्ध हुआ तो मुझे इस युग के निर्भ्रान्त मनीषियों की राय जाननी पड़ेगी और वह उज्जयिनी और मथुरा की विद्वत्-सभाओं के निर्णय से ही ज्ञात हो सकती है, क्योंकि वे ही क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ इस प्रकार की समस्याएँ उठती रहती हैं। हमारे इस क्षेत्र के आर्य-जन समाज में ऐसी समस्या का निदर्शन या समाधान पाना कठिन है। पुराण-ऋषियों के सामने भी कदाचित् ऐसी समस्या नहीं आयी। देखो तात, धर्म का तत्त्व सब समय उभरकर सामने नहीं आता। सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी ब्रह्मरेख नहीं हैं जो मिट ही नहीं सकतीं। इसीलिए गुहाहित, गह्वरेष्ठ धर्म की रक्षा के लिए निरन्तर विचार करते रहने की आवश्यकता होती है। इस देश के पश्चिमी क्षेत्रों में निरन्तर नयी-नयी जातियों के साथ नयी-नयी प्रथाएँ आती रहती हैं। उनका प्रभाव वहाँ तत्काल पड़ता है। इसीलिए वहाँ के विचारशील लोग निरन्तर धर्म-व्यवस्था को वर्त्तमान स्थिति के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं। मध्यदेश के धर्मज्ञ ब्राह्मण अधिक संरक्षणशील हैं, वे सामाजिक व्यवस्था को गतिशील नहीं मानते। परन्तु दीर्घकाल के अनुभवों से मैंने जाना है कि ये व्यवस्थाएँ भी स्थिर और अनुल्लंघ्य नहीं हैं। समाज में निरन्तर बाहरी प्रभाव प्रच्छन्न रूप से आते रहते हैं और भीतर

से भी नयी-नयी समस्याएँ सिर उठाती रहती हैं। ऊपर-ऊपर से लगता है कि समाज पुराने कायदे-कानून के अनुसार ही चल रहा है, परन्तु यदि निरन्तर शास्त्रसम्मत व्यवस्थाओं का परीक्षण न किया जाये तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि सारा समाज गतिहीन होकर अपनी बनायी व्यवस्थाओं की बेड़ी में आप ही कस जायेगा। कान्तिपुरी के नाग सम्राटों ने भी इस तथ्य को समझा था और मथुरा में उन्होंने विशाल विद्वत्-सभा का आयोजन किया था। शक राजाओं ने भी उज्जयिनी में इस प्रकार की विद्वत्-सभाओं का आयोजन किया, क्योंकि वे दिखाना चाहते थे कि उनका शासन वेद-शास्त्र की विधियों से विरुद्ध नहीं है। इन विद्वत्-सभाओं के निर्णय यहाँ तो उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए वहाँ से ही मँगाकर इनका उपयोग किया जा सकता है। मैंने यह दो पत्र लिख रखे हैं। मैं ठीक नहीं जानता कि इस समय उज्जयिनी में राजा कौन है। उड़ती-उड़ती जो खबरें आ रही हैं, उनसे लगता है कि वहाँ की स्थिति डाँवाडोल ही है। इसलिए एक पत्र मैंने राजा के नाम से और दूसरा राज-पुरोहित के नाम से लिखा है। दोनों ही पत्र राजमुद्रांकित हैं। जो भी राजा हो और जो भी राज-पुरोहित हो, उसे देकर अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। तुम इस धर्म-कार्य में विलम्ब मत करो। जिसे चाहे साथ ले लो, परन्तु जाओ अवश्य।" सुमेर काका ने न 'हाँ' किया और न 'ना' किया। वे आचार्यपाद की ओर इस प्रकार विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखते रहे, मानो वे कुछ ऐसा सुन रहे हैं जो उनकी कल्पना से परे है। आचार्यपाद ने उनके विस्मित चेहरे को देख ज़रा विनोद करते हुए कहा, "एक बात और भी तो है तात!" सुमेर काका ने पूछा, "वह क्या है आर्य?" आचार्यपाद ने विनोद-चटुल मुद्रा में कहा, "उज्जयिनी में आजकल हालत बहुत डाँवाडोल है। वहाँ जाने के लिए सुमेर काका की तलवार से अधिक शक्तिशाली साधन हलद्वीप में क्या है?" सुमेर काका भी प्रसन्न हुए। बोले, "आर्य, तुम भी इस गँवार से ठिठोली करने का लोभ नहीं रोक सकते। लो, सुमेर काका भी चला और साथ में उसकी तलवार भी जायेगी।" पत्र सावधानी से लेकर यथाविधि प्रणाम करके सुमेर काका लौट आये।

सत्रह

मृणाल उदास बैठी थी। लगता था, समस्त अन्तःकरण के व्यापार अन्तर्निगूढ़ होकर उसे निश्चेष्ट बनाये दे रहे थे। ऐसे ही समय चन्द्रा चुपचाप आकर खड़ी हो गयी। मृणाल ने उसे देखा ही नहीं, वह अपने-आपमें खोयी बैठी रही। उसका वह

रूप बहुत मोहक था। चन्द्रा देर तक उसे मुग्ध-भाव से देखती रही। फिर उसमें एकाएक आवेश-सा आया। वह मृणाल से चिपट गयी। उसने उसके कपोलों को चूमा, माथे को बार-बार सूँघा और फिर उन्मत्त भाव से उसे कसकर दोनों भुजाओं से बाँध लिया। मृणाल घबरा गयी, बोली, "छोड़ो दीदी, क्या पागल हो गयी हो !" चन्द्रा ने और कसते हुए कहा, "एकदम पागल, तेरी दीदी उन्मादिनी है, विकट उन्मादमयी ! पर बता, तू इतनी उदास क्यों हो जाती है ? जब तू उदास होती है तो इस उन्मादिनी की छाती फटने लगती है। पापी आर्यक न तुझे सुख से रहने देगा, न स्वयं सुख से रहेगा। हाय, हाय, क्या दशा कर दी है मेरी फूल-सी बहिन की। कायर, डरपोक, भगोड़ा !"

मृणाल जानती थी कि चन्द्रा जब ऐसा कुछ कहती है तो वास्तव में प्यार ही जताती है, पर थोड़ा विव्वोक-वक्रिम मुद्रा में मुँह बनाकर बोली, "ना दीदी, तुम उन्हें ऐसा न कहा करो।" दोनों के अन्तर्यामी ही केवल जानते थे कि इस प्रकार बातचीत इसीलिए प्रतिदिन शुरू होती थी कि आर्यक के बारे में अधिक चर्चा हो सके।

चन्द्रा ने मृणाल का चिबुक उठा लिया और बोली, "बुरा मान गयी, मैना ! तू जानती नहीं कि उसने मुझे कितना सताया है ! हिया फट गया है मैना, मेरा हिया फट गया है ! सारी दुनिया कहती है कि चन्द्रा पापिनी है, कुलटा है, आर्यक को पथभ्रष्ट करनेवाली है। पर चन्द्रा जानती है कि वह पापिनी नहीं है। आर्यक मेरा जनम-जनम का साथी है। अगर ऐसा न होता तो क्यों पागल की तरह उसके पीछे-पीछे भागती फिरती। चुम्बक के पीछे भागनेवाला लोहा क्या पापी है रे ? वह विवश है, लाचार है, उसमें इच्छा-शक्ति कहाँ होती है ? पर वही लोहा कहीं और लगा दो तो वज्र बन जाता है। चन्द्रा की भी वही दशा है। आर्यक के पीछे भागने को विवश है, अन्यत्र वह वज्र-जैसी दुर्भेद्य है। मेरी प्यारी बहिन, चन्द्रा ने किसी को कष्ट दिया है तो तुझे, अपने प्राणों की टुकड़ी को। जिस दिन से जाना है कि तू उसे क्षमा कर सकती है, उसको स्नेह दे सकती है, उस दिन से उसकी यह हल्की-सी पाप-भावना भी समाप्त हो गयी है। मैना, अब यह चन्द्रा बिल्कुल शुद्ध है, उसकी कुण्ठा समाप्त हो गयी है। वह तेरे आर्यक को जहाँ कहीं से पकड़कर तुझे सौंप देने का संकल्प कर चुकी है। चन्द्रा के संकल्प को वह अन्यथा नहीं कर सकता। वह सिर्फ़ इतना चाहती है कि आर्यक को जी भरकर देखने की उसकी लालसा को तू बुरा न समझे। चन्द्रा को लोग काम-विप्लुता कहते हैं। मैं आर्यक के लिए सब-कुछ सहने को तैयार हूँ, केवल तेरे मन में कोई अन्यथा-भाव नहीं आना चाहिए। मैं उस पर अधिकार नहीं चाहती। वह तेरा है और तेरा ही बना रहेगा। पर मैं अपने जनम-जनम के संगी को चाहूँ भी तो कैसे छोड़ सकती हूँ। बोल बहिन, इतनी-सी मेरी साध तो तू पूजने देगी न ? तेरे मन में अगर रंच-मात्र भी कष्ट होगा तो तेरे लिए, सिर्फ़ तेरे लिए, इस साध को भी मिटा दूँगी। आर्यक के लिए इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकती, पर तेरे लिए हृदय फाड़कर रख सकती

हूँ। आर्यक के पीछे भागती हूँ, वह मेरी विवशता है; पर तुझे मैं इच्छापूर्वक प्यार करती हूँ। आर्यक को सर्वात्मना चाहती हूँ, तुझे उससे भी अधिक सर्वात्मना प्यार कर सकती हूँ। बता बहिन, मंजूर है ?"

आज पहली बार मृणाल ने चन्द्रा की आँखों में आँसू देखे। वह उसे केवल आनन्दमयी ही मानती है। अनुकूल हो या प्रतिकूल, चन्द्रा सब जगह से आनन्द-रस खींच लेती है। पर आज उसे क्या हो गया है। आँसुओं की धारा बाँध तोड़कर फट पड़ी है। लगता है, जनम-भर का दबा हुआ विषाद आज बाँध तोड़कर बह जायेगा। इतने आँसू ! हे भगवान् ! मृणाल का कलेजा फटने को आया—"नहीं बहिन, तुमको जब तक नहीं जाना था, तब तक जो भी समझा हो, अब जानती हूँ। हाय, मेरे परम प्रियतम को कोई इतना निश्छल प्यार भी दे सकता है ! नहीं बहिन, मृणाल तुम्हारी दासी है। तुम सेवा की मूर्त्ति हो, प्रेम का विग्रह हो। आसक्ति ! आसक्ति तो बहिन, स्त्री के भाग्य में विधाता ने लिख ही दी है। ये सब बातें आज क्यों कह रही हो ? क्या मेरे व्यवहार में तुम्हें कोई कलुष दिखायी दिया है ? ना दीदी, रोओ मत !" वह स्वयं फफककर रो पड़ी। दोनों देर तक एक-दूसरी को सम्हालने का प्रयत्न करती हुई रोती रहीं।

चन्द्रा ने मृणाल को इस प्रकार गोदी में उठा लिया, जिस प्रकार माता नन्हे शिशु को उठा लेती है। उसका मुँह बार-बार चूमकर वह बोली, "देख मैना, जब तक तुझे नहीं देखा था, तब तक मेरे मन में रंच-मात्र भी अपराध-भावना नहीं थी। तुझे देखकर ऐसा लगा कि मैंने बड़ा पाप किया है। जिस आचरण से तुझे कष्ट है, वह पाप नहीं तो और क्या है ! सो मेरा मन भारी हो गया था। लेकिन आज हल्का हो गया है। तुझे नहीं मालूम कि ऐसा कैसे हुआ। बताती हूँ···

"कल मैंने अपने कान से सुना है कि तूने मेरे बारे में अमात्य से क्या कहा। पहले मैं समझती थी कि तू केवल अत्यधिक शिष्टतावश मेरा आदर कर रही है, मन-ही-मन अपराधिनी समझ रही है। पर कल तूने जिस प्रकार दृढ़ता के साथ मेरे निरपराध होने की बात कही, उससे मेरा मन हल्का हो गया। अब मैं अपराध-भावना से मुक्त हो गयी हूँ। तू नीचे से ऊपर तक केवल भली-ही-भली है मैना ! ऐसा तो मैंने कहीं नहीं देखा। शिष्ट तो आर्यक भी है, पर इतना साफ़ नहीं है। मैना, तू आर्यक से बहुत बड़ी है, बहुत-बहुत !" कहकर चन्द्रा ने प्यार के आवेश में मैना का मुँह छाती से चिपका लिया। उसकी आँखें डबडबा आयीं।

मृणालमंजरी ने परम परितृप्ति के साथ चन्द्रा का प्यार स्वीकार किया। बोली, "दीदी, आज तुम बहुत भावुक हो गयी हो।"

"भावुक नहीं हूँगी तो और क्या हूँगी बहना ! जिसे सबने कुलटा समझा और घृणा के साथ देखा, उसे तूने केवल अपने मन से ही आदर नहीं दिया, राज-दरबार में भी इतना मान दिया, वह निगोड़ी भावुक भी नहीं बनेगी ? यहाँ जिन स्त्रियों को लोग भली मानते हैं उनमें से कुछ को मैं अच्छी तरह जानती हूँ। वे केवल निर्जीव रूढ़ियों का पालन करती हैं। उनका भीतर और बाहर सदा साफ़

नहीं होता। वे छिपाने की कला अवश्य जानती हैं। चन्द्रा को वह कला नहीं आती, इसीलिए वह कुलटा कहलाती है।"

मृणाल ने प्यार से प्रतिवाद किया, "दीदी, सबकी बुराई क्यों करती हो! रूढ़ियाँ इसीलिए तो बनी हैं कि वे लोग भी सही रास्ते पर चल सकें, जिनको बहुत सोचने की शक्ति विधाता ने नहीं दी है।"

चन्द्रा कुछ अचम्भे में आ गयी। मृणाल कभी प्रतिवाद नहीं करती। शायद प्रतिवाद न करने में किसी प्रकार के दुराव की गन्ध आती है। मृणाल का प्रतिवाद बताता है कि पहले उसके मन में शायद दुराव का भाव था, अब नहीं है। चन्द्रा मौन। वह कुछ कहना चाहती है। कह नहीं पा रही है। मृणाल एकटक उसे देखती रही। उसने क्या कुछ ऐसा कह दिया जो नहीं कहना चाहिए था! उसने छोटी बालिका की तरह मचलकर कहा "दीदी, तुम बुरा मान गयीं?" चन्द्रा खोयी-सी बैठी रही। फिर सम्हलकर बोली, "तेरे साथ रहकर भी चन्द्रा का आचरण नहीं सुधरा। तू ठीक कहती है। मेरा मन जला-जला रहता है, सो अवसर-कुअवसर दूसरों की बुराई कर बैठती हूँ। करनी नहीं चाहिए। सचमुच मैं बड़ी बुरी बात कहने जा रही थी। नहीं, अब नहीं कहूँगी। अपना ही दोष देखना चाहिए। सारी दुनिया बुरी साबित भी हो जाये, तो अपना क्या बन जाता है?"

मृणाल सोच नहीं पायी कि क्या कहे! लेकिन उसके मन को कचोट गया कि उसने चन्द्रा का दिल दुखा दिया। चन्द्रा ने मृणाल की मानसिक अवस्था का अनुमान कर लिया। हँसते हुए कहा, "अच्छा मैना, चन्द्रा किसी की बुराई न करे तो फिर तुझसे बातें क्या करे? सब बुरी बातें ही तो उसके पास कहने को हैं। मैं तो सोच नहीं पाती कि तुझसे क्या कहूँ। लोग स्त्रियों के बारे में कहा करते हैं कि वे आपस में जब बात करती हैं तो किसी-न-किसी की निन्दा ही करती हैं। बेचारी पुरुषों की तरह मुक्त तो होती नहीं, अपनी छोटी दुनिया में ऐसी बँधी रहती हैं कि उन्हें सब समय यही लगता रहता है कि कोई-न-कोई उन्हें नष्ट करने पर तुला हुआ है।" मृणाल ने फिर प्रतिवाद किया, "जो लोग ऐसा कहते हैं वे भोले हैं। वे स्त्रियों को समझ नहीं पाते। यहाँ जो बुढ़िया काकी आती हैं, वही झम्मन राम की बहू, वे कहती हैं कि स्त्री का जीवन दूध-भरा कटोरा है। इधर-उधर से थोड़ी भी छींट कहीं से पड़ जाये तो दूध फट जाता है। इसलिए उसे सावधानी से चलना चाहिए। इससे अपने को बचाने के प्रयत्न में स्त्रियों में अपने इर्द-गिर्द के सभी के प्रति एक प्रकार की प्रच्छन्न शंका का भाव होता है और वे उनके काल्पनिक दोषों का चिट्ठा खोले रहती हैं। इसी को लोग बुराई कहते हैं।"

चन्द्रा हँसने लगी, "वाह वा, वाह वा! तू तो आजी-दादी की-सी बातें करने लगी। तेरे इसी भोलेपन पर तो प्राण वारती हूँ। वाह वा, क्या बात कही है! तुझे तो सभी स्त्रियों को मिलकर अपना वकील बना लेना चाहिए। अरी भोली, तू कुछ नहीं जानती, चन्द्रा जानती है। तेरा न जानना ही अच्छा है। चन्द्रा तो जानने के कारण मारी गयी।" मृणाल सकुचा गयी। उसे लगा कि अपने को

समझदार दिखाने के लिए उसने जो बात कही, वह सचमुच बचकानी है।

चन्द्रा ने हँसना जारी रखा, "अच्छा मेरी भोली मैना, अगर कोई ऐसी बात बताऊँ जो सोलहों आने आपबीती हो और दूसरों के बारे में उतना ही कहूँ जितना अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा है, तो इसे तू निन्दा कहेगी या सच्चाई ? बिल्कुल आँखों देखी बात !" मृणाल ताकती रही। वह समझ नहीं सकी कि चन्द्रा क्या कहना चाहती है। चन्द्रा ही बोली, "जाने दे, नहीं कहूँगी।" मृणाल हँसने लगी, "मैं जानती हूँ दीदी, अब तुम उनके बारे में कुछ गड़बड़ बोलना चाहती हो। बोलो ना, रोज़ ही तो कुछ-न-कुछ कहती रहती हो। अपनों के बारे में कहने में क्या बुराई है ?" चन्द्रा हँसने लगी, "आर्यक के बारे में गड़बड़ भी बोलती हूँ तो तुझे अच्छा लगता है, यही न ? बात आर्यक की होनी चाहिए, चाहे वह उस बेचारे की निन्दा ही क्यों न हो। यही चाहती है न ? मगर मैं आर्यक के बारे में कुछ नहीं कहने जा रही थी, मैं तो अपने बारे में कहने जा रही थी।"

"तो तुम कौन अपनी नहीं हो ! कहो ना !"

"नहीं रे, पहले समझती थी कि अपने बारे में जो भी कह लो, कोई दोष नहीं होता। अब समझती हूँ, अपने बारे में भी सब कुछ नहीं कहना चाहिए। वही आत्म-कथा ठीक होती है, जिससे औरों को बल मिले। हमारे-जैसों की आत्म-कथा तो अपनी और दूसरे की कुत्सा ही होगी। उसे कहने से क्या लाभ ? अगर मैंने उस सम्राट् कहे जानेवाले समुद्रगुप्त से अपनी सब बातें साफ़-साफ़ न कह दी होतीं तो बेचारे आर्यक को भाग-भागकर अपने को छिपाते फिरने की नौबत ही नहीं आती। अपने बारे में सच्ची बातें कहकर मैंने आर्यक को भी दुख दिया और तुझे भी कष्ट दे रही हूँ। हाँ, अब अपने बारे में भी कुछ नहीं कहूँगी। जानती है मैना, इस अभागी चन्द्रा को बात बनाना नहीं आता। आता तो क्या यही दशा होती !"

चन्द्रा ने दीर्घ निःश्वास लिया, जैसे प्राणों की जमी हुई व्यथा को ऊपर हवा में उड़ा देने का प्रयास कर रही हो। दीर्घ निःश्वास ! मृणाल को कष्ट हुआ, "नहीं दीदी, मेरी बचकानी बातों का बुरा न मानना। तुम जैसी हो, वैसी ही मुझे प्यारी लगती हो। तुम्हारा प्रेम सती का प्रेम है। तुम अपने बारे में आजकल बहुत बेकार बातें सोचने लगी हो।"

चन्द्रा को हँसी आयी—"बचकानी बातों के कारण ही तो तुझे इतना प्यार करती हूँ रे। तू बहुत भोली है और तेरा 'वह' तो तुझसे भी अधिक भोला है—बम भोलानाथ ! तू सती है, तो वह 'सता' है। अपने 'सतेपन' के भंग होने के भय से काँपता रहता है। और यह चन्द्रा है कि उसके 'सतेपन' को नित्य भंग करने का प्रयास करती रही है। पैर भी धो देती थी तो जैसे बिजली मार जाती थी उसे। जानती है, मैं उसे 'कायर' क्यों कहती थी ? अब तो नहीं कहूँगी। तुझे व्यथा होती है। और जब तुझे व्यथा होती है तो मुझे बिजली मार जाती है ! अरी भोली, मैं उसके भोलेपन पर ही तो मरती हूँ। बच्चा है, बिल्कुल नादान बच्चा ! वह मन का ठण्डा है। मैं तन की गरम हूँ। पुरुष को मन का गरम होना चाहिए।

जिसका मन गरम होता है वह बहुत से गरम तनों को ठण्डा कर सकता है। जिसका मन गरम नहीं होता, वह कितनी भी तलवार भाँज ले, स्त्री के लिए कायर ही है। स्त्री का प्रसादन कोई हँसी-खेल है रे ? विकट युद्ध है। तेरा 'वह' बराबर डरता है। लगातार भागता है। कहता है, लोग क्या कहेंगे, मृणाल क्या सोचेगी ! कायर न कहूँ तो क्या कहूँ रे ! लेकिन है भोलानाथ !"

चन्द्रा ने ऐसा कहकर मृणाल को कोंचा, "क्यों रे, यह निन्दा कैसी लग रही है ?" उसने कुछ ऐसी हेला के साथ आँखें नचायीं कि मृणाल का चेहरा लाल हो गया। वह मुस्कराती हुई चन्द्रा की ओर ताकती रही। उसकी उत्सुकता बढ़ी जान पड़ी। कानों तक फैली आँखें कह रही थीं कि आगे कहो। आरक्त मुख-मण्डल बता रहा था—यह भी कोई कहने योग्य बात है ? चन्द्रा उसके लज्जित मुख को प्रसन्नता से देखती रही। बोली, "मैं अब तेरे साथ नहीं रहना चाहती। आर्यक को खोजने जाऊँगी। तेरा धन तुझे सौंपकर छुट्टी ले लूँगी। इसीलिए जो-कुछ कहना है, आज ही कह दूँगी। कौन जाने, फिर मौक़ा मिले या नहीं।" मृणाल ने कुछ उत्तेजित स्वर में कहा, "मैं नहीं जाने दूँगी। तुम मुझे छोड़ सकती हो, मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती। तुम उनके पीछे भागोगी, मैं तुम्हारे पीछे। जाने-वाने की बात मत कहो। बाक़ी जो कहना चाहती हो, अवश्य कहो।" फिर चन्द्रा के गले में हाथ डालकर मचलते हुए बोली, "दीदी, मुझे छोड़कर तो नहीं जाओगी न !"

"छोड़कर नहीं जाऊँगी तो ढूँढ़ूँगी कैसे ? वह चुम्बक है। खींचता है, पर मैं तो चुम्बक नहीं हूँ जो उसे खींच लाऊँ ! मैं जानती हूँ कि मैं जिधर जाऊँगी, उधर ही वह अवश्य मिलेगा। खींच रहा है बहिन, बुरी तरह खींच रहा है। मेरे प्राण व्याकुल हैं, छाती फटी जा रही है। हाय कैसे होगा, क्या खाता होगा ! भोलेराम को किसी से माँगने का भी तो शऊर नहीं है। पड़े होंगे तो पड़े होंगे। 'हाय मैना', 'हाय मैना' कर रहे होंगे ! चन्द्रा का तो नाम भी नहीं लेता होगा, 'सत' नहीं बिगड़ जायेगा ? गँवार !"

मृणाल फूट-फूटकर रो पड़ी, "दीदी, मेरे हृदय पर आरी चल रही है, क्या करूँ ! हाय राम, भूखे-प्यासे कहाँ पड़े होंगे !"

"तू मत रो मेरी प्यारी बहिन, वह जहाँ होगा, वहाँ चन्द्रा ज़रूर खिच जायेगी और तू देखेगी कि तेरी दीदी उसकी नकेल पकड़कर ले आयेगी।...

"जानती है मैना, तू तो समझती होगी कि चन्द्रा उसे अपने भुज-पाश में कस-कर सोती होगी। कैसा भुज-पाश था, सुनेगी ? बताती हूँ। भोलेराम भागे जा रहे थे, मैं पीछा करती जा रही थी। दो दिन से न अन्न खाया था, न पानी पिया था। सायंकाल थककर चूर होकर पेड़ के नीचे पड़े थे। चन्द्रा छोड़नेवाली नहीं है। पकड़ ही तो लिया। पेड़ के नीचे धरती पर ऐसे पड़े थे, जैसे कहीं कोई चेतना ही न हो। मैंने भी कहाँ खाया-पिया था ! पर मैं बेहोश नहीं हुई। मैंने धीरे-धीरे पैर दबाया, सिर दबाया, तलवे सहलाये। तब जाकर थोड़ी चेतना लौटी। धर्ममूर्त्तिजी ने शून्य-दृष्टि से मेरी ओर देखा, फिर मुँह फिरा लिया। मैंने भी कुछ नहीं कहा।

चुपचाप उठ पड़ी और एक ओर जाने लगी। अब दयानिधान चौंककर उठे, 'रात को अकेली कहाँ जा रही हो ?' मैंने तड़ाक्-से उत्तर दिया, 'तुमसे मतलब ? मैं तुम्हारी कौन होती हूँ ?' आगे बढ़ी तो देखा, लाठी लिये पीछे-पीछे आ रहे हैं, गुमसुम ! मुझे हँसी आ गयी। चुपचाप एक बनिये की दूकान पर गयी। उधर बिना ताके ही कहा, 'चुपचाप यहीं खड़े रहो।' हुकुम मान गये। मैंने अनेक हाव-भाव दिखाकर बनिये से कहा, 'मेरा कँगना रख लो, आज के लिए कुछ च.वल-द.ल आदि दे दो।' बनिया रीझ गया। रसिक था। उसकी दृष्टि में सुन्दरी की वाणी पैसे से अधिक मूल्यवान् थी। सब दे दिया, कँगना भी नहीं लिया। फिर उसी के यहाँ से बरतन लिया, पानी लिया, खाना बनाया। परसकर दिया तो ब्रह्मचारीजी ने नखरा शुरू किया, 'मैं नहीं खाऊँगा।' मैंने कहा, 'बहुत ठीक। ज़रा इधर मुँह करो, खिला दूँ,' और कौर उठाकर मुँह में देने लगी। अच्छे-भले बच्चे की तरह खा गये। फिर दूसरा कौर उठाया तो थाली खींचकर खाने लगे। मैंने आँचल से हवा की, प्यार से अँचवाया तो थोड़ा मान भंग हुआ। रात-भर शरीर दबाती रही। अपना आधा आँचल बिछा दिया था। मजे में उस पर सो गये। बड़ा अभिमान मन में पाले थे, पर सेवा का सुख भोगने में भी सजग थे। यही भोलापन तो मुझे उन्मादिनी बना देता है। प्रातःकाल फिर पूरब की ओर बढ़े। मैंने कहा 'घर लौट चलो।' बोले, 'क्या मुँह दिखाऊँगा !' हाय-हाय, इतनी लाज ! मैंने तो तेरे 'उनकी' सेवा की है प्राण ढालकर मैना ! मगर पाप तो मेरा ही था। मैं कृतकृत्य हो गयी रे !"

मृणाल की छाती फटने को आयी—"हाय दीदी, इस समय उनकी सेवा कौन करता होगा ? कहाँ पड़े होंगे ? दीदी, तुम धन्य हो, तुम्हारा ही उन पर सच्चा अधिकार है। अधिकार तो सेवा से ही मिलता है। मैं हतभाग्या तो उनके कष्ट के समय तब भी आराम से घर में पड़ी थी, अब भी पड़ी हूँ। हाय दीदी, मैं उनके किसी काम न आयी। फिर क्या हुआ दीदी ?"

"फिर क्या हुआ ? दिन-भर चलते रहे। उसी तरह गुमसुम। मैं लौंडी की तरह पीछे-पीछे। ताकेंगे नहीं, साक्षात् धर्म का बाना धारे ! ऐसा बानैत भी नहीं देखा मैना ! अच्छा बता, ऐसी परिस्थिति में तू क्या करती ? रोती रहती न ! मगर मैं हँसती रही। मैंने कँगना बेच दिया। कुछ दिन के लिए सम्बल हो गया। एक दिन मैंने धर्म के इस देवता का तप भंग करने की ठानी। सायंकाल एक जगह रुककर खिला-पिला दिया। थोड़ा अँधेरा हो जाने दिया। निर्जन स्थान था। खूब नाटक किया। दर्द से चीखने लगी। भोलेराम के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कभी पैर दबाते हैं, कभी सिर दबाते हैं, कभी हवा करते हैं, कभी तलवे सहलाते हैं। मैंने देखा, बेचारा मरा जा रहा है। आदेश दे-देकर एक-एक अंग दबवाया। फिर दोनों भुजाओं से कसकर सो गयी। सवेरे उठकर देखती हूँ, पहले से ही जागे बैठे हैं और धीरे-धीरे सिर दबा रहे हैं। क्यों मैना, अपने अल्हड़ प्यारे से कसरत कराने के लिए तू इस दीदी को क्षमा कर देगी ?"

"तुम्हें तो दीदी, सब समय परिहास ही सूझता है। पर तुमने उनको सचमुच

कष्ट दिया। वे किसी का थोड़ा भी कष्ट नहीं देख पाते।"

"मुझे कष्ट कहाँ था रे! भोलेराम अगर इतने नासमझ हैं, तो मैं क्या करूँ? फिर तो दयानिधान कई दिनों तक बीमार की सेवा मन लगाकर करते रहे और बीमार ने जो भी माँगा, देते रहे। कुछ भी नहीं उठा रखा। जो कुछ तेरे लिए छिपाकर रखा था, उसे भी उलीचकर दे दिया—अवढरदानी बनकर!"

"मेरे लिए छिपा रखने का क्या प्रयोजन है? तुम्हारे लिए ही छिपाकर रखा होगा।" कहकर मृणाल हँस पड़ी। चन्द्रा ने इसका प्रतिवाद नहीं किया। कुछ सोचकर बोली, "कहीं तेरी बात सच होती तो चन्द्रा अपना जीवन धन्य मानती!" उसने फिर दीर्घ निःश्वास लिया। उसने पहली बार ऐसा मुँह बनाया जिससे लगा कि वह हार गयी है। कुछ उलझे सूत्रों को सुलझाने-जैसी चेष्टा करती हुई वह कहने लगी, "मैना, मैं तुमसे आठ महीने बड़ी हूँ। सुमेर काका ने ही यह हिसाब मुझे बताया है। तू महामारी के समय पैदा हुई, मैं महामारी से आठ महीने पहले। मगर भाग्य दोनों का कुछ एक ही तरह शुरू हुआ। तेरी माँ भी महामारी में मर गयी, मेरी माँ भी उसी में समाप्त हो गयी। हम दोनों महामारी की घोर विध्वंसक शक्ति पर विजय पाकर जीवित रह गये। मगर बाद में यह मातृहीना चन्द्रा अधिक अभागिनी सिद्ध हुई। इसे किसी महान् पिता की छाया नहीं मिली। विमाता स्वयं उन्मार्गगामिनी निकली। बचपन से मैं उद्दाम काम-वासना के वातावरण में पली। मेरे शरीर में विधाता ने जाने कैसी आग जला दी थी! केवल वासना, केवल उन्मादना, केवल अन्ध पुंश्चल विकार! पर सुना है कि हर दोष में भगवान् कोई ऐसा गुण दे देता है जो सहारा बन जाता है। मुझे याद नहीं कि मेरे भीतर ऐसा कोई गुण कभी था या नहीं। मुझे किसी ने संयम और विवेक की शिक्षा नहीं दी। इर्द-गिर्द के आचरण से जो शिक्षा मिली वह संयम और विवेक की उलटी दिशा में ही ले जाती रही। अब सोचती हूँ कि मेरे उन्मद आचरणों में विधाता ने जो आर्यक के प्रति प्रेम दिया, वही वह गुण है जो समस्त दोषों को छिपाकर उज्ज्वल दीप-शिखा के समान जलता रहा है। इस अभागिनी की समस्त अन्धतिमिराच्छन्न वासनाओं को यह दीप-शिखा सदा निरस्त करती रही। तू नहीं जानती मैना, कि आर्यक को पाने के लिए मैंने कैसे-कैसे पापाचरण की सहायता ली है। मेरे पास और कोई साधन थे भी नहीं। आज भी नहीं हैं। मगर इस शिखा ने बहुत जलाया भी है। भीतर से बाहर तक जलाकर राख कर दिया है। तेरे साथ आर्यक का विवाह होने के पहले ही मैं उसे प्रेम करने लगी थी और बाद में भी प्रेम करती रही, पर उपाय मेरे वासना-भरे थे। कितनी चिट्ठियाँ मैंने उसे लिखीं, मगर उत्तर एक का भी नहीं पाया। फिर भी लिखती रही। उद्दाम वासना की बालोचित भाषा में लिखे गये थे ये सारे पत्र; तू कल्पना भी नहीं कर सकती कि इनमें कितनी अन्धवासना का ज़ोर था!"

"कर सकती हूँ दीदी! मैंने तुम्हारे पत्रों को पढ़ा है।"

"क्या कहा, पढ़ा है? कैसे पढ़ लिया तूने? कहाँ मिले तुझे?"

"उन्होंने ही दिये थे।"

चन्द्रा उत्तेजना के आवेश में फट पड़ी, "और तूने फिर भी इस हतभागिनी को घर में घुसने दिया ? झोंटा पकड़कर निकाल नहीं दिया ? लात-घूँसे से इसका भुर्त्ता नहीं बना दिया ? मैना, तू स्त्री नहीं है ! ऐसी बातों से जिसके हृदय में ईर्ष्या नहीं उत्पन्न होती, मन में क्रोध नहीं उत्पन्न होता, हाथों में झोंटा पकड़कर घसीटने की कसमसाहट नहीं होती, उसे स्त्री कैसे कहूँ रे ! हाँ, तू नारी नहीं है। शायद देवी है। दे, ज़रा चरणों की धूल दे दे। इन चरणों की धूल ही उन्मार्ग-गामिनियों को रास्ता दिखा सकती है। मैना, तू सचमुच सती है!" चन्द्रा ने आवेश के साथ मैना का पैर खींच लिया और अपने झुके हुए माथे पर रगड़ने लगी। मृणालमंजरी ने झटके से पैर खींचा। बोली, "दीदी, तुम पागल हो गयी हो क्या ?"

"पागल तो हूँ ही मैना, धुत्त पागल ! पर मैना, मेरे पत्र पढ़कर तूने क्या सोचा था ? बोल मैना, आज मेरा सारा अस्तित्व फटकर निकल जाना चाहता है। अरे, वे पत्र किसी के पढ़ने लायक थे ? छि: !"

"दीदी, तुम ज़रा शान्त हो जाओ। सब बताती हूँ।"

"बता, बता, सब बता दे। कुछ भी छिपाने की आवश्यकता नहीं है।"

"बात कुछ भी नहीं है, दीदी ! वे तुम्हारे पत्र ले आकर मुझे दे देते थे, कहते कुछ भी नहीं थे। उनकी आँखें झुकी होती थीं और चेहरा उदास। मुझे ऐसा लगता था कि वे कहीं पर अपनी दुर्बलता या ग़लती अनुभव करते थे। पर अपने को निरुपाय पा रहे थे। उन्हें उन पत्रों से खीज कम होती थी, अनुताप अधिक। मैंने एक बार उनसे कहा कि यह लड़की तुम्हें हृदय से प्यार करती है, पर प्यार प्रकट करने के लिए संस्कारवती वाणी नहीं जानती। उनकी आँखें भर आती थीं। कुछ भी कह नहीं पाते थे। मैंने उनसे कहा कि उसे भी साथ रखने में क्या हानि है, तो तुनक गये। बोले, 'ऐसी बात फिर न कहना। मैं मानता हूँ कि यह लड़की मुझे हृदय से प्यार करती है। मगर बेचारी सोच ही नहीं पाती कि यह असम्भव है।' मगर दीदी, यह कहने में उनकी वाणी लड़खड़ा जाती थी, कण्ठ में थोड़ा गद्‌गद-भाव आ जाता था। मुझे अनुभव होने लगता था कि मैं इस उद्दाम प्रेम की बाधिका हूँ। सच कहती हूँ दीदी, अगर मैं बीच में बाधा न बन गयी होती तो वे तुम्हें हृदय उँड़ेलकर प्यार करते। इसीलिए तो कहती हूँ कि तुम्हारे ही लिए कुछ छिपाकर रखा होगा।"

चन्द्रा ऐसे स्तब्ध हो रही, जैसे काठ की प्रतिमा हो। ऐसा लगा कि उसके अन्तर्यामी ही निश्चेष्ट हो गये हैं और उन्होंने उसके मन और इन्द्रिय के समस्त व्यापारों को किसी अज्ञात इशारे से रोक दिया है। मदन-शर से बेधे गये शिव के गणों को जैसे एक ही इशारे में नन्दी ने चांचल्य से विरत होने का निर्देश दे दिया था—'मा चापलायेति गणान् व्यनैषीत्।' उसकी उस निश्चेष्ट मुद्रा से मृणालमंजरी चिन्तित हो उठी, "दीदी, दीदी, क्या हो गया तुम्हें ! बोलो दीदी !"

चन्द्रा ने आँखें खोलीं। अभिभूत की भाँति मृणाल को छाती से चिपका

लिया—"सच कहती है मेरी प्यारी मैना ? सचमुच आर्यक का कण्ठ गद्गद हो गया था ? सचमुच चन्द्रा का नाम लेते समय उसकी वाणी स्खलित हो गयी थी ? मुझे भरमाना मत मैना, तू मुझसे सच्ची बात ही कह ! सचमुच तुझे लगा था कि आर्यक के हृदय में मेरे लिए थोड़ा स्थान था ?"

मृणाल ने भाराक्रान्त वाणी में कहा, "सच कहती हूँ दीदी, तुमसे क्या झूठी बात कह सकती हूँ ?"

चन्द्रा की आँखों से दर-विगलित अश्रु-धारा बह चली। आज चन्द्रा का जीवन कृतार्थ है। यही वह आज तक नहीं समझ पायी थी कि आर्यक के हृदय में भी वह कहीं स्थान पा सकी है या नहीं। अब तक वह अपने को गले-पड़ी मानती रही है। आज उसे लग रहा है—यह लीला भी एकतरफ़ा नहीं है, अनुभयनिष्ठा नहीं है। मृणाल कहती है, आर्यक ने उसके लिए कहीं कुछ अवश्य छिपा रखा था।

चन्द्रा कृतार्थ है। उसने प्यार से मृणाल का सिर चूमा—"बलिहारी है तेरी सच्चाई की, मैना ! प्राण वारती हूँ तेरी मुग्ध आस्था पर। अब चन्द्रा को सब मिल गया। आज तक के सब पाप धुल गये। जानती है बहिन, सती की आत्मा में ज्योति जलती रहती है। उसके निकट किसी पाप-भावना के ठहरने की सम्भावना ही नहीं रहती। सूरज तपता हो तो अँधेरा टिक कैसे सकता है भला ! तेरे भीतर वही अखण्ड ज्योति जल रही है। तेरे निकट जो भी आयेगा, वह अगर छेड़ने की कोशिश करेगा तो भस्म हो जायेगा। थोड़ा दूर-दूर रहेगा तो आलोकित हो जायेगा। चन्द्रा आज आलोकित है। आर्यक की रक्षा तेरी यह आलोकित शिखा ही करती है। बहिन, जहाँ भी वह रहेगा, उसकी छाया भी कोई नहीं छू सकेगा।"

मृणालमंजरी ने वातावरण के भारीपन को हल्का करने के लिए चुहल की, "दीदी, तुम तो ज्ञानी की भाँति बातें करने लगीं। कहाँ सीखा इतना ज्ञान ? आठ ही महीने तो मुझसे बड़ी हो, पर बात करती हो बुढ़िया दादी की तरह !" कहकर मृणाल हँसने लगी, पर वातावरण का भारीपन बना ही रहा। चन्द्रा अब भी अभिभूत ही बनी रही।

"मैना, तूने पोथियाँ पढ़ी हैं, मैंने मनुष्य पढ़े हैं। यही मेरा ज्ञान-स्रोत है। और कहाँ ज्ञान मिलेगा मुझे ?" कहकर उसने फिर शून्य की ओर दृष्टि गड़ा दी। मृणाल को विचित्र लगा। क्या कहे, कुछ सोच नहीं पा रही थी। आँगन से शोभन की निंदियारी आवाज़ सुनायी पड़ी—"बड़ी अम्मा !" चन्द्रा धड़फड़ाकर उठ पड़ी, "जग गया क्या ?" मृणाल को अच्छा अवसर मिला—"जब देखो तब बड़ी अम्मा, मैं जैसे कुछ हूँ ही नहीं। बैठो दीदी, मैं जाती हूँ।" चन्द्रा ने उसे बैठाते हुए कहा, "नहीं, तू यहीं रह, सब बाप की आदत पड़ी है, वह भी सोये-सोये चिल्ला उठता है। अभी आती हूँ।" कहकर वह चली गयी। थोड़ी देर में लौट आयी, बोली, "शायद कुछ सपना देखकर चौंक उठा था, फिर सो गया। बाप भी सपना देखकर

चिल्ला उठता है, 'मैना, मैना !' मगर बाप से अच्छा है, कम-से-कम मुझे तो बुलाता है।"

"तुम तो दीदी, कोई बात हो उनको अवश्य घसीट ले आती हो और मुझे लज्जित कर देती हो। तुम्हें मालूम है, यहाँ कितनी बार 'चन्द्रा, चन्द्रा' चिल्लाकर नींद में चौंके हैं ?"

"सच मैना ? अब तू बात बनाना सीखने लगी है !"

"सच कहती हूँ दीदी, तुम तो मेरी बात मानतीं ही नहीं। बुरा न मानो तो बता दूँ, दीदी ! तुम्हारा यह उत्फुल्ल मल्लिका-सा रूप और उसकी मोहक सुगन्ध तुम्हारा निश्छल अनुराग जादू के समान प्रभाव डालनेवाला है। कोई मोहित न हो तो क्या करे ? मगर तुम मानतीं क्यों नहीं कि मैं बात बनाकर नहीं कह रही हूँ !"

"मानती हूँ, मानती हूँ। तू जो कह रही है वह अगर सच है तो जानती है तू क्या कर रही है, इस समय ?"

"तुमसे बात कर रही हूँ, और क्या कर रही हूँ ? तुम जब से आयी हो, तब से मुझे और कुछ करने भी देती हो !"

"नहीं री भोली, तू मेरे करेजे पर आरी चला रही है, मेरी चेतना पर कशाघात कर रही है, मेरे अस्तित्व को चूर-चूर कर रही है। मैं फट जाऊँगी मैना, मैं एकदम टूट जाऊँगी। आज जाने कहाँ से विधाता ने वेधक दृष्टि डाली है—छेद दिया है रे, अन्तरतर को वेध डाला है !"

"क्षमा करो दीदी, मैंने अनजान में तुम्हें कष्ट पहुँचाया है।" मृणाल रुआँसी हो गयी।

"कष्ट पहुँचाया है ? इस वेदना का सुख तू नहीं समझेगी। हृदय चीरकर दिखा सकती तो तुझे विश्वास हो सकता। कितने जले घावों को अमृत लेप-लेपकर तूने हरा कर दिया है ! और भी कह, और भी वेध ! और भी छेद दे मेरी प्यारी मैना ! इस पीड़ा ने मुझे नया जन्म दिया है। कह मेरी प्यारी रानी, सपने में उस कापालिक ने क्या-क्या कहा था ?"

"बस दीदी, अब तुम शान्त हो जाओ। जितना कहा, उतने ही से तृप्त हो जाओ। अब अधिक ऐसा कुछ बोलोगी तो तुम्हारी मैना रोने लगेगी।"

"बहुत पा गयी हूँ रे, कई जन्मों के लिए पर्याप्त है। तू रोने की धमकी न दे। तुझे बहुत रुलाया है, अब नहीं रुलाऊँगी, एकदम नहीं।"

"दीदी, अब तुम थोड़ी देर चुप रहो। मैं ही बोलूँगी। अच्छी बात कहूँगी, भाला-बरछी चलानेवाली बात नहीं कहूँगी। सुनोगी दीदी !"

"तू जान-बूझकर थोड़े ही चलाती है ! पर तेरी बातों से इस तेरी भाग्यहीना दीदी पर कब बरछी चल जाती है, तू जान ही नहीं पाती। पर चल ज़रूर जाती है। मगर मैना, आज मैं कृतकृत्य हूँ।"

"छोड़ो दीदी, तुम भी कई बार आरी चला देती हो, एक बार मैंने भी चला

दी। हिसाब चुकता हुआ। उनके बारे में कुछ उपाय करो न! मैं तो ऐसी मूर्ख हूँ कि कुछ सोच ही नहीं पाती कि क्या करूँ। एक बार सुमेर काका से कहा कि विन्ध्याचल के पास कोई सिद्ध हैं, उनके पास चलो। लेकिन जानती हो, फक्कड़ आदमी हैं, जो बात उनकी बुद्धि के घेरे में नहीं आती, उसे ढोंग कहते हैं, अन्ध-विश्वास कहते हैं और कभी-कभी भेड़ियाधसान भी कहते हैं। उन्हें उत्साहित न देखकर फिर उनसे कुछ नहीं कहा। मगर अब तो तुम हो दीदी, चलो न एक दिन उस सिद्ध के पास, चलकर उनके बारे में पूछें। शायद कोई उपाय बता दें। ले चलो मुझे मेरी अच्छी दीदी! बहुत-सी बातें जो साधारण आँखों से नहीं दिखतीं, वे इन सिद्धों की तपोमय आँखों से स्पष्ट दिखायी दे जाती हैं।"

चन्द्रा के चेहरे पर आह्लाद की किरणें खेलने लगीं। बोली, "सुमेर काका तो देवता पुरुष हैं। पहले तो मुझे मारने दौड़े; फिर बात समझ में आ गयी, तो मेरे विरुद्ध कोई कुछ कहता है तो उसे ही मारने दौड़ते हैं। कहते हैं, 'चन्द्रा, अब समझ गया हूँ। दोष तेरा नहीं, सामाजिक व्यवस्था का है।' अब तो सुना है, मेरी ओर से आचार्य पुरगोभिल से भी उलझ आये हैं। सुना मैना, उन्होंने मुझसे कहा था कि मैना सिद्ध से मिलना चाहती है, मुझे यह बात जँच नहीं रही है। चल न चन्द्रा, तू ही उसकी ओर से पूछ ले। वह बहुत भोली है, उसे कोई भी धोखा दे सकता है।

"सुना मैना, मुझे काका की बात ठीक लगी है। मैं ही जा रही हूँ। तू कहाँ भटकती फिरेगी?" मृणाल ने आग्रह के साथ कहा, "मैं भी चलूँगी, दीदी।" चन्द्रा ने लीला-कटाक्ष निक्षेप करते हुए कहा, "ना बाबा, कोई आके पूछेगा कि मेरी फूल-सी प्राण-वल्लभा को जंगल-पहाड़ में क्यों भटकाती फिरी, तो क्या उत्तर दूँगी?" मैना ने मन्द-स्मित के साथ हेला-जड़िम वाणी में कहा, "जाओ!"

अट्ठारह

सिद्धाश्रम से लौटकर चन्द्रा ने कहा, "साधुओं में सब अच्छे ही नहीं होते। मैंने अनेक भण्ड साधु देखे हैं। उन्हें घायल करने के लिए कटाक्ष-बाण से बेधने की भी ज़रूरत नहीं होती। स्त्री-शरीर की गन्ध ही उन्हें बेहोश कर देती है। मैंने मन-ही-मन ऐसे साधु से मिल जाने पर जो कुछ किया जाना चाहिए, वह सोच लिया था। सच तो यह है मैना, कि मैंने स्वच्छ मन लेकर आश्रम में प्रवेश नहीं किया था। आज मैं तुझे कुछ बदली-बदली लग रही हूँ न? उस दिन ऐसी नहीं थी।"

अवसर पाकर मृणाल ने गम्भीरता का अभिनय करते हुए कहा, "साधुओं का

क्या दोष है, दीदी ! गन्ध के साथ ऐसा वर्ण, ऐसी कान्ति, ऐसी प्रभा, ऐसी सम्मोहक चारुता एक साथ मिल जायें, तो ब्रह्मा का मन भी एक बार डोल जाये !"

चन्द्रा ने चिकोटी काटते हुए कहा, "बस कर, अब ऐसी चाटूक्तियाँ मुझे न प्रसन्न कर सकती हैं, न अप्रसन्न ! मैं अब समझ गयी हूँ। बात तो सुन ! ···

"लोगों से सिद्ध बाबा का आश्रम पूछ-पूछकर हम लोग विन्ध्याटवी के एक गहन वन के निर्जन प्रदेश में पहुँचे। एक कड़ाह की तरह के पर्वत-शिखर में सिद्ध बाबा का आश्रम था। पहले ऊपर चढ़ना पड़ता था, फिर नीचे की ओर उतरने पर सिद्ध बाबा की कुटिया मिलती थी। थोड़ा और नीचे की ओर स्वच्छ जल का एक कुण्ड था। बड़ी मनोहर शोभा थी। रास्ता तो इतना विकट था कि तुझे न ले जाने का सन्तोष ही मन में था, पर आश्रम की शोभा देखकर मन में आया कि तुझे साथ ले आती तो अच्छा ही होता। चोटी से कुण्ड तक चारों ओर हरी वनराजि ऐसी सुन्दर लगती थी जैसे किसी ने लोहे के कड़ाह में नीलम की वृक्षावली उरेह दी हो। कुण्ड का पानी बहुत स्वच्छ था। ऐसा लगता था कि वन-लक्ष्मी का साध का सँवारा दर्पण है। नीचे से ऊपर तक वन-पनसों, बदरियों और कुटज-गुल्मों की पंक्तियाँ इस प्रकार कमनीय दिख रही थीं मानो वन-लक्ष्मी ने कंघी से केशों को झाड़कर सीमन्त-रचना की तैयारी कर रखी हो। सर्वत्र निःशब्द शान्ति भरी हुई थी, पर उसमें चुप्पी का खालीपन नहीं था। विचित्र मुखर भाव का भरापन था। सर्वत्र लगता था, कुछ कहा जा रहा है, कोई बातचीत चल रही है, कोई रहस्यपूर्ण संकेत का व्यापार चल रहा है। कोई चेला वहाँ नहीं था। एक विचित्र प्रकार का भरा-भरा सूनापन सर्वत्र व्याप्त था। मैं तो मैं, सुमेर काका की अकारण चपला वाणी भी वहाँ निश्चेष्ट हो गयी। उन्होंने इशारे से कहा कि तू अकेली जा, मैं बाहर ही रहूँगा।

"डरती हुई मैं धीरे-धीरे कुटिया में गयी। कुटिया भी एक गुफा-सी थी जिसके एक ओर पहाड़ था, दो ओर घने सीताफलों की कतारें थीं और आगे के हिस्से को किसी प्रकार झाड़-झंखाड़ की अनगढ़ टाटी बनाकर फाटक-जैसा बना लिया गया था। इसी कुटिया में सिद्ध बाबा के दर्शन होंगे। मैंने कल्पना कर ली थी कि वे समाधि लगाये होंगे। पर ऐसा कुछ नहीं था। मुझे सिद्ध बाबा वहाँ नहीं दिखायी दिये। सोचा, थोड़ा और अन्दर जाने पर शायद अन्धकार के घने आवरण में किसी कोने-आँतरे में दिखायी दे जायें। पर कहाँ, कुटिया में तो कोई नहीं था !

"कुण्ड की दूसरी ओर से आवाज़ आयी—'भुवन-मोहिनी, त्रिपुर-सुन्दरी, इधर आ, पुत्र यहाँ है।'

"मैंने चकित होकर अपना नया नामकरण सुना। उधर घूमकर देखती हूँ तो आपादमस्तक सफेद केशों से आवृत एक अशीतिक वृद्ध हँसते हुए मुझे देख रहे हैं। कह रहे हैं—'कहाँ भटक गयी अकुलवल्लभे ! बेटा इधर, माँ उधर !' क्या बताऊँ मैना, मेरे पैर से सिर तक बिजली कौंध गयी, इस सम्बोधन ने मुझे नीचे से ऊपर तक झकझोर दिया। और सिद्ध की हँसी तो जैसे वशीकरण

का मन्त्र थी। आहा, इतनी निर्मल हँसी भी होती है! ऊपर खड़े सुमेर काका ने सुना तो उन्हें कुछ आशंका हुई, दौड़ते हुए लाठी ताने खट्-खट् नीचे उतर आये। बाबा ने उन्हें देखते ही ज़ोर से ठहाका लगाया, 'भोलानाथ, महिषमर्दिनी की रक्षा करने आये हो? चले जाओ, कोई डर नहीं है। कुम्भोदर तो है ही। इसके रहते उनकी ओर कौन आँख उठा सकता है!' काका हतप्रभ हो रहे। फिर शिरसा प्रणाम करके बोले, 'जो आज्ञा!' मैंने काका को आश्वस्त करते हुए कहा, 'कोई चिन्ता की बात नहीं है, काका। पिता के पास हूँ।' काका चले गये। मैंने हाथ जोड़कर घुटनों के बल टिककर धरती से सिर लगाकर उनकी वन्दना की। वे हँसते रहे, फिर बोले, 'पुत्र को कैसे स्मरण किया, अम्ब! सब कुशल-मंगल है न?' मुझे लगा, बाबा मेरे बारे में सब जानते हैं। इनसे कुछ छिपाया नहीं जा सकता। मैंने वंचना का जो जाल मन-ही-मन बुना था, वह एकदम छिन्न-भिन्न हो गया। वे चुन-चुनकर ऐसे सम्बोधन करते थे कि मेरी शिराएँ झनझना उठती थीं। उपास्य का नाम किसी भी बहाने से उच्चरित करना तो भक्तों की चिराचरित प्रथा है। बाबा भी चुन-चुनकर जगदम्बा के नाम से मुझे पुकारते थे, पर हर सम्बोधन झकझोर जाता था। उस 'अकुलवल्लभा' सम्बोधन को सुनकर तो मेरा अन्तरतर काँप उठा। क्या बाबा से कुछ भी छिपा नहीं है? क्या तपस्या अदृष्ट-दर्शन की शक्ति दे देती है? जानती हूँ, 'अकुल' महादेव का नाम है और 'अकुलवल्लभा' आद्या-शक्ति का ही नाम है। पर यह कैसा वेधक सम्बोधन है?

"बाबा हँसते रहे—'माँ, क्या चिन्ता है तुझे? इस अभाजन पुत्र से तू चाहती क्या है? तेरे भीतर भुवनमोहिनी का निवास है। उनकी त्रैलोक्य-सौभगा लीला तेरे भीतर खेल रही है। तू भुवनमोहिनी के विभ्रम-विलास का अवतार है, माँ! माँ, तुझे क्या कष्ट हो गया है कि पुत्र के पास दौड़ती चली आयी? ज़रा ललाट तो दिखा।' बाबा ने मेरे मस्तक को दाहिने हाथ के अँगूठे और तर्जनी से पकड़कर उठाया और बच्चे की तरह खिलखिलाकर हँस पड़े—'माँ, तेरे तो बस एक ही बुड्ढा बच्चा है जिसे सामने देख रही है। और कोई बच्चा तो विधाता ने सिरजा ही नहीं। मैं ही अकेला तेरा पुत्र हूँ, जगदम्बिके!' सिर छोड़कर बाबा ताली बजाकर किलक उठे—'मेरे दुलार में कोई हिस्सा बँटानेवाला नहीं है। तू एकपुत्रा है, माँ!' मेरा चेहरा फ़क् पड़ गया। बाबा ने फिर सिर उठा लिया। आश्चर्य से फिर विह्वल हो गये—'क्या लीला है तुम्हारी महामाया! एक है तो कहीं छिपा हुआ! नहीं माँ, तेरा औरस भी नहीं है और तेरा पूरा अपना भी है। बाँटनेवाला है माँ, बुड्ढे बच्चे का एक प्रतिद्वन्द्वी भी कहीं छिपा है। बड़ा प्रतापी दिखता है माँ, बुड्ढे का स्नेह बाँट लेगा।' फिर रुआँसे-से होकर बोले, 'बड़ा प्यारा लगता है रे, बुड्ढे भाई को भी मोह लेगा। पर यह सब महामाया का षड्यन्त्र ही है। मौज में आती है तो विधाता को भी मूर्ख बना देती है। बोल माँ, अब तो प्रसन्न हुई न?'

"मैं अवाक् होकर बाबा का मुँह ताकती रही। वे बच्चों की तरह प्रसन्न थे।

हँसते हुए बोले, 'सौभाग्य तो तेरा अद्भुत है त्रिलोक-सुभगे, तुझे कष्ट क्या है, बताती क्यों नहीं ? अकारण इस वृद्ध पुत्र को व्याकुल बना रही है। तेरी-जैसी अनोखी माता तो कभी इस आश्रम में नहीं आयी। आहा, तेरे तो शरीर और मन अलग-अलग दिशा में दौड़ लगा रहे हैं। शरीर तेरा सौभाग्य की खोज में भाग रहा है, मन वात्सल्य की ओर। तेरा मन अपने प्रियजनों को वात्सल्य में डुबा देना चाहता है। तेरा प्रियजन भी तुझे बच्चों-सा मोहित करता है। माँ, तू भीतर से माँ है, बाहर से शृंगारमयी प्रिया। आहा, ऐसा मिलना तो विरल है! विधाता तेरी कुक्षि में वात्सल्य का आश्रय आने नहीं देगा और महामाया तुझमें वात्सल्य-रस भरती जा रही हैं। यह तो विषम संकट है जगत्तारिणी!'

"मेरी वाणी रुकी सो मानो सूख ही गयी। किसी तरह साहस बटोरकर बोली, 'बाबा, जो कहना चाहिए वह कह नहीं पा रही हूँ। हृदय पर जैसे किसी ने भारी पत्थर रख दिया है। लोक-दृष्टि में मैं उन्मार्ग-गामिनी कुलटा हूँ, अपनी दृष्टि में पतिव्रता। पर इस पतिव्रता ने मेरी प्राण-प्यारी सखी को विपत्ति में डाल दिया है और जिसे पति मानती हूँ उसे भी घोर कष्ट में डाल दिया है।'

"बाबा किलकारी मारकर हँसे—'हाथ तो दिखा दे त्रिनयने! दुनिया के दो ही आँखें होती हैं, तेरी तीसरी आँख भी खुली लगती है। ठीक कहता हूँ न, माँ?' मैंने अपना हाथ बाबा के सामने फैला दिया। बाबा चौंक पड़े। बड़ा भरमना पड़ा है तुझे, माँ! मेरी मूर्ख माँ, तुझे अपनी बुद्धि पर भरोसा है। ना रे ना, सब उसकी रचना है। तू अपने को निमित्त क्यों नहीं मानती मेरी अबोध माता! पर कैसे मानती? उस मायाविनी ने तुझे भटकाये रखने का जाल रच दिया है। कोई चिन्ता नहीं, अपने इस बेटे पर भरोसा रख, सब ठीक हो जायेगा। ज़रा पैर तो दिखा, माँ! हाँ, ठीक है। तो तू जिसे पति मानती है वह संकट में पड़ गया है। और तेरी सखी उसकी पत्नी होगी—तेरी स्वयंवृता सौत। है न यही बात?'

"मैंने थके हुए स्वर में कहा, 'हाँ बाबा, मगर वह सौत नहीं, मेरी प्यारी बहिन है।' बाबा ठठाकर हँसे—'सौत बहिन नहीं तो और क्या होती है मेरी भोली माँ?' मैं क्या उत्तर देती! चुपचाप बाबा की ओर ताकती रही। बाबा ने मेरे मुख से आँखें हटायीं नहीं। बच्चों की-सी प्रसन्नता उनके चेहरे पर खेलती रही। थोड़ी देर तक उसी तरह देखते हुए बोले, 'तेरे केश घन-कुंचित हैं। ये तो अखण्ड सौभाग्य की सूचना देते हैं, पर तू इतना भटकी कैसे? भगवती ने जिसे इतने शुभ लक्षण दिये हैं, वह इतना चक्कर में कैसे पड़ गयी? ऐसा लगता है सर्वेश्वरी, कि तेरी स्वयंवृता सौत तुझसे भी अधिक शक्तिसम्पन्न लक्षणों की रानी है। दो माताओं के भाग्य आपस में लड़ें तो बूढ़ा बच्चा क्या कर सकता है, माँ! तू अपने को उससे पराजित मानती है?' मुझे बाबा की बात अच्छी नहीं लगी। शायद वे सौतों की लड़ाई का अनुमान करने लगे हैं। मैंने थोड़ा कठोर होकर कहा, 'कहा न बाबा, कि वह हमारी प्यारी बहिन है। प्यार में जय-पराजय की बात कहाँ उठती है?' बाबा ठठाकर हँसे—'तू हार मान गयी है माँ, हार

मान गयी है। नहीं तो बूढ़े बच्चे की बात से कोई माँ गुस्सा करती है ? माँ कहीं-न-कहीं हार मानने पर ही बच्चे को मारती है। लेकिन जाने भी दे। मैं देख रहा था कि तू सौत के प्रति कैसा भाव रखती है। लगता है तू सचमुच उसे प्यार करती है। ज़रूर वह ललिता-रूपा है। जगज्जननी का तेरे-जैसा भुवन-मोहन रूप तो उसी रूप से हार मानता है।'

"मैंने सम्मति-सूचक सिर हिलाया। बाबा को कुतूहल हुआ—'ललिता-रूपा जगत्-सूत्रधारिणी ! जानती है मातेश्वरी, ललिता की क्रीड़ा से यह लोक रचित होता है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है न, सब उसी ने खेल-खेल में रच दिया है। इतना तो माया भी कर सकती थी। पर ललिता-शक्ति समस्त वीभत्सताओं और कुरूपताओं को ललित आवरण डालकर मोहन बना देती है। उसके सखा चिन्मय शिव हैं—चिन्मय शिव, चैतन्य के घनीभूत विग्रह ! आहा, क्रीड़ाते लोक रचना सखाते चिन्मयः शिवः। तू बड़ी सौभाग्यशालिनी है। तेरी सखी भी निखिल मातृ-ग्राम की मुकुट-मणि जान पड़ती है। वह समस्त कुरूपताओं को हिरण्मय आवरण से ढककर कमनीय बना देती होगी। मैं ठीक कहता हूँ न, मातः ! तूने कभी ऐसा अनुभव किया है ?'

" 'किया है बाबा, मेरे सारे कलुष को उसी ने तो विशुद्ध प्रेम के रूप में चमका दिया है।' अब बाबा सम्हलकर बैठ गये—'हाँ रे, जगदम्बिका, तुझे अपने कलुष दिख गये हैं। कैसे दिख गये भववल्लभे ! तेरी तीसरी आँख तो बाहर की ओर दौड़ती रही। मैं समझ गया था। मैं तो तेरे सामने ही बैठा था, और तू है कि कुटिया में ढूँढ़ती रही। ज़रूर तेरी आँखों पर पर्दा था। साथ में उस भोलानाथ को ले आयी है, वह भी तो नहीं देख सका था। हाय मुण्डमालिनी, कितने मरे मुण्डों की माला पहने तू घूम रही है ? क्यों नहीं फेंक देती उतारकर। बँदरिया माता मरे बच्चे को भी छाती से चिपकाये घूमती रहती है। बूढ़े की माँ, तुझे उससे कुछ तो अधिक समझदार होना चाहिए। छिः-छिः, मरे बच्चों का बोझ हटा दे। मोह छोड़ दे मोहमयी, जो मरा सो मरा, काहे को इतना आयास कर रही है ! पाने की लालसा मनुष्य को मुर्दे ढोते रहने का प्रलोभन देती है। फेंक दे माँ, मरों को मत ढो !'

"मैं तो एकदम घबरा गयी, मैना। बाबा कहना क्या चाहते हैं ? मगर मुझे लगा कि जनम-भर की स्मृतियाँ मेरे भीतर सड़ी पड़ी हैं। मेरा अपना ही सिर दुर्गन्ध से फटने लगा। चारों ओर कुत्सित शवों की गन्ध से नसें फटने लगीं। मारे डर के मैं चिल्ला पड़ी—'त्राहि बाबा, त्राहि !' बाबा शरारती बच्चे की तरह मुस्कराते रहे।

"बाबा ने विनोद के साथ कहा, 'डर गयी मातेश्वरी ! डरने की बात नहीं है रे ! क्यों सड़ गये हैं ये सब, पता है तुझे ? क्योंकि तूने इन्हें अपने सुख के लिए पाना चाहा था। अपने लिए बटोरने से ही मनुष्य का जीवन श्मशान बन जाता है। लुटाने की बुद्धि से जो किया जाता है वह फूल बन जाता है। आ तो जगद्धात्री,

ज़रा तेरी नाड़ी देखूँ !' मैंने हाथ दे दिया। बाबा ने नाड़ी टटोली—'जल रही है रे, तुझे तो ज्वर हो गया है, गन्दगी जलेगी तो तापमान तो बढ़ेगा ही; जल जाने दे, सब जल जाने दे ! मेरी ओर देख पद्मासने, पीड़ा हो रही है न ? तेरा बुड्ढा बच्चा बड़ा पाजी है, माँ को कष्ट दे रहा है ! अरे, तू तो बेहोश होती जा रही है। ना माँ, घबरा मत। दुष्ट बच्चे के पास आ गयी है। यह जलाने का खेल खेलता है।'

"मैं सचमुच संज्ञा-शून्य होकर बाबा के चरणों पर लुढ़क गयी। थोड़ी देर तक मेरी चेतना मुझसे एकदम अलग हो गयी, पर मैं मरी नहीं मैना, साफ़ देखती रही। सारे पाप साकार होकर सामने आने लगे। ऐसा जान पड़ा कि सब जल रहे हैं, उछल रहे हैं, तड़प रहे हैं, भहरा रहे हैं। मैं उन्हें देख रही हूँ। उद्दाम यौवन के निकृष्ट पाप—काले, भयावने, ज़हरीले साँपों के भयंकर झुण्ड विवश-भाव से जल उठते हैं, महाभयानक नागमेध-यज्ञ चल रहा है। जिन बातों को मैंने कभी पाप नहीं समझा वे भी सुनहरे साँपों के रूप में आ-आकर गिर रहे हैं। ताप और बढ़ता गया, दुर्गन्ध और भभकती गयी, बेचैनी और बढ़ती गयी। उस भयंकर ज्वाला से मेरा शरीर तप्त तवे की भाँति लहक उठा था। बाबा की आवाज़ सुनायी पड़ी—'उठ रे ज्वालामुखी, सब जला देगी ? कैसी माँ है तू रे ज्वाल-मालिनी ! ऐसी उसाँसें भर रही है कि बूढ़े बच्चे को भी जला देगी ! उठ जा !'

"क्षण-भर में मुझे लगा कि शरीर का ताप कम हो गया है और मेरी चेतना लौट आयी है, पर मैं अवश-भाव से बाबा के चरणों में पड़ी रही। कुछ आशंकित होकर सुमेर काका लौट आये थे। बाबा उनसे ही कुछ कह रहे थे—'आओ भोलानाथ, माँ की सेवा करने आये हो न ? देखो, कैसी हो गयी है ? उठा दूँ ?' सुमेर काका अभिभूत-से कह रहे थे—'बाबा, बचा लो इसको, मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो मुझे दण्ड दो, यह बेचारी दुखियारी बालिका है। इस पर दया करो।' बाबा ने कहा, 'तुम्हारी बिटिया है मेरी माँ ?' सुमेर काका ने कहा, 'ऐसा ही समझो बाबा, औरस पुत्री तो नहीं है पर उससे भी बढ़कर है।' बाबा ने हँसते हुए कहा, 'नानाजी, अभी जाओ, माँ-बेटे को रहने दो यहीं। तुम्हारी बिटिया स्वस्थ हो रही है। जाओ, मैं माँ के दुलार में तुम्हें हिस्सा नहीं लेने दूँगा। जाओ !' सुमेर काका शिथिल गति से लौटते जान पड़े। मैं उसी तरह अवसन्न।

"अवसन्न चेतना को मैंने प्रत्यक्ष देखा। मुझसे बाहर खड़ी हुई थी ! उसकी देह धुएँ से काली पड़ गयी थी। फिर देखा विचित्र दृश्य ! मैना, कहूँ तो विश्वास करेगी ? शायद कर लेगी। तेरी दीदी अब विश्वास-योग्य हो गयी जान पड़ती है। सुन मैना, बड़ा ही अद्भुत दृश्य, बड़ा ही विचित्र !" फिर मृणालमंजरी की ओर देखकर बोली, "हाय रे, तू तो अभी से घबरा गयी है। घबरायेगी तो नहीं कहूँगी।" मृणालमंजरी का चेहरा फक् पड़ गया था। वाष्प-रुद्ध कण्ठ से बोली, "सुनाओ दीदी, मैं उत्सुक हूँ !"

चन्द्रा ने प्यार के आवेश में मृणाल का सिर सूँघ लिया। फिर साश्चर्य

उल्लसित वाणी में बोली, "हाय रे, यही सुरभि तो थी।" मृणाल ने चकित होकर देखा, चन्द्रा की आँखें डबडबा आयी हैं। उसने दुलरावने स्वर में कहा, "कोई दुखद प्रसंग हो तो आज रहने दो दीदी!"

"नहीं मेरी प्यारी मैना, तुझे सुनना चाहिए।"

"देखा, एक सरोवर है। देख रही हूँ, लेकिन बाहर नहीं है, मेरे भीतर ही है। उसमें तीन कमल खिले हैं—दो बड़े और एक अविकसित, छोटा-सा। उनकी सुगन्ध से मन और प्राण तृप्त हो उठे। चारों ओर प्रसन्न आकाश, शीतल वायु और भीनी-भीनी गन्ध।

"बाबा ने फिर कहा, 'उठ महामाया, अभी तृप्ति नहीं हुई क्या?'

"अन्तरतर से आवाज़ आयी—नहीं, तृप्ति नहीं हुई। पर मुँह से कुछ बोल न सकी। बाबा ने प्यार से सिर पर एक हल्की चपत लगा दी। हाय मैना, कैसे कहूँ, क्या देखा। कह नहीं पा रही हूँ, पर कहूँगी अवश्य। देखा, आर्यक गहन अरण्य में शिला-पट्ट पर लेटा है। केश लटिया गये हैं, वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं। आँखें लाल हैं। जान पड़ता था, उसे कई दिनों से नींद नहीं आयी थी। हाय, क्या देख रही हूँ! वह मृणालमंजरी को देखना चाहता है और चन्द्रा ने दोनों के बीच अवरोध खड़ा कर रखा है। मृणाल को चन्द्रा ने एक गुफा में धकेल दिया है। वह पाशबद्ध मृगी की भाँति करुणा-कातर नयनों से आर्यक को खोज रही है। आर्यक चन्द्रा के पैरों पर गिरकर विनय कर रहा है—'उसे आने दो चन्द्रा, बहुत-बहुत कष्ट में है!' और निर्लज्ज क्रूर चन्द्रा हँस रही है। कैसी कातर मुद्रा थी आर्यक की! ओह!

"फिर क्या देखती हूँ—तीन आदमी बैठे हैं। एक आर्यक है, दो उसके साथी। उसका एक साथी बड़ा ही कोमल, बड़ा ही सुघड़ दिखायी दे रहा है और दूसरा उतना ही कुरूप, उतना ही अनघड़। आर्यक अपने तरुण मित्र से घुल-घुलकर बातें कर रहा है, दोनों ही उदास हैं।

"अचानक देखती हूँ भयंकर मार-काट, हो-हल्ला। नगर आग की लपटों में जल रहा है और आर्यक अकेला शत्रु-व्यूह में कूद पड़ा है। उसकी भुजाएँ विद्युत्-गति से सक्रिय हैं। वह जिधर जाता है उधर ही भगदड़ मच जाती है। शत्रु-सेना में घिरा आर्यक ऐसा लग रहा है जैसे मदमत्त गजराजों के यूथ में सिंह-किशोर पहुँच गया हो। देर तक मार-काट चलती रहती है। मेरी छाती लोहार की भाथी से समान धौंक रही है। एक बार ऐसा लगा कि दुर्दान्त शत्रुओं ने उसे दबोच लिया है। मैं एकदम नींद से उठकर शत्रु-व्यूह में कूद पड़ी। चिल्लाकर बोली, 'कोई चिन्ता नहीं प्यारे, चन्द्रा आ गयी है।' मेरे मुँह से सचमुच उत्तेजित स्वर में आवाज़ निकली—'चन्द्रा आ गयी आर्यक, घबराओ नहीं।' बाबा ने फिर सिर दबा दिया। क्या देखती हूँ कि फिर वही सरोवर बिल्कुल हृदय में लहरा उठा है। आर्यक उसमें प्रवेश कर रहा है, वहाँ आते ही वह कमल का फूल बनकर लहराने लगा है। दूसरी ओर तू आती है, साथ में नन्हा शोभन है। दोनों कमल के फूल बन जाते हैं।

चन्द्रा के हृदय-सरोवर में तीन कमल लहरा रहे हैं। मैं तृप्ति के साथ देखती रही। एक-एक लहर पर कमल लहरा उठते हैं।

"बाबा ने फिर कहा, 'उठ पद्मासने, उठ जा!'

"मैं उठकर बैठ गयी, बिल्कुल सहज भाव से; कहीं भी अवसाद या थकान का नाम नहीं। बाबा ने छेड़ा—'यह आर्यक-आर्यक क्या कह रही थी, माँ! तू गोपाल आर्यक को स्मरण कर रही थी क्या? तू उसकी कौन है? क्यों छिपाया था, माँ!'

"मैं लजा गयी। बोली, 'कह नहीं सकी थी, आर्य! कैसे कहूँ?'

"बाबा ने प्रसन्नता से कहा, 'तू अपने बच्चे की परीक्षा ले रही थी, छलनामयी! तेरा प्यारा विजयी होकर आ रहा है। जा माँ, तू पतिव्रताओं की मुकुटमणि है। अपने लिए कुछ बटोरना नहीं, सब-कुछ निःशेष भाव से निचोड़कर देती रहना। और वह जो तेरी ललिता सखी है न, उससे कह देना कि वह सतियों का आदर्श बनेगी। जब सुख के दिन आवें तो मुझे भूले नहीं। इस बेटे को भी याद रखना, माँ। देख माँ, तेरी सखी पार्वती के समान पूजनीय है, उसमें शील, धर्म और शोभा की त्रिवेणी लहरा रही है। उसके समान पार्वती-कल्पा सती का पति कहीं संकट में पड़ सकता है? देख सुदर्शने, तेरी भी दो माताएँ, तेरी सखी की भी दो माताएँ हैं, तो फिर यह पुत्र क्यों वंचित रहे! तू भी मेरी माँ, वह भी मेरी माँ! ललिता माँ से कह देना कि जब वह या तू याद करेगी तो तुम दोनों का यह बूढ़ा बच्चा स्वयं आ जायेगा।'"

मृणालमंजरी की आँखों से दर-विगलित अश्रुधार वह चली। वह चन्द्रा से लिपट गयी।

उन्नीस

आर्यक, माढ़व्य और चन्द्रमौलि को छोड़कर चुपचाप खिसक आया। उसे अपने पहचान लिये जाने से कष्ट हुआ। उज्जयिनी में उसकी कीर्त्ति और अपकीर्त्ति दोनों पहले ही पहुँच चुकी थीं। दो-तीन दिनों तक वह निरुद्देश्य भटकता रहा। उसके आजानुबाहु मोहन रूप को देखकर लोग ठगे-से खड़े रह जाते थे। उत्सुकतावश वे उसके पास आकर पूछते भी थे कि वह कौन है। उसका उत्तर स्पष्ट नहीं होता था। लोगों में कानाफूसी चलने लगती थी। उस समय वहाँ किंवदन्तियों की बाढ़ आयी हुई थी। लोग उसके भव्य रूप को देखकर कहने लगे कि हो-न-हो, यह

गोपाल आर्यक ही है। आर्यक समझने लगा कि लोग क्या समझ रहे हैं। वह पछता रहा था कि यहाँ आया ही क्यों। उसे अब उज्जयिनी से हट जाना चाहिए। वह नगर के सबसे अन्त में स्थित उजाड़ बगीचों में छिपने का प्रयत्न करता। एक दिन तो वह निराहार ही रह गया। दूसरे दिन एक अन्न-सत्र में प्रसाद पाया। पर उससे उसके बारे में चर्चा बढ़ती ही गयी। उसे लगा कि देर तक वह छिपकर रह नहीं सकेगा। वह इधर आया था मित्रों की रक्षा करने, पर स्वयं अरक्षित हो गया। मन-ही-मन उसने निश्चय कर लिया कि महाकाल के दर्शन करने के बाद वह खिसक जायेगा। उज्जयिनी आये हो तो महाकाल के दर्शन तो कर ही लेने चाहिए।

वह क्षिप्रा में स्नान करके महाकाल के मन्दिर में गया। प्रणिपात करके प्रदक्षिणा की और बाहर आकर वहाँ थोड़ी देर रुक गया। उसका मन फिर ज्योतिर्लिंग की ओर गया। पुनः दर्शन और प्रणिपात तथा प्रदक्षिणा करके बाहर आया। मगर आगे नहीं बढ़ सका। ऐसा लगा कि रस्सी से बाँधकर उसके मन को मन्दिर के भीतर कोई खींच रहा है। विवश-सा वह फिर भीतर गया, फिर बाहर आया; फिर गया, फिर बाहर आया। इस प्रकार वह लगातार सात बार भीतर गया और बाहर आया। कुछ खींच रहा है, कोई अदृश्य आकर्षण-रज्जु। हर बार वह यह सोचकर निकलता था कि अबकी बार वह बाहर चला जायेगा, उज्जयिनी छोड़ देगा; पर हर बार बाहर आने पर वह खिंचाव का अनुभव करता था। वह कुछ समझ नहीं पा रहा था कि उसे हो क्या गया है। यह क्या कोई अभिचार है जो उसे बार-बार अपने मन का नहीं करने दे रहा है? वह थोड़ी देर के लिए स्थिर खड़ा हो गया। उसने दृढ़ संकल्प किया कि वह अब नहीं रुकेगा। सारे अभिचार को अस्वीकार करने का दृढ़ संकल्प लेकर वह मन्दिर के द्वार से घाट की ओर रवाना हुआ। उसे लगा कि कोई पीछे-पीछे आ रहा है। पीछे मुड़कर देखा, कहीं कोई नहीं है। यह क्या रहस्य है? वह क्षण-भर के लिए चकराया। फिर तलवार की मूठ कसकर पकड़ी और सावधान होकर आगे बढ़ा। संकल्प की दृढ़ता का अच्छा फल मिला। जान पड़ा कि उसके मन पर से एक भारी बोझ हट गया है। उसने बिना पीछे मुड़े महाकाल को प्रणाम किया—खींच रहे हो देवाधिदेव, पर मैं रुक नहीं सकता। मैं उज्जयिनी छोड़ देने का संकल्प कर चुका हूँ। मेरा चित्त उत्क्षिप्त है। तुम्हारी सेवा में मन और प्राण नहीं ढाल सकूँगा। तुम्हीं ने यह दुर्बलता दी है, जैसी भी है, जो भी है, तुम्हारी दी हुई है, आर्यक विवश है! मेरा मन एक ओर भाग रहा है, प्राण दूसरी ओर खींच रहा है, मैं अपने आप द्विधा-विभक्त हो गया हूँ। मुझे कहीं शान्ति नहीं मिल रही है। तुम्हारे चरणों में अपने-आपको निचोड़कर निःशेष रूप से ढरका सकूँ, ऐसा साहस नहीं बटोर पा रहा हूँ। क्षमा करो अन्तर्यामिन्, इस तामस काया से कुछ भी सधनेवाला नहीं है! जी रहा हूँ, क्योंकि तुम मृत्यु को भेज नहीं रहे हो; चल रहा हूँ, क्योंकि तुमने वासनाओं के भँवर को गतिशील बना दिया है। क्षमा करना देवाधिदेव, आर्यक वशी नहीं बन पाया है, वह विवश है, परवश है, अवश है!

परन्तु उसे फिर लौटना पड़ा। तलवार की मूठ पर कसी हुई मुट्ठी और भी कस गयी, पर शरीर विवश-भाव से फिर से मन्दिर की ओर खिंच गया, जैसे किसी ने मुँहज़ोर घोड़े को लगाम खींचकर लौटा लिया हो। वह मन्दिर-द्वार पर फिर आकर खड़ा हो गया। संकल्प-शक्ति की दृढ़ता का अभिमान टूक-टूक हो गया। देवाधिदेव के प्रति किया गया मानसिक विनिवेदन भोंडा उपहास बनकर रह गया। कैसी माया है प्रभो! क्या कराना चाहते हो इस अभाजन से? यह कैसा मोहमय आकर्षण है? भागना भी अपने हाथ में नहीं है? नहीं, वह अब मन्दिर में नहीं जायेगा। वह देर तक द्वार पर खड़ा रहा। उसकी दृष्टि दूर चबूतरे पर बैठी एक दिव्य द्युतिवाली संन्यासिनी की ओर गयी। वह एकटक उसी ओर देख रही थी, मानो देर से इस प्रतीक्षा में हो कि वह उसकी ओर देखे। प्रथम दृष्टि में आर्यक ने केवल उसकी एक ऊपरी छाया ही देखी। फिर उसका रूप निखरने लगा। आर्यक ने देखा, वह ज्योतिष्मती है, जैसे किसी निपुण कलाकार ने सुवर्ण-प्रभा से ही उसे बनाया हो। आर्यक उसकी ओर बढ़ा, अनिच्छापूर्वक। निकट पहुँचकर उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसकी ज्योति निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी। सारे मुख-मण्डल को घेरकर एक अपूर्व प्रभा-मण्डल स्पष्ट झलक रहा था। ललाट इतना उज्ज्वल था कि सोने के दर्पण का भ्रम होता था। उसके परिधान में एक हल्के लाल रंग का कौशेय वस्त्र था––शरत्कालीन प्रभात की प्रथम किरणों के समान चमकीला। उसके मुँह से अचानक अपने मित्र चन्द्रमौलि की कविता की एक पंक्ति बरबस निकल गयी—'वासं वसाना तरुणार्करागम्!' तरुण सूर्य की लालिमावाला वस्त्र! पर वह हिल-डुल नहीं रही थी, एकटक उसी की ओर निर्निमेष नयनों से देखे जा रही थी। मूर्त्ति है क्या? ध्यान से देखने पर आर्यक को लगा कि देह तो पतली कनक-छरी-सी थी, पर कान्ति से भरी-भरी लग रही थी। कान्ति का भराव ऐसा था कि अष्टमी के चन्द्रमा के समान प्रशस्त ललाट पर पड़े हुए चेचक के दाग दूर से एकदम नहीं दिखायी दे रहे थे।

आर्यक ने निकट आकर उस दिव्य नारी-मूर्त्ति को देखा। प्रौढ़वय में भी उस रूप में एक विचित्र प्रकार की कसावट थी। आँखों में करुण मातृत्व लहरा रहा था। केश भ्रमरावली के समान घुँघराले थे, मगर बीच-बीच में एकाध रजत-शलाका की भाँति श्वेत भी हो गये थे। अधर-पुट मुरझाये पाटल के समान सूखकर भी चमक रहे थे। युवावस्था में निश्चय ही वह सुन्दरियों की मुकुट-मणि रही होगी। आर्यक ने निकट आकर श्रद्धा-सहित प्रणाम किया। देवी का दाहिना करतल ऊपर की ओर उठा, प्रफुल्ल कमल की एक वलयित लहरदार रेखा-सी खिंच गयी। आर्यक ने इस आशीर्वाद में कृतकृत्य-भाव का अनुभव किया। संन्यासिनी के अधरों पर मन्द मुस्कान खेल गयी, "रोक रहे हैं तो क्यों नहीं रुक जाते बेटा! इनकी माया काटकर कहाँ भागोगे? देर से देख रही हूँ, भागना चाहते हो, भाग नहीं पा रहे हो। देखो ना, पाँच बरस से भागकर जाना चाहती हूँ। जाने दें तब तो। जो ये चाहते हैं वही होना चाहिए। दूसरा क्या चाहता है, इससे इन्हें कोईमतलब नहीं। अपनी होनी

चाहिए। कहती हूँ, जाने दो, लौट आऊँगी, सुनता कौन है !"

आर्यक अवाक् !

"रुक जाओ बेटा, इन पर किसी का वस नहीं है। माँ वश में कर सकती थीं, पर वह नाराज़ हैं, गुस्से में गयीं, सो गयीं। अब उनका गुस्सा औरों पर उतारते हैं--नहीं जाने देंगे ! जिसे रोकना था, उसे तो रोक नहीं सके। मुझे रोकते हैं, तुम्हें रोकते हैं। धन्य हैं !"

आर्यक कुछ समझ नहीं सका। क्या कह रही हैं यह माताजी ! वह कौन है ? कौन रोकता है ? किसे ? उसे इतना तो समझ में आ पाया कि रोकनेवाले महाकालनाथ हैं। माताजी क्या देवी को कह रही हैं ! वे नाराज़ क्यों हो गयीं ? कहाँ चली गयीं ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। आर्यक की वाणी रुद्ध हो गयी। वह आश्चर्य से केवल ताकता रहा।

संन्यासिनी की दृष्टि बराबर उसी पर टिकी रही। मृदुल वाणी में फिर बोलीं, "बेटा, तुम चुप क्यों हो ? कहाँ से आये हो ? महाकाल के दरबार में कैसे पहुँचे ?"

आर्यक अब भी कैसा-कैसा अनुभव करता रहा। बोलने की इच्छा नहीं हो रही है। देवबाला के समान अनुपम शोभामयी मातृकल्पा देवी के प्रश्नों का उत्तर न देना अशिष्टता है, आर्यक से अधिक इस बात को कौन जानता है ! पर उसके मुँह से बोल ही नहीं निकल रहे हैं। कैसी विचित्र बात है !

उसने बोलने का प्रयत्न किया, पर उत्तर नहीं सूझा। आयासपूर्वक गला साफ़ करके बोला, "अविनय क्षमा हो माताजी ! क्या कहूँ, समझ में नहीं आ रहा है। मैं भटका हुआ परदेशी हूँ। यदि ढिठाई क्षमा करें तो मैं यह जानने का प्रसाद पाना चाहता हूँ कि आप कौन हैं और जो बातें आप कह रही हैं, उनका अर्थ क्या है ?"

"सचमुच भटक गये हो, वत्स ! तुम्हें तो लहुरा वीर के धाम में पहुँचना चाहिए था। तुम्हारी मध्यमा वृत्ति ही क्रियाशील जान पड़ती है। मध्यमा वृत्ति में ही दण्डहस्ता भगवती वक्रता सहन नहीं कर पातीं। तुम भटककर इधर आ गये हो। महाकाल पश्यन्ती वृत्ति में विहार करनेवाली अंकुशधारिणी वामा के अभिलाषी हैं। बड़ी मनावन चाहती हैं मानिनी वामादेवी। पद-पद पर मान, पद-पद पर ठसक ! बाप रे बाप, इतनी मानवती हैं कि बस, नाक का फोड़ा समझो।"

आर्यक उलझन में पड़ गया। लहुरा वीर का वह सचमुच ही किसी समय उपासक था। पर जीवन की विषम परिस्थितियों ने सब साफ़ कर दिया। लहुरा वीर छूट गये। लहुरा वीर के सेवक पर प्राण वारनेवाली प्रिया मृणालमंजरी छूट गयी। जीवन में चन्द्रा धूमकेतु-सी आयी और सब छिन्न कर गयी। चन्द्रा सुन्दर है, मोहिनी है, सम्भावित-हृदया है, भुलाये नहीं भूलती; पर आर्यक लहुरा वीर को भूलकर महाकाल के दरबार में आ गया। भटार्क ने मथुरा को जीत लिया है, नाम आर्यक का ही चल रहा है। यदि सचमुच वहाँ आर्यक पहुँचा होता तो लहुरा वीर मिल गये होते, पर वह भटक गया। यह अद्भुत संन्यासिनी कहती है

कि उसे लहुरा वीर के धाम में जाना चाहिए था। यहाँ आकर उसने क्या कोई दोष किया है ? संन्यासिनी ने आर्यक के मन की बात मानो ताड़ ली। बोली, "दोष नहीं है बेटा, दोष क्या है ? वासुदेव और महादेव कोई भिन्न देवता थोड़े ही हैं ? एक ही हैं। नाम-रूप तो उपासक के भाव हैं। उपासक के भाव ही तो उपास्य को नाम और रूप देते हैं। मैं कह रही थी कि तुम अपना 'स्व-भाव' नहीं जानते। स्व-भाव को न जानने का नाम ही भटकना है। तुम्हें मैं पहचान गयी हूँ। और कई लोग भी पहचान गये हैं। यह दिव्य तेज, यह आजानुलम्बित बाहु, यह कपाट-सा वक्ष, ये वृषभतुल्य स्कन्ध और यह मत्त गजराज की गति तुम्हें लाखों में एक बना देती है। विधाता ने महाभूत समाधि धारण करके यह मोहक रूप बनाया था। कैसे छिप सकोगे मेरे लाल ! कहो तो नाम बता दूँ ! पर बताऊँगी नहीं। सुनो बेटा, मैं भी बहुत भटकी हूँ। अब भी क्या कम भटक रही हूँ ? मथुरा गयी, श्रीकृष्ण के दरबार में। बाप-रे-बाप, केवल लेना जानता है। राग-विराग, मान-अभिमान, शरीर-मन, सबको खींच लेता है। पूर्ण समर्पण माँगता है, ज़रा भी रियायत नहीं। कृष्ण है न !—खींचनेवाला ! प्रिया बनो, सखी बनो, मनावन करती रहो। बीस बरस रही बेटा। सब दे दिया, पर उसका अभी सन्देह नहीं गया। कहता है, अभी बहुत छिपाके रखा है, उलीच दो। झगड़ा कर बाप के घर चली आयी हूँ। अवढरदानी बाप—महादेव। केवल देता है, देता है, दिये ही जाता है ! माँ नाराज़ होती हैं तो यह बेटी ही तो मनाती है। मगर कैसा दातृत्व है ! उधर वह लुटेरा चैन से नहीं रहने देता। चली आओ, जल्दी आओ। मेरा मन भी व्याकुल हो जाता है। इधर पिता हैं कि कहते हैं, थोड़ा रुक जा बिटिया, अभी और कुछ दूँगा। बताओ बेटा, कहाँ अपना स्व-भाव जान पायी हूँ। दाता हूँ कि ग्रहीता ? प्रिया हूँ कि पुत्री ? नहीं बेटा, यहाँ आने में कोई दोष थोड़े ही है। क्यों आये हो, पता है ? मेरे लिए। अवढरदानी भोलानाथ मन की वासना जानते भी हैं, निर्बाध भाव से दे भी देते हैं। मेरी आँखें जुड़ा गयीं।"

आर्यक हैरान ! क्या सुन रहा है ? उसे कुछ ठीक समझ में नहीं आ रहा है, पर लग अच्छा रहा है। वह एकटक माता संन्यासिनी को देख रहा है—निर्निमेष, अवाक् !

अपने को सम्हालने का प्रयत्न करते हुए उसने कहा, "धृष्टता क्षमा हो मातः ! दो नहीं, तीन भाव आप में स्पष्ट देख रहा हूँ। दो को तो आपने स्वयं बता दिया है। तीसरा मातृ-भाव है। मुझे आपकी वाणी में इस अभाजन के प्रति वात्सल्य-गद्गद भाव दिखायी देता है। पर माता, ये तीनों भाव तो हर नारी में स्वभावतः विद्यमान होते हैं। इनमें परस्पर कोई विरोध तो होता नहीं। क्यों माता, पुत्री-भाव, प्रिया-भाव और मातृभाव क्या हर नारी में सदा विद्यमान नहीं रहते — एक ही साथ ? सब मिलकर क्या 'स्व-भाव' नहीं कहला सकते ?"

"नहीं मेरे लाल, ये तीनों भाव नारी की विवशता हैं। जो विग्रह (शरीर) विधाता की ओर से उसे मिला है, उसकी विवशता है कि वह तीनों में रमे।

उसका यह चुनाव, स्वेच्छा से चुना हुआ भाव नहीं है ! 'स्व-भाव' अपने-आपको प्रयत्नपूर्वक पहचानने से समझ में आता है। अपने वास्तविक भाव को जानना कठिन साधना का विषय है। युवावस्था में मैंने अपने में स्वामिनी भाव पाया था—सब-कुछ पा लेने का, सब कुछ पर अधिकार कर लेने का भाव। एक ही धक्के में वह बालू की भीत भहरा गयी।"

वे कुछ म्लान हो गयीं। आर्यक उनके चेहरे को ध्यान से देखता रहा। उसे आश्चर्य हुआ कि उनकी पलकें स्थिर हैं। जो टकटकी पहले थी, वह अब भी ज्यों की त्यों बनी हुई थी। थोड़ा सम्हलकर बोलीं, "तुमने समझा नहीं बेटा ! जो भाव उन्हें दिया नहीं जा सकता वह व्यर्थ है, निष्फल है, बन्ध्य है। वह अपना भाव भी नहीं हो सकता। उसे आगन्तुक विकार ही समझो। तुम्हें देखकर जो स्नेह उमड़ रहा है वैसा उन्हें देखकर नहीं होता। मैंने यह भाव चोरी से अपने विशेष आश्रय के लिए छिपा रखा है। इसी से तो वे चिढ़ जाते हैं—तुमने छिपा रखा है, सब दे दो ! कैसे दे दूँ बेटा ? वह तो लुटेरा है, सारा अस्तित्व लूट लेना चाहता है। भारी चित्त-चोर है, पूरे मन को हथिया लेना चाहता है। इसी से भागती हूँ, पर भागकर कहाँ जाऊँगी। खींचता है, बुरी तरह खींचता है, कृष्ण है, भयंकर कर्षक ! यह भाव मैंने छिपा रखा है। उसे दे नहीं पायी। कहता है, भटक जाओगी, यह भी प्रिया-भाव के घेरे में घसीट लो। घसीटा जा सकता है, नहीं घसीट पाती। कोशिश करूँगी। शायद सारे-के-सारे भाव एक ही में आ जाते तो सब मिलकर 'महाभाव' बन जाते। हाय बेटा, गुरु ने बताया ही नहीं कि महाभाव क्या होता है। चस्का लगा दिया और किनारे हो गये। खुद भटक गये हैं। हाय गुरो !"

संन्यासिनी माता के चेहरे पर एक म्लान छाया दिखायी दी। अपने से ही बात करती हुई बोलीं, "आये तो हैं, पर कैसे बात करूँ ? यह भी चोरी ही होगी। भटके-से लगते हैं।" आर्यक ने जानना चाहा कि किसके आने की बात कह रही हैं। पर माता संन्यासिनी ने प्रसंग ही बदल दिया। बोलीं, "स्व-भाव की बात पूछ रहे थे न, बेटा ! सुनो, उदाहरण देकर बताती हूँ कि कैसे स्व-भाव के ज्ञान से विकट समस्याएँ सुलझ जाती हैं। यहाँ की नगरश्री वसन्तसेना है। सब लोग उसका सम्मान करते हैं, पर गणिका का सम्मान केवल छलना होता है। हृदय से उसे कोई मान नहीं देता, सब उससे पाने की आशा रखते हैं—'दैवात् किमपि न लब्धं, दृष्टिसुखं को निवारयति' वाला भाव होता है,—भाग्य के फेर से और कुछ नहीं मिला तो दृष्टि-सुख को कौन रोक सकता है ! गणराज्य जब थे तब थे, उन दिनों गणिका सारे गण की चुनी हुई रानी होती थी; परन्तु तब भी वह गण की साझे की सम्पत्ति मानी जाती थी, अब तो वह क्रय-योग्य दासी बन गयी है। नाम वही चला आ रहा है, भावना बदल गयी है। और यह वसन्तसेना है जो रूप, शील और गुण की सचमुच स्वामिनी है। चलती है तो अनुभाव-राशि चंचल हो उठती है, सही अर्थों में 'महानुभावा' है। उसने अपने को स्वामिनी-भाव की अधिष्ठात्री मान लिया। किसी नृत्य-समारोह में यहाँ नागरिक-शिरोमणि चारुदत्त

उस पर रीझ गया। बेचारा इन दिनों विपन्न है, पर पुराना रईस है। कला के धनी में एक कमज़ोरी युग-युग से चली आयी है। जो उसकी कला का सहृदय मर्मज्ञ होता है उस पर वह अपने को निछावर कर देता है। और यदि संयोग से गुणी और गुणज्ञ में एक पक्ष पुरुष और दूसरा नारी हो तो यह बात सीमा तोड़ देती है। यदि दोनों युवा हों तो यह रीझ उत्कट प्रेम का रूप ग्रहण करती है। यही हुआ। चारुदत्त और वसन्तसेना एक-दूसरे की ओर बुरी तरह आकृष्ट हुए। वसन्तसेना का काल्पनिक स्वामिनी-भाव अब यथार्थ हो उठा। उसे मन के अनुकूल ऐसा साथी मिला, जिस पर वह पूरा अधिकार पा सकती थी। वह अधिकार पाने के लिए उन्मादिनी हो उठी। कठिनाई यह थी कि चारुदत्त के समान शीलवान् सत्पुरुष के लिए यह उन्मादक प्रेम धर्मसंकट बन गया। उसकी सती-साध्वी पत्नी है धूता। आहा! कैसा दिव्य रूप है, कैसा शील और व्रत! जो देखेगा वही उसके चरणों पर सिर रख देने को ललक उठेगा। ऐसी साध्वी पत्नी को वह कैसे दुखी कर सकता था? पर मनोभव देवता हैं कि समय-असमय का विचार किये बिना दमादम फूलों के बाणों से बेधते रहते हैं। चारुदत्त और वसन्तसेना दोनों बिंध-बिंधकर जर्जर हो गये।···

"चारुदत्त से नहीं मिले बेटा? मिलने योग्य है। यही तुम्हारी ही तरह का है, अवस्था में शायद तुमसे महीना-दो महीना बड़ा हो। अद्भुत सहृदय है! क्या शील है, कैसी शालीनता है, और रूप की तो पूछो मत! तुम्हें देखती हूँ तो उसकी याद आती है। अन्तर केवल इतना ही है कि तुम स्वभावतः उदात्त हो, वह ललित है—पुराने लोग ऐसों को, जो 'धी' या अन्तःकरण से ही उदात्त होते हैं, 'धीरोदात्त' कहते थे और जो अन्तःकरण से ही ललित हों उन्हें 'धीरललित' कहते थे। इतना अन्तर छोड़ दो तो तुमको देखा या चारुदत्त को देखा, एक ही बात है! चारुदत्त भी तुम्हारी ही तरह मुझे 'माताजी' कहता है। तुम उससे मिले बिना उज्जयिनी न छोड़ना, यह माता का आदेश समझना। मिले तो कह देना कि माताजी ने भेजा है।···

"वसन्तसेना एक बार मुझे मिल गयी थी, विचित्र संयोग से। यहाँ ऐसा विश्वास है कि महादेव की एक पुत्री थी—मंजुलोमा। कुछ लोग बताते हैं कि उसका रोम-रोम सुन्दर होने के कारण उसे यह नाम दिया गया था। दूसरे लोग कहते हैं कि महादेव पार्वती को चिढ़ाने के लिए उसे उनसे भी सुन्दर कहा करते थे, इसलिए उसे 'मंजुला उमा' कहते थे। जो भी हो, पार्वती और महादेव ने उसे बड़े प्यार से पाला था। पर मानव-कन्या थी। विवाह के उपरान्त उसकी विदाई के समय महादेव को बड़ी दारुण मनोव्यथा हुई। कन्या एक तरफ़ अपने स्वयंवृत पति के घर जाने को व्याकुल थी, तो दूसरी ओर पिता की ममता भी नहीं छोड़ पाती थी। कहते हैं, उस मानवी कन्या की मृत्यु हो गयी। होनी ही थी। महादेव मर्माहत हुए। रह-रहकर उसके वियोग से वे सन्तप्त हो उठते हैं। उन्होंने एक दिन मन्दिर के अर्चक को स्वप्न दिया कि पुत्री की विदाई का नृत्य देखना चाहते हैं। वसन्तसेना

बुलायी गयी। उस बेचारी ने सदा अपने को स्वामिनी समझकर नृत्य किया था; न पुत्री-भाव का ज्ञान था, न पिता-भाव की पहचान। महादेव ने मुझे इंगित किया कि सिखा दो। मैं पहुँची। तुमको शायद पता न हो बेटा, वे जो मथुरावाले हैं, मुझे सदा घर में रखना चाहते हैं 'असूर्यम्पश्या' बनाकर। नहीं चाहते कि मुझे कोई देख ले। सदा भीतर रहो, कोई देखने न पावे। बाप-रे-बाप, क्या विषम ईर्ष्यालु मन है उनका! फिर भी पिता के यहाँ आती हूँ तो चुप हो जाते हैं। मगर पिताजी जिस पर प्रसन्न होते हैं वही मुझे देख सकता है। तुम देख सकते हो, वसन्तसेना ने देख लिया था। उस दिन बम-भोलानाथ कुछ मौज में थे। बोले, आज सब देखेंगे। मुझे क्या अभिनय करना था? रोज़ जो करती हूँ वही तो करना था। एक ओर अवढरदानी पिता का मोह, दूसरी ओर सारे अस्तित्व को खींच लेनेवाले निर्मोही प्रेमी का खिंचाव। नाच अच्छा बन गया। नाच समाप्त होते ही मैं एक ओर छिप गयी। वसन्तसेना ने उसे दुहराया। हाय-हाय, उसने तो उस नाच को चौगुना चमका दिया। क्या पद-संचार, क्या चारिका, क्या अंगहार, क्या अनुभाव-प्रदर्शन—सबमें उसने पंख लगा दिये, विपुल व्योम में उड़ने में समर्थ बनानेवाले पंख। लोग धरती के जड़ आकर्षण से स्वतन्त्र होकर भाव-लोक के विस्तीर्ण आकाश में उठ गये। सात्त्विक भावों के अभिनय में तो उसने कमाल कर दिया। उसी दिन पहली वार उसे लगा कि उसके समस्त बाह्य आवरणों के नीचे पुत्री-भाव का अविराम स्रोत बह रहा है। वहीं उसकी सार्थकता है। मुझे उसने देखा। अपनी रामकहानी सुनायी। मैं समझ नहीं पायी कि उसकी क्या सहायता करूँ, कैसे करूँ! फिर चारुदत्त से मिली, धूता से भी मिली। सोचती रही कि क्या इस समस्या का कोई समाधान है? क्या समाधान हो सकता था इसका? स्त्री को भगवान् ने जो काया दी है, वह मोह और आसक्तियों का अड्डा है, ईर्ष्या और अभिमान का घर है। साधारणतः लोग यही समझते हैं कि एक म्यान में दो तलवारें भले ही रह लें, एक प्रेमिक की दो प्रेमिकाएँ नहीं रह सकतीं। ऐसी विषम अवस्था में क्या किया जाता! मैंने धूता को निकट से देखा। नख से शिख तक वह माँ है। पति को भी उसी जतन और स्नेह से प्रसन्न रखती है। एक दिन डरते-डरते मैंने बताया कि चारुदत्त वसन्तसेना को चाहता है। विश्वास करोगे बेटा, उस ममतामयी महीयसी बाला ने पति को प्रसन्न रखने के लिए क्या किया? स्वयं वसन्तसेना को बुलवाया और लाड़-प्यार से उसे वश में कर लिया। उधर वसन्तसेना को पुत्री-भाव रस मिल चुका था। और चाहिए क्या? पुत्री-भाव से व्याकुला को मातृ-भावमयी मिल गयी—दोउ बानक बने!

"तुम आर्य चारुदत्त के घर जाओगे तो देखोगे, दोनों कैसी घुल-मिल गयी हैं। चारुदत्त अब परम सुखी है। जाओ बेटा, वे भी तुम्हारी राह देख रहे होंगे। जाओ। उनकी समस्या सुलझ गयी है। तुम्हारी भी सुलझ जायेगी। सुलझ गयी है मेरे लाल! जाओ, इस माँ को भूलना मत। मैं देर तक नहीं रह सकती यहाँ। मेरे प्यारे लाल, जाओ!" कहकर माताजी एक झटके में उठ गयीं। आर्यक ने चिल्लाकर कहा, "माँ, रुको, रुको! एक बात बताती जाओ!"

पर माताजी गयीं सो गयीं। आर्यक चारों ओर खोजता फिरा। पर वे तो चली ही गयीं।

बीस

माता संन्यासिनी ! गोपाल आर्यक विस्मित है, हतबुद्धि है। वह किसी तपोनिष्ठा मानवी की बातें सुन रहा था या अपार्थिव दिव्यात्मा की ! कैसी बेधक दृष्टि थी, कैसी अद्भुत दीप्ति ! शिव की पुत्री, श्रीकृष्ण की प्रिया, स्वयं स्व-भाव-ज्ञान में संशयशील, पर स्व-भाव-ज्ञान को सब समस्याओं के समाधान की कुंजी मानने वाली। शिव की पुत्री मानवी मंजुलोमा के अभिनयपरक नृत्य की एकमात्र जानकार ! कहीं तो ऐसी कथा नहीं सुनी ! अचानक मृणालमंजरी की माता, हलद्वीप की नगरश्री अपनी सास मंजुलादेवी का उसे ध्यान आया। बहुत छुटपन में उन्हें देखा था, भरोसे-योग्य कुछ याद नहीं आया, पर दीप्ति, कान्ति, पूर्ण अनुभाव लहरी याद है। वही तो नहीं हैं ? आर्यक के सोचने-विचारने की शक्ति शिथिल होती जा रही है। सारा शरीर रोमांच-कंटकित है। किसने उसे इतने प्यार से माता का आदेश दिया ? आदेश तो आदेश है। वह चारुदत्त के निवास-स्थान की ओर चल पड़ा। तुम साक्षी हो महाकाल, तुम्हारी पुत्री के आदेश का पालन कर रहा हूँ।

चारुदत्त द्वार पर ही मिल गये। उनके पीछे उनकी पत्नी धूता खड़ी थीं। यद्यपि उनका मुख-मण्डल अवगुण्ठन से अधिकांश ढका हुआ था, तो भी उन महीन वस्त्रों के अवगुण्ठन को भेदकर शामक प्रकाश की किरणें-सी निकल रही थीं— मानो शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा से मेघों के झीने पटल को विदीर्ण करके कोमल मरीचि-माला निकल रही हो। बिना किसी के परिचय कराये ही आर्यक ने दोनों को पहचान लिया। उसने अपना नाम बताकर दोनों को आदरपूर्वक प्रणाम निवेदन किया। चारुदत्त सचमुच सुपुरुष थे। उनमें विशेष प्रकार की स्निग्ध आभा दिखायी देती थी। वाणी में अनायास-सिद्ध सहज वचन-रचना की सुगन्ध थी। सारा शरीर सुनिपुण कलाकार द्वारा गठित मनोहर प्रतिमा-सा कमनीय लग रहा था। जिस तत्परता से उन्होंने गोपाल आर्यक का स्वागत किया, वह विस्मयकारक थी। ऐसा जान पड़ा जैसे वे उसे दीर्घ काल से अपने परम-प्रिय सम्बन्धी के रूप में जानते हैं। अत्यन्त मृदु-विनीत वाणी में बोले, "प्रिय बन्धु, हम लोग देर से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये मेरी सहधर्मिणी धूतादेवी हैं। आपको देखने के लिए कब

से व्याकुल हैं।" आर्यक का मस्तक श्रद्धा से झुक गया। जी में आया, उनके चरणों की धूल सिर पर धारण कर ले। चित्त के अत्यन्त गम्भीर तल से कोई कह रहा था--'गिर जा आर्यक, इन पवित्र चरणों में। मृणाल के प्रति किये गये तेरे अन्यथाचार का प्रायश्चित्त यहीं है। यहीं तेरे मन और प्राण पवित्र होंगे।' पर वह चरण-स्पर्श नहीं कर सका। अपने ही भीतर विद्यमान कलुष उसके इस प्रायश्चित्त में भी बाधक हो गया। वह जड़वत् स्थिर रह गया। दोनों हाथ जोड़कर केवल मौन प्रणाम-निवेदन कर सका। धूतादेवी ने भी मौन आशीर्वाद दिया। उनकी स्निग्ध आँखों की शामक मरीचियाँ अवगुण्ठन भेद करके उसके माथे पर बरस पड़ीं। आर्यक मानो कृतकृत्य हो गया। पर उसके अन्तर्यामी ने यह बात उससे छिपा नहीं रखी कि दोनों ओर अवगुण्ठन है--उसकी ओर से आन्तरिक, देवी की ओर से बाह्य। थोड़ी देर तीनों चुपचाप खड़े रहे, जैसे अन्तरतर की अज्ञात ऊर्मियों से जूझती हुई बाह्य चेष्टाएँ निष्क्रिय हो गयी हों।

आर्य चारुदत्त ने ही स्निग्ध-मधुर वाणी में कहा, "बन्धु, बड़े संकट-काल में उपस्थित हुए हो। माताजी ने कहा था कि तुम ठीक समय पर आ जाओगे। उन्हीं की आज्ञा से हम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हीं की आज्ञा से यह बहली भी बिल्कुल तैयार है। हम लोगों को एक अज्ञात स्थान में जाना है। मैं, धूतादेवी और तुम, साथ में तुम्हारा बालक रोहसेन। कुल चार आदमियों को वहाँ जाना है। देर हो रही है। आओ बैठें।"

चारुदत्त और धूता चल पड़े। यन्त्र-चालित की भाँति आर्यक भी पीछे-पीछे चला। कुछ पूछना आवश्यक नहीं था। गाड़ी में पहले से ही रोहसेन बैठा था। तीनों बैठ गये। पर्दा गिरा दिया गया। गाड़ी चल पड़ी। बालक रोहसेन अँधेरे में पहले पिता की गोद में गया, फिर माता की। वह भी ज़ोर से नहीं बोल रहा था। माता से धीरे-धीरे पूछा, "ये कौन है माँ ?" इशारा आर्यक की ओर था। माँ ने फुसफुसाकर कहा, "तेरे काकाजी!" बच्चा उठकर आर्यक की गोद में बैठ गया। आर्यक ने प्यार किया और उसके मन में एकाएक शोभन आ गया। हाय, वह भी इतना ही बड़ा हुआ होगा। आर्य चारुदत्त शान्त स्थिर बैठे रहे, जैसे किसी समस्या को मन-ही-मन सुलझा रहे हों। गाड़ी चुपचाप चलती जा रही थी। आर्यक के मन में विचारों के तूफ़ान चल रहे थे। धूता ने बहुत धीरे-से फुसफुसाकर आर्यक से कहा, "देवर, तुम्हारे लिए कुछ कर नहीं सकी। बड़ा संकट आ गया है। इनसे कहो कि गाड़ी घुमाकर बहिन वसन्तसेना को भी ले लें। न जाने क्या विपत्ति आये। बेचारी असहाय है। मेरी दाहिनी आँख फड़क रही है।"

चारुदत्त ने सुन लिया। धीरे-से कहा, "नहीं, कुछ और व्यवस्था की गयी है।" पर धूता का मुख एकदम मलिन हो गया। आर्यक को उस म्लान मुख में एक असहाय करुण-भाव दिखायी दिया। उसने आग्रह किया कि भाभीजी की बात मान ली जाये। चारुदत्त कुछ असमंजस में पड़ गये। आर्यक ने अपनी तलवार की ओर इशारा करते हुए कहा, "चिन्ता क्या है आर्य, साथ में तुम्हारा मित्र है। एक बार

काल से भी जूझ सकता है।" चारुदत्त ने फुसफुसाकर कहा, "उधर संकट की आशंका है मित्र, मैं तुम्हें संकट में नहीं डालूँगा। अभी तो तुमसे कोई बात भी नहीं हुई। हम लोग इस समय राजभवन के सामने से जा रहे हैं। मुझे और तुम्हें तुरन्त मार डालने का आदेश दिया गया है। माताजी ने कहा था कि तुम लोग जीर्णोद्यान के पास पहले मन्दिर में पहुँच जाना। फिर वसन्तसेना के लिए गाड़ी भेज देना। माताजी बहुत सोच-समझकर कहती हैं।" आर्यक भूल गया था कि वह छिपकर कहीं जा रहा है। ज़रा उत्तेजित स्वर में बोला, "पालक का राजभवन यही है ? उसे मैं यमलोक भेजूँगा। वह क्या मुझे मरवा डालेगा ?" बाहर किसी दण्डधर को सन्देह हो गया। उसने गाड़ी रोकने का आदेश दिया। चारुदत्त और धूता के मुख पर विषाद और भय की काली छाया घनी हो गयी। बाहर दो सैनिक गाड़ी के सामने खड़े हो गये। वे पर्दा उठाने का प्रयत्न करने लगे। गाड़ीवान ने भय-विजड़ित वाणी में कहा, "आर्य चारुदत्त की पत्नी धूतादेवी जा रही हैं मालिक, पर्दा न हटाइये !" एक सैनिक ने उसे अपशब्द कहकर डाँटा, दूसरे ने आगे बढ़कर चारुदत्त को ही गालियाँ दे डालीं। आर्यक के लिए यह सब असह्य हो रहा था, किन्तु चारुदत्त के इंगित पर वह चुप हो बैठा रहा। फिर भी, हाथ तलवार की मूठ पर अपने-आप जम गये थे। गाड़ीवान ने फिर पर्दा छूने का निषेध किया। पर एक सैनिक पर्दा उठाने पर अड़ गया। सैनिकों में भी मतभेद देखा गया। कुछ और सैनिक आ गये। एक ने कहा, "देख रे, आर्य चारुदत्त के परिवार की प्रतिष्ठा और मर्यादा पर आँच नहीं आनी चाहिए। पर्दा उठायेगा तो तेरा सिर धड़ पर नहीं रहेगा।" पर्दा उठाने पर तुला हुआ सैनिक ताव खा गया। उसने पर्दा उठाने का प्रयत्न करते हुए कहा, "सिर गिरेगा तेरे बाप का !" दूसरा सैनिक और भी उत्तेजित हो गया। उसने उसकी शिखा पकड़कर झटके से खींचा, वह राजमार्ग पर लुढ़क गया। आर्यक फिर कसमसाया। चारुदत्त ने फिर रोक दिया। अब सड़क पर सैनिकों की भीड़ इकट्ठा हो गयी। तरह-तरह की बातें सुनायी देने लगीं।

भीतर चारुदत्त हाथ जोड़कर किसी अदृश्य देवता से सहायता की प्रार्थना करते रहे और आर्यक क्रोध और अमर्ष की अपनी आग से आप ही जलता रहा।

इसी समय कुछ और हलचल हुई। जान पड़ा जैसे एक साथ कई शंख और पटह बजने लगे हों। चारुदत्त और भी शंकित हो गये। धीरे-से बोले, "जान पड़ता है, राजा की सवारी आ रही है। हे भगवान्, अब क्या होगा !" आर्यक ने फिर उन्हें अपनी तलवार की ओर देखने का इंगित किया, पर चारुदत्त व्याकुल ही बने रहे। गोपाल आर्यक ने धूता की ओर देखा ही नहीं था। रोहसेन भय के मारे माँ की गोदी में चिपका हुआ था और धूता का मुँह रक्तहीन सफ़ेद हो गया था। उससे अब सहन करना असम्भव हो गया, पर चारुदत्त का हाथ उसी प्रकार उसे मना करने की मुद्रा में जहाँ-का-तहाँ स्थिर हो रहा था। मन्त्र-बल से रुद्धवीर्य कालसर्प की तरह वह केवल निष्फल फुफकार मारता रहा—उद्धत फुफकार !

बाहर राजाधिराज पालक की जय-जयकार हुई। सैनिक संयत होकर खड़े हो गये। आठ घोड़ों से सजे हुए रथ की घण्टियाँ टन-टन करती हुई बहली के पास आकर एकाएक रुक गयीं। रथ के भीतर से खरखराहट-भरे गम्भीर स्वर में पूछा गया, "क्या बात है ?" एक सैनिक ने आगे बढ़कर जुहार किया और बोला, "धर्मावतार, सैनिकों को सन्देह है कि इस बहली में पुरुष बैठे हैं। गाड़ीवान कह रहा है कि इसमें चारुदत्त की सहधर्मिणी धूतादेवी हैं। वे पर्दा उठाकर तलाशी लेना चाहते हैं।" गुरु-गम्भीर स्वर में आदेश हुआ, "तलाशी ले लो। शत्रु की गाड़ी है। अगर धूता भी बैठी हो तो कारागार में डाल दो।" एक क्षण का समय मिला। धूता का चेहरा और भी सफेद हो गया। सैनिकों ने पर्दा उठा दिया। बिना किसी झिझक के आर्यक नंगी तलवार लेकर बाहर कूद पड़ा। एक क्षण में जैसे बिजली चमककर समूचे अन्धकार को चीर डालती है उसी प्रकार उस नंगी तलवार की लपलपाती दीप्ति से सैनिकों की भीड़ चिर गयी। "सावधान! धूता-देवी की छाया छूनेवाले यमलोक जायेंगे।" बाहर आते ही उसने पहला वार पर्दा उठानेवाले सैनिक पर किया। वह धरती पर लोट गया। पास खड़े सैनिक भर-भराकर पीछे हट गये। आर्यक ने देखा, सामने आठ घोड़ोंवाला सोने का रथ है। उसमें राजा बैठा है। उसके इर्द-गिर्द सैनिकों के झुण्ड हैं। जब तक आवाज़ आयी —'पकड़ लो इसे,' तब तक वह रथ में कूद गया। एक ही बार में राजा पालक का सिर धड़ से अलग हो गया। कुछ सैनिक उस पर टूट पड़े, परन्तु उसने मूली की तरह उन्हें काट दिया और नंगी तलवार हाथ में लिये रथ के ऊपर चढ़ गया। चिल्लाकर बोला, "मैं गोपाल आर्यक हूँ। मेरी सेना मथुरा विजय करके उज्जयिनी की ओर सत्वर आ रही है। पहुँची ही समझो। किसी ने इधर आने की धृष्टता की तो अपने राजा के रास्ते जायेगा। जो मेरे साथ रहेगा उसकी पद-वृद्धि होगी, उसे पुरस्कार मिलेगा।" इस घोषणा का विचित्र प्रभाव पड़ा। पालक की अधिकांश सेना भृतक थी—भाड़े पर संग्रह की हुई। सैनिकों के सामने पुराना राजा मरा पड़ा था, नया पद-वृद्धि और पुरस्कार की घोषणा कर रहा था। उधर विशाल वाहिनी, जिसके सामने कोई टिक नहीं पाया था, बढ़ी आ रही थी। भृतक सेना पुरस्कार चाहती है, राजा कोई हो; अधिकांश सैनिक जय-जयकार करते हुए आर्यक के पीछे खड़े हो गये।

चारुदत्त अब तक गुमसुम बैठे थे। अब वह भी गाड़ी से निकल आये। आवेश-जड़ित कण्ठ से उन्होंने कहा, "बोलो महावीर गोपाल आर्यक की जय!" सैनिकों में बहुत ऐसे थे जो चारुदत्त को पहचानते थे। कई सैनिकों ने आर्य चारुदत्त का साथ दिया—"महावीर गोपाल आर्यक की जय!" फिर सैनिकों के दो दल हो गये। वे आपस में गुँथ गये। गोपाल आर्यक रथ से उतरकर अपने पक्ष के सैनिकों के आगे आ गया। देखते-देखते सैनिकों में यह समाचार फैल गया। बिना बुलाये ही आर्यक की जय-जयकार करते हुए सहस्रों नागरिक भी एकत्र हो गये। सूर्य अस्त हो रहा था। गोपाल आर्यक ने अपने पक्ष के सैनिकों को आदेश दिया कि

राजभवन पर अधिकार कर लो और स्वयं नंगी तलवार लेकर धूतादेवी के पास खड़ा हो गया—"भाभी, भाभी, अपने देवर पर विश्वास करो। अत्याचारी राजा यमलोक भेज दिया गया।" धूता और रोहसेन अर्ध-मूर्च्छित-से गाड़ी में पड़े थे। नागरिकों की विशाल भीड़ बार-बार धूतादेवी की जय-जयकार करने लगी। थोड़ी ही देर में कुछ राज-विरोधी सैनिकों ने भवन पर अधिकार कर लिया। नागरिकों का एक दल भी उनके साथ राजभवन में घुस गया। चारों ओर से निश्चिन्त होकर पहर रात-गये वे आर्यक, चारुदत्त और भय-व्याकुल रोहसेन के साथ धूतादेवी को राजभवन में ले गये। बिना विलम्ब उन्होंने राजसिंहासन पर आर्यक को बैठा दिया। आर्य चारुदत्त ने उसे राज-टीका दी। अभी तक सब-कुछ अव्यवस्थित रूप में हुआ था। अब गोपाल आर्यक ने आदेश दिया कि नगर में घोषणा करा दो कि 'पालक मारा गया है और गोपाल आर्यक ने तब तक व्यवस्था सम्हालने के लिए राजपद ग्रहण किया है जब तक पाटलिपुत्र के महान् सम्राट् का कोई आदेश नहीं आ जाता। गोपाल आर्यक उस सम्राट् का सैनिक अधिकारी मात्र है। उसने और भी आदेश दिया कि राजभवन की किसी महिला का कोई असम्मान न होने पाये और नगर में जो भी दुखी और सताया हुआ हो, वह अब से अपने को आर्यक के शस्त्र द्वारा रक्षित समझे। कहीं कोई कष्ट न पाये, भूखा न रहे, अत्याचारित न हो।'

आदेश तो निकल गया, पर उसे नगर में घोषित करना सम्भव नहीं हुआ। कानों-कान यह बात तो फैल गयी कि पालक मारा गया है और आर्यक ने राज-गद्दी पर अधिकार कर लिया है, पर सौ मुँह सौ बातें फैलने लगीं। किसी ने कहा, 'चारुदत्त और वसन्तसेना को मार डाला गया है।' किसी ने कहा, 'धूतादेवी को केश खींचकर अपमानित किया गया है।' पक्की प्रामाणिक बात अस्पष्ट ही बनी रही।

गोपाल आर्यक ने अब एक-एक सैनिक से पूछताछ की। सब विश्वस्त सैनिकों की पदमर्यादा-वृद्धि का आदेश दिया। सबको यथायोग्य पुरस्कार देने का वचन दिया। आर्य चारुदत्त उसके परम सहायक सिद्ध हुए। नायक कोटि के प्रायः सभी सैनिक उनके परिचित थे। उन्हें राजभवन की सुरक्षा के लिए यथास्थान नियुक्त किया गया। नागरिकों की भी छानबीन हुई। कई चारुदत्त के अनुगत और भक्त निकले, सैनिकों के साथ नागरिकों को भी स्थान-स्थान पर नियुक्त किया गया। आर्यक की सुरक्षा की भी व्यवस्था की गयी, पर आर्यक ने अपनी तलवार खुली रखी। आर्य चारुदत्त इतने से निश्चिन्त नहीं थे। उन्होंने आर्यक से कहा, "बन्धु, उज्जयिनी अन्य स्थानों से कुछ भिन्न है। यहाँ के शक राजाओं ने मौल सेना बनायी ही नहीं। भूमि देकर सामन्तों की जो मौल सेना यहाँ सदा से चली आयी है, उसे नष्ट कर दिया। सेठों की श्रेणी-सेना पर उन्हें विश्वास नहीं। उसे भी नष्ट कर दिया। केवल भाड़े की भृतक सेना ही रखते हैं। उन पर मेरी आस्था नहीं है।" कहकर वे उठ गये। वे घूम-घूमकर सुरक्षा की व्यवस्था देखने लगे। आर्यक अपनी

भाभी और रोहसेन के साथ नंगी तलवार लिये जागता रहा। भाभी बगलवाले कमरे में थीं। आर्यक को लग रहा था कि वे सो गयी हैं।

आधी रात बीत गयी। बाहर से सैनिकों ने चारुदत्त को सूचना दी कि नगर में आग लगा दी गयी है और श्रेष्ठिचत्वर के पास विकराल लपटें उठती दिखायी दे रही हैं। उन्होंने शान्त रहकर राजभवन की रक्षा करने की सलाह दी। यह भी कहा कि महाराज गोपाल आर्यक को इसकी सूचना न दी जाये, उन्हें विश्राम करने दिया जाये और राजभवन की रक्षा तत्परता से की जाये। वे स्वयं बाहर-भीतर घूमते रहे। नगर में फैली हुई आग राजभवन तक लाल प्रकाश बिखेर रही थी। चारुदत्त को एक ही चिन्ता थी—राजभवन बच जाये। धूता बच्चे को गोद में लिये चुपचाप बैठी थीं। वे देवताओं और पितरों का नाम लेकर सबसे मन-ही-मन कल्याण-प्रार्थना कर रही थीं—क्या हो रहा है प्रभो, रक्षा करो, रक्षा करो! उन्हें इस बात का बड़ा कष्ट था कि घर-आये अतिथि का सत्कार करना तो अलग, उसे एकदम संकट में डाल दिया। उन्हें आर्यक के साहस और दुर्धर्ष वीर-भाव से आश्चर्य हो रहा था। ऐसा देवोपम रूप और ऐसा अपार साहस उन्होंने देखा नहीं था। आहा, कैसा मीठा बोलता है! उनका हृदय वात्सल्य-भाव से आप्लावित हो गया। बेचारा दिन-भर का थका-माँदा आया और ऐसा उलझा कि किसी को यह भी सुध न रही कि कुछ खाया-पिया है या नहीं। वे भी इन्हीं प्रपंचों में पड़ गये। आर्यक को राजा बना दिया तो क्या उसे अन्न-पानी की भी आवश्यकता नहीं है? कहाँ चले गये? कुछ देर इस प्रकार सोचते-सोचते वे व्याकुल हो उठीं। घर से चली थीं तो साथ में कुछ पकवान ले लिया था। वे इधर आये ही नहीं। स्वयं नहीं आये सो तो नहीं आये, इस बेचारे को भी भूखा-प्यासा छोड़ गये। वे व्याकुल होकर उठीं। इस बेचारे का तो ध्यान रखना ही चाहिए। आज तक हमारा कोई अतिथि इतनी देर तक भूखा-प्यासा नहीं रहा। स्वर्ग में पितृगण क्या सोचते होंगे! दोष तो कुल-वधू को ही देंगे। धूता स्थिर न रह सकीं। वे उठीं, बगल के घर में झाँक-कर देखा कि आर्यक सो गया है या जगा है। आर्यक को आहट मिल गयी। तलवार सावधानी से पकड़ते हुए पूछा, "कौन है?" "मैं हूँ देवर, तुम्हारी भाभी!" आर्यक ससम्भ्रम उठ पड़ा, "कहो भाभी, कोई कष्ट है? क्या सेवा करूँ?" भाभी ने कहा, "कष्ट है देवर, तुम्हें भूखा-प्यासा छोड़कर वे न जाने कहाँ चले गये। तुम थोड़ा कुछ खा लो।"

गोपाल आर्यक को भाभी की वाणी में माता का वात्सल्य-भाव दिखायी पड़ा। ऐसा लगा कि बहुत दिनों बाद किसी को उसकी भूख-प्यास की चिन्ता हुई है। वह अभी तक केवल भटकता ही फिरा है। जहाँ कहीं पानी मिल गया है पी लिया है, फल-फूल-पत्ता जो कुछ अनायास मिल गया है उसी से पेट भर लिया है, केवल चलता ही रहा है। दीर्घ काल के बाद आज पहली बार किसी को चिन्ता हुई है कि उसने कुछ खाया-पिया नहीं है। चन्द्रा की याद आयी। कितनी उपेक्षा की उसकी! पर चन्द्रा थी कि न जाने कहाँ से कुछ-न-कुछ अवश्य उसके लिए जुटा

लाती थी। याद आया, पहले दिन जब उसने उसकी ओर ताका भी नहीं और खाने का अनुरोध अस्वीकार कर दिया, तो चन्द्रा ने इसकी उपेक्षा करके बलपूर्वक उसके मुँह में कौर डाल दिया था। चन्द्रा की उसने बराबर उपेक्षा की, वह थी कि सारे अपमान और तिरस्कार को पी लेती और तन-मन से सेवा में जुट जाती। आर्यक को लगा कि चन्द्रा की उपेक्षा करके उसने सहज मातृत्व का ही अपमान किया था। विधाता ने स्त्री को जो अमर निधान दिया है उसकी अवहेलना घोर पाप नहीं था ? थोड़ी देर के लिए वह पुरानी स्मृतियों में खो गया। भाभी खड़ी ताकती रहीं। बोल क्यों नहीं रहे हैं ? कहीं भारी चोट लगी जान पड़ती है। बड़े प्यार से बोलीं, "तुम्हें कहीं चोट लगी है देवर ? हाय राम, कैसा चेहरा हो गया है !" आर्यक ने संयत होकर कहा, "नहीं भाभी, चोट कहाँ लगी ! लग सकती थी, पर सब कुछ बड़ी आसानी से हो गया। लगता था किसी ने पहले से ही सब कुछ कर रखा था, मुझे केवल निमित्त-मात्र बनना पड़ा। तुम मेरे बारे में इतनी चिन्ता न करो।" भाभी सहज हो गयीं। बोलीं, "कुछ खा लो। मैं सब ठीक करती हूँ।" वे जाने लगीं। आर्यक ने कहा, "सुनो भाभी, तुम्हारे हाथ का प्रसाद पाकर मैं अपने को धन्य समझूँगा। पर भाई चारुदत्त भी तो भूखे हैं, तुमने भी तो कुछ खाया-पिया नहीं। मैं अकेले कैसे खा लूँ ?" भाभी ने कोई तर्क नहीं किया। सहज भाव से बोलीं, "तुम्हारे भैया का तो नित्य का यही हाल है। घर से निकलने की बात तो मैं जानती हूँ, पर कब लौटेंगे, यह आज तक नहीं जान सकी। देखते नहीं, कैसे मुरझा गये हैं ! कहीं किसी की कन्या का विवाह सम्हाल रहे हैं, कभी किसी की दवा-दारू के लिए दौड़ रहे हैं, कभी किसी परिवार का झगड़ा सुलझा रहे हैं, कभी किसी कवि या कलाकार का सम्मान कर रहे हैं, कभी बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का प्रबन्ध करते रहते हैं, यह तो उनका प्रतिदिन का नियम है। आते हैं तो थक-कर चूर हो गये रहते हैं। उनकी छोड़ो, आ जाओ।" आर्यक ने फिर टोका, "तुम तो खाओगी न भाभी ?" भाभी ऐसे हँसीं जैसे किसी अबोध बच्चे की बात सुन रही हों। "तुम तो लल्ला, सचमुच भोलानाथ हो। माताजी ठीक ही कहती थीं। क्या तुम इतनी-सी बात भी नहीं जानते कि उनके और तुम्हारे खा लेने के बाद ही मैं खा सकती हूँ ! हाय राम, बहू ने कभी कान पकड़कर सिखाया भी नहीं !" भाभी की हँसी में कितना प्यार था, कितना सहज-सरस भाव ! आर्यक कृतकृत्य हो गया। भाभी ने और किसी बात के कहने का अवसर ही नहीं दिया ! उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि माताजी उसके भोलेपन के बारे में भी कहना नहीं भूली हैं। कैसे वे उसे इतना जानती हैं ? माताजी आर्यक को भोला कह गयी हैं, भाभी को इस बात में पूरी आस्था है। पर क्या सचमुच इन लोगों ने आर्यक को समझा है ? आर्यक ने अपने को कभी ऐसा नहीं समझा। उसे लगा कि सभी माताएँ अपनी सन्तान को भोला ही समझती हैं। कहीं कुछ और समझ पातीं !

पर उसे अधिक सोचने का अवसर नहीं मिला। भाभी ने प्यार से बुलाया जैसे किसी अबोध बालक को बुला रही हों, "आ जाओ लल्ला, सब तैयार है !"

सब तैयार है ? इतनी जल्दी ! आर्यक उठा। भाभी ने न जाने कहाँ से आसन जुटा लिया था। चाँदी के एक कटोरे में पानी रख दिया था। हाथ-मुँह पोंछने के लिए एक छोटा-सा स्वच्छ गमछा भी रख दिया था। हाथ-मुँह धोकर आर्यक आसन पर बैठ गया। भाभी ने छोटी-सी चाँदी की थाली उसके सामने रखी, फिर हाथ में एक छोटी-सी दर्वी (कलछुल) लेकर कुछ परसने लगीं। दर्वी सोने की-सी लग रही थी, पर थी वह चाँदी की। भाभी का सारा शरीर स्वच्छ कौशेय वस्त्रों से ढका था। केवल हाथ खुला हुआ था और मुँह भी अवगुण्ठन में से निकल आया था। सारा घर एक अपूर्व दीप्ति से जगर-मगर कर रहा था। आर्यक की समझ में आ गया कि भाभी के मुख और हाथ की सुनहरी आभा से ही चाँदी की दर्वी सोने का रंग पा सकी थी। आर्यक मुग्ध भाव से देख रहा था। अरे वातुल कवियो, तुमने प्रिया के वक्षःस्थल पर सुशोभित मुक्तामाल को सुवर्णमाल समझने के काल्पनिक आनन्द को ही देखा, यहाँ देखो, मातृत्व की आभा से दीप्त सच्ची सुवर्ण-दर्वी। बहुत दिन पहले आर्य देवरात ने भोजन से पहले अन्नपूर्णा के ध्यान का मन्त्र सिखाया था। बाद में आर्यक भूल गया था। आज एकाएक उसे याद आ गया। हाय-हाय, वह साक्षात् अन्नपूर्णा को देख रहा है। यही तो वास्तविक अन्नपूर्णा हैं। उसने मन-ही-मन गद्‌गद होकर उस ध्यान-मन्त्र का स्मरण किया। अन्नपूर्णा ही तो हैं—दाहिने हाथ में सुवर्ण-दर्वी, बायें में दुग्धान्न-पूर्ण रत्न-पात्र, नवहेमवर्णा, कुन्दन की चमकवाली, सकल भूषण-भूषितांगी माँ अन्नपूर्णा ! —

आदाय दक्षिणकरेण सुवर्णदर्वीं
दुग्धान्नपूर्णमितरेण च रत्नपात्रम्।
भिक्षान्नदाननिरतां नवहेमवर्णाम्
अम्बां भजे सकलभूषणभूषितांगीम् ।।

आर्यक अभिभूत-सा बैठा भाभी का परसना देखता रहा। उनके प्रत्येक चेष्टित में अद्‌भुत गरिमा थी। परसना समाप्त करके भाभी ने ऊपर सिर उठाया। ज़रा मन्दस्मित के साथ कहा, "शुरू करो देवर, तुम तो भाभी को देखकर ही पेट भर लेना चाहते हो।" "भर गया है भाभी, इस अभाजन को परिपूर्ण कृतार्थता मिली है।" आर्यक ने भी हँसने का प्रयत्न किया, "हाँ भाभी, भाभी हो तो ऐसी हो जिसे देखकर ही भूख-प्यास मिट जाये। अब समझ रहा हूँ, आर्य चारुदत्त दिन-रात बिना खाये-पिये कैसे टनमन घूमा करते हैं !"

भाभी के अधरों पर रससिक्त मन्दस्मित थिरक उठा। रस-भार से बोझिल होने के कारण ही शायद वह ऊपर नहीं उठ सका। बोलीं, "अभी तो और देखने का अवसर पाओगे, कुछ खाओ भी तो।" आर्यक ने आज्ञा-पालन किया। भाभी की हँसी अधरों पर अधिक चंचल हो उठी। ज़रा रुक-रुककर बोलीं, "बाप-रे-बाप, वह बेचारी तो खिला भी नहीं पाती होगी। भाभी को देखकर ही यह दशा है तो उस बेचारी को तो आँखों-ही-आँखों पी जाते होगे !" आर्यक हँसा, पर उसके हृदय

में ऐसा अनुभव हुआ, जैसे किसी ने जलती शलाका छुआ दी हो। चेहरे पर भाभी को यह भाव पढ़ने में देर नहीं लगी। थाली में अनावश्यक रूप से कुछ डालने का भान करते हुए उन्होंने कहा, "बुरा न मानो देवर, तो कहूँ कि तुम बड़े कठकरेजी हो। फूल-सी बहू को छोड़कर बेकार इधर-उधर घूम रहे हो। मैं तो उसे बुलाऊँगी। देखूँगी, तुम कैसे भागते हो।"

हाय-हाय, भाभी को क्या पता है कि आर्यक पर क्या बीत रही है ! कैसे जानती हैं भाभी, कि उनकी बहू फूल-सी है और मैं बेकार इधर-उधर भागने-वाला कठकरेजी हूँ ! भाभी को कुछ भी पता नहीं कि आर्यक क्यों भागा-भागा फिर रहा है। बोला, "कठकरेजी हूँ नहीं भाभी, बनना पड़ा है !" उसकी आँखें डबडबा आयीं। भाभी घबरा गयीं—"बुरा मान गये देवर, तुम्हारी भाभी मूर्खा है। चाहा था तुम्हारा मनोविनोद करना, कर गयी मर्म पर आघात। नहीं लल्ला, मैं परिहास कर रही थी। मैं क्या जानती नहीं कि तुम्हारा मन मक्खन-सा मुलायम है !"

"जानती हो भाभी, कैसे जानती हो ? मुझे तुमने जैसा अभी तक देखा है उससे तो मेरे-जैसे क्रूरकर्मा, कठोर मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। नहीं भाभी, तुमने पहले जो कहा था, वही ठीक लगता है। मैं बहुत दिग्भ्रान्त हूँ भाभी, अपने को आप ही निरस्त करनेवाला पामर—मैं हूँ स्वयं निज प्रतिवाद !"

भाभी कुछ हतप्रभ हुईं। क्यों लगनेवाली बात कह दी ! उन्हें कुछ सूझ ही नहीं रहा था कि कैसे देवर के मन के परिताप को शान्त करें। वे डर गयीं। क्या कर दिया तूने मूर्ख नारी !

आर्यक समझ रहा था कि उसने सरल-हृदया भाभी को धोखा दिया है। कितना सहज है इस महीयसी देवी का मन और कैसा कुटिल है आर्यक का चरित्र। वह भावावेग में खड़ा हो गया। भाभी के चरणों में सिर रखकर रो पड़ा, "तुम नहीं जानतीं, भाभी, इस भण्ड देवर को ! नहीं जानतीं, नहीं जानतीं ! जान भी नहीं सकतीं ! तुम्हारे पवित्र हृदय में ऐसे भण्डों की कल्पना भी नहीं प्रवेश कर सकती ! नहीं भाभी, तुम नहीं जानतीं !"

भाभी हतबुद्धि ! आर्यक चरणों पर गिरा पड़ा रहा। भाभी के मुँह में शब्द नहीं। क्या हो गया !

थोड़ी देर में सम्हलकर उन्होंने आर्यक के सिर पर हाथ फेरा। प्यार से पुचकारकर कहा, "उठो लल्ला, ऐसी क्या बात हुई यह ? मैं सब जानती हूँ। तुम उठो तो, खाना खा लो। मैं सब···सब जानती हूँ, मगर खाना नहीं खाओगे तो तुमसे बोलूँगी भी नहीं। अबोध भाभी की बात पर इतना व्याकुल हुआ जाता है ?"

आर्यक फिर उठकर आसन पर बैठ गया। थका हुआ-सा, हारा हुआ-सा ! भाभी ने दुलार करते हुए कहा, "सब जानती हूँ लल्ला ! मैं जन्म-जन्मान्तर की

तुम्हारी भाभी हूँ, तुम जन्म-जन्मान्तर के मेरे देवर हो। एक दिन का रिश्ता है? नहीं जानती तो उनके साथ द्वार पर किसी का स्वागत करने के लिए खड़ी हो सकती थी? आज तक किसी ने धूता का लिलार भी देखा है? सब जानती हूँ।"

आर्यक अवाक्! आश्चर्य से फैली हुई आँखों से भाभी की ओर ताकता हुआ बोला, "सब जानती हो भाभी, मेरे सारे दुष्कर्म, मेरे सारे अनुचित आचरण—सब जानती हो? कैसे जान गयीं भाभी?" भाभी ने हँसते हुए कहा, "सब जानती हूँ लल्ला, सब जानती हूँ। यह भी जानती हूँ कि तुमने कोई दोष नहीं किया। धूता का जन्म-जन्मान्तर का देवर कोई अनुचित काम कर सकता है? खाना खा लो। सब बता दूँगी। खाते हो कि भाभी के हाथ से खाने की लालसा है?" "खाता हूँ भाभी! लेकिन मुझे क्या बताओगी?" "यही कि भाभी सब जानती है। देवरजी की नस-नस पहचानती है।"

भाभी हँसने लगीं। आर्यक हतबुद्धि! "अच्छा देवर, भाभी के लिए कहे हुए एक अपशब्द के लिए तुमने अपना प्राण संकट में क्यों डाल दिया, कितनी देर का परिचय था? कोई बात भी तो नहीं कर सकी थी! कैसे तुमने घड़ी-भर की जान-पहचान से इतना बड़ा दुःसाहसिक कार्य कर डाला?" आर्यक कुछ उत्तर नहीं सोच सका। भाभी ने ही अपने ढंग से समाधान कर दिया। "यह क्षण-भर के काल्पनिक सम्बन्ध से नहीं हुआ भोलेराम! जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। एक क्षण में फफकता है तो असाध्य-साधन करा देता है। कोई भी सम्बन्ध क्षण-भर का नहीं होता। अब खा लो। हे भगवान्, कैसा भोला देवर दिया है!"

आर्यक खाने लगा और रह-रहकर चन्द्रा और मृणाल उसके मानस-पटल पर बारी-बारी आयीं। सब जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध हैं! भाभी कितने सहज भाव से विश्वास करती हैं!

भोजन समाप्त करके भाभी की ओर देखा—"जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध होते हैं भाभी? क्या सारे के सारे?"

"सब लल्ला, सब! आज आराम से सो जाओ। कल फिर अपनी इस जन्म-जन्मान्तर की भाभी से बात करना। आज अच्छे-भले बच्चे की तरह चुपचाप सो जाओ।"

इक्कीस

श्यामरूप अब उज्जयिनी की ओर लौट पड़ा। उसे ऐसा लगता था कि कहीं से हजारों हाथियों का बल उसके भीतर आ गया है। उसे पहली बार अनुभव हुआ

कि उसके जीवित रहने का कुछ उद्देश्य भी है। अब तक जीता चला आ रहा था, परन्तु जीने का कुछ लक्ष्य नहीं था। अब उसके सामने उद्देश्य है। वह मांदी का उद्धार करेगा और उसे पत्नी-रूप में वरण करेगा। वह लौटकर फिर स्नेहमयी माता के चरणों में सपत्नीक आकर प्रणाम करेगा। जिस वृद्ध पिता ने भुलावे में आकर उसे पुत्र-रूप में स्वीकार किया है उसकी सेवा करेगा। उसके मस्तिष्क का सन्तुलन लौटा लायेगा और यदि सम्भव हुआ तो इन्हें लेकर फिर हलद्वीप लौट जायेगा। वह रात-भर चलता रहा। क्लान्ति का रंचमात्र भी उसे अनुभव नहीं हुआ। जीवन में जब कोई उद्देश्य निश्चित हो जाता है तो शायद क्लान्ति भी पास नहीं फटकती। श्यामरूप को अपनी तलवार पर गर्व है, परन्तु रह-रहकर उसके मन में पाँच सौ सुवर्ण-मुद्राएँ कार्य की भयंकर बाधा के रूप में आ जाती हैं। लेकिन वह चिन्तित नहीं होता। कहीं से उसके चित्त में विश्वास का ऐसा कल्पतरु निकल आया है जो आश्वस्त करता है कि चिन्ता मत करो। तुम्हें सब कुछ सुलभ है।

वह छोटी-छोटी पहाड़ियों और खेतों के बीच बनी हुई पगडण्डियों से चलता जा रहा था। सूर्योदय के कुछ पहले ही वह दस कोस मार्ग तय करके उज्जयिनी के निकटवर्ती ग्राम तक पहुँच गया। वहाँ आकर उसने जो दृश्य देखा, वह बिलकुल अप्रत्याशित था। लोग चारों ओर भाग रहे थे। बैलगाड़ी, घोड़ा, ऊँट और खच्चर जिसे जो मिला था, उसी पर सामान लादकर स्त्रियों और बच्चों के साथ भाग रहा था। कोई किसी से बोलता नहीं था। यह दृश्य देखकर श्यामरूप थोड़ा चिन्तित हुआ। क्या बात है, यह जानने के लिए लोगों के निकट पहुँचा, परन्तु कोई कुछ बोलने की अवस्था में नहीं था। लोग केवल इतना ही कहते थे कि नगर में हंगामा हो गया है, लूट-पाट चल रही है, इसीलिए लोग भाग रहे हैं। कुछ और अधिक संवाद जानने के लिए वह तेज़ी से उज्जयिनी के राजमार्ग की ओर निकल पड़ा। एक ग्राम-वृद्ध चल नहीं पा रहे थे, मगर भागने का प्रयत्न वे भी कर रहे थे। श्यामरूप ने उनको रोककर पूछा, "बाबा, कहाँ जा रहे हो, क्या बात है? लोग इतने व्याकुल क्यों हैं?" वृद्ध थक गये थे। सुस्ताने के लिए बैठ गये। फिर बोले, "कुछ ठीक पता नहीं है बेटा, तरह-तरह की खबरें आ रही हैं। सुना है कि मथुरा पर किसी गोपाल आर्यक की सेना का अधिकार हो गया है। उज्जयिनी और मथुरा दोनों के शासकों के चाचा चण्डसेन उज्जयिनी की ओर आ रहे थे, परन्तु राजा के साले भानुदत्त ने उन्हें बीच में कैद कर लिया है। कुछ लोग तो कहते हैं कि उनकी हत्या कर दी गयी है। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि उन्हें बन्दी बनाकर कहीं भेज दिया गया है। सुना है, उनका विश्वास-भाजन मल्ल कोई शार्विलक है, उसने भानुदत्त के दण्डधरों का कहीं अपमान किया था। भानुदत्त ने उस पर चारुदत्त के घर चोरी करने का आरोप लगाया है। इससे प्रजा में बड़ी खलबली मच गयी है। सुना गया है कि आर्य चारुदत्त का घर लूट लिया गया है और यह भी कहा गया है कि लूटनेवाला और कोई नहीं, चण्डसेन का प्रिय मल्ल शार्विलक ही है। कल दिन से ही नगर में बड़ी उत्तेजना है। उधर से आनेवाले लोगों ने बताया है कि चारुदत्त

के पूरे परिवार को बन्दी बना लिया गया है। ठीक-ठीक तो मैं भी नहीं जानता, सुनी-सुनायी बातें बता रहा हूँ। कल सायंकाल भानुदत्त के सिपाहियों ने एक नर्तकी वसन्तसेना के घर पर भी धावा बोल दिया। तरह-तरह की बातें उड़ रही हैं। लोग तो यह भी कहते हैं कि वसन्तसेना की हत्या कर दी गयी है। भानुदत्त ने इस हत्या का अभियोग आर्य चारुदत्त पर लगाया है। मगर ठीक-ठीक क्या बात है, यह मैं कैसे बता सकता हूँ। सब लोग भाग रहे हैं, मैं भी प्राण लेकर भाग रहा हूँ। बेटा, इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं कह सकता।"

वृद्ध की बातें सुनकर श्यामरूप सनाका खा गया। यह नीच भानुदत्त एक ही साथ कितने लोगों पर मिथ्या आरोप लगा रहा है! उस पर भी चोरी का और लूटपाट का अभियोग है और सबसे मर्मन्तुद बात यह है कि उसने चण्डसेन को भी बन्दी बना लिया है। श्यामरूप की भौंहें तन गयीं, भुजाएँ फड़क उठीं। वह अनायास बोल गया, "भानुदत्त को इसका फल भोगना पड़ेगा!" और किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना नगर की ओर बढ़ चला। सबसे पहले उसे मदनिका को बचा लेने की चिन्ता रही। अगर वसन्तसेना की हत्या करके चारुदत्त पर झूठा आरोप लगाया गया है, तो कौन जाने मदनिका भी बची है कि नहीं। चण्डसेन बन्दी हैं, वसन्तसेना की हत्या हो गयी; मथुरा से जो थाती लेकर वह आया था, वह चण्डसेन का परिवार सुरक्षित है या नहीं, कुछ पता नहीं। उसका मन कभी जीर्णोद्यान की ओर खिचता था, कभी वसन्तसेना के आवास की ओर। जाना दोनों ही जगह आवश्यक था, परन्तु दोनों ही जगह पहुँचना कठिन था। भानुदत्त के दुर्वृत्त अनुचरों ने जहाँ-तहाँ आग लगा दी थी और लूटपाट करने लगे थे। श्यामरूप ने क्रोध से दाँत पीस लिये। यह भाग्यहीन पालक कैसा नपुंसक राजा है! चारों ओर मार-काट मची हुई थी। कौन किस ओर से लड़ रहा था, कुछ पता नहीं। एक अजीब प्रकार की अस्त-व्यस्तता दिखायी दे रही थी। श्यामरूप यथासम्भव अपने को बचाता हुआ वसन्तसेना के आवास तक पहुँच गया। वहाँ भयंकर मारकाट मची हुई थी। दण्डधरों और नागरिकों के बीच मची हुई इस घमासान में श्यामरूप को दोनों पक्षों को अलग-अलग पहचान लेने में कठिनाई नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता था कि वसन्तसेना के आवास को चारों ओर से घेर लिया गया था और नागरिक लोग घेरा तोड़कर घर के भीतर जाना चाहते थे। जिसके हाथ में जो कुछ आ गया था, वह उसी से लड़ रहा था। गलियाँ लाशों से पटी हुई थीं। श्यामरूप ने दण्डधरों को सम्बोधित करते हुए चिल्लाकर कहा, "सावधान, शार्विलक आ गया है। एक-एक दुर्वृत्त को वह यमलोक पहुँचायेगा!" और तलवार खींचकर वह बीच में कूद पड़ा। नागरिकों ने जो शार्विलक नाम सुना, तो उनमें उत्साह का ज्वार आ गया। महामल्ल शार्विलक के जय-निनाद के साथ नागरिक-दल दण्डधरों पर टूट पड़ा। शार्विलक ने बिजली की तरह तलवार भाँजना शुरू किया। उसका नाम सुनते ही दण्डधर पीछे हटने लगे। ऐसा जान पड़ा कि पीछे से नागरिकों का एक और दल जय-जयकार करता आ रहा है। दण्डधरों ने ऐसे सामूहिक विरोध की कल्पना नहीं

की थी। इधर शार्विलक के नाम-मात्र से वे काँप उठे। नागरिकों को अनायास एक नेता मिल गया। उनके जय-जयकार की ध्वनि उज्जयिनी के गवाक्षों को भेदकर घर-घर पहुँच गयी। ऐसा जान पड़ा कि सारा नगर उमड़कर शार्विलक के पीछे आ खड़ा हुआ है। दण्डधरों में से अनेक मारे गये, अनेकों ने मैदान छोड़ दिया। शार्विलक के साथ नागरिक वसन्तसेना के घर के बाहरी आँगन में उपस्थित हो गये। शार्विलक ने सबको शान्त रहने का आदेश दिया और कहा, "आप लोग वहीं स्थिर रहें। मैं घर के भीतर जाकर आर्या वसन्तसेना को देखकर लौटता हूँ।" नागरिकों ने चिल्लाकर कहा, "अगर आर्या वसन्तसेना जीवित हों तो हम उन्हें देखना चाहते हैं। आप उनको साथ लेकर आइए।" शार्विलक ने कहा, "ऐसा ही होगा। आप लोग शान्त रहें!" शार्विलक घर के भीतर घुस गया। उसने एक-एक खण्ड ढूंढ़ डाला। उसमें न तो वसन्तसेना मिली, न मदनिका। वह निराश होकर बाहर आ ही रहा था कि एक बन्द कमरे में उसे कराहने की हल्की आवाज़ सुनायी पड़ी। बाहरी छज्जे पर आकर उसने नागरिकों को पुकारा, "आर्यो, अभी तक मैं वसन्तसेना को ढूंढ़ नहीं पाया हूँ, मगर मुझे आशंका है कि उन्हें पास के ही एक छोटे कक्ष में बन्द कर दिया गया है। आप लोगों में से तीन-चार आदमी आ जायें। सबको आने की ज़रूरत नहीं। हमें दरवाज़ा तोड़ना पड़ेगा।" सुनते ही कई जवान घर के भीतर घुसने के लिए दौड़ पड़े। शार्विलक वहीं खड़े-खड़े चिल्लाकर बोला, "अधिक लोग आयेंगे तो अनर्थ हो जायेगा। आप लोग वहीं खड़े रहें।" सबसे पीछे आनेवाले आदमी से शार्विलक बोला, "भद्र, दरवाज़ा बन्द कर दो!" कोई दस जवान वहाँ आ गये, जहाँ शार्विलक ने आने की याचना की थी। शार्विलक के इशारे से कक्ष का द्वार तोड़ा जाने लगा। कपाट बहुत मजबूत थे, उनको तोड़ने में नागरिकों को कठिन परिश्रम करना पड़ा, परन्तु वे टूट ही गये। भीतर खोलकर देखा गया। दो स्त्रियाँ कसकर खम्भे में बाँध दी गयी हैं। दोनों ही प्रायः बेहोश हैं। केवल रह-रहकर उनके सुबकने की हल्की आवाज़ कभी-कभी आ रही थी। देखकर सभी लोग क्रोध से विक्षिप्त-से हो उठे। शार्विलक ने आदेश के स्वर में कहा, "बन्धन मैं काटता हूँ, आप लोग बाहर चले जायें।"

सब लोग बाहर चले गये। शार्विलक की तलवार को बन्धन काटने में देर नहीं हुई। कमरे में खूब अँधेरा था। सावधानी से दोनों स्त्रियों के बन्धन काटकर जब शार्विलक ने उन्हें बाहर रखा, तो देखा गया कि उनमें एक वसन्तसेना है और दूसरी मदनिका। लगता था, मदनिका ने सारी शक्ति लगातार प्रतिरोध किया था। दुष्टों ने उसे मारा भी बहुत था। परन्तु इन निर्घृण दुष्टों में भी इतनी कोमलता अवश्य थी कि किसी शस्त्र से नहीं मारा था। वसन्तसेना के शरीर पर कोई चोट नहीं थी। शार्विलक की आँखों से अश्रु-धारा बह चली—"हाय देवी, तुम्हारे दर्शन भी हुए तो इस अवस्था में!" शार्विलक ने आदेश दिया कि दोनों महिलाओं के मुँह पर पानी के छींटे दिये जायें और हवा की जाये। सभी नागरिक क्रोध और करुणा के भाव से उग्र थे। शार्विलक ने छज्जे पर जाकर पुनः घोषणा की, "मित्रो,

वसन्तसेना जीवित हैं, लेकिन दुष्टों ने उन्हें खम्भे में बाँध दिया था, वे वेहोश पड़ी हैं। उनकी सखी मदनिका भी जीवित है, लेकिन वह भी वेहोश पड़ी है। आप लोगों में से यदि कोई चिकित्सक हो तो भीतर आ जाये। मैं दरवाज़ा खुलवा रहा हूँ। यदि कोई चिकित्सक न हो तो किसी जानकार को बुला लें।" भीड़ में से एक ठिगने ब्राह्मण देवता आगे बढ़ते हुए दिखायी दिये। शार्विलक ने देखा, यह तो आचार्य श्रुतिधर हैं! आचार्य श्रुतिधर थोड़ी-बहुत चिकित्सा जानते थे। शार्विलक ने भीड़ को आदेश दिया, "इन्हें भीतर आ जाने दीजिये।" द्वार खोल दिया गया। शार्विलक और श्रुतिधर अन्य नागरिकों की सहायता से वसन्तसेना और मदनिका का उपचार करने लगे। थोड़ी देर में वसन्तसेना और मदनिका की संज्ञा लौट आयी। उनकी आँखें खुल गयीं। कुछ देर न तो वसन्तसेना के मुख से कोई आवाज़ निकली और न मदनिका के। दोनों फटी-फटी विवश आँखों से ताकती रहीं। उनका सारा शरीर अवसन्न हो आया था। ऐसा लग रहा था कि कहीं भी प्राण-शक्ति का स्पन्दन नहीं है।

शार्विलक ने और नागरिकों से अनुरोध किया कि वे विशाल भवन के प्रत्येक कमरे को देख आयें। हो सकता है कहीं और भी किसी को बाँध दिया गया हो या मार डाला गया हो। यह भी आदेश दिया कि आर्या वसन्तसेना इस समय अचेतावस्था में हैं, इसलिए इन्हें किसी एकान्त कक्ष में रखा जाये, जहाँ वायु और प्रकाश मिल सकते हों, और उनकी सखी मदनिका को होश में ले आने का प्रयत्न किया जाये, जिससे वह उनकी सेवा कर सके। नागरिकों ने एक सुन्दर शैयावाला कक्ष ढूँढ़ निकाला, जो क्षिप्रा के चटुल वात को गवाक्ष-जाल के रन्ध्रों द्वारा भीतर खींच रहा था। श्रुतिधर और शार्विलक दोनों ने वसन्तसेना को धीरे से उठाकर उस हवादार कक्ष में लिटा दिया। श्रुतिधर उनकी नाड़ी देखते रहे और बीच-बीच में अन्य उपचार करते रहे। एक-दो नागरिकों को उनकी सेवा में छोड़कर और बाक़ी सबको भवन के हर कक्ष की तलाशी लेने के लिए भेजकर शार्विलक ने एकान्त कर लिया। मदनिका के सिर को अपनी गोद में लेकर उसने धीरे से कहा, "माँदी, देखो, मैं शार्विलक आ गया।"

माँदी ने अवश-भाव से उसकी ओर ताका। शार्विलक ने फिर कहा, "माँदी, तुम्हारा छबीला पण्डित आ गया।" माँदी के कानों में इस शब्द ने जादू का असर किया। वह एकदम उठ बैठी, "पण्डित, तुम आ गये! आर्या वसन्तसेना कहाँ हैं?" शार्विलक ने कहा, "बिल्कुल ठीक हैं, चिन्ता न करो!" माँदी फिर से लुढ़क गयी और अवश-विह्वल भाव में शार्विलक की गोद में लेट गयी। शार्विलक ने उसके सिर पर हाथ फेरा, केशों में उँगलियाँ उलझायीं और कपोल पर लुढ़कते हुए आँसुओं को सुकुमार स्पर्श से पोंछ दिया। ऐसा लगा कि माँदी के शरीर में चेतना लौट आयी है। वह धीरे-धीरे उठकर बैठ गयी। बोली, "तुम कब आये पण्डित, दुष्टों ने बड़ा कष्ट दिया। आर्या वसन्तसेना जीवित हैं या नहीं, सच बताओ।" शार्विलक ने कहा, "तुम चल सकती हो माँदी? कहो तो तुम्हें आर्या के पास

पहुँचा दूँ !" माँदी प्रफुल्ल हो गयी, "तो आर्या जीवित हैं ?" "अवश्य जीवित हैं। हाँ, आर्या जीवित हैं।" मदनिका उठकर खड़ी हो गयी और शार्विलक का सहारा लेकर धीरे-धीरे आर्या वसन्तसेना के कक्ष में पहुँची।

इसी समय शार्विलक ने सुना कि बाहर खड़ी भीड़ में फिर कुछ कोलाहल हो रहा है। कारण जानने के लिए वह फिर छज्जे पर आ गया। उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि भीड़ दूसरी ओर भाग रही है। पहले तो उसे सन्देह हुआ कि कदाचित् भानुदत्त के सिपाही फिर लौट आये। उसने श्रुतिधर से आकर कहा, "आर्य, आपसे कुछ बात करने का अवसर भी नहीं मिला। जान पड़ता है कि दुर्वृत्तों ने फिर नागरिकों पर हमला कर दिया है। मैं फिर युद्ध-भूमि में जा रहा हूँ। लेकिन एक बात पूछ लेना चाहता हूँ। चण्डसेन के परिवार का क्या हाल है, वे लोग सुरक्षित तो हैं ?" श्रुतिधर ने कहा, "बातें तो तुमसे बहुत कहनी हैं, परन्तु अभी इतना जान लो कि चण्डसेन का परिवार तो सुरक्षित है, परन्तु स्वयं चण्डसेन का कुछ पता नहीं चल रहा है। मैं तो वसन्तसेना के पास एक सन्देशा लेकर आया था, बीच में इस हंगामे में फँस गया। तुम्हें देखकर मेरा साहस बढ़ा और भीड़ के साथ इस मकान में आ गया। मुझे लगता है कि अभी जो कोलाहल सुन रहे हो, उसका कारण है राज्य-क्रान्ति। वहाँ तुम्हारी आवश्यकता अवश्य होगी। तुम जाओ। मैं आर्या वसन्तसेना को सँभाल लूँगा। मुझे लगता है कि तुम्हारा भाई गोपाल आर्यक, पालक को मारने में सफल हो गया है। यह भीड़ इसी समाचार से उल्लसित होकर उधर भाग रही है, परन्तु खतरा अब बढ़ गया है। पहले केवल भानुदत्त के गुण्डे ही उत्पात कर रहे थे, अब राजकीय सेना भी कुछ अवश्य करेगी।" शार्विलक एकदम चौंक उठा, "क्या कहा ? गोपाल आर्यक, मेरा प्यारा भाई गोपाल आर्यक आ गया ? तब तो, मित्र, मुझे अवश्य जाना है और तुम्हारे ऊपर आर्या वसन्तसेना को और मदनिका को छोड़े जा रहा हूँ, दोनों की रक्षा करना तुम्हारा काम है।"

श्रुतिधर ने मदनिका की ओर देखा, बोले, "यह तो स्वस्थ लग रही है। यह आर्या वसन्तसेना की सखी है ?" शार्विलक ने थोड़ा संकुचित होते हुए कहा, "मित्र, यह आर्या वसन्तसेना की सखी भी है और तुम्हारी भावी अनुज-वधू भी !" अब, श्रुतिधर के चौंकने की बारी आयी। "क्या कहते हो, समझाकर कहो ?" शार्वि-लक ने संक्षेप में कहा, "यही माँदी है।" श्रुतिधर चकित हो गये, "यही माँदी है ! मित्र, आज मुझे अपना भाग्य प्रसन्न जान पड़ता है। विचित्र संयोग है ! अब तुम रुको मत। आर्यक के पास जाओ। अपने बहादुर साथियों को लेते जाओ। यहाँ की देखभाल मैं कर लूँगा।"

माँदी अर्थात् मदनिका वैसे ही शिथिल थी। अब लज्जा के मारे और भी निढाल हो गयी। शार्विलक ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "प्रणाम करो माँदी, मेरे बड़े भैया हैं।" अत्यन्त आयास के साथ आँखें नीची करते हुए माँदी ने श्रुति-धर का चरण-स्पर्श किया और शार्विलक की तरफ देखकर स्फुट शब्दों में कहा,

"फिर जा रहे हो, यहाँ आर्या वसन्तसेना को कौन बचायेगा ?" शार्विलक शिथिल हो गया, बोला, "जल्दी ही लौट आता हूँ। मेरे अग्रज आचार्य श्रुतिधर दोनों की रक्षा करने में समर्थ हैं। ये शस्त्र चलाना नहीं जानते, लेकिन बहुत प्रत्युत्पन्न-मति हैं। इन पर पूर्ण रूप से विश्वास करो।" आचार्य श्रुतिधर ने और जोड़ा, "आयुष्मती मदनिका, मुझे दुर्बल समझकर अविश्वास मत करो। यहाँ आर्या वसन्तसेना को कष्ट देने के लिए कोई नहीं आयेगा। यदि आयेगा तो श्रुतिधर उसका उपाय जानता है। चिन्ता न करो। बेटी, शार्विलक को अभी जाने दो। वहाँ इसकी ज़रूरत है।" मदनिका ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी खुली आँखों से अश्रु-धारा बह चली। श्रुतिधर ने फिर आश्वासन दिया, "देखो बेटी, महावीर गोपाल आर्यक आ गये हैं, उन्होंने निस्सन्देह अब तक पालक को परलोक पहुँचा दिया होगा। आर्य चारुदत्त उनके साथ हैं और सुरक्षित हैं। मैं यही सन्देशा आर्या वसन्तसेना के पास लेकर आया हूँ। ज्यों ही चेतना लौट आयेगी, मैं उनको यह सन्देशा सुना दूँगा।" इस वाक्य के बाद ही वसन्तसेना की आँखें खुल गयीं। वे अस्फुट स्वर में बोलीं, "आर्य चारुदत्त जीवित हैं ?" श्रुतिधर ने उल्लास के साथ कहा, "जीवित हैं, देवी ! देखो, गोपाल आर्यक के बड़े भाई महामल्ल शार्विलक भी आ गये हैं। उन्होंने ही तुम दोनों को बचाया है। अब वे गोपाल आर्यक की सहायता करने के लिए जाना चाहते हैं।" वसन्तसेना की आँखें पूरी खुल गयीं। उन्होंने अपरिचित पुरुषों को देखकर थोड़ी लज्जा अनुभव की, फिर बोलीं, "आर्य, महामल्ल शार्विलक को देखकर आज मेरी आँखें जुड़ा गयीं।" शार्विलक ने अधिक देर करना उचित नहीं समझा। बोला, "कल्याण हो आर्ये, मैं अभी लौट रहा हूँ।" और वह फुर्ती से निकल पड़ा। भवन के भीतर जवानों को सम्बोधित करके उसने कहा, "मित्रो, मैं गोपाल आर्यक की रक्षा के लिए थोड़ी देर को जा रहा हूँ। आप लोग आचार्य श्रुतिधर और इन दोनों महिलाओं की रक्षा का भार ग्रहण करें। मैं अभी लौटकर आता हूँ।" और किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही शार्विलक तेज़ी से बाहर निकल गया।

बाहर अब भी भीड़ खड़ी थी। शार्विलक को देखकर भीड़ ने उल्लसित होकर जय-निनाद किया। शार्विलक ने उनसे पूछा, "कोई नया समाचार है क्या ?" एक प्रौढ़ सज्जन ने सामने आकर कहा, "आर्य शार्विलक, अभी समाचार आया है कि गोपाल आर्यक ने नपुंसक राजा को यमलोक भेज दिया है और भानुदत्त को बन्दी बना लिया है। सुना गया है कि पालक की सेना कुछ उत्पात करने के लिए व्यूह-बद्ध हो रही है। यहाँ जो लोग खड़े थे, उनमें से अधिकांश सेना का प्रतिरोध करने के लिए चले गये हैं। जो लोग वृद्ध या निःशस्त्र थे वे ही यहाँ खड़े हैं।" शार्विलक की आँखों से आनन्द के अश्रु झरने लगे। उसने कहा, "आर्य, मुझे रास्ता दिखा दो, तो मैं भी नागरिकों की सहायता करने के लिए वहाँ पहुँचना चाहता हूँ।" उपस्थित जनता सहस्र-कण्ठ से शार्विलक की जय-जयकार करने लगी और प्रौढ़ सज्जन उसे लेकर राजभवन की ओर चल पड़े। बाक़ी लोगों को शार्विलक ने

अनुरोधपूर्वक इस भवन को घेरकर रखने का आदेश दिया और यह भी कहा कि यदि यहाँ कोई संकट आये तो यथाशीघ्र उसे सूचना दे दें।

राजभवन के बाहर ही शार्विलक ने देखा कि पालक के सैनिक व्यूहबद्ध होकर आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं, और नागरिक उसका प्रतिरोध करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ज्यों ही शार्विलक नागरिकों के मध्य पहुँचा, त्यों ही उसकी जय-जयकार के नाद से आकाश फटने लगा। नागरिकों में अभूतपूर्व उत्साह आ गया। इस नये युद्ध-क्षेत्र में फिर से उन्हें शार्विलक का नेतृत्व प्राप्त हो गया। परन्तु परिणाम यहाँ भी वही हुआ। नागरिकों का उत्साह जितना ही बढ़ गया था, उतना ही सैनिकों का साहस छिन्न हो गया था। इसी समय कोई डुग्गी पीटता हुआ घोषणा करने लगा, "पालक मार दिया गया, गोपाल आर्यक राजसिंहासन पर अभिषिक्त हो रहे हैं।" घोषणा सुनते ही शार्विलक अपनी तलवार उछालते हुए बोला, "बोलो गोपाल आर्यक की जय!" सहस्र-सहस्र कण्ठों ने दोहराया, "गोपाल आर्यक की जय! गोपाल आर्यक की जय!" आश्चर्य के साथ देखा गया कि अनेक सैनिक भी गोपाल आर्यक का जय-निनाद करने लगे। अधिकांश नागरिकों की ओर आ गये और जो बचे थे वे भाग खड़े हुए। लेकिन नागरिकों का क्रोध उभर पड़ा था। भागनेवाले सैनिकों को पकड़-पकड़कर वे क्रूरतापूर्वक मारने लगे। चारों ओर कुहराम मच गया, केवल बीच-बीच में शार्विलक और गोपाल आर्यक के जय-निनाद की आवाज़ आती रही। कौन किससे लड़ रहा है, यह समझना कठिन हो गया। शार्विलक ने कूदकर एक ऊँचे स्थान पर आकर गरजकर आदेश दिया, "शान्त हो जाइए!" आसपास के लोगों ने उसी आदेश को दुहराया, "शान्त हो जाइए।" क्षण-भर में नागरिक अपने-अपने स्थान पर स्थिर खड़े हो गये। शार्विलक ने उत्तेजनापूर्ण स्वर में चिल्लाकर कहा, "गोपाल आर्यक की जय!" सहस्र-सहस्र कण्ठों ने उसी प्रकार दुहराया, "गोपाल आर्यक की जय!" थोड़ी देर में कोलाहल कुछ शान्त हुआ। जो सैनिक नागरिकों की ओर आ गये थे उन्हें सम्बोधित करते हुए शार्विलक ने कहा, "सैनिको, आप क्या गोपाल आर्यक का नेतृत्व स्वीकार करते हैं?" सैनिकों ने प्रत्युत्तर में एक स्वर में गोपाल आर्यक की जय का निनाद किया। शार्विलक ने आदेश दिया, "देखिए, नगर में बड़ी अरक्षित अवस्था है। मुझे अभी अपने नये राजा गोपाल आर्यक से मिलने का अवसर नहीं मिला है, परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं उनकी ओर से आपको जो आदेश दे रहा हूँ वह उन्हें मान्य होगा। आप लोग नगर की रक्षा के लिए हर चौराहे पर खड़े हो जायें। जो कोई भी लूट-पाट, मार-काट या धर-पकड़ करता है, उसे तुरन्त दण्ड दीजिए। सूर्यास्त होने में केवल दो दण्ड का समय है। आप लोगों को दो दण्ड का समय दिया जाता है, आप नगर में शान्ति-स्थापन करें। यही इस बात का प्रमाण होगा कि आप लोगों ने सचमुच गोपाल आर्यक का नेतृत्व स्वीकार किया है। इस बीच यदि कोई उपद्रव हुआ तो उसका उत्तरदायित्व आप लोगों पर होगा।" फिर नागरिकों को सम्बोधित करते हुए कहा, "आर्यो, मैं इस नगर से परिचित नहीं

हूँ। आप लोगों में से यदि कोई जानकार हो तो यहाँ आ जाये और सैनिकों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर नियुक्त करने में सहायता करे।" तत्काल दो-तीन प्रौढ़ व्यक्ति शार्विलक के पास आ गये। उन्होंने कहा, "इसकी व्यवस्था हम कर लेते हैं। आप भवन के भीतर कुछ सैनिकों के साथ जायें और वहाँ जाकर देखें कि कोई गड़बड़ तो नहीं हो रही है।" शार्विलक को यह परामर्श अच्छा जँचा। उसने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा, "राजभवन की रक्षा के लिए कौन-कौन मेरे साथ चलेगा?" "सभी सैनिक चलने को तैयार हैं!"—एक साथ उत्तर मिला, "आप जिसे भी आज्ञा देंगे वही साथ चलने को तैयार होगा।" शार्विलक ने आठ सैनिकों को चुन लिया और जो प्रौढ़ नागरिक उनकी सहायता करने के लिए आये हुए थे, उनसे कहा, "आप लोग इन्हें यथास्थान नियुक्त कर दें। कुछ सैनिकों को आर्या वसन्तसेना के निवास-स्थान पर भी नियुक्त करें।" फिर वह अपने चुने हुए सैनिकों को लेकर राजभवन में प्रविष्ट हुआ।

बाईस

देवरात चन्द्रमौलि और माढ़व्य शर्मा से उसी स्थान पर फिर मिले। चलते समय श्रुतिधर ने उन्हें सावधान कर दिया कि नगर की स्थिति विस्फोटक है। जब से चण्डसेन को बन्दी बना लेने का समाचार आया है, तब से जनता बहुत विक्षुब्ध है। पालक अपने साले भानुदत्त की मुट्ठी में है। भानुदत्त के आततायी सैनिक गुण्डे हैं। मारपीट, लूटपाट, धर्षण और आगज़नी नित्य की घटनाएँ हैं। जनमत कभी भी भयंकर रूप धारण कर सकता है। आततायी किसी की मान-प्रतिष्ठा कहीं भी भंग कर सकते हैं। सावधान रहना चाहिए।

देवरात हलद्वीप में भी राजकीय सैनिकों का अत्याचार देख चुके थे, पर यहाँ के अत्याचार के सामने तो वह कुछ भी नहीं था। श्रुतिधर ने बताया था कि भानुदत्त आर्य चारुदत्त को अपमानित करने पर तुला हुआ है। उड़ती खबरें तो ये हैं कि उनको और वसन्तसेना को बन्दी बना लिया गया है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते सुने गये हैं कि उन्हें मरवा दिया गया है और चारुदत्त के घर को जला देने की धमकी दी गयी है। हलद्वीप में इतना कुछ नहीं हुआ था। गोपाल आर्यक के लहुरा वीर दल के आतंक से राजा भी डर गया था। जान पड़ता है, यहाँ कोई वैसा लोक-रक्षक नेता नहीं है। देवरात को गोपाल आर्यक की याद कल से कई बार आयी। सच्चा शूर है। पर यह लोकापवाद कैसे चल पड़ा? सम्राट् तक ने

उसे परस्त्री-लम्पट कह दिया है ! कुछ-न-कुछ बात तो होगी ही ! जनश्रुति अमूलक नहीं होती । आर्यक से ऐसे आचरण की सम्भावना तो नहीं थी; पर कौन जाने, यौवन-मद क्या नहीं करा सकता ! यह मदमत्त गजराज की भाँति कमलिनी-वन को रौंद देता है । तामस प्रकृति के लोग जब इस मद से मत्त होते हैं तो मृत-मांस-लोलुप भुक्खड़ गिद्धों की तरह स्त्रियों की मान-प्रतिष्ठा लूटने लगते हैं । आर्यक तमोगुणी तो नहीं था । क्या हो गया उसे !

बेचारी मृणालमंजरी पर क्या बीतती होगी ? देवरात को क्रोध आया । बहुत दिनों से सोया हुआ यौधेय रक्त एक बार उफन पड़ा । क्या यह अपदार्थ आर्यक, यौधेय कुल की पालिता कन्या का अपमान करने की स्पर्द्धा कर सकता है ? एक बार उनका मन आर्यक के प्रति घृणा से भर आया । फिर विचारों का दूसरा दौर आया । बिना सत्य बात जाने कुछ पाप-भावना मन में नहीं लानी चाहिए । लोग परमार्थ कम देखते हैं, ऊपरी धरातल को अधिक खरोंचते हैं । पूरा जानना चाहिए । आज देवरात का यौधेय रक्त रह-रहकर धक्का मार रहा है । वे उन्मथित की भाँति चल रहे थे । मिलते ही उन्होंने चन्द्रमौलि से प्रस्ताव किया कि नगर की अशान्त स्थिति में हमें बाहर चला जाना उचित होगा । यहाँ परदेशियों के लिए कठिनाई है । पर चन्द्रमौलि ने दृढ़ता के साथ अस्वीकार कर दिया । उसने कहा कि जब तक उसके मित्र यहाँ हैं तब तक वह यहीं रहेगा । चन्द्रमौलि के सरल-स्वच्छ मुख पर आत्म-विश्वास के दृढ़ भाव देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ । बोले, ''वत्स चन्द्रमौलि, तुम्हारा अनुमान ठीक हो तो मुझे भी यहीं रहना चाहिए । तुम गोपाल के मित्र हो, निश्चय ही तुम मित्र-मिलन के लिए व्याकुल होने के अधिकारी हो, पर मैं भी उससे मिलने के लिए कुछ कम व्याकुल नहीं हूँ । तुम्हें अभी तक मैंने बताया नहीं आयुष्मान्, मैं गोपाल आर्यक का गुरु हूँ और कदाचित् गुरु से भी कुछ अधिक हूँ । इसलिए तुम मेरी उत्सुकता भी समझ सकते हो ।'' चन्द्रमौलि एकदम आश्चर्य-चकित हो चौंक उठा, "क्या कहा आर्य, आप मेरे मित्र गोपाल आर्यक के गुरु हैं ? आहा, यह भव्य रूप देखकर मैंने प्रथम बार ही अनुभव किया था कि किसी महान् तेजस्वी पुरुष का सान्निध्य पा रहा हूँ । आर्य, मैं धन्य हूँ जो ऐसे महान् गुरु का स्नेह पा सका हूँ । किन्तु एक बात मैं नहीं समझ सका । आप कहते हैं कि गुरु से भी कुछ अधिक हैं । भला गुरु से अधिक और क्या हो सकता है, आर्य ?''

देवरात ने कहा, ''बता दूँगा आयुष्मान् ! अभी तो मैं अपने मन की शंका तुम्हें बताना चाहता हूँ । ऐसा लगता है वत्स, कि गोपाल आर्यक उज्जयिनी आया भी हो तो अब कहीं अन्यत्र चला गया है । तुम्हारी बातों से और अन्य लोगों की बातों से मैंने ऐसा समझा है कि गोपाल आर्यक किसी विषम लोकापवाद से दुखी है । लोकापवाद क्या है, यह मैं ठीक से जान नहीं पाया हूँ, पर लोगों की बातों से स्पष्ट है कि वह कुछ अनैतिक आचरण का अपवाद अवश्य है । कदाचित् परस्त्री-सम्पर्क जैसा कुछ है । मेरा मन बहुत व्यथित है । तुम मेरी प्राण-विदारिणी कथा

समझ सकते हो कि नहीं, कैसे बताऊँ। हाय, वत्स, कहीं तुम जानते कि गोपाल की पत्नी मृणालमंजरी मेरी पुत्री है! मेरा चित्त बहुत व्यथित है वत्स, मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि गोपाल आर्यक ऐसा काम कर सकता है जिससे मृणाल को रंच-मात्र भी मानसिक कष्ट हो। पर साथ ही यह भी नहीं अस्वीकार कर पाता कि जनश्रुति के मूल में कुछ-न-कुछ तथ्य भी होता ही है!"

चन्द्रमौलि का हृदय सनाका खा गया। उसे याद आया कि गोपाल आर्यक ने उससे कहा था कि वे सदा यही सोचते रहते हैं कि लोग क्या कहेंगे, एक बार भी यह नहीं सोचा कि मृणालमंजरी क्या सोचेगी। आर्य देवरात को कुछ और भी मालूम हुआ होगा। सब मिलाकर यह लोकापवाद ही लगता है। पर गोपाल आर्यक-जैसे शील-सम्पन्न पुरुष पर परस्त्री-लम्पट होने का अपवाद कुछ समझ में आने लायक बात नहीं लगती। उसका चेहरा म्लान हो आया। नम्रतापूर्वक कहा, "आर्य, आप हमारे सब प्रकार से पूज्य हैं। आपका नया परिचय पाकर तो अपने-आपको कृतकृत्य ही मान गया हूँ। पर आपके मन में विषाद का जो यह शल्य घुसा है उसने मुझे भी बुरी तरह आहत और व्यथित कर दिया है। फिर भी मेरा मन कहता है कि आपको जो बताया गया है उसमें कहीं कुछ भ्रम या स्खलन है। गोपाल शील के साक्षात् विग्रह हैं। उन पर परस्त्री-लम्पट होने का अपवाद निश्चित रूप से अमूलक होना चाहिए। गोपाल और परस्त्री-लम्पटता एक साथ नहीं रह सकते। यह कुछ ऐसा ही है जैसे कहा जाये कि सूर्य की तमिस्रा पर आसक्ति है। पूरी बात जाने बिना ऐसी बातों को ग्रहण नहीं करना चाहिए।"

चन्द्रमौलि को लगा कि देवरात-जैसे वृद्ध-सुपुरुष के सामने एक साँस में इतनी बातें कहकर उसने स्वयं मर्यादा का उल्लंघन किया है। कुछ सहारा पाने की आशा से वह माढ़व्य की ओर मुड़ा, पर उधर देखकर वह एकदम सन्न हो गया। माढ़व्य अपने में खो गये थे। उनके सदा प्रफुल्ल चेहरे पर कालिमा-सी पुती हुई थी। इन्द्रियों के सारे व्यापार बाहर की ओर से रुद्ध होकर भीतर प्रविष्ट हो गये थे। न तो देवरात ने ही उनकी ओर ध्यान दिया था, न चन्द्रमौलि ने। वह एक विचित्र समाधि थी। ऊपर से शान्त और निःस्तब्ध, पर भीतर कोई भयंकर झंझा उन्हें झकझोर रही थी। कभी-कभी उनका स्थिर शरीर-दण्ड इस प्रकार हिल उठता था जैसे निर्वात-निष्कम्प दीप-शिखा को हल्की वायु-लहरियाँ हिला गयी हों। वे बेहोश नहीं थे, पर होश में भी नहीं जान पड़ते थे। चन्द्रमौलि ने उन्हें झकझोरा, "दादा, दादा, क्या हो गया तुम्हें!" माढ़व्य शर्मा ने आँखें खोलीं—शून्य दृष्टिवाली आँखें, किन्तु बोले कुछ नहीं। आनन्द की सतत-निष्पन्दिनी निर्झरिणी एकाएक सूख गयी-सी जान पड़ी। वे फिर उसी अवस्था में पहुँच गये। लगता था, वे बहुत डरे हुए हैं। देवरात ने प्यार से उनके सिर पर हाथ फेरा, "भय लगता है देवता, डरने की क्या बात है!" माढ़व्य की भयभीत अवस्था से वे कुछ चिन्तित हुए। फिर उनके पुराने संस्कार एकाएक जाग्रत हो उठे। भीत-विपन्न को अभय देना उनकी कुल-रीति है। दीर्घकाल से सुप्त यौधेय रक्त आज उबल उठा। बोले,

"वृद्ध हो गया हूँ पर अभी भी इन नाड़ियों में यौधेय-रक्त बह रहा है। भय की क्या बात है देवता ! उठो दादा, अवसर आने पर देवरात काल से भी जूझ सकता है।" देवरात आवेश में कह तो गये, पर उन्हें स्वयं इस प्रकार अपना परिचय देने से थोड़ी ग्लानि भी हुई। यहाँ स्थान-काल-पात्र का विचार किये बिना अपने पूर्व-जीवन का परिचय देना क्या अच्छा हुआ ? पर अब तो तीर छूट चुका था। यथासम्भव अपनी बात को दूसरा मोड़ देने के लिए उन्होंने फिर कहा, "दादा, तुमने बताया था न, कि गोपाल ने तुम्हारी रक्षा करने का वचन दिया था ? वह नहीं है तो मैं तो हूँ। आश्वस्त हो जाओ दादा, कोई भी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकेगा।"

माढ़व्य में कुछ चेतना आयी। लगा, वे सचमुच आश्वस्त हुए हैं। बोले, "आर्य, अपने लिए चिन्तित नहीं हूँ ! ब्राह्मणी की बात सोचकर परेशान हूँ। मैं मर जाऊँगा तो उस बेचारी का क्या होगा ! आर्य, मेरे भीतर जो प्रसन्न होने और दूसरों को प्रसन्न करने की क्षमता है वह उसी के प्रेम और सेवा का फल है। नहीं तो इस अटट मूर्ख की जाने क्या गति हुई होती। उस बेचारी को सम्हालने-वाला कोई तो नहीं है। यदि माढ़व्य मर जाता है तो बेचारी को कौन देखेगा ? अच्छा आर्य, मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग उसे कुछ आश्वासन दे सकोगे ? लेकिन कौन किसे देखता है ! हाय रे, मेरी सब-कुछ तो वही है !"

देवरात माढ़व्य शर्मा के विकल भाव से मर्माहत हुए। बोले, "कौन कहता है दादा, कि तुम मर जाओगे ! तुम भी रहोगे और तुम्हारी ब्राह्मणी भी अखण्ड सौभाग्य लेकर रहेगी। अकारण चिन्ता छोड़ो।"

माढ़व्य शर्मा कुछ आश्वस्त हुए। देवरात ने चन्द्रमौलि की ओर देखा। उसका सारा शरीर उद्भिन्न-केसर कदम्ब-पुष्प की भाँति रोमांचित हो गया था। आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। देवरात उसमें ऐसा परिवर्त्तन देखकर आश्चर्य से चौंक उठे। चन्द्रमौलि ने हाथ जोड़कर प्रश्न किया, "आर्य, मैं क्या यौधेय वंश के मुकुट-मणि कुलूत राजकुमार महावीर देवरात को इस रूप में देख रहा हूँ ?"

"हाँ वत्स, मैं ही अभागा कुलूत राजकुमार देवरात हूँ। पर तुम्हें इस भाग्य-हीन को जानने का अवसर कैसे मिला ?"

एक क्षण का विलम्ब किये बिना चन्द्रमौलि उठा और देवरात के चरणों में इस प्रकार गिर पड़ा, जैसे किसी ने खड़े डण्डे को एकाएक लुढ़का दिया हो। देवरात 'हाँ-हाँ' करते रहे। चन्द्रमौलि चरणों से लिपट गया। देवरात आश्चर्य से स्तब्ध रह गये, "क्या कर रहे हो आयुष्मान्, इस अभाजन को इतना मान दे रहे हो ! उठो वत्स, मुझे नरक में जाने से बचाओ। यह शरीर क्षत्रिय का है। तुम ब्राह्मण-कुमार होकर अन्यथाचरण कर रहे हो। तुम्हारे सम्मान के भार से मैं यों ही भाराक्रान्त हूँ। चरणों पर गिरोगे तो मुझे किसी नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा। उठो मेरे प्यारे चन्द्रमौलि, अकारण अभिभूत दिख रहे हो। उठो भी प्यारे !"

बड़े कठोर बन्धन में बँध गये थे उनके चरण। छुड़ाये नहीं छूटते। देवरात के माथे पर पसीने की बूँदें झलक आयीं। चन्द्रमौलि को उन्होंने नन्हे शिशु की भाँति उठाकर गोद में बैठा लिया। दोनों की आँखें सजल थीं। दोनों की वाणी रुद्ध थी। अधखोये-से माढ़व्य फटी-फटी आँखों से देखते रहे। उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। देवरात हैरान थे, चन्द्रमौलि जैसे किसी अननुभूत आनन्द-धारा में बह चला था। देर तक सारा वातावरण स्तब्ध बना रहा।

अपने को सम्हालते हुए चन्द्रमौलि उठा। देवरात की ओर देखकर कुछ कहना चाहा, पर वाणी फिर वाष्प-विजड़ित हो गयी। अश्रु-धारा से उसके कपोल भीगते रहे। देवरात ने ही मौन भंग किया—"वत्स चन्द्रमौलि, समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम एकाएक इतने अभिभूत क्यों हो गये? क्या कुलूत के यौधेयों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध है? बोलो वत्स, मैं व्याकुल हूँ!"

चन्द्रमौलि ने वाष्प-गद्गद कण्ठ से कहा, "तात, मैं रघुवंश में पैदा हुआ हूँ। विष्वक्सेन और सुनीता का पुत्र हूँ! मातृ-पितृहीन इस अभाजन सन्तान को किस रूप में दर्शन दिया, प्रभो!"

देवरात आवेग से उछल पड़े, "क्या कहा बेटा, तू सुनीता का पुत्र है?" और एक बार फिर चन्द्रमौलि को खींचकर गोद में ले लिया। बार-बार माथा सूँघते और प्यार के साथ चूमते हुए वे अभिभूत हो उठे—"हे भगवान्, कैसी विचित्र है तुम्हारी माया!"

माढ़व्य अवाक्! वे एक बार देवरात की ओर देखते, एक बार चन्द्रमौलि की ओर। दोनों की दशा विचित्र थी। माढ़व्य ने निस्तब्धता भंग की, "बन्धु चन्द्रमौलि, क्या रहस्य है भाई, ज़रा इस अबोध दादा की ओर देखो! आर्य देवरात, आप ही कुछ बतायें ना! इस अद्भुत मिलन का आनन्द अपने तक ही सीमित न रखो आर्य, इस अभाजन को भी कुछ अंश दो!"

देर तक चन्द्रमौलि शिशु की भाँति वृद्ध देवरात का स्नेह-रस पा-पाकर परितृप्त होता रहा। आँसू रुकने का नाम नहीं लेते, वाणी क्रियाशील होने को एकदम तैयार नहीं। क्या रहस्य है!

देवरात एकदम खो गये। सुनीता! शर्मिष्ठा की गुड़िया-सी बहिन। उसका विवाह वे नहीं देख सके थे। उसे वे भूल ही गये थे। शर्मिष्ठा के दारुण वियोग में वे ऐसे मर्माहत हुए थे कि किसी अन्य सम्बन्धी की बात उनके मन में आ ही नहीं पायी। वे सब-कुछ को भूलने का व्रत लेकर निकल पड़े। भूल नहीं सके तो प्राणवल्लभा शर्मिष्ठा को। सुनीता कुछ दिनों के लिए अपनी दीदी के पास रही थी। फिर चली गयी। उसका विवाह यक्षभूमि के रघुवंशियों में होने की बात चलने लगी थी, पर देवरात को यह सब जानने की सुधि ही नहीं रही। वे निकले सो निकले। आज सुनीता का पुत्र मिल गया, कहता है मातृ-पितृहीन है। हे भगवान्! वे कुछ पराभूत-से लगे। जिसने सब-कुछ छोड़ने का संकल्प किया था, उसे इस प्रकार बार-बार बाँधने का क्या अर्थ है दयानिधान? तुम्हारी माया क्या सचमुच

ऐसी दुरत्यया है कि उससे पिण्ड छुड़ाया ही नहीं जा सकता ? यह सुनीता का पुत्र है। सुनीता, कोमल नवनीत की पुतली ! देवरात नहीं जानते कि किशोरी सुनीता कैसी थी। निश्चय ही बहुत सुन्दर रही होगी, शर्मिष्ठा के समान ही। वैसे भी वह शर्मिष्ठा-जैसी ही दिखती थी। उन्होंने फिर से किशोर कवि को देखा। अहा, शर्मिष्ठा के मुख की थोड़ी छाया इसमें है अवश्य। शर्मिष्ठा का पुत्र होता तो ऐसा ही हुआ होता। बहुत-कुछ ऐसा ही। धन्य हो लीलाधर !"

चन्द्रमौलि ने देवरात के मन को थाहने का प्रयास किया। उसे लगा कि इस विलक्षण सत्पुरुष को एक साथ कई मोह अपने पाश में बाँधने की तैयारी कर रहे हैं। स्वयं भी उसने उनके चित्त में विक्षोभ पैदा कर दिया है। सम्हलकर कहा, "क्षमा करें तात, आपके चित्त में विक्षोभ पैदा करने का अपराधी हूँ, पर जाने क्यों मेरा मन आज कुछ अघटित घटना की आशंका कर रहा है। तात के समुद्र के समान गम्भीर हृदय में एक साथ ही कई विक्षोभ पैदा हुए हैं, लेकिन मैं जानता हूँ कि यह समुद्र विक्षुब्ध नहीं होगा। तात, मैं धन्य हूँ कि इतने दिनों बाद अपने किसी स्वजन को देख सका हूँ। स्वजन भी कैसा ! समुद्र के समान गम्भीर, आकाश के समान विमल-विराट् ! मैं आज छिन्नमूल तूलखण्ड के समान निराधार भटकनेवाला नहीं हूँ, परन्तु आपके चित्त में मोह का अंकुर उत्पन्न नहीं करूँगा। मैं चरितार्थ हूँ। मुझे स्नेह मिल गया, इतना बहुत है तात !"

चन्द्रमौलि ने माढ़व्य की ओर देखकर कहा, "दादा, तुम्हारा भय-कातर होना मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ। आज मैंने अपने परम स्नेही महावीर मौसाजी को पा लिया है। मेरी माता सुनीता और आर्य देवरात की पत्नी शर्मिष्ठा देवी सगी बहिनें थीं। दोनों अब इस संसार में नहीं हैं। मेरे पिता भी नहीं हैं। ऐसे भाग्यहीन बालक को परम स्नेही पूज्य तात मिल गये। यह असाधारण भाग्य ही है दादा ! तुम्हारे सत्संग ने मुझे वृन्त-छिन्न तूलखण्ड से उठाकर धरती में बद्धमूल किशोर तरु के समान सौभाग्यशाली बना दिया है। तुम्हारे समान दादा मिला, आर्यक के समान सखा मिला और आर्य देवरात के समान पूज्य तात मिल गये। मेरा मन कहता है कि मुझे मेरी बहिन मृणालमंजरी भी मिल जायेगी। आर्य, आज मैं कृतकृत्य हूँ। तुम्हारा सत्संग मेरे लिए कल्पतरु सिद्ध हुआ है। मेरा कृतज्ञ प्रणाम स्वीकार करो, दादा !" कहकर चन्द्रमौलि ने माढ़व्य के चरणों पर सिर रख दिया। माढ़व्य उत्फुल्ल हुए, उनमें कुछ सहज भाव आया। हँसते हुए बोले, "स्वार्थी बन्धु, एक बार यह भी तो कह देता कि मेरी ब्राह्मणी भी कहीं मिल जायेगी !" आर्य देवरात भी सहज हो आये। बोले, "तुम्हारी चिन्ता अभी गयी नहीं, दादा ? तुम अपनी ब्राह्मणी को मिल जाओगे, ऐसा आश्वासन तो पहले ही दे चुका हूँ। उतने से सन्तोष न हो तो यह भी आश्वासन देता हूँ कि तुम्हारी सती-साध्वी ब्राह्मणी भी तुम्हें मिल जायेगी।" सबके चेहरों पर सहज स्मित आ गया। जान पड़ा, वातावरण भी सहज हो गया है। मनुष्य के सहज चित्त का ही परिणाम सहज वातावरण होता है। परन्तु विधाता इतनी आसानी से वातावरण को सहज नहीं बनाना चाहते थे। उनकी कुछ

और ही योजना थी। सहज स्मित के साथ देवरात पूछनेवाले थे कि वत्स चन्द्रमौलि, अपनी कथा ज़रा विस्तार से समझाओ कि एकाएक न जाने कहाँ से दस-बारह दैत्याकार सशस्त्र सैनिकों ने तीनों को धर दबोचा—"पकड़ लो आर्यक के इन सहायकों को! ये किसी भयंकर षड्यन्त्र में लगे जान पड़ते हैं।"

किसी प्रकार के प्रतिरोध या प्रतिवाद का अवसर ही नहीं मिला। दुर्दान्त यौधेय रक्त खौलता ही रह गया, आश्वासन की वाणियाँ विकट परिहास के रूप में वायुमण्डल में गूँज उठीं, रघुवंशी मर्यादा अनायास जमकर बर्फ़ हो गयी और ब्राह्मणी के मिलन के काल्पनिक आनन्द का विस्फार खप्-से सिकुड़ गया। दुष्टों ने किसी को कुछ बोलने का भी अवसर नहीं दिया। मुँह कपड़े से कसकर बाँध दिये गये। भुजाएँ पीठ की ओर कस दी गयीं। तीनों को बोरे की तरह उठाकर बैलगाड़ी में पटक दिया गया और कठोर पहरे में ले जाया जाने लगा। कहाँ? कुछ पता नहीं।

सन्ध्याकालीन आकाश लाल हो आया था। कोई अज्ञात आशंका दिङ्मण्डल में व्याप्त हो गयी। क्या होनेवाला है!

बँधे हुए, अर्धमूर्च्छित तीन मानव एक घर में ठूँस दिये गये। बाहर से द्वार बन्द कर दिया गया। फिर सब शान्त। माढ़व्य तो मूर्च्छित ही हो गये। किशोर कवि में भी कहीं कोई स्पन्दन का चिह्न नहीं, पर देवरात की संज्ञा बनी हुई थी। उन्हें अपनी दर्पोक्तियाँ बचकानी मालूम हुईं। जो अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता, उसे ऐसे दर्पोद्धत आश्वासन देना क्या शोभता है? मन्त्र और औषधि से रुद्ध-वीर्य सर्प की भाँति वे अपनी आग से आप ही जलते रहे। विधाता ने उनका कैसा मान-भंग किया है! वे कसमसाते रहे। हाथ इतने कसकर बँधे थे कि बहुत ज़ोर मारने पर भी वे उन्हें हिला नहीं सके। धरती पर सिर रगड़कर आँखों के ऊपर बँधे कपड़े को हटाने में सफल तो हो गये, पर उस सूची-भेद्य अन्धकार में आँखों के खुलने पर भी कुछ देख नहीं सके। वे इधर-उधर लुढ़कते रहे। एकाध बार किसी अन्य बँधे व्यक्ति से भी टकराये, पर सब बेकार। फिर भी प्रयत्न उन्होंने नहीं छोड़ा। लुढ़कते हुए वे दरवाज़े तक पहुँचे। सिर से ही टो-टोकर अन्दाज़ा लगाया, कपाट काफ़ी मज़बूत जान पड़े। सिर से ही यथासम्भव नीचे से ऊपर तक टटोलते रहे। उन्हें ऐसा लगा कि किवाड़ों में कुछ पीतल के नागदन्त बने थे। बँधे हाथों को साधकर उनसे टिकाया। खूँटियाँ नुकीली थीं। बन्धन में आसानी से घुस गयीं। फिर बार-बार फँसाकर नीचे-ऊपर करने लगे। कठिन परिश्रम के बाद हाथ खुल गये। फिर तो मुँह के बन्धन बहुत आसानी से खोले जा सके। धीरे-धीरे उनकी पूरी देह खुल गयी। वे हाँफने लगे थे। सारा शरीर पसीने से तर हो गया था। धीरे-धीरे वे टो-टोकर अपने दोनों साथियों तक पहुँचे। हाथ और दाँत की सहायता से उनके बन्धन खोले। नाक पर हाथ रखकर अनुमान किया कि दोनों की साँस चल रही है, पर दोनों बेहोश हैं। वे बारी-बारी दोनों को सहलाते रहे, संज्ञा किसी की नहीं लौटी। रुद्ध-कक्ष में हवा आने का कोई मार्ग नहीं था। लगता था वे भी मूर्च्छित हो जायेंगे, पर मन में अदम्य संकल्प-शक्ति थी। किसी प्रकार कपाट

खुलना चाहिए। वे फिर टटोलने लगे। कहीं कुछ नहीं मिला। वे निराश हो गये और देर तक चुपचाप बैठे सोचते रहे। मनुष्य कितना असहाय है! उसके सारे अभिमान फेन-बुद्बुद के समान क्षण-भंगुर हैं। कितना आस्फालन और कितनी असहाय अवस्था! दीनबन्धु, तुमने अभिमान भंग करने का ऐसा आयोजन किया! थोड़ा रुककर करते तो क्या हानि थी! पर टूट गया, अच्छा ही हुआ। कोई नहीं जानता कि तुम्हारी कठोर कृपा का अर्थ क्या है!

देवरात कातर हो उठे। आज रह-रहकर उन्हें यौधेय अभिमान अभिभूत कर रहा था। दीर्घकाल से विस्मृत बाहु-बल का अभिमान बाँध तोड़कर बाहर आना चाहता था। क्या इस प्रकार टूट जाने के लिए? लेकिन आज ही अपना निकट-सम्बन्धी यह किशोर बालक भी मिला। रक्त में हिलोर आया। क्या इसी प्रकार बिखर जाने के लिए? सब टूट जाये, सब बिखर जाये, पर देवरात को, कम-से-कम आज, न टूटना है न बिखरना है। इन दो प्राणों की रक्षा तो करनी ही पड़ेगी। कैसे करेंगे? विधाता वाम हैं!

उनके मन में आया कि जिन कपड़ों से उन तीनों को बाँधा गया था वे अब भी पड़े हुए हैं, उन्हीं से थोड़ी हवा करके अपने साथियों को कुछ आराम दिया जा सकता है। वे खड़े हो गये। एक बड़ा-सा वस्त्र-खण्ड उठाकर हवा करने लगे। उनके मन में विचार भी तेज़ी से चल रहे थे और हाथ भी उतनी ही तेज़ी से हिल रहे थे। अचानक कपड़ा किवाड़ों की खूँटियों में उलझ गया। वे अन्दाज़े से उधर बढ़े और उसे निकालने का प्रयत्न करने लगे। पर वह उलझता ही गया। उन्होंने झटके से खींचा। उन्हें जान पड़ा कि किवाड़ भी खिंचे आ रहे हैं। उन्होंने और भी बल लगाया। कपड़ा उलझा ही रहा, मगर किवाड़ खुल गये। स्वच्छ वायु का एक झोंका आया और उनके मन और प्राणों को जगा गया। दोनों किवाड़ें खोलने पर हल्का-सा प्रकाश भी दिखायी दिया। सामने आँगन था। वे बाहर आ गये। हे प्रकाशपुंज, तमसो मा ज्योतिर्गमय! यह कैसी लीला है!

देवरात को अपार बल मिल गया। वे अनायास अपने दोनों साथियों को आँगन में ले आये। बाहर का द्वार बन्द था। चारों ओर टटोल-टटोलकर वे परखने लगे कि कोई और सहायता-योग्य वस्तु मिलती है या नहीं। अँधेरे में अपरिचित घर में कुछ खोजना कठिन ही था। अब उन्हें ऐसा लगने लगा कि वे कुछ कर नहीं रहे हैं, कोई उनसे करवा रहा है। यह विचार आते ही उनका भाराक्रान्त चित्त हल्का हो गया, बहुत हल्का।

ऐसा लगता था, इस घर में कोई रहता नहीं। यह दीर्घकाल से बन्द ही पड़ा था और आज ही इसका उपयोग किया गया है। किसका घर है, कहाँ स्थित है? कुछ कर सकने का अभिमान मन में नहीं था। दोनों साथी खुली हवा में कुछ स्वस्थ होने लगे थे, ऐसा उन्होंने उनकी नाड़ी की परीक्षा करके समझ लिया। वे शान्त भाव से भगवान् का ध्यान करने लगे। कर्त्तव्य का अभिमान हट जाने से उन्हें शान्ति ही मिली। यही क्या शान्ति पाने का मार्ग है? मगर नहीं। यह उनका अस्थायी

भाव था। प्रयत्न करना चाहिए। कर्त्तव्य का अभिमान छोड़कर भी प्रयत्न करना चाहिए। हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाना ठीक नहीं है। कुछ करने की प्रेरणा भी कहीं अन्यत्र गहराई से निकल रही है। 'कर्म-गुरो, क्या करूँ, तुम्हीं बता दो!' उन्होंने दोनों साथियों को टटोला। चन्द्रमौलि की चेतना लौट आयी थी। बोला, "कौन है?" देवरात को हर्ष की उठी विशाल तरंग अभिभूत कर गयी। फुसफुसाकर बोले, "कैसा लग रहा है बेटा, मैं हूँ देवरात!" चन्द्रमौलि को साहस आया। उठकर बैठ गया। फिर देवरात ने माढ़व्य शर्मा को सहलाया। वे उसी तरह अचेत पड़े रहे। देवरात ने चन्द्रमौलि के कान के पास मुँह लगाकर कहा, "हम लोग घर में बन्द कर दिये गये हैं बेटा, धीरे-धीरे बोलना। पता नहीं, कौन कहाँ बैठा सुन रहा हो।" चन्द्रमौलि सावधान हुआ। अचानक आँगन में लाल-लाल प्रकाश छा गया। पास ही कहीं आग लगी जान पड़ी। फिर भयंकर चटचटाहट और चीत्कार-ध्वनि। जान पड़ा, किसी बड़े प्रासाद में आग लग गयी थी और उसके भीतर स्त्रियों, पुरुषों और बालकों की करुणा-भरी चीखें सुनायी दे रही थीं। चन्द्रमौलि ने आश्चर्य से देखा, यह सब क्या हो रहा है! देवरात ने फुसफुसाकर कहा, "जान पड़ता है आततायियों ने आग लगा दी है। आग अगर इस घर तक आयी तो हम लोग जीते ही जल जायेंगे। हे दीनबन्धु, क्या होनेवाला है!" चन्द्रमौलि ने कुछ कहना चाहा, लेकिन चारों ओर भयंकर कोलाहल सुनायी दिया। चारों ओर चलते हुए अग्नि-पिण्ड छिटकते हुए दिखायी दिये। वे उड़-उड़कर इधर-उधर गिर रहे थे और चटचट की ध्वनि विकराल रूप धारण करती जा रही थी। जो घर बचे थे उनमें भी ये ज्वलन्त उल्का-खण्ड गिर-गिरकर आग लगा देते थे। लोहा, पत्थर और लकड़ी का मिला हुआ एक भयंकर उल्का-खण्ड इस घर के आँगन में भी आ गिरा। देवरात चिल्ला उठे, "त्राहि देव!" माढ़व्य उस भयंकर चीत्कार और उल्का-पात से एकदम सचेत होकर चिल्ला पड़े, "त्राहि भगवान्!" वे उठकर बैठ गये। अब निश्चित हो गया कि यह घर भी जल उठेगा। उठते ही माढ़व्य विचित्र प्रकार से चीख उठे, मानो कुछ भयजनक देख लिया हो। उनकी आँखें फैली सो फैली ही रह गयीं—"क्या है यह, क्या है?" देवरात ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "कुछ नहीं दादा, नगर में आग लग गयी है। उसी के परिणामस्वरूप जलते हुए उल्का-खण्ड इधर-उधर छिटक रहे हैं। डरो मत, डरने से काम नहीं चलेगा। मैं बाहर का द्वार तोड़ने जा रहा हूँ। पीछे-पीछे आ जाओ, थोड़ा साहस करो। अभी सब ठीक हुआ जाता है।" माढ़व्य ने विस्मय-विमूढ़ नेत्रों से चारों ओर देखा। फिर बोले, "आग है? आग की ज्वाला है?" फिर चुपचाप उठ खड़े हुए। पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे। फिर 'जय महाकालिके' कहकर आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके पैर उठ नहीं रहे थे। देवरात को क्या सूझी, उन्हें स्वयं नहीं पता। मगर उन्होंने जलते हुए उल्का-खण्ड को बाहरी द्वार के कपाट के पास रख दिया और चिल्लाकर बोले, "जलते हुए द्वार से भागना पड़ेगा। सावधान हो जाओ।" माढ़व्य भय से चिल्ला उठे। कपाट जलने लगा। अभी थोड़ा ही जला था कि देवरात ने धक्का मारा। वह चरमराकर

गिर पड़ा। देवरात घसीटकर माढ़व्य को खींच ले आये। पहले चन्द्रमौलि से कहा, "कूद जा बेटा ! रघुवंशी डरता नहीं। कूद जा !" चन्द्रमौलि कूद गया। फिर माढ़व्य को लिये-दिये देवरात भी कूदकर बाहर आ गये। घर धाँय-धाँय जलने लगा। माढ़व्य को घसीटते हुए देवरात और चन्द्रमौलि उस ओर भागे जिधर अभी आग नहीं पहुँची थी। वे लोग राजमार्ग पर आ गये। आधा नगर ही जल रहा था। देवरात माढ़व्य को घसीटते हुए और चन्द्रमौलि को उत्साहित करते हुए दूर निकल आये।

भागते-भागते वे महाकाल के मन्दिर के पास आये। फिर उन्होंने चन्द्रमौलि से कहा, "वत्स, अब तुम दादा को सम्हालो। मैं आग बुझाने में लोगों की सहायता करने जा रहा हूँ। तुम लोग किसी प्रकार क्षिप्रा के उस पार चले जाओ। नगर में शान्ति होने पर मैं यहीं महाकाल के मन्दिर में तुमसे मिलूँगा। कब मिलूँगा, कहना कठिन है। पर मिलूँगा अवश्य। तुम प्रातःकाल एक बार देख लिया करना। मैं तुम्हें भी साथ ले चलता; विपत्ति के समय विषद्-ग्रस्त लोगों की सेवा करना मनुष्य का परम धर्म है। परन्तु अभी मैं माढ़व्य शर्मा की रक्षा का उत्तरदायित्व तुम्हें सौंपता हूँ। मैं चल रहा हूँ।" माढ़व्य ने उच्च स्वर से प्रतिवाद किया, "थोड़ा ठहरो आर्य, माढ़व्य को मिट्टी का लोंदा न बनने दो। तुमने ही प्राण दिये हैं। ये प्राण तुम्हारे हैं। आजीवन भँड़ैती से पेट पालनेवाला माढ़व्य अब जीवन का रहस्य समझने लगा है। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। यह कवि भी चलेगा। तुम अधिक थके हो, आर्य ! माढ़व्य को थोड़ा पानी पी लेने दो। बस, वह प्राणों को हथेली पर लेकर तुम्हारे पीछे चलेगा।" देवरात प्रसन्न हुए। वे स्वयं भूल ही गये थे कि प्यास उन्हें भी लगी है। तीनों ने क्षिप्रा का स्वच्छ जल पिया और नगर में जिधर आग लगी थी, उधर चल पड़े।

पौ फटने जा रही थी। पूर्वी आकाश और नगर दोनों जल रहे थे। नागरिक जहाँ-तहाँ खड़े चिन्ता-कातर हो त्राहि-त्राहि कर रहे थे। देवरात ने ललकारा, "खड़े-खड़े देखते क्या हो ! पानी ले आओ और आग बुझाओ।" नागरिकों में थोड़ा साहस आया। जिसके पास जो पात्र था, वही लेकर पानी लाने दौड़ा। देवरात ने रोकक र कहा, "ऐसे नहीं। थोड़ी-थोड़ी दूर पंक्ति बाँधकर खड़े हो जाओ। खाली वर्तन देते जाओ और भरे वर्तन लेते जाओ। सबको दौड़ने की आवश्यकता नहीं।" नागरिकों को उत्साह आया। क्षिप्रा-तट से अग्नि-स्थान तक नागरिकों की कई पंक्तियाँ खड़ी हो गयी। पानी व्यवस्थित रूप से जलते घरों तक पहुँचने लगा। देखते-देखते पंक्तिवद्ध नागरिकों की सैकड़ों टोलियाँ खड़ी हो गयीं। माढ़व्य भावावेग से उन्मत्त होकर चिल्ला पड़े, "आर्य देवरात की जय !" सहस्रों कण्ठों से प्रतिध्वनि निकली, "आर्य देवरात की जय !" नागरिकों में उत्साह का ज्वार आ गया। सूर्योदय होते-होते आग पर काबू पा लिया गया। यद्यपि अब भी कहीं-कहीं आग जलती दिखायी दे जाती थी, पर उसका दारुण प्रकोप शान्त हो गया था। ऐसे ही समय देखा गया कि कुछ ऐसे भी लोग थे जिन्हें आग बुझाने का यह ढंग

पसन्द नहीं आया था। उनमें कुछ सैनिक वेश के लोग भी थे। वे तरह-तरह की बाधा पहुँचा रहे थे। धीरे-धीरे नागरिकों के एक दल में इनके विरुद्ध क्रोधाग्नि धधक उठी। लोगों को इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया कि वही लोग आग लगानेवाले थे। नागरिकों में कानाफूसी हुई और फिर युवकों का एक दल सैनिकों से उलझ गया। देखते-ही-देखते विद्रोह उग्र हो उठा। देवरात ने चन्द्रमौलि और माढ़व्य से कहा कि अब हमें कहीं छिप जाना चाहिए। कल जिन लोगों ने हमें बन्दी बनाया था वे फिर से बन्दी बना सकते हैं। तीनों खिसक गये। दूर निकलकर चुपचाप एक स्थान पर छिप गये और नगर की गतिविधि पर दृष्टि रखने लगे।

यह स्थान एक ऊँचा-सा टीला था, जिस पर कदम्ब, कुटज और कोविदार के झाड़ों ने अपना स्थान बना लिया था। यहाँ से नगर का अधिकांश भाग दिखायी दे जाता था। तीनों ही थके हुए थे, पर माढ़व्य सबसे अधिक हाँफ रहे थे। उनकी तोंद लुहार की भाथी की तरह धौंक रही थी। देवरात ने सहानुभूतिपूर्वक उनकी ओर देखा। "कल की रात बड़ी भयानक थी, देवता! पर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् इस दुख-ताप के भीतर से कुछ अच्छा करने की योजना ही बना रहे हैं। आपको तो बड़ा कष्ट हुआ।" माढ़व्य शर्मा उत्फुल्ल थे। क्लान्ति भी आनन्ददायिनी होती है, यह बात उन्हें आज ही समझ में आयी थी। विनीत भाव से बोले, "मुझे तो उनकी मंगलमयी योजना का आभास मिल गया, आर्य! आज मैंने देखा है कि सेवा में अपने-आपको खपा देने में क्या आनन्द मिलता है। शरीर थककर चूर हो गया है, पर मन उल्लास से लहक उठा है। ऐसा तो मैंने कभी अनुभव नहीं किया। आपकी आज्ञा से लौट आया हूँ, पर मन अब भी उधर ही लगा हुआ है। आज मैंने जीने का अर्थ समझा है। किसी प्रकार पेट पालना तो मनुष्य-जीवन है ही नहीं, आर्य! आज मेरा नया जन्म हुआ है। मैंने अपने को पाया है। यह सेवा करते-करते प्राण भी चले जाते तो मुझे कोई दुख नहीं होता। और भी सिखाओ आर्य, और भी सिखाओ कि कैसे अपने-आपको उलीचकर निःशेष भाव से दिया जा सकता है!"

चन्द्रमौलि चुप था। वह दादा के परिवर्त्तन को बड़े कुतूहल के साथ देख रहा था। आर्य देवरात की ओर देखकर संयत भाव से बोला, "अभी समाप्त नहीं हुआ है, तात! लगता है नगर में केवल यही उत्पात नहीं हुआ है, और भी हुए हैं और हो रहे हैं। पुराण-ऋषियों ने असुरों के उत्पात का जो दारुण चित्र खींचा है वह यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। इस दारुण विभीषिका को निरस्त करने के लिए ही महादेव का ताण्डव हुआ करता है। अभी असुर-उत्पात का पर्व चल रहा है। इसके बाद ही महाकाल का विकराल ताण्डव होगा। और फिर? उस उद्धत-उत्ताल ताण्डव का अवसान होगा देवी के मंगल लास्य से। असुरों के उत्पात के अपवित्र कर्दम में ही मंगलमयी का प्रफुल्ल शतदल खिलेगा। ताण्डव शुरू हो गया है, लास्य बाद में विलसित होगा!" लास्य! रसभाव-समन्वित ललित नृत्य! माढ़व्य को स्मरण आया कि उन्होंने उज्जयिनी में किसी अवसर पर वसन्तसेना का ललित नृत्य देखा था। उल्लसित होकर बोले, "मेरे तरुण मित्र, वह जो सामने की विशाल

अट्टालिका देख रहे हो न, वही नगर-श्री वसन्तसेना का आवास है। मैंने उसका ललित नृत्य देखा है, सखे! अद्भुत है! समझ नहीं पाया था, पर आनन्द से विह्वल हो गया था। सुना है मित्र, भानुदत्त के गुण्डों ने उसे भी मार डाला है। अब क्या लास्य नृत्य होगा?" माढ़व्य ने लम्बी साँस खींची।

देवरात को धक्का लगा, "क्या कहा दादा, आर्या वसन्तसेना को मार डाला! हाय रे, मैं तो उसका मोहन नृत्य देखने की साध मन में ही सँजोये रह गया! हे भगवान्!"

माढ़व्य ने उचककर देखने का प्रयत्न किया, "लगता है इस भवन के चारों ओर प्रहरी बैठाये गये हैं। पता नहीं, क्या ठीक है आर्य, पर कल कोई बता रहा था कि वसन्तसेना को मार डाला है।" देवरात ने बेचैनी के साथ कहा, "पता लगाना चाहिए, परन्तु अभी नहीं! दिन में निकलने पर कुछ करने का अवसर भी खो देंगे!"

चन्द्रमौलि का मुख-मण्डल मुरझाया-सा लगा। बोला कोई नहीं।

देवरात बहुत क्लान्त थे। रात किस प्रकार उन्होंने अपना बन्धन काटा, यही सुनाते-सुनाते वे सो गये। माढ़व्य सुनते-सुनते सो गये। चन्द्रमौलि ही जागता रहा। कल की सारी घटना पर वह विचार करता रहा। क्यों ऐसा हो रहा है? मनुष्य एक-दूसरे को मारने के लिए इतना व्याकुल क्यों है? यह लूट-पाट, मारा-मारी, अग्निकाण्ड क्या उसकी स्वाभाविक वृत्ति है या किसी प्रकार के आगन्तुक विकार-मात्र हैं? ऐसा किये बिना क्या मनुष्य रह नहीं सकता? क्यों? दिन चढ़ने लगा था। चन्द्रमौलि चुपचाप शून्य की ओर दृष्टि टिकाये खोया-खोया-सा बैठा रहा। एकाएक भयंकर कोलाहल से फिर दिङ्मण्डल विद्ध हो उठा। वसन्तसेना के आवास के निकट भारी जन-सम्मर्द दिखायी पड़ा। देवरात और माढ़व्य, दोनों झटके से उठकर बैठ गये। माढ़व्य ने कान लगाकर सुना। बोले, "लड़ाई हो रही है, आर्य!" तुमुल हर्ष-निनाद का झोंका आया और टीले को कँपा गया—"महामल्ल शार्विलक की जय!" देवरात खड़े हो गये, "शार्विलक! यह तो श्यामरूप का नया नाम है। श्रुतिधर ने बताया था। उठो दादा, शार्विलक आ गया है!"

तेईस

सम्राट् को मथुरा-विजय का समाचार तो मिल गया था, पर उज्जयिनी की ओर भटार्क के नेतृत्व में जो सेना बढ़ी थी, उसका कोई समाचार नहीं मिल रहा था।

मथुरा से नदी के रास्ते आसानी से समाचार मिल जाता था, क्योंकि नावें बहाव की ओर तेज़ी से जाती थीं। प्रयाग तक यमुना की धारा का और बाद में गंगा की धारा का बहाव पाटलिपुत्र की ओर जाता था, पर पाटलिपुत्र से उजान (जलधारा के बहाव की दिशा के विरुद्ध) यात्रा में देर लगती थी। इसके लिए घोड़ों से काम लिया जाता था। उत्तरी भारत के राजपुरुषों को अपने घोड़ों पर गर्व था। वे 'अश्वक्षुरमुद्रांकितभूमि' अर्थात् घोड़ों की टाप से मुहरबन्द की हुई भूमि के अधीश्वर होते थे। इन घोड़ों की दो प्रसिद्ध जातियाँ थीं—शालि और होत्र। 'शालि' शब्द ही प्राकृत में साल, साड़ आदि बन गया था और प्राकृत से पुनः संस्कृत में आकर 'सात' बन गया था। शुरू-शुरू में 'शालिवाहन' और 'सातवाहन' का अर्थ घुड़सवार ही था, पर दक्षिणापथ के पठारों में इस श्रेणी के घोड़े इतने उपयोगी और दुर्द्धर्ष सिद्ध हुए कि दक्षिणापथ के प्रसिद्ध राजवंश को 'सातवाहन' ही कहा जाने लगा। दक्षिणापथ में ये घोड़े जितने उपयोगी सिद्ध हुए, उतने उत्तरापथ के मैदानों में नहीं। वहाँ 'होत्र' अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। होत्र ही प्राकृत में 'घोट' बन गया और आगे चलकर 'घोड़ा' कहलाया। इन दोनों श्रेणी के घोड़ों की देख-रेख और संवर्द्धन के लिए उन दिनों 'शालि-होत्र' नामक शास्त्र विशेष सम्मानित था। युद्ध के समय उत्तरापथ में होत्र-जातीय घोड़े युद्ध-भूमि में लगाये जाते थे और शालि-जातीय घोड़े दूर-दूर तक समाचार पहुँचाने के काम आते थे। सम्राट् समुद्रगुप्त संवाद की संचार-व्यवस्था के लिए इन घोड़ों की उपयोगिता पर भरोसा रखते थे। पर मथुरा के आगे जो मरुभूमि थी, उसमें इन घोड़ों की उपयोगिता उन्हें सन्देहास्पद जान पड़ी। वे समाचार पाने के लिए व्याकुल थे। आर्यक के छोड़कर चले जाने से वे चिन्तित भी थे। कहीं भटार्क आर्यक-जैसा साहसी और विवेकी न निकला तो क्या होगा! वे अपनी उस चिट्ठी को लिखकर आर्यक को रुष्ट करने का प्रमाद कर चुके थे। अब मन-ही-मन पछता रहे थे। उन्हें कभी-कभी झल्लाहट भी होती थी कि आर्यक को बन्धुभाव से जो पत्र लिखा गया, उससे वह इतना रुष्ट क्यों हो गया। क्या सम्राट् का यह कर्त्तव्य नहीं था कि अपने पथभ्रान्त मित्र को उसके प्रमादों से सावधान कर दें? वे स्वयं सोच नहीं पा रहे थे कि किस प्रकार अपनी बात को लौटा लें। लौटा भी लें तो आर्यक कहाँ मिलेगा? पता नहीं, कहाँ गया है यह भावुक युवक!

सम्राट् ने स्वयं मथुरा जाने का निश्चय किया। उनका प्रथम पड़ाव चरणाद्रि दुर्ग में पड़ा। उन्होंने वहीं प्रतिज्ञा की कि भारतवर्ष को एक अखण्ड शासन-सूत्र में बाधेंगे और विदेशियों को ध्वस्त कर देंगे या निकाल बाहर करेंगे। अपनी विजय के बाद प्रयाग में ही अपनी विजय-प्रशस्ति का उद्घोष करेंगे। यह विजय-स्तम्भ प्रयाग में स्थापित होगा। यद्यपि इस समय उनकी राजधानी पाटलिपुत्र में है, पर उनके पितृ-पितामह प्रयाग के निकटवर्त्ती एक छोटे राज्य के अधिपति थे। इसलिए प्रयाग से उनका विशेष मोह था।

उन्हें पता लगा कि कुषाण और शक नरपतियों ने रेगिस्तानी भूमि में संवाद-

संचार व्यवस्था के लिए ऊँटों का प्रयोग शुरू किया था। ये शालि घोटकों से अधिक तेज़ी से संवाद ढोते हैं और मरुभूमि में बिल्कुल थकते नहीं। 'शालि' घोड़ों की अनीकिनी के स्थान पर उन्होंने कम्मेलकों (ऊँटों) की अनीकिनी तैयार करने की आज्ञा दी। यद्यपि यह कम्मेलकों की अनीकिनी थी, पर पुराने अभ्यास के अनुसार लोग इसे भी 'शाल्यनीक' कहते रहे। लोक में घिसकर यह शब्द 'साँडनी' ही बन गया। सो उज्जयिनी से सीधे मथुरा तक संवाद का आदान-प्रदान करने के लिए ये नये 'साँडनी-सवार' दौड़ लगाने लगे। चरणाद्रि दुर्ग से यह व्यवस्था पूरी करके सम्राट् अब मथुरा की ओर बढ़ने की तैयारी करने लगे। अपने राजकवि हरिषेण को आदेश दिया कि सारी विजय-गाथाओं का यथायथ संग्रह करके प्रशस्ति तैयार रखें, ताकि आवश्यकता पड़ने पर यथाशीघ्र प्रयाग में विजय-स्तम्भ खड़ा किया जा सके।

समुद्रगुप्त स्वयं वीर पुरुष थे और वीर पुरुषों का सम्मान भी करना जानते थे। वे दृढ़-चरित्र व्यक्ति थे और सम्पूर्ण देश में दृढ़-चरित्र व्यक्तियों का प्राधान्य स्थापित करना चाहते थे। वे परम्परागत भारतीय जीवन के नैतिक मूल्यों के पोषक भी थे और उन्नायक भी। उन्हें युग-विशेष में नैतिक मान्यताओं के पुनर्वीक्षण पर विश्वास तो था, पर बिना सामूहिक स्वीकृति के किसी भी आचरण को घातक मानने का आग्रह भी था। उन्होंने शास्त्रीय मान्यताओं के पुनर्वीक्षण को प्रोत्साहन भी दिया, परन्तु सम्मर्शी और अलूक्ष विद्वानों की स्वीकृति पाये बिना कोई भी आचार उनकी दृष्टि में उच्छृंखल स्वैराचार-मात्र था। वे क्रमबद्ध सुविचारित आचार-संहिता से शासित समाज को ही उत्तम मानते थे। विदेशी-विधर्मी स्वैराचार को वे घातक समझते थे। उनका विश्वास था कि देश में जो भयंकर कठिनाइयों और पराभवों का ताँता बँध गया है, उसका कारण अविचारित स्वैराचार है। वे स्वयं स्वस्थ गृहस्थ जीवन बिताते थे और दूसरों से भी उसी प्रकार के जीवन-यापन की आशा रखते थे। आर्यक के चरित्र में इन आदर्शों का शैथिल्य देखकर वे क्षुब्ध हुए थे। अब भी वे उस क्षोभ से मुक्त नहीं हो सके। यदि देश के मूर्द्धन्य लोग भी स्वैराचार में लिप्त हो जायेंगे तो साधारण प्रजा को कैसे उस प्रकार के अविचारपूर्ण आचरण से विरत किया जा सकता है? आर्यक को उन्होंने डाँट के पत्र लिखा था। पर उसकी जो प्रतिक्रिया उस पर हुई वह उन्हें विचलित कर गयी। उनके मन में प्रश्न उठा था, क्या ऐसा मानी पुरुष स्वैराचारी हो सकता है? कहीं आर्यक को समझने में उनसे प्रमाद तो नहीं हुआ है? क्या धर्म के विषय में उन्होंने जिस कठोर आस्था का पोषण कर रखा है उसमें कहीं कोई दोष है? क्या नितान्त अल्प-ज्ञात तथ्यों के आधार पर उन्होंने जो निर्णय किया था वह सदोष था? इस प्रकार की उधेड़-बुन में जब वे पड़े हुए थे उसी समय हलद्वीप से पुरन्दर का राजमुद्रांकित पत्र लेकर दूत उपस्थित हुआ। उन्होंने पत्र ले लिया और दूत को यह कहकर विदा किया कि उसे बाद में बुला लिया जायेगा।

यथोचित विनयपूर्वक अभिवादन के बाद पुरन्दर ने हलद्वीप में चन्द्रा के विरुद्ध अभियोग और आचार्य पुरगोभिल की स्पष्टोक्तियाँ लिख दी थीं। यह भी स्पष्ट

लिख दिया था कि आचार्य ने कहा है कि सम्राट् ने एकान्त में जो निर्णय लिया है वह शास्त्र-सम्मत न होने से मान्य नहीं है। उन्होंने यह भी कहा है कि शक और कुषाण राजाओं ने जो विद्वत्सभाएँ करायी हैं उन्हें मँगाकर देख लेना चाहिए और आचार्य की इच्छानुसार इस कार्य के लिए सुमेर काका नामक प्रतिष्ठित नागरिक को उज्जयिनी भेजने की राजाज्ञा भी जारी कर दी गयी है। परन्तु कठिनाई यह हुई है कि गोपाल आर्यक की धर्मपत्नी मृणालमंजरी और चन्द्रा भी काका के साथ उज्जयिनी जाने को व्याकुल हैं। काका भी उन्हें साथ ले जाने को प्रस्तुत हैं। इस सम्बन्ध में महाराजाधिराज सम्राट् की आज्ञा और अनुमति अपेक्षित है। पुरन्दर स्वयं इस प्रकार का जोखिम नहीं उठा सकते क्योंकि उनकी दृष्टि में और हलद्वीप की सारी प्रजा की दृष्टि में सती-शिरोमणि मृणालमंजरी, यद्यपि राजकाज में रुचि नहीं रखतीं फिर भी वे सारे हलद्वीप की मूर्धाभिषिक्त रानी हैं। अगर कहीं कुछ हो जाय तो प्रजा में विद्रोह हो जायेगा।

सम्राट् की भृकुटियाँ कई बार कुंचित हुई। प्राड्विवाक पुरगोभिल के निर्णय से वे मर्माहत हुए। उन्होंने पत्र दो-तीन बार पढ़ा, फिर उसे एक ओर फेंक दिया। वे सोच में पड़ गये। उन्होंने फिर पत्र उठाया। अब उनकी कुंचित भृकुटियों का तनाव कुछ कम हुआ। उन्हें लगा कि अब तक वे पत्र को अपनी मर्यादा से रँगकर पढ़ रहे थे। आचार्य ठीक कहते हैं। यदि सब-कुछ सुविचारित रूप में ही ग्रहण योग्य है और एक व्यक्ति द्वारा सोचा और किया गया आचार स्वैराचार है, तो सम्राट् भी एकान्त में कोई निर्णय नहीं ले सकता। वह भी स्वैराचार ही होगा —सम्मर्शी, अलूक्ष विद्वानों के परामर्श से वंचित निर्णय मात्र स्वैराचार है। ऐसा लगा, उनकी आँखें खुल गयी हैं। उन्होंने आर्यक पर एकान्त का निर्णय लादकर अपराध किया है। उन्हें अपना प्रमाद समझ में आ गया। ठीक है। उन्होंने तुरन्त कर्त्तव्य निर्णय कर लिया। हलद्वीप की रानी, देवरात की दुलारी दुहिता, बन्धु गोपाल आर्यक की सहधर्मचारिणी सती-शिरोमणि मृणालमंजरी आर्यक का पता लगाने उज्जयिनी जायेंगी और समुद्रगुप्त और उसकी पूरी सेना दूर-दूर रहकर उनकी रक्षा करेगी। वे जिसे चाहें साथ ले लें, परन्तु उन्हें पता नहीं चलना चाहिए कि समुद्रगुप्त उनकी रक्षा के लिए साथ-साथ जा रहे हैं। सब व्यवस्था करा दी गयी।

अमात्य पुरन्दर ने बहुत चाहा कि मृणालमंजरी राजकीय सेना के कुछ अंग-रक्षक साथ में ले ले, पर वह राज़ी नहीं हुई। परन्तु अमात्य का यह तर्कपूर्ण अनुरोध वह अस्वीकार न कर सकी कि क्योंकि सुमेर काका बहुत आवश्यक राजकीय पत्र साथ ले जा रहे हैं इसलिए उनकी रक्षा के लिए विश्वस्त मल्लाहों के साथ अच्छी नौका चुनने की अनुमति उन्हें मिलनी चाहिए। फिर यात्रा उजान की, अर्थात् बहाव की उल्टी दिशा की, है इसलिए गुणकर्ष (नाव को रस्सी से बाँधकर खींचने) की आवश्यकता पड़ेगी, अतः कुछ अधिक मल्लाहों की व्यवस्था करने की भी अनुमति मिलनी चाहिए। इस बहाने अमात्य ने मल्लाहों के रूप में तीन-चार

विश्वस्त सैनिक भी बैठा दिये। बड़ी-सी नाव में आठ मल्लाहों के साथ चार यात्री --सुमेर काका, चन्द्रा, शोभन और मृणालमंजरी--मथुरा के लिए रवाना हुए। चरणाद्रि दुर्ग से सम्राट् और उनकी विशाल वाहिनी यथासम्भव किनारे-किनारे सावधानी से निकट रहकर चलने लगी। मृणाल को या किसी अन्य नौका-यात्री को यह बात अज्ञात ही रही। अमात्य पुरन्दर ने इतनी सावधानी और बरती कि आर्यक के अनुचरों की एक छोटी-सी टुकड़ी अलग से एक नाव में चुपचाप पीछे लगा दी।

नाव विन्ध्याटवी को दरेरा देती हुई आगे बढ़ी। विन्ध्याचल के पास पहुँचने पर चन्द्रा ने बताया कि यहीं कहीं बाबा का आश्रम है। मृणालमंजरी ने उत्सुक भाव से कहा कि "दीदी, नाव रोककर एक बार बाबा के आश्रम में हो आया जाये।" सुमेर काका अन्दाज़ा लगाने लगे कि आश्रम का ठीक स्थान कहाँ है। एकाएक नाव रुक गयी। मल्लाह हैरान थे कि नाव आगे क्यों नहीं बढ़ रही है। उन्हें लगा कि नाव के नीचे कुछ रुकावट पैदा हो गयी है। कई मल्लाह पानी में कूद गये और नीचे के अवरोध का अन्दाज़ा लगाने लगे। नदी एक ऊँची पहाड़ी से सटकर जा रही थी। नीचे कोई चट्टान-जैसी चीज़ थी। मल्लाहों की सलाह से सब लोग एक अपेक्षाकृत समतल स्थान पर उतर गये। सोचा गया कि रस्सी से खींचकर नाव को किसी निरापद स्थान पर ले जाया जाय। आगे खींचने पर यात्रियों को चढ़ाना कठिन था, इसलिए पीछे खींचने का निश्चय किया गया। दो मल्लाहों ने पानी में डुबकी मारकर इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया कि अवरोधक चट्टान कहाँ तक है और किस रास्ते जाने से नाव बिना कठिनाई के आगे बढ़ सकेगी।

इसमें थोड़ा समय लग गया। मृणाल ने जीवन में कभी पार्वत्य शोभा नहीं देखी थी। वह थोड़ा और ऊपर उठकर देखने का प्रयत्न करने लगी। शोभन चन्द्रा की गोद में सो रहा था और सुमेर काका मल्लाहों का कौशल देख रहे थे। थोड़ी ऊँचाई पर उठते ही मृणाल मुग्ध हो गयी। प्रकृति ने कितनी कारीगरी दिखायी है! दूर तक जंगली पेड़ों की मनोहर पंक्तियाँ दिखायी दे रही थीं। वन्य-कुसुमों की मदिर गन्ध से प्राण अभिभूत हो रहे थे। पर जिस चीज़ को देखकर मृणाल आश्चर्यचकित रह गयी वह था एक वृद्ध तपस्वी का प्रसन्न मुखमण्डल। मृणाल को याद आया कि चन्द्रा ने जैसा सिद्ध बाबा का रूप बताया था, यह वैसा ही था। निस्सन्देह ये सिद्ध बाबा ही थे। हँस रहे थे। फिर मृणाल को देखकर बोले, "ललिता माता, बूढ़े बच्चे को क्यों याद किया? सब ठीक है न, अम्ब?" मृणाल एकदम अवाक् हो रही। क्या उत्तर दे, समझ में नहीं आया। उधर बाबा हैं कि हँसते जा रहे हैं। वे ही फिर बोले, "बोलती क्यों नहीं वागीश्वरी, याद भी करती है, भूल भी जाती है? ललिता माता को ऐसा ही होना चाहिए! बता, क्या सेवा करूँ!" मृणाल की चेतना लौटी। पैरों पर सिर रख दिया, "दर्शन ही चाहती थी बाबा, आपको बेकार कष्ट दिया!" बाबा ने मृणाल के सिर पर हाथ रखा,

"उठ त्रैलोक्य-सुभगे, तू तो बेटे को कुछ सेवा का अवसर ही नहीं देती। अपने को समझ, जगद्धात्री, गोपाल आर्यक को खोजने जा रही है न ? वही क्यों नहीं कहती? मिलेगा रे! पर उज्जयिनी तक क्यों जायेगी मेरी भोली माता ? मथुरा में ही गोवर्धनधारी मिलते हैं—समझी! मथुरा से आगे न बढ़ना। वहीं कहीं मिलेगा।" मृणाल ने फिर बाबा के चरणों पर सिर रख दिया। बाबा ने प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा, "जा, धर्मशीले, वह नाना आ रहे हैं, तुझे बेटे के पास नहीं रहने देंगे। जा, सुखी होगी!" बाबा ज़रा रुके, "अच्छा, मेरी भुवनेश्वरी माँ, गोपाल आर्यक मिलेगा, तो तू तो उसे अपना सर्वस्व उलीचकर दे देगी, देगी न मेरी अच्छी माँ ? हाँ, तुझमें यह शक्ति है। पर इस बूढ़े बच्चे की ओर से क्या देगी भववल्लभे?" मृणाल क्या कहे ? बाबा हँसते रहे, "नहीं बता सकती मेरी अबोध माता, तू नहीं बता सकेगी। देख, बूढ़े बच्चे को न भूलना। मेरी चन्द्रा माता है न ? उसका हाथ दे देना। कहना, बाबा का प्रसाद है।"

पीछे से सुमेर काका मृणाल का नाम ले-लेकर पुकार रहे थे। बाबा उठकर चल दिये। मृणाल ने देखा ही नहीं कि वे किधर चले गये।

सुमेर काका परेशान दिखते थे, "बिना कहे-सुने तू इधर कैसे आ गयी मैना, चल, नाव ठीक हो गयी।"

मृणाल ने वाष्प-जड़ित कण्ठ से कहा, "काका, सिद्ध बाबा के दर्शन हो गये। बड़ा शुभ दिन है आज। चले भी गये।"

काका चकित हो रहे, "कुछ कहा उन्होंने बिटिया ?"

मृणाल ने कहा, "कह रहे थे, मथुरा से आगे न जाना।" काका सोच में पड़ गये। नाव फिर चली। मृणाल चन्द्रा से सटकर बैठ गयी और सिद्ध से जो बातें हुई थीं, धीरे-धीरे कह गयी। दोनों को रोमांच हो गया। चन्द्रा के मन में प्रश्न उठा, 'सो क्यों'; और मृणाल के मन में उठा, 'कैसे'!

चन्द्रा के मन में दूसरी ही बात थी। वह बाबा से भी कह आयी थी और मृणाल से भी कह चुकी थी कि आर्यक को मृणाल के हाथों सौंपकर वह छुट्टी लेगी। बाबा कहते हैं, मैना ही उसका हाथ आर्यक को देगी, सो भी बाबा का प्रसाद कहकर!

मृणाल ने कभी देने-लेने की बात ही नहीं सोची थी। बाबा को ऐसा कहने की क्या आवश्यकता थी ? ऐसा नाटक वह कैसे रच सकती है ? उसके लिए आर्यक को पा लेना ही सब-कुछ था, पर बाबा एक विचित्र नाटक रचने को कहते हैं! मृणाल भला चन्द्रा का हाथ आर्यक को कैसे दे सकती है ? चन्द्रा ही चाहे तो ऐसा कर सकती है। उसी में मातृत्व के सारे गुण हैं। बाबा ने ऐसी विचित्र सलाह क्यों दे दी!

दोनों गंगा की निर्मल धारा से बही जा रही थीं—उल्टी दिशा में। दोनों के मन में विचारों की धारा भी बहती जा रही थी—शायद उल्टी दिशा में ही। दोनों अपने-आपसे पूछ रही थीं—क्यों, कैसे ?

बाबा की इस उक्ति ने दोनों के हृदय में अभिमान का अंकुर उत्पन्न कर दिया। चन्द्रा ने सोचा, इस प्रकार के अभिनय के पहले ही भगवान् उसे उठा लें तो अच्छा हो। मृणाल ने सोचा, उससे ऐसा अभिनय नहीं हो सकेगा !

चन्द्रा ने ही मौन भंग किया—"ऐसा तू क्यों करेगी मैना ?"

"ऐसा मैं कैसे कर सकती हूँ, दीदी !"

"पर बाबा ऐसा ही तो कह रहे हैं।"

"जान पड़ता है दीदी, मैंने अपने मन के विकारों को ही इस रूप में देखा है। बाबा केवल विकृत मन की माया हैं।"

"नहीं रे भोली, बाबा सत्य हैं। उन्होंने कुछ सोच के ही कहा होगा।"

"बाबा सत्य भी हों तो वे वीतराग पुरुष हैं, उनका सोचना हमारे बारे में प्रमाण नहीं हो सकता !"

"तुझमें साहस देखती हूँ मैना ! मैं इतना साहस नहीं बटोर पाती। मुझे तो कुछ आशंका हो रही है। बाबा कोई बात बिना भविष्य देखे नहीं कह सकते।"

मृणाल को अब आशंका हुई—"क्या कह रही हो दीदी, तुम्हें कैसी आशंका दिखायी दे रही है ?"

मृणाल का मुँह काला पड़ गया। चन्द्रा ने उसे पास खींच लिया। बोली, "आशंका का रूप मालूम हो जाये तो तेरी दीदी उसके प्रतिकार की बात भी सोच सकती है। नहीं मालूम है, यही तो चिन्ता है। पर घबराने की क्या बात है ! जैसी आयेगी, वैसा उपाय किया जायेगा। तू अपनी दीदी पर विश्वास तो करती है न ?" मृणाल ने कहा, "यह भी कोई पूछने की बात है, दीदी !" चन्द्रा ने कहा, "देख प्यारी मैना, तू इतना विश्वास कर कि अब कोई भी अभिमान चन्द्रा अपने मन में जमने न देगी। बाबा ने एक ही साथ हम दोनों की परीक्षा ली है। मेरे मन में सचमुच अभिमान का अंकुर उत्पन्न हो गया था। तेरे हृदय में भी उत्पन्न हो रहा होगा। उखाड़ दे, नष्ट कर दे, उगते ही कुचल दे उसे। मुझे इस अभिमान ने बहुत भरमाया है। मैं इसे उखाड़कर गंगा की धारा में फेंकती हूँ। हाय मैना, स्त्री के चित्त में विधाता ने अभिमान का अक्षय बीज क्यों बो दिया है ! लुटा देने की सारी उमंग इस अभिमान के पौधे से उलझकर बरबाद हो जाती है।"

मैना विस्मय-विस्फारित नयनों से चन्द्रा को देखती रही।

अभिमान का पौधा ! दीदी बता रही हैं कि उनके चित्त में अभिमान का पौधा अंकुरित हो गया था। कैसा होगा यह अभिमान का पौधा ? मृणाल के चित्त में क्या यह अंकुरित नहीं हुआ है ? चन्द्रा का हाथ यदि वह आर्यक के हाथों में दे दे तो क्या यह कार्य सचमुच नाटक होगा ? इस प्रकार सोचने में कहीं उसके अपने हृदय का कोई प्रच्छन्न अभिमान नहीं काम कर रहा है ? बाबा की सलाह से वह इतनी विचलित क्यों हो गयी है ? यहीं कहीं अभिमान का पौधा होना चाहिए। जो बात सदा सोचती आयी है, वही बाबा के मुँह से सुनकर वह विचलित हो गयी ! कहीं-न-कहीं अभिमान का कंटकी वृक्ष उसके मन में अंकुरित अवश्य हुआ है। बाबा के

एक वाक्य ने ही उसे उजागर कर दिया है। दीदी कहती हैं, विधाता ने स्त्री के हृदय में इसका अक्षय बीज बो दिया है। यह रहेगा। इस नारी-काया में से वह जा नहीं सकता। तो फिर विचलित क्यों हुआ जाय?

मृणाल खो गयी है—अपने में आप ही!

नाव चलती जा रही है!

सुमेर काका गुमसुम बैठे हैं।

चौबीस

देवरात ने शार्विलक को असम साहस में उलझा देखा। वह फुर्ती से शत्रुओं का व्यूह-भेद कर रहा था, पीछे सहस्रों नागरिक उसका नाम ले-लेकर तुमुल जय-निनाद कर रहे थे। वे आश्चर्य से देख रहे थे कि शार्विलक की तलवार अवसर पाकर भी नर-हत्या नहीं कर रही है। यह एक प्रकार का आतंक-युद्ध है। महामल्ल का जय-निनाद ही शत्रु-सेना को इस प्रकार फाड़ रहा है जैसे अदृश्य प्रभंजन के झोंकों से मेघ-पटल छिन्न-भिन्न हो रहे हों। रक्त नहीं बह रहा है, विजय की आँधी अवश्य बह रही है। इस अद्भुत युद्ध में शार्विलक की तलवार बिजली-सी चमक रही है—शून्य में। कोई दैवी शक्ति आ गयी-सी जान पड़ती है। देवरात ने और भी आश्चर्य से देखा कि शत्रु-सेना या तो भाग रही है या हाथ उठाकर प्रार्थना कर रही है कि वह शार्विलक के पक्ष में आना चाहती है। नागरिकों का उत्साह बाँध तोड़ देना चाहता है। देवरात का शरीर रोमांचित है। आँखों से आनन्दाश्रु झर रहे हैं। वे अपने-आपको ही सम्हालने का प्रयत्न कर रहे हैं। एकाएक उनमें भी उत्साह का ज्वार आया। नागरिकों की भीड़ के आगे जाकर चिल्ला पड़े, "जय हो श्यामरूप, देवरात का आशीर्वाद ग्रहण करो!" श्यामरूप (शार्विलक) युद्ध में उलझा हुआ था। देवरात की वाणी सुनकर उसका उत्साह चौगुना हो गया। एक क्षण के लिए पीछे मुड़कर देखा—गुरु देवरात ही तो हैं। आनन्दोल्लसित वाणी में बार-बार आशीर्वाद दे रहे हैं और नागरिकों को ललकार रहे हैं। युद्ध में उसके हाथ उलझे हुए थे, पर मन में आनन्द की आँधी बह रही थी। वाणी द्वारा अभिवादन ही सम्भव था। "कृतकृत्य हूँ आर्य, असमय का मूक प्रणाम स्वीकार हो!" नागरिकों को सम्बोधन करके बोला, "बोलो, गुरु देवरात की जय!" नागरिकों के उल्लास में तीव्रता आ गयी, "बोलो, गुरु देवरात की जय!" जो लोग नितान्त निकट थे, उनके अतिरिक्त किसी ने देखा भी नहीं कि गुरु देवरात कौन हैं। किसी

को इधर-उधर देखने की फुरसत नहीं थी। अन्धभाव से चिल्लाते रहे, "गुरु देवरात की जय!" विकट संघर्ष चलता रहा। दूसरी ओर से एक और रेला आया। अप्रत्याशित धावमान जन-सम्मर्द! "गोपाल आर्यक की जय!" इस धावमान भीड़ के धक्के से देवरात बहुत पीछे फिंक गये। डुग्गी पर करारी चोट के साथ घोषणा हुई—"गोपाल आर्यक की जय हो! राजा पालक मार डाला गया! गोपाल को चारुदत्त ने राजटीका दी है। जो लोग गोपाल आर्यक की प्रभुता स्वीकार कर लेंगे, उन्हें पुरस्कृत किया जायेगा। जो विरोध करेंगे, उनका समूल नाश कर दिया जायेगा। महाराज गोपाल आर्यक की जय!" फिर एक बार डुग्गी पर चोट पड़ी—"नागरिक शान्त-भाव से अपने घरों को लौट जायें। जो लोग धर्माचरण के साथ शान्तिपूर्वक रहेंगे उनकी रक्षा का वचन दिया जाता है। जो लोग विद्रोह करेंगे वे कुचल दिये जायेंगे।" डुग्गी पर तीसरी बार ज़ोर की चोट पड़ी। उद्घोषक ने पूरी शक्ति के साथ चिल्लाकर कहा, "बोलो, महाराज गोपाल आर्यक की जय!" शार्विलक ने और भी ज़ोर लगाकर कहा, "बोलो, गोपाल आर्यक की जय!" देखते-देखते सारा वातावरण बदल गया। सैनिकों का बड़ा हिस्सा इधर आ गया था। एक साथ सबने चिल्लाकर कहा, "गोपाल आर्यक की जय!" नागरिकों के जय-निनाद से दिङ्मण्डल फटने लगा। सभी उल्लास से पागल हो उठे। देवरात एकदम पीछे फिंक गये थे। इस उन्मत्त कोलाहल को वे कुतूहल के साथ देख रहे थे। जय-ध्वनि आकाश को कम्पित कर रही थी। देवरात आनन्दोल्लास के झोंकों से निश्चेष्ट रह गये। प्रभो, क्या सुन रहा हूँ! क्या देख रहा हूँ! यह तो अपूर्व है, अकल्पित है, अनवधार्य है! एक ही साथ दोनों शिष्यों के अद्भुत शौर्य और पराक्रम का साक्षी बनाकर तुम क्या कराना चाहते हो! उनके रोम-रोम से आशीर्वाद बरस रहे थे। पर वे आगे न बढ़ सके। जन-सम्मर्द की उल्लासमयी रेलपेल में उनकी ओर देखनेवाला भी कोई नहीं था। वे जड़वत् स्थिर होकर सब-कुछ देखते रहे।

भीड़ को यह देखने की फुरसत नहीं थी कि कौन कहाँ खड़ा है। सामूहिक चित्त व्यक्ति की परवा नहीं करता। देवरात के पीछे से भी भागते हुए लोग आये और भीड़ में शामिल हो गये। कुछ तो बदहवास जान पड़ते थे। देवरात को कई बार धक्का लगा। सब उत्सुक थे, क्या हुआ? कैसे हुआ? न जाने विधाता ने मनुष्य के चित्त में 'क्या हुआ, कैसे हुआ' जानने की कितनी अपार उत्सुकता भर दी है! देवरात निष्क्रिय साक्षी के रूप में यह सब देखते रहे। डुग्गी चारों ओर पिटने लगी थी। एक ही घोषणा कई ओर से कई स्वरों में सुनायी देने लगी। महामल्ल शार्विलक ने आदेश के स्वर में सबको सावधान करते हुए कुछ कहा। भीड़ तेज़ी से राजभवन की ओर भागी। कुछ लोगों ने आवेश में आकर शार्विलक को कन्धे पर उठा लिया। भीड़ और तेज़ी से भागी। देखते-देखते घटना-स्थल जनशून्य हो गया। दूर से दूरतर बढ़ती हुई जय-ध्वनि तब भी सुनायी देती रही। देर तक वे वहीं खड़े रहे—निःसंज्ञ की भाँति!

घटना-स्थल जब एकदम शून्य हो गया तो देवरात की चेतना में थोड़ी हलचल

हुई। दोनों शिष्यों का पराक्रम देख लिया। अब ?

उधर जाने से मोह बढ़ेगा। कल से ही चित्त में आर्यक के सम्बन्ध में जो धिक्कार-भाव घुमड़ रहा है, वह उसे प्रत्यक्ष देखकर क्षोभ, घृणा और क्रोध पैदा कर सकता है। नहीं, वे उधर नहीं जायेंगे।

मृणाल का अदनार मुख हृदय में उदित हुआ। हाय, इस बालिका के साथ कैसा अन्याय हुआ है! पिता को स्मरण करती होगी—इस अपदार्थ पिता को, जो उसके कष्ट में कुछ भी काम नहीं आया। मंजुला की याद आयी—'हाय देवि, तुम्हारी थाती को यह भण्ड देवरात सुरक्षित नहीं रख सका!'

मन में क्षोभ की तरंगें चंचल हुईं। फिर एक बार यौधेय रक्त खौल उठा। धिक्कार है आर्यक के इस शौर्य को! धिक्कार है यौधेय वीर की इस नपुंसक शान्ति को! धिक्कार है इस दिखावटी वैराग्य को! उन्हें मंजुला की छाया स्पष्ट दिखायी दी—'क्षमा करना देवि, देवरात व्याकुल है, कर्त्तव्य-मूढ़ है, तुम्हारी थाती को सावधानी से सुरक्षित न रख सकने का अपराधी है!'

वे स्थिर खड़े न रह सके। ऐसा जान पड़ा, अनेक प्रकार की विक्षोभ-लहरियों के झोंके उन्हें उखाड़कर फेंक देंगे। वे एक स्थान पर बैठ गये। कुछ सूझ नहीं रहा था। प्रतिशोध ? आर्यक से प्रतिशोध ? कैसे हो सकता है ? क्षमा ? इतने भयंकर अपराध के लिए क्षमा ? क्षमा करने का अधिकार भी उन्हें है या नहीं ? वे देर तक संशय और अनिश्चय के हिंडोले में झूलते रहे। 'हाय देवि, तुम्हारा इतना-सा भी काम ठीक से नहीं कर सका! और फिर भी देवरात जीवित है!' वे अर्द्धमूर्च्छित-से बैठे रहे—समस्त इन्द्रिय-व्यापार शिथिल हो गये! दूर दिगन्त में उन्हें एक ज्योति-रेखा दिखायी पड़ी। बिजली की कौंध नहीं थी, इन्द्रधनुष भी नहीं था। बिल्कुल शरच्चन्द्र की कोमल मरीचियों की बटी कमनीय रश्मि। ज्योति-रेखा उतर रही है, एकदम सामने उतर रही है—विचित्र शोभा है। देवरात देख रहे हैं, देख रहे हैं। ऐसा भी प्रकाश होता है! ज्योति-रेखा स्पष्ट दिखायी दे रही है। वह सिमट रही है—स्पष्ट ही सिमट रही है!

देवरात ने देखा—दिव्य नारी!

वे देखकर हैरान हैं। क्या कल्पलोक की कोई अभिराम कल्पना है ? क्या युग-युग से लालित मनुष्य की मनोभवा शोभा है ? क्या अनुभाव-तरंगों से खिंची भावरागिनी है ? देवरात मुग्ध-चकित भाव से देख रहे हैं।

फिर वे एकाएक ससम्भ्रम उठकर खड़े हो गये—'तुम हो देवि, तुम हो—छन्दों की रानी, तालों की नर्मसखी, बासी को ताज़ा करनेवाली पुनर्नवा! तुम हो देवि, क्या देख रहा हूँ शुभे, यह दिव्य शोभा, यह भाव-मूर्त्ति, यह अपूर्व शालीन चारुता! क्या सपना देख रहा हूँ ? भाव-लोक में उन्नमित हुआ हूँ ? हँस रही हो ? शुचिस्मिते, अपराधी को देखकर हँस रही हो मंजुलावयवे! हाय दिव्य रूपे, देवरात पथभ्रान्त हो गया है। अपने में आप ही उलझ गया है! हँसो रानी, खूब हँसो, देवरात हँसते-हँसते सह लेगा!'

'सहना ही पड़ेगा ! देवरात अशक्त है, पंगु है, कर्त्तव्य-मूढ़ है। पुनर्नवे देवि, तुम नित्य-नवीन होकर मानस-पटल पर उदित होती हो। जानतीं नहीं, किस मर्म-वेदना को जगा जाती हो, किस बासी घाव को नया कर जाती हो। देवरात स्वयं मुरझा गया है, उसमें पुनर्नवा के स्वागत करने की क्षमता नहीं है। हँसो मंजुला रानी, खूब हँसो, देवरात हँसने के योग्य ही है !'

भाव-विह्वल अवस्था में वे एकटक दिव्य तेजोमयी मूर्त्ति को देखते रहे— 'धन्य हो पुनर्नवे ! धन्य हो महिमामयी ! आहा, कुछ कह रही हो ? कहो देवि, देवरात का रोम-रोम कान बन गया है। कहो देवि, कुछ कहो, बोलो वागीश्वरी, कुछ तो बोलो !'

'हँस रही हूँ, आर्य देवरात ? ध्यान से देखो, हँस रही हूँ ? अपने चित्त के कलुष को तुम मेरी हँसी समझ रहे हो। ध्यान से देखो आर्य ! तुम्हारे-जैसा विवेकी द्रष्टा मैंने नहीं देखा। आज तुम्हें हो क्या गया है ? तुम्हारे मन में कहीं कोई अनुचित चिन्ता शल्य बनकर चुभ गयी है। निकाल दो उसे, फेंक दो उसे, प्यार करो उसे जो प्यार का अधिकारी है। लोगों से सुनी बातों से विचलित न होओ। तुमसे बहुत पाया है आर्य, यहाँ आकर देने की क्रिया बन्द न करो। तुम पाना चाहते हो ? कैसे पाओगे प्रभो ! भगवान् ने तुम्हें ग्रहीता-भाव दिया ही नहीं है। तुम्हारा स्वभाव देना है, लुटाना है, अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़-कर महा-अज्ञात के चरणों में उँड़ेल देना है। छोटे मुँह बड़ी बात कह रही हूँ प्रभो, क्षमा कर देना ! तुम्हारी ही सिखावन तुम्हें लौटा रही हूँ।···

'भूल गये आर्य, महाभाव का चस्का इस अभाजन को लगाकर स्वयं भूल गये। उठो आर्य, इस अनुचरी ने यदि कुछ अनुचित कहा हो तो क्षमा करना। जीते-जी तुम्हारी भाव-साधना की संगिनी नहीं बन सकी। महाभाव-साधना की संगिनी तो बना लो, आर्य ! इस लालसा ने मुझे बहुत भरमाया है, प्रभो ! तुम्हारे अभिलाष के बन्धन में बँधी हुई हूँ। बार-बार लौटकर आती हूँ। मुक्ति नहीं पा रही हूँ। जिन पर तुम्हारा ध्यान केन्द्रित होता है उनकी कल्याण-कामना के लिए भरमती फिरती हूँ। महाभाव अपने सामने आ-आकर खिसक जाता है। संसार जोर से खींचता है। बुरी तरह खींचता है। पुनर्नवा बनना पड़ता है। पर आर्य, यह तो मेरा सहज धर्म नहीं है !'

'सहज धर्म नहीं है देवि ? अभाजन को क्षमा करना, वह धर्म जो सहज न हो, कष्टदायक होता है। तुम्हें कष्ट हो रहा है। इस अभाजन के लिए यह कष्ट स्वीकार करो, देवि ! पुनर्नवा बनकर नित्य आती रहो ! तुम्हारा थोड़ा कष्ट किसी को हरा कर जाय तो क्या हर्ज है, देवि ! नहीं, तुम नित्य-नवीन होकर हृदय में उतरा करो। नित्य-नवीन होकर, पुनः-पुनः नवीन होकर, मेरी पुनर्नवा रानी ! तुम आती हो दिव्य वेश में, तुम्हारे प्रत्येक पद-संचार से प्राणों का उद्बोधन होता है, मुरझाये अंकुर खिल उठते हैं, कलियाँ चटकने लगती हैं, सारे विश्व-ब्रह्माण्ड में जीवन-रस उमड़ पड़ता है। मेरी शर्मिष्ठा जीवन्त हो उठती है, उसके सूखे अधरों

पर अनुराग की लाली दौड़ जाती है, मुरझाये कपोल कदम्ब-केसर के समान उद्भिन्न हो जाते हैं, तुम शर्मिष्ठा में मिलकर एकमेक हो जाती हो—पुनः नवीन, पुनः जाग्रत, पुनः प्राणवन्त ! रानी, तुम दूसरों को भी पुनर्नवता प्रदान करती हो। यह कष्ट तो तुम्हें उठाना ही पड़ेगा, प्राणवल्लभे !'

'क्या कह रहे हो आर्य, तुम्हारी बातें समझ में नहीं आ रही हैं। कहीं कुछ कसर रह गयी है तुम्हारे भीतर। आओ, मेरे साथ मथुरा चलो। महाभाव में रमो ! यहाँ तुमसे अधिक कुछ नहीं कह सकती। पीहर है यह। मथुरा चलो ! महाभाव के आश्रय के चरणों में सब-कुछ वार दो--मंजुला को भी और शर्मिष्ठा को भी। उठो आर्य !'

'चलूँगा देवि, जहाँ कहो, वहीं चलूँगा। पर इस पुनर्नवा-रूप से वंचित न करना।

'जा रही हो देवि, आँखें अतृप्त ही रह गयीं, प्राण प्यासे ही रह गये। जा रही हो, सचमुच जा रही हो ? मथुरा जा रही हो, वृन्दावन की ओर ? धन्य हो भावरूपे !'

ज्योति ऊपर उठती गयी, पूर्व की ओर। और दूर, और दूर। देवरात पर-कटे पक्षी की भाँति वहीं गिर पड़े। पीछे से किसी ने उन्हें पकड़ लिया और उनका सिर गोद में ले लिया।

माढ़व्य देर से खड़े थे। उन्हें देवरात की ये बातें प्रलाप-जैसी सुनायी दे रही थीं। वे भौचक्के खड़े थे। उन्हें गिरते देख उन्होंने सम्हाल लिया। फिर अपने-आपसे ही बोले, 'सब पागल हो गये हैं। उधर वह किशोर कवि बड़बड़ा रहा है, इधर यह प्रवीण पण्डित बकबका रहा है। आर्यक राजा हुआ है तो कहाँ प्रसन्न होंगे, दोनों पर दुष्ट ग्रह का आवेश आ गया है। यह पुनर्नवा-पुनर्नवा चिल्ला रहा है, वह महाकाल की गुहार लगा रहा है। माढ़व्य को यही तो अवसर था राज-दरबार में जाकर कुछ बना लेने का, पर इन विक्षिप्त मित्रों ने सब गुड़ गोबर कर दिया। क्या हो गया इन्हें ?'

देवरात कुछ सजग हुए। उन्होंने माढ़व्य शर्मा की गोद में अपना सिर पाया। अकचकाकर उठ बैठे। थोड़े लज्जित-से लगे। "कब आये आर्य माढ़व्य ?" माढ़व्य शर्मा ने रुआँसा होकर कहा, "देर से आया हूँ आर्य ! आप जाने क्या-क्या प्रलाप कर रहे थे। उधर चन्द्रमौलि ने जो प्रलाप शुरू किया है उससे घबराकर आपको खोजने आया, तो देखा, यहाँ भी वही काण्ड चल रहा है। मन ठीक है न आर्य !" देवरात इससे और लज्जित हुए, "प्रलाप कर रहा था, दादा ? प्रलाप था वह ? तुमने कुछ देखा नहीं ? क्या देखा, दादा ?" अब माढ़व्य शर्मा को लगा कि यह सचमुच पागल हो गया है—अटट पागल ! झुंझलाकर बोले, "उठो आर्य, तुम्हारे मस्तिष्क में कुछ विकार आ गया है। मैं क्या देखता भला ! देखा कि आप बके जा रहे हैं। शुद्ध प्रलाप ! कैसी पुनर्नवा और कैसी प्राणवल्लभा, किसी ने कोई अभिचार कर दिया है, आर्य ! यह घोर कापालिकों की भूमि है। जल्दी उठो।

हटो भी यहाँ से।"

देवरात ने भीगे स्वर में कहा, "अभिचार नहीं है, आर्य माढ़व्य !"

"अभिचार नहीं तो क्या है, आर्य ! तुम उज्जयिनी को नहीं जानते। महाकाल के इर्द-गिर्द न जाने कितने कापालिक, कितने औघड़, कितने भैरव और कितनी भैरवियाँ घूमती रहती हैं। प्रियजन के उत्कर्ष से प्रसन्न होनेवालों पर अभिचार करना उनका क्रूर परिहास होता है। माढ़व्य तो मूर्ख है। न कभी बहुत प्रसन्न होता है, न बहुत उदास। उस पर उनकी माया नहीं चलती। मूर्खों पर उनका लोभ भी नहीं होता। मेरे दो मित्र हैं। दोनों परम मेधावी। उनकी प्रसन्नता पर वे अपने अभिचार का प्रयोग तो करेंगे ही। उज्जयिनी में मूर्ख ही सुखी रहते हैं, आर्य !"

"ऐसा न कहो आर्य माढ़व्य, उज्जयिनी विद्या की राजधानी है। सिद्धों की तपोभूमि है। तुम जिसे नहीं देख सके वह है ही नहीं, ऐसा क्यों समझ लेते हो ?"

"कैसे न कहूँ तात, सौ बार अनुभव किया है उसे न कहूँ ? जिस समय मैं कारागृह में बेहोश पड़ा था और आग के जलते उल्का-खण्ड आँगन में गिर रहे थे, उस समय अचानक होश में आकर मैं चिल्ला पड़ा था न ? उस समय तुम्हें बताया नहीं, मगर मैंने प्रत्यक्ष देखा, तुम्हारे चारों ओर एक अपूर्व सुन्दरी चक्कर लगा रही है और ऐसा लगता था तुम्हें बचाने की कोशिश कर रही है। मैं इन डाकिनियों की माया जानता हूँ, आर्य ! यह सब नाटक बचाने का नहीं था, तुम्हारे मस्तिष्क के कोमल मांस के खाने का था। वह तो कहो, मैं भय से ज़ोर से चिल्ला उठा। वह एक ओर सटक गयी। लगता है, तभी से वह तुम्हारे पीछे पड़ी है।"

"सच आर्य, तुमने किसी अपूर्व सुन्दरी को देखा था ! कैसी थी वह, बताओ दादा !"

"एक क्षण में तो सब खेल खतम हो गया आर्य, यही कह सकता हूँ कि वैसा सुन्दर रूप मैंने कहीं नहीं देखा, कभी नहीं देखा। सुना है आर्य, कि डाकिनियाँ श्वेत वस्त्र पहनती हैं पर वह लाल कौशेय पहने थी। बिल्कुल आग की लपट के समान लाल कौशेय !"

देवरात ने उत्सुकता के साथ ही पूछा, "तुम्हें आग की लाल-लाल लपटों को देखकर ऐसा भ्रम तो नहीं हुआ, दादा ?" माढ़व्य ने दृढ़ता से कहा, "नहीं आर्य, मैंने प्रत्यक्ष देखा।" देवरात सोच में पड़ गये। हल्का लाल कौशेय ही उन्होंने भी देखा था। वे कुछ बोले नहीं। केवल "हुँ" कहकर रह गये।

माढ़व्य ने कहा, "देखो आर्य, यहाँ कालिकाजी का मन्दिर है। वहीं चलो। उनके दर्शन से ही इस विपत्ति से उद्धार हो सकता है।"

देवरात थोड़ी देर खोये-खोये खड़े रहे। फिर एकाएक बोले, "अच्छा दादा, प्रणाम ग्रहण करो। मैं उज्जयिनी छोड़ रहा हूँ। मथुरा जा रहा हूँ। गोपाल आर्यक मिले तो उसे मेरा आशीर्वाद कह देना।"

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वे एकदम चल पड़े। माढ़व्य आश्चर्य से देखते रह गये। सचमुच मस्तिष्क विकृत हो गया है क्या !

पच्चीस

साँडनी-सवारों की व्यवस्था उपयोगी सिद्ध हुई। सम्राट् को मथुरा पहुँचने के पहले ही समाचार मिल गया कि गाँववालों के प्रतिरोध के कारण उज्जयिनी के कोई दस योजन पहले ही भटार्क को रुक जाना पड़ा है। सम्राट् का कड़ा आदेश था कि चाहे कुछ भी हो जाय, प्रजा का उत्पीड़न न हो। प्रजा के मन में यह भाव कभी नहीं आना चाहिए कि सम्राट् समुद्रगुप्त भी शक-शासकों के समान ही प्रजा का उत्पीड़न करनेवाला है। उधर भानुदत्त के दुर्वृत्त सेवकों ने गाँव-गाँव जाकर यह प्रचार किया कि भटार्क ने चण्डसेन को बन्दी बनाकर पाटलिपुत्र भेज दिया है। इस सेना ने गाँव-के-गाँव जला दिये हैं और स्त्रियों और बच्चों पर अमानुषिक अत्याचार किये हैं। भटार्क कर्त्तव्य-परायण स्वामिभक्त सैनिक था। उसे न तो इस प्रकार की किसी कूटनीति का ज्ञान ही था, न उसकी इस प्रकार की नीतियों में कोई रुचि ही थी। मथुरा से आगे बढ़ता हुआ वह चर्मण्वती के ढूहों में पहुँचा। रास्ता विकट था। उसकी सेना का एक हाथी किसी किसान के खेत में पहुँच गया। खेत नष्ट हो गया। गाँववालों ने ढेला मार-मारकर हाथी और उसके महावत की दुर्गति कर दी। हाथी टीलों की ऊँचाई पर चढ़े लोगों का कुछ बिगाड़ नहीं पाता था जबकि निरन्तर ढेला-वर्षण से वह अधमरा हो गया। किसी प्रकार महावत उसे भगाकर सेना के पड़ाव पर ले आया। सैनिकों में इस घटना से उत्तेजना फैली। उनकी गाँववालों से रार हो गयी। वहाँ तो उन्होंने उन्हें दबा दिया, पर बाद में सेना को भयंकर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। सैनिक भी उन्मत्त हो उठे।

भटार्क को जब यह मालूम हुआ तो अभियान रोक दिया। ग्राम-वृद्धों को बुलाकर उनके अभियोग सुने और आश्वासन दिया कि सेना उनकी जीवन-चर्या में कोई व्याक्षेप नहीं होने देगी। उन्होंने सम्राट् की इस इच्छा की भी घोषणा की कि उनकी सेना प्रजा का विश्वास अर्जन करना चाहती है; समाज में शास्त्र-सम्मत आचरण की प्रतिष्ठा और स्वाधीनता देती है; धर्म-विरुद्ध काम करनेवालों को दण्ड देना चाहती है। सम्राट् प्रजा के सुख को ही अपना सुख मानते हैं। इस बात से ग्राम-वृद्ध सन्तुष्ट हुए, पर जब उन्होंने बताया कि विदेशी शासन के एकमात्र धर्मप्राण प्रजावत्सल महानुभाव चण्डसेन को सम्राट् की सेना ने बन्दी बनाया है,

प्रजा उनकी मुक्ति चाहती है, तो भटार्क भौचक्के रह गये। वे किसी प्रकार यह विश्वास नहीं दिला सके कि यह समाचार झूठा है। ग्राम-वृद्धों को आश्वासन दिया कि वे शीघ्र ही इसके वास्तविक रहस्य का पता लगायेंगे। भटार्क इस प्रकार के अप-प्रचार का रहस्य नहीं समझ सके। उन्होंने अभियान कुछ समय के लिए स्थगित करके इस समाचार का रहस्य जान लेने का प्रयास किया। उज्जयिनी-विजय का निश्चित कार्यक्रम पालित नहीं हो सका। जैसे ही उन्हें समाचार मिला कि सम्राट् मथुरा आ रहे हैं, उनकी इच्छा है कि वे स्वयं उज्जयिनी-अभियान का नेतृत्व सम्हालेंगे—तो भटार्क को कुछ चिन्ता हुई। यह एक प्रकार से उनके नेतृत्व में सम्राट् का अविश्वास प्रकट करता था।

जिस समय वे इस प्रकार चिन्तित थे, उन्हीं दिनों समाचार मिला कि उज्जयिनी में विद्रोह हो गया है और गोपाल आर्यक ने राजा को मारकर शासन-सूत्र सम्हाल लिया है। इस समाचार ने जनपद में भारी उत्साह फैला दिया। ग्राम-वृद्धों ने स्वयं आकर निवेदन किया कि वे गोपाल आर्यक की सहायता करने में कुछ उठा न रखेंगे। उस समय तक जनपद में गोपाल आर्यक को अवतारी पुरुष मान लिया गया था। गाँवों में इस प्रकार के लोक-गीत गढ़ लिये गये थे कि जिस प्रकार जल-मग्न धरित्री का उद्धार महावराह ने किया था, उसी प्रकार कुशासन में डूबे हुए देश का उद्धार गोपाल आर्यक करेगा। समाचारों में इस प्रकार की जनश्रुतियाँ भी थीं कि शार्विलक मल्ल ने राजश्यालक भानुदत्त को पकड़ लिया है। यह समाचार भी तेज़ी से फैला था कि भानुदत्त ने चण्डसेन को वन्दी बनाया था। शार्विलक उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न कर रहा है। भटार्क को नया उत्साह आया और सेना को आदेश दिया कि सम्राट् के मथुरा पहुँचने के पहले ही उज्जयिनी पहुँचकर गोपाल आर्यक की सहायता की जाय। सेना दुगुने उत्साह से आगे बढ़ी। प्रतिरोध समाप्त हो गया था। उज्जयिनी पहुँचने में कोई विलम्ब नहीं हुआ।

भटार्क की सेना वज्र-वेग से बढ़ी जा रही थी। हाथियों की प्रचण्ड वाहिनी घनघुम्मर घटा के समान फैलती दिखायी दे रही थी। घोड़ों की टापों के आघातों से धरती काँप रही थी और पदातिक सैन्यों के द्रुत संचार से उड़ी हुई धूल से दिङ्मण्डल धूसरित हो उठा था। सेना उज्जयिनी के उपकण्ठ तक प्राय: पहुँच चुकी थी। उसी समय शार्विलक चण्डसेन को कारागार से मुक्त कर उज्जयिनी की ओर ले जाने की तैयारी कर रहा था। शार्विलक के साथियों ने भानुदत्त को पकड़ लिया था। प्राण-भय से उसने शरणागति का अनुरोध किया था। उसी के बताये अनुसार नगरोपकण्ठ के एक जीर्ण गृह से चण्डसेन को मुक्त किया गया था। शार्विलक को ज्यों ही पता लगा कि चण्डसेन को अमुक स्थान पर हाथ-पैर बाँध-कर डाल दिया गया है, वह एक क्षण का विलम्ब किये बिना वहाँ पहुँचा था। चण्डसेन को उसने बुरी हालत में देखा। उनके दोनों हाथ पीठ की ओर ले जाकर बाँध दिये गये थे और पैरों में भी कठोर बेड़ियाँ डाल दी गयी थीं। वे औंधे मुँह अर्द्धमृत-अवस्था में पड़े थे। एक मुहूर्त्त का विलम्ब हुआ होता तो वे जीवित न

मिलते। शार्विलक ने उनके बन्धन खोले थे और देर तक उपचार करके उनकी चेतना लौटाने का प्रयत्न किया था। जब वे कुछ स्वस्थ हुए तो उन्हें लेकर उज्जयिनी की ओर धीरे-धीरे ले चलने का निश्चय किया गया। अभी वह चण्डसेन को लेकर प्रस्थान के लिए तैयार ही हुआ था कि विशाल सेना के कोलाहल और जय-निनाद को देखकर घबरा गया। वह समझ नहीं पा रहा था कि यह विशाल सेना किसकी है और एकाएक उज्जयिनी की ओर जाने का उसका उद्देश्य क्या है। एक बार उसके मन में आशंका हुई कि कहीं यह सेना पालक के किसी मित्र की तो नहीं है। वह विचित्र संकट में फँसा-सा जान पड़ा। किसी ओर भाग निकलने का मार्ग भी नहीं था और चण्डसेन की हालत इतनी खराब थी कि उनको दौड़ाना असम्भव था। शार्विलक गहरी चिन्ता में पड़ गया। उसके साथ जो दो-चार सैनिक आये हुए थे, वे और भी घबरा गये। क्या किया जाय, कैसे इस अप्रत्याशित विपत्ति से बचा जाय! कुछ सूझ नहीं रहा था।

सोच-विचार के लिए अधिक समय नहीं था। शार्विलक ने अपने साथी से कहा कि तुम पता लगाओ कि सेना किसकी है। इस समय मेरा प्रधान कर्त्तव्य है, मुमूर्षु अन्नदाता को सुरक्षित स्थान पर ले जाना। सीधे नदी की ओर भागने से ही रक्षा की कुछ क्षीण सम्भावना है। उसने चण्डसेन को अपनी पीठ पर बाँधा। उसके साथियों ने इस कार्य में उसकी सहायता की। फिर उसने तलवार की मूठ कसकर हाथ में पकड़ ली और वायु-वेग से नदी-तट की ओर दौड़ा। उसके साथी भी उसके पीछे-पीछे दौड़े। दो तो थककर बीच में ही रुक गये, पर एक अधिक बलवान् सिद्ध हुआ। वह शार्विलक के पीछे-पीछे चलता गया। नदी-तट उतना निकट नहीं था जितना शार्विलक ने सोचा था। पर लगातार दौड़ लगाने से उस लम्बी दूरी को भी वह शीघ्र ही पार कर गया। नदी-तट पर पहुँचकर उसने पीछे की ओर देखा। विशाल सेना बहुत निकट आ गयी थी। लोग भय से व्याकुल थे। सबके मन में आशंका थी कि न जाने क्या होनेवाला है। इधर-उधर भाग-दौड़ और चीख-चिल्लाहट मची हुई थी। स्त्रियों और बालकों की चिल्लाहट से वातावरण फट रहा था। नदी में कूदने से पहले शार्विलक ने इस असहाय क्रन्दन को सुना, उसके पैर रुक गये। इतने असहाय लोगों को छोड़कर भाग जाना क्या उचित है? एक ओर अन्नदाता की प्राण-रक्षा और दूसरी ओर असंख्य भय-व्याकुल लोगों को ढाढ़स बँधाना। दोनों में कौन-सा कर्त्तव्य उसे चुनना चाहिए? तर्क की ओर झुकनेवाली बुद्धि ने कहा—क्या कर लोगे अकेले इतनी विशाल सेना के सामने? भावना की ओर झुकनेवाली मानस-प्रतीति ने कहा—असहाय स्त्री-पुरुषों और बच्चों को ढाढ़स देते समय मर जाना भी श्रेयस्कर है! क्षण-भर उसे निर्णय करने में दुविधा हुई, पर दूसरी भावनोन्मुखी वृत्ति ही विजयी हुई। चण्डसेन को पीठ पर से खोलकर एक वृक्ष-तले लिटाया। साथी से पानी माँगा। उनके मुख पर ठण्डे पानी के छींटे दिये और फिर अपने साथी को उनकी देखरेख के लिए छोड़कर वह लौट पड़ा। बच्चों, बूढ़ों, स्त्रियों को आश्वासन दिया, "घबराने की

कोई बात नहीं है। इधर देखो, शार्विलक अपनी तलवार के साथ तुम्हारे पास खड़ा है। शान्त भाव से सब लोग नदी के किनारे आ जाओ। तुम्हारी रक्षा यह शिव की दी हुई तलवार करेगी।" सर्वत्र बात फैल गयी।

एक बार फिर महामल्ल शार्विलक के जय-निनाद से वायु-मण्डल विद्ध हो उठा। स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को एक ओर कर दिया गया। बहुत-से युवक और प्रौढ़, जो अब तक भगदड़ मचाये हुए थे, शार्विलक के पीछे आकर खड़े हो गये। उसके पीछे छूटे दोनों साथी भी आ गये। जिसके हाथ में जो भी लगा वही लेकर वह सिंहनाद करके गरज उठा—"महामल्ल शार्विलक की जय!" देखते-देखते एक छोटी-मोटी प्रतिरोधक सेना तैयार हो गयी। किसी को यह विश्वास नहीं था कि उनकी टुकड़ी इतनी बड़ी सेना के सामने अधिक देर तक टिक सकेगी, परन्तु सबके मन में शार्विलक की यह वाणी ब्रह्मलीक की तरह खिच गयी थी—"भय से भागते हुए मत मरो, मरना ही है तो लड़ के मरो!"

सेना की अगली हरावल में स्वयं भटार्क अश्ववाहिनी का नेतृत्व कर रहे थे। अब तक उन्हें किसी प्रकार के प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। एकाएक उज्जयिनी के उपकण्ठ में एक प्रतिरोध को देखकर वे सजग हुए। उन्होंने समझा कि पालक की सेना प्रतिरोध के लिए उपस्थित है। उन्होंने एक क्षण रुककर इस प्रतिरोधक वाहिनी का ठीक-ठीक अन्दाज़ा लगा लेने का प्रयास किया। सेना में जो जहाँ था उसे वहाँ ही रुक जाने का आदेश दिया। सेना के सहस्रों जवान इस प्रकार रुक गये, जिस प्रकार उमड़ती हुई जलधारा किसी दुर्लंघ्य चट्टान से टकरा गयी हो। आगे के आदेश की प्रतीक्षा में हठात् रुकी हुई सेना भटार्क के इंगित पर एक साथ गरज उठी—"गोपाल आर्यक की जय!" शार्विलक ने इस गगनविदारी ध्वनि को सुना, पर स्पष्ट रूप से समझ नहीं सका कि किसकी जय बोली जा रही है। उनके एक साथी ने उत्तर में "महामल्ल शार्विलक की जय" का नारा लगाया। दोनों ओर थोड़ी देर तक जय-निनाद होते रहे। इसी समय शार्विलक का पहला साथी दौड़ता हुआ दोनों हाथ ऊपर उठाकर चिल्लाया, "रुक जाओ, अपनी ही सेना है!" शार्विलक ने आश्चर्य के साथ पूछा, "किसकी सेना है?" साथी ने ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहा, "ये लोग गोपाल आर्यक की जय बोल रहे हैं।" शार्विलक ने पूछा, "सेनापति का नाम मालूम हुआ या नहीं?" साथी ने कहा, "कहते हैं उसका नाम गोपाल आर्यक ही है।" शार्विलक हैरान! फिर उसे मथुरा के ब्राह्मण पुजारी की याद आयी। वृद्ध ने कहा था—'धन्य है भटार्क, देश पर देश जीतता आ रहा है। पर अपना नाम कहीं नहीं आने देता। सब-कुछ गोपाल आर्यक के नाम पर कर रहा है।' उसे अब रहस्य का कुछ अनुमान हुआ। परीक्षा के लिए उसने अपने साथियों को ललकारा, "बोलो, सेनापति भटार्क की जय!" शताधिक कण्ठों से आवाज़ निकली, "सेनापति भटार्क की जय।" भटार्क को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सेना को रुके रहने का आदेश देकर घोड़ा दौड़ाया। आगे बढ़कर बोले, "मैं भटार्क हूँ। अगर आप लोग गोपाल आर्यक के साथी हैं तो निर्भय होकर हमारे पास आ

जायें।" इस समाचार से शार्विलक को रोमांच हो आया। आगे बढ़कर उसने कहा, "सेनापति भटार्क, गोपाल आर्यक के बड़े भाई श्यामरूप शार्विलक का प्रेमाभिवादन स्वीकार करें!" भटार्क घोड़े से कूद पड़ा––"आर्य शार्विलक, महामल्ल शार्विलक, हमारे सेनापति के अग्रज शार्विलक, मैं धन्य हूँ! मैंने आपकी कीर्त्ति-गाथा सुनी है।" कहकर वे शार्विलक से लिपट गये। उनका शरीर रोमांच-कण्टकित था, आँखें अश्रुपूर्ण। शार्विलक की भी यही दशा थी। दोनों दीर्घकाल से बिछुड़े सहोदर भाइयों के समान मिले।

शार्विलक से उज्जयिनी के समाचार पाकर भटार्क आश्वस्त हुए, पर जब उन्होंने सुना कि राजश्यालक भानुदत्त ने चण्डसेन को यहीं कहीं बाँध के बिना अन्न-पानी के छोड़ दिया था और उन्हीं का उद्धार करने के उद्देश्य से शार्विलक यहाँ आये थे, तो म्लान हो गये। शार्विलक ने उन्हें बताया कि किस प्रकार राजभवन के पास आर्यक ने पालक को मारा और स्वयं आर्य चारुदत्त के साथ राजभवन में प्रवेश किया। उधर भानुदत्त के गुण्डों ने आर्य चारुदत्त के घर में आग लगा दी और सारा नगर जल उठा था। फिर किस प्रकार प्रातःकाल वह नगर में पहुँचा, नागरिकों की सहायता से नगर-श्री वसन्तसेना को मूर्च्छित अवस्था में छुड़ाया और किस प्रकार नागरिकों के मुख से गोपाल आर्यक की विजय-कथा सुनकर और शत्रुओं के नये सिरे से व्यूहबद्ध होकर राजभवन जाते समय नागरिकों ने उसके साथ मिलकर प्रतिरोध किया और शत्रु-सेना को परास्त किया। भटार्क उत्सुकतापूर्वक यह कहानी सुनते रहे। उपसंहार में शार्विलक ने बड़े दुख के साथ बताया कि अभी तक इतने दिनों के बिछुड़े भाई से वह मिल नहीं सका है। बीच में कुछ ऐसी घटना हो गयी कि राजभवन में प्रवेश करते ही उसे लौट आना पड़ा। जिस समय वह राजभवन में प्रविष्ट हुआ उसी समय उसने दो व्यक्तियों को सन्दिग्धावस्था में बातचीत करते पाया। उन्हें तुरन्त बन्दी बनाया गया और कुछ नागरिकों ने उन्हें पहचान भी लिया। उज्जयिनी में ये दोनों व्यक्ति—जय और विजय—भानुदत्त के दाहिने और बायें हाथ समझे जाते थे। इन्हें अनेक प्रकार के भय दिखाये जाने पर इस रहस्य का पता लगा कि भानुदत्त वहीं अन्तःपुर के एक गुप्त कक्ष में छिपा हुआ है। संयोग से वहीं आर्य चारुदत्त से भेंट हो गयी। वे रात-भर राजभवन की रक्षा में लगे रहे। उन्हीं से पता लगा कि आर्यक और आर्य चारुदत्त की पत्नी धूतादेवी राजभवन के एक साधारण-से कक्ष में पड़े हुए हैं और चारुदत्त के विश्वस्त नागरिकों के पहरे में सुरक्षित हैं। नगर के उपद्रव की बात उन तक पहुँची भी नहीं है। उन्हीं के परामर्श से विश्वस्त नागरिकों की पत्नियों की सहायता से भानुदत्त पकड़ लिया गया। उसे बाँधकर आर्य चारुदत्त की देखरेख में छोड़ दिया गया है। उसी से चण्डसेन का पता पाकर वह सीधे यहाँ आ गया है। घटना-चक्र के इस तीव्र गति से घूमने में सारी रात बीत गयी और दूसरा दिन भी समाप्त हो गया। कल सन्ध्या-समय वह चण्डसेन का पता लगा सका। वे मर ही गये होते, यदि वह चार विश्वासी नागरिकों के साथ वहाँ पहुँच नहीं गया होता। पूरे दस दण्डों के उपचार के बाद उनको थोड़ी

चेतना आयी है। रात-भर उनका संवाहन हुआ है। बड़ी कठिनाई से उनके मुँह में थोड़ा पानी पहुँचाया जा सका। एक स्थानीय वैद्य से थोड़ा-सा रसायन प्राप्त हुआ है, उसी से उनकी चेतना लौटी है। पर वे एकदम दुर्बल हो गये हैं। उन्हें उज्जयिनी ले जाने की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं हो पायी थी। इसी बीच इस सेना को देखकर वह और उसके साथी डर गये और शार्विलक ने उन्हें पीठ पर बाँधकर नदी पार करना चाहा, पर स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों की भयार्त्त वाणी सुनकर उन्हें नदी-तट पर छोड़कर उनकी रक्षा करने का आश्वासन देना पड़ा। शार्विलक ने प्रसन्नता के साथ उपसंहार करते हुए कहा, "अब यह जानकर बड़ा आनन्दित हूँ कि यह सेना अपनी ही सेना है! तात भटार्क, मुझे आर्यक के विषय में चिन्ता बनी हुई है। आर्या वसन्तसेना को भी प्रायः मरणासन्न अवस्था में छोड़ आया हूँ। तुम शीघ्र नगर में प्रवेश करके दोनों की सुरक्षा की व्यवस्था करो। मुझे आर्य चण्डसेन को सम्हालने जाने दो। पता नहीं, इस बीच उनकी क्या स्थिति है।"

भटार्क भी थोड़ा चिन्तित हुए परन्तु उन्होंने शार्विलक को रोकना चाहा। "आर्य, आप जैसा कहते हैं वैसा ही होगा। परन्तु आर्य चण्डसेन को सुरक्षित उज्जयिनी पहुँचाने के लिए गोपाल आर्यक का यह अनुचर सब व्यवस्था कर देगा। मुझे आपके सान्निध्य की आवश्यकता होगी। मैं अभी राजभवन की और नगर-श्री वसन्तसेना की सुरक्षा की उचित व्यवस्था करता हूँ। आपकी कहानी से स्पष्ट है कि आप कई दिनों से केवल लड़ते ही आ रहे हैं। अब अपने सेवक पर विश्वास कीजिये। मेरे साथ चलिए और थोड़ा विश्राम कीजिये।" शार्विलक भटार्क की इस विनम्रता और मृदुभाषिता से बहुत प्रीत हुआ, पर उसने दृढ़ता के साथ कहा कि चण्डसेन की मानसिक स्थिति बहुत चिन्ताजनक है। सम्राट् के सेनापति को देखकर, पता नहीं, उनके मन में क्या भाव आये। इसलिए उनके निकट शार्विलक का रहना परम आवश्यक है। बातचीत में अधिक समय नष्ट करना उचित न समझकर भटार्क ने एक हाथी की व्यवस्था चण्डसेन के लिए की और सेना की एक टुकड़ी उज्जयिनी रवाना कर दी और आज्ञा दी कि तुरन्त नगर में घोषणा कर दी जाय कि "सम्राट् की विशाल वाहिनी, जिसके नेता गोपाल आर्यक हैं, नगर में प्रवेश कर गयी है। किसी को भय पाने की आवश्यकता नहीं है। बालक, युवक, महिलाएँ, वृद्ध जन, अनाथ और असहाय आश्वस्त हो जायें। जो लोग अशान्ति पैदा करेंगे, उन्हें कठोर दण्ड दिया जायेगा। जो लोग गोपाल आर्यक के पक्ष में होंगे उनकी रक्षा की जायेगी और पुरस्कृत किया जायेगा। मृत राजा के जो भृत्य गोपाल आर्यक की ओर लड़ रहे हैं या लड़ेंगे, उन्हें सम्राट् उचित पुरस्कार देंगे। जो विरोध करेंगे उन्हें समूल ध्वंस कर दिया जायेगा।" फिर वह शार्विलक के साथ वहाँ पहुँचे जहाँ चण्डसेन मुमूर्षु अवस्था में पड़े थे। उन्हें यह देखकर प्रसन्नता हुई कि वे अब स्वस्थ हो आये थे। यद्यपि अब भी वे संज्ञा-शून्य-से ही थे।

शार्विलक ने चण्डसेन का हाल-चाल पूछा। उनकी शारीरिक अवस्था में पर्याप्त सुधार देखकर भटार्क का परिचय दिया और बताया कि सेनापति ने उन्हें

उज्जयिनी पहुँचाने के लिए हाथी की व्यवस्था कर दी है। क्षण-भर वे फटी-फटी आँखों से देखते रहे, फिर एकाएक उनका मुख-मण्डल क्रोध और क्षोभ से लाल हो उठा। बोले, "सम्राट् समुद्रगुप्त के सेनापति भटार्क, तुम मथुरा-विजय के मद से अन्धे होकर क्या मथुरा के शासक-वंश का उपहास करना चाहते हो? भली भाँति समझ लो कि मैं तुम्हारा शत्रु हूँ। मथुरा और उज्जयिनी के शासकों ने मेरी बात नहीं मानी, मुझे अपमानित किया और मुझे मार डालने में कुछ भी नहीं उठा रखा, यह सब सत्य है, फिर भी चण्डसेन का यह झगड़ा घरेलू झगड़ा है। बाहर के शत्रुओं के लिए चण्डसेन सदा प्रचण्ड शत्रु ही बना रहेगा। मुझे असहाय और विपन्न देखकर मेरे ऊपर दया मत करो। चण्डसेन शत्रु से दया की भीख नहीं माँगेगा। तुम यहाँ से चले जाओ। अच्छा हो कि जाने के पहले विपदावस्था में पड़े हुए अपने प्रबल शत्रु को समाप्त करते जाओ।"

इस उत्तर से शार्विलक स्तब्ध रह गया। उसे अपने धर्मपरायण उदार स्वामी से ऐसी आशा नहीं थी। वह समझता रहा कि चण्डसेन के साथ दुर्व्यवहार करने-वालों के विरुद्ध संघर्ष करके उसने स्वामी की वास्तविक सेवा की है। अब वह सोचने लगा कि उज्जयिनी में किये गये उसके कार्यों के बारे में स्वामी क्या सोचेंगे! कदाचित् कृपा के स्थान पर उसे कोप मिलेगा।

भटार्क उतना विचलित नहीं हुआ। पिछले अभियान के बीच उसने कितने ही प्रभावशाली राजवंशियों से ऐसे और इससे भी अधिक कठोर वाक्य सुने थे और दृढ़तापूर्वक उनको भय दिखाकर वश में किया था। आज भी उसकी शक्ति वैसी ही है। मृदु-विनीत भाषा में छन्दानुरोध उसका पहला अस्त्र होता था, प्रलोभन दूसरा और कठोर दण्ड की धमकी तीसरा। पहले उसने प्रथम अस्त्र का प्रयोग करना उचित समझा। चण्डसेन के बारे में उसने जो कुछ सुन रखा था, उससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि चण्डसेन पर अन्तिम दो अस्त्रों का प्रयोग कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। पहला अस्त्र अर्थात् मृदु-विनीत भाषा से उसका मन जीतना ही एकमात्र उचित अस्त्र था। आरम्भ में जैसी उनकी प्रतिक्रिया होगी, उसे देखकर ही आगे की बात सोची जा सकती है। वस्तुतः उसके मन में चण्डसेन के प्रति श्रद्धा का भाव भी था।

भटार्क ने मृदु-विनीत स्वर में कहा, "आर्य चण्डसेन के उपयुक्त वचन हैं। मथुरा में प्रवेश करने के पूर्व से ही प्रजावत्सल, धर्मपरायण, गुणियों के कल्पतरु आर्यपाद का नाम सुनता आया हूँ। यह जाँच करके मैंने अच्छी तरह देख लिया था कि अधर्म-परायण शासन आर्यपाद का अपमान करता रहा है, पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम करता रहा है और आर्यपाद को मार डालने का षड्यन्त्र करता रहा है। सम्राट् समुद्रगुप्त ऐसे महानुभावों से मित्रता स्थापित करना चाहते हैं। वे पूरी कुमारिका-भूमि में धर्म का राज्य स्थापित करना चाहते हैं। वे किसी राज्य पर अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित करना चाहते। वे अधर्माचरण करनेवाले का उच्छेद और धर्म के अनुकूल आचरण करनेवालों की मैत्री चाहते हैं। आर्यपाद यह कभी

न समझें कि वे किसी राजकुल-विशेष के विरुद्ध प्रतिशोध चाहते हैं, उनकी इच्छा केवल इतनी है कि इस पुण्यभूमि में धर्म-सम्मत विधि-व्यवस्था का प्रभुत्व हो। सोचें आर्य, यह कुमारिका द्वीप (भारतवर्ष) है। तपोनिरता कुमारी पार्वती ने धर्म की रक्षा के लिए ही कैलास से कुमारिका अन्तरीप तक जाने का कष्ट उठाया था। उनके पवित्र चरणों से लांछित होने के कारण ही न यह आसमुद्र-विस्तीर्ण देश इतना पवित्र हो सका है। उस देश में यदि कोई राजवंशीय पुरुष अनाचार में रत हो जाय, आप-जैसे महान् धर्म-परायण साधु पुरुष के विरुद्ध षड्यन्त्र करे, तो क्या धर्म की रक्षा हो सकेगी? कौन दण्ड देगा ऐसे मदगर्वित मदान्ध लोगों को? सम्राट् का विजय-अभियान ऐसे ही दुर्मद लोगों का नशा उतारने के लिए है। आप जैसे महानुभाव तो सम्राट् के परम मित्र हैं। शत्रु कैसे हो सकते हैं आर्य? आपसे शत्रुता का भाव रखना तो धर्म के प्रति ही शत्रुता रखना है। नहीं आर्य, आप हमारे शत्रु नहीं हैं, परम मित्र हैं।"

भटार्क की मृदु-विनीत वाणी का कुछ शामक प्रभाव पड़ा। चण्डसेन की कुंचित भृकुटियों का तनाव कम हुआ। उन्होंने पूछा, "तुम्हारी बातें तो विनय-मधुर हैं। पर इसका क्या यह अर्थ नहीं होता कि सम्राट् सैन्य-बल से विभिन्न राजवंशों का उन्मूलन करके उनको एक शासन के अन्तर्गत लाना चाहते हैं? मित्रता तो समानों में हो सकती है न? मेरे-जैसा निःसंबल मनुष्य परम शक्तिशाली सम्राट् का कैसे मित्र हो सकता है?" चतुर भटार्क ने बीच में बात रोक ली, "हो सकता है, आर्य चण्डसेन, हो सकता है। आप असहाय और निःसम्बल कैसे हैं? सम्राट् के सोचने का ढंग वही नहीं है जो इस समय आपके मन में है। सम्राट् उन लोगों को अपना समानधर्मा मानते हैं जिनकी धर्म के प्रति, धर्म-सम्मत आचरण के प्रति, इस महान् देश की जनता और भूमि की पवित्रता के प्रति उसी प्रकार की भावना है जिस प्रकार की उनके मन में है। मैंने आपका यश सुना है और सम्राट् को निकट से जानने का अवसर पाया है। मेरा विश्वास है आर्य, कि आप-जैसे धर्मप्राण महानुभाव से उनकी मैत्री बहुत उपादेय सिद्ध होगी।"

चण्डसेन ने भटार्क की ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा, "तुम्हारा कहना ठीक हो सकता है सेनापति, पर मथुरा और उज्जयिनी पर अधिकार कर लेने के बाद इस कथन में क्या सार रह जाता है? एक विजित राजवंश को उच्छिन्न करके उसके किसी सदस्य से मैत्री का अर्थ क्या उसकी स्वाधीनता ले लेना नहीं है! और परतन्त्र मित्र और दास में अन्तर ही क्या रह जाता है?" भटार्क ने कहा, "आर्य, सम्राट् समुद्रगुप्त से मिलने पर ही आपको यह बात स्पष्ट हो जायेगी। सम्राट् अपने को भी धर्म-परतन्त्र मानते हैं और अपने मित्रों को भी। धर्म की प्रभुता के सन्दर्भ में ही वे मैत्री को कल्याणप्रद मानते हैं। वे प्रत्येक धर्म-परायण राजकुल को उतना ही स्वाधीन मानते हैं, जितना अपने को। सभी धर्म के बन्धन में हैं। पूर्ण अतन्त्र कोई नहीं है। इस नवीन धर्मनीति का प्रवर्त्तन करने के कारण ही हम उन्हें अपना नेता मानते हैं। इसी अर्थ में वे सम्राट् हैं। उनका व्यक्तिगत कुछ भी नहीं

है। अब तक जहाँ-जहाँ उनकी सेना गयी है, वहाँ-वहाँ यथासम्भव किसी राजवंश का उच्छेद नहीं किया गया। केवल एक शर्त पर सबकी स्वाधीनता लौटा दी गयी है। वह शर्त है धर्म-सम्मत आचरण। आज उत्तरापथ के सभी राजवंश इस पवित्र भूमि में धर्म-सम्मत आचरण के आधार पर उनके मित्र बन गये हैं। इसी को हम धर्म-परतन्त्रता कहते हैं। धर्म की प्रभुता से सब प्रभु हैं।

चण्डसेन ने कुछ सोचकर शार्विलक से कहा, "शार्विलक पण्डित, तुम्हारी क्या राय है? तुमसे बड़ा मेरा हितैषी यहाँ कोई नहीं है, तुम्हीं कुछ कहो।" शार्विलक ने विनीत भाव से कहा, "देवपुत्र, आपसे अभी पूरा समाचार नहीं कह पाया हूँ। उज्जयिनी में भण्ड भानुदत्त ने आग लगा दी थी; मुझे, आपके परिवार को और वसन्तसेना, चारुदत्त और गोपाल आर्यक को बन्दी बनाकर मार डालने का षड्यन्त्र किया था। उज्जयिनी के निरीह नागरिकों की हत्या की गयी। कुल-वधुओं का घर में घुसकर शील भंग किया गया, सारी प्रजा भय से त्राहि-त्राहि कर उठी। आपके प्रसाद से अत्याचार और अन्याय को इस दास ने बढ़ने नहीं दिया और यद्यपि सबको कष्ट सहन करना पड़ा, पर वह किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सका। मथुरा में आपके भय से वह खुलकर खेल नहीं पाता था, यहाँ आकर पूर्ण निरंकुश हो गया था। आर्य, पतित राजा पालक उसी के इशारे पर नाचता रहा। आपके सेवक को, प्रजा की सहायता के लिए जो कुछ बन पड़ा, बिना अनुमति के ही करना पड़ा। इस आज्ञा-वंचित कार्य के लिए क्षमा माँगने का भी अवसर नहीं मिला!"

चण्डसेन ने दाँत पीस लिये, "इस पातकी का ऐसा साहस! तुमने क्या किया पण्डित?" शार्विलक ने रुक-रुककर प्रत्येक वाक्य के बाद उनकी प्रतिक्रिया भाँपते हुए कहा, "क्षमा हो देवपुत्र, आर्या वसन्तसेना को मुमूर्षु अवस्था में छुड़ा लिया गया, आपका परिवार श्रुतिधरजी की देखरेख में सुरक्षित है, भानुदत्त और उसके गुण्डे पकड़ लिये गये हैं। जलती हुई उज्जयिनी को अधिकांश बचा लिया गया है और···"

"कहते जाओ। रुक क्यों गये?"

"और धर्मावतार, धूतादेवी का अपमान करने पर गोपाल आर्यक ने पालक का वध कर दिया। इस समय गोपाल आर्यक, चारुदत्त और धूतादेवी राजभवन में हैं।"

"साधु शार्विलक, तुमने चण्डसेन के सेवक के उपयुक्त ही कार्य किया है। पर यह गोपाल आर्यक तो समुद्रगुप्त का बलाधिकृत है न? यह वहाँ कैसे गया?"

"क्षमा हो देवपुत्र, आपका कहना सही है पर वे इस समय तीर्थ-यात्रा के लिए इधर आये थे—ऐसा जान पड़ता है।" चण्डसेन ने दीर्घ निःश्वास लिया—"तो यह भी गया। अब क्या कहते हो?" बीच में भटार्क बोल उठे, "देखिए आर्य चण्डसेन, यह गोपाल आर्यक भी समुद्रगुप्त के मित्र और हलद्वीप के राजा हैं। हलद्वीप का अत्याचारी शासन समाप्त हो गया है और अब वे निश्चिन्त होकर सारे देश में धर्म-राज्य की स्थापना के लिए सम्राट् की विशाल वाहिनी का नेतृत्व

कर रहे हैं। बन्धन कुछ भी नहीं है—स्वेच्छा से धर्म-राज्य की स्थापना में संलग्न हैं। मन उद्विग्न हुआ तो तीर्थयात्रा को निकल पड़े। तब भी वे सम्राट् के सखा थे, अब भी वे सम्राट् के सखा हैं। व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है। यह बड़ा ही उत्तम सुयोग है आर्य, आप भी धर्म-राज्य की स्थापना में सम्राट् के दक्षिण हस्त सिद्ध होंगे।"

चण्डसेन ने इंगित समझा। हँसकर बोले, "चलो, तुम्हारे सम्राट् से तो बाद में मिलूँगा, पर पहले उनके इस मित्र से मिल लूँ। फिर कर्त्तव्य निश्चित करूँगा।"

भटार्क और शार्विलक ने आदरपूर्वक सहारा देकर चण्डसेन को हाथी पर बैठाया।

छब्बीस

देवरात जब तेजी से निकल गये तो माढ़व्य ने उनका अनुसरण किया। चन्द्रमौलि पीछे छूट गया। उसका सुकुमार शरीर अत्यन्त क्लान्त था। चलने का प्रयत्न उसने भी किया, पर चल नहीं पाया। थककर बैठ गया। माढ़व्य की स्थूल काया भी क्लान्त थी। देवरात आगे निकलकर जब अदृश्य हो गये तो वे चन्द्रमौलि के पास लौट आये। उसका बुरा हाल था। माढ़व्य शर्मा उसे सहारा देकर टीले की दूसरी ओर ले गये। चन्द्रमौलि का चेहरा उतर गया था और लगता था किसी दारुण पीड़ा से वह व्याकुल था। माढ़व्य ने उसका मन बहलाने के लिए थोड़ा हास-परिहास का वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, पर जमा नहीं सके। वे स्वयं शिथिल और श्रान्त थे। चन्द्रमौलि उदास ही बना रहा।

दिन ढलने को आया। दोनों उसी प्रकार शिथिल भाव से पड़े रहे। माढ़व्य का चन्द्रमौलि के प्रति सहज वात्सल्य उत्पन्न हो गया था। हाय, इस सुकुमार किशोर की क्या अवस्था हो गयी है। रात से अब तक इसके मुँह में एक दाना नहीं गया और ऊपर से इतना परिश्रम करना पड़ा। हड़बड़ाकर उठे, अपनी पोटली खोजने लगे, पर वह तो उसी स्थान पर रह गयी थी जहाँ सायंकाल बन्दी बनाये गये थे। क्या करें, कुछ सूझता नहीं था। टेंट में कुछ कार्षापण वे बराबर रखते थे। वे यथास्थान पाये गये। पात्र कोई नहीं था पर पानी तो लाना ही पड़ेगा। फिर चन्द्रमौलि को उठाने की ही सोची, क्योंकि उन्हें स्पष्ट हो गया कि नदी-तट का ही आश्रय लेना पड़ेगा। नगर में भयंकर अशान्ति थी; दूसरी ओर, नदी और कितनी दूर है, इसका कुछ अता-पता नहीं। चन्द्रमौलि को कितनी दूर ले जाना पड़ेगा,

यह भी मालूम नहीं। उन्होंने पहले स्वयं देख लेने का निश्चय किया। टीले की दूसरी ओर उन्हें एक पुराना खँडहर दिखायी दिया। वहाँ जल-पक्षियों को उड़ते देख उन्होंने अनुमान किया कि कोई ताल या सरोवर वहाँ अवश्य होना चाहिए। खँडहर के पास सचमुच ही एक बड़ा-सा पुराना सरोवर था। सीढ़ियाँ टूट गयी थीं पर ऐसी अवश्य थीं कि पानी तक पहुँचा जा सके। जान पड़ता था, इधर कोई आता नहीं। मकान किसी समय निस्सन्देह बड़ा विशाल और भव्य रहा होगा। किसी समृद्धिशाली सेठ ने बनवाया होगा पर अब तो उसकी रग-रग में तृण-गुल्म निकल आये थे। आँगन में कई अयत्नवर्धित वृक्ष अपनी दुर्दम्य जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहे थे। तालाब में जल बहुत स्वच्छ था। उस पर जल-पक्षियों के दल-के-दल उड़ और तैर रहे थे। माढ़व्य ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी। थोड़ी दूर पर गायों के झुण्ड दिखे। उन्हें चरानेवाले कुछ लड़के भी दिख गये। माढ़व्य उनके निकट गये। लड़के दौड़कर उनके पास आये। उनके तन पर कोई वस्त्र नहीं था, केवल कमर में कुछ पत्ते बँधे थे। उन्होंने पूछा कि वे लोग कौन हैं। अपने मित्र की थकान और अचेतावस्था की बात भी बतायी और पूछा कि क्या वे कुछ सहायता कर सकते हैं। लड़कों ने बताया कि वे भिल्ल जाति के हैं। उनका छोटा-सा गाँव बहुत दूर नहीं है और यदि उनकी सेवा वे ले सकें तो सहर्ष तैयार हैं। छोटे-छोटे अशिक्षित बालकों की इस सेवा-वृत्ति को देखकर माढ़व्य को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पहली बार अनुभव किया कि अशिक्षा के कारण कोई सुसंस्कृत होने से वंचित नहीं रह जाता। शिक्षा से जानकारियाँ बढ़ती हैं अवश्य, पर चित्त का संस्कार तो घर और परिवेश के संस्कारों से ही होता है।

माढ़व्य के अनुरोध पर बच्चे अपनी गायों के साथ टीले के पास पहुँचे। उन्होंने पत्तों के सुन्दर दोने बनाये और उनमें गायों से दुहकर दूध भरा और कहा कि पण्डित, अपने साथी को पिला दो और तुम भी पी लो। माढ़व्य ने चन्द्रमौलि को जगाया, दूध पीने को कहा और स्वयं भी पी लिया। चन्द्रमौलि में अब चेतना आयी। माढ़व्य ने बालकों को कुछ कार्षापण देना चाहा, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। चन्द्रमौलि को स्वस्थ देखकर बालक बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने और भी सेवा करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु माढ़व्य ने उनके प्रति कृतज्ञता का भाव दिखाकर क्षमा माँगी। लड़के वहाँ से हटे नहीं। माढ़व्य ने आश्चर्य के साथ देखा कि कुछ लड़के दोनों में पानी भरकर सरोवर से ले आ रहे हैं। कसा अद्भुत सेवा-भाव है! माढ़व्य और चन्द्रमौलि की आँखों में आँसू आ गये। लड़कों से चलने को कहकर चन्द्रमौलि और माढ़व्य सरोवर-तट पर गये। बालक उनके साथ ही बने रहे। शीतल जल में अवगाहन करके वे पूर्ण स्वस्थ हो गये।

अब दिन काफी ढल आया था। चन्द्रमौलि ने पुराने खँडहर के एक स्थान पर विचित्र दृश्य देखा। गौएँ एक-एक करके वहाँ एक शिलाखण्ड के पास आतीं, उनके थनों से दो-चार बूँद दूध वहाँ अवश्य गिर जाता। चन्द्रमौलि को लड़कों से यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि नित्य यही होता है। लड़कों ने यह भी

बताया कि यहीं महाकालनाथ का पुराना स्थान है। यहीं से वे उज्जयिनी मन्दिर में ले जाये गये। उन्होंने यह भी कहा कि देवाधिदेव मूल रूप में उन्हीं के देवता हैं लेकिन जो लोग शक्तिशाली हैं, वे अब उन्हें उन्हीं के देवता के मन्दिर में जाने नहीं देते। देवाधिदेव उनकी व्यथा समझते हैं, सो वे स्वयं एक दण्ड के लिए यहाँ आकर भक्तों की सेवा ग्रहण करते हैं। तीसरे पहर वे यहाँ आ जाते हैं और भिल्ल लोगों की सेवा इसी रूप में ग्रहण करते हैं। और किसी समय कोई गाय वहाँ पहुँचती है तो दूध नहीं झरता। आश्चर्य से चन्द्रमौलि को रोमांच हो आया। चिल्लाकर माढ़व्य को बुलाया, "दादा, यह देखो महाकाल की लीला!"

जब तक माढ़व्य वहाँ पहुँचे, तब तक चन्द्रमौलि भाव-विह्वल हो गया था। उसकी आँखों से अश्रु-धारा झरने लगी। मुँह से निर्बाध-भाव से नये श्लोकों की धारा फूट पड़ी। ललित छन्दों की निर्बाध वर्षा से फक्कड़ माढ़व्य भी निश्चेष्ट होने लगे।

उस अद्भुत मोहन-स्तव का जब तार टूटा, तो माढ़व्य का शरीर भी बहुत रोमांच-कंटकित हो उठा। उन्होंने स्नेहपूर्वक चन्द्रमौलि के सिर पर हाथ फेरा। थोड़ी स्तुति करते हुए बोले, "धन्य हो किशोर कवि, ऐसी वाणी का वरदान तो मैंने कभी नहीं देखा। तुम महाकाल के सच्चे भक्त हो।"

चन्द्रमौलि उसी प्रकार भाव-विजड़ित वाणी में बोला, "भक्त हूँ दादा, भक्त हूँ? मैं महाकाल के अनुचर के रूप में ही अब तक अपने को धन्य मानता हूँ दादा, उन्मत्त भाव से वर्त्तमान नटराज के प्रत्येक पद-संचार में मैंने छन्द देखा है, उस छन्द के ताल से ताल मिलाने का प्रयास करता रहा हूँ। उनके ललाट देश में द्युतिमान् चन्द्रमा के आलोक में देवलोक के नन्दन-वन में सपनों-भरी आँखों का अलस विलसन देखकर मुग्ध होता आया हूँ। मैंने उनके अंग-अंग से विस्फुरित होनेवाली विराट् छन्दोधारा को प्रत्यक्ष देखा है। देखा है दादा, इस विराम-विहीन छन्दोधारा के स्पन्दन से महाशून्य सिहर उठा है और उसके वस्तुहीन प्रवाह के प्रचण्ड आघात से वस्तु-रूपी फेन के शत-शत पुंज रूप ग्रहण करते हैं। देखा है दादा, घनमसृण तिमिर-व्यूह से उज्ज्वल आलोक की तीव्र छटा को विच्छुरित होते देखा है! इस तीव्र 'प्रकाश में से नये-नये रंगों, वर्णों की विचित्र शोभा को प्रस्फुटित होते देखा है? इसी प्रचण्ड गति से उठे हुए घूर्ण-चक्र में फेन-बुद्बुद की भाँति नक्षत्र-मण्डलों, ग्रह-उपग्रहों को उठते-मरते, विलीन होते देखा है! दिन-रात यह प्रचण्ड छन्दोधारा मृत्यु के स्नान से विश्व को निरन्तर नवीन जीवन देती रहती है। वहीं से सीखा है दादा, छन्द की महिमा, अबाध गति की सुन्दरता, मृत्यु के भीतर से जीवनी-धारा की निरन्तर धावमान विजय-कथा! सुना है दादा, महाकाल की प्रचण्ड गति में जीवन का संगीत, सुन्दर का उल्लास, मधुर का कलगान! मैं शिव का अनुचर हूँ दादा, सतत अनुसर्त्ता अनुचर! मैं कवि हूँ! परन्तु यह कैसा विधान है दादा, कि जिनके देवता उठाकर ले जाये गये, वे ही उनके दर्शनों से वंचित रहे! कुलीनता के अभिमानी समझते हैं कि वे महादेव की

पवित्रता की रक्षा कर रहे हैं और जिनकी पवित्रता की रक्षा का दम्भ किया जा रहा है, वे चुपचाप यहाँ आकर निर्विकार-भाव से उनकी सेवा स्वीकार कर रहे हैं। विधाता के विधान में इस प्रकार के आचरण द्वारा क्या हस्तक्षेप नहीं हो रहा है? विधाता ने मनुष्य-मात्र को समान-भाव से श्रद्धालु बनाया है, समान-भाव से सहानुभूति और सौजन्य का आश्रय बनाया है, पर मनुष्य ने उसे जटिल बनाकर विकृत कर दिया है। कल जो अकाण्ड ताण्डव आपने देखा, वह क्या विधाता की इच्छा से घटित हुआ था? निरीह मनुष्य की हत्या, आग लगाकर! विधाता के दिये हुए सौन्दर्य का इस प्रकार विखण्डन, क्या मनुष्य की बनायी ग़लत व्यवस्था का परिणाम नहीं है? नहीं आर्य, आज मेरी अनेक मान्यताएँ ध्वस्त हो गयी हैं। आज मैं सचमुच उन्मत्त हूँ। महाकाल के विकट सिंहासन के अधीश्वर से मैं आज पूछना चाहता हूँ——देवता, यह सब क्या तुम्हारे इशारे पर हो रहा है? तुमने क्या उन लोगों को क्षमा कर दिया है जो विनाश-लीला के लिए उत्तरदायी हैं?···

"इधर इन बालकों को देखो दादा, कितने पवित्र, कितने भोले, कितने निरीह हैं! इनके हृदय में यदि देवाधिदेव नहीं हैं तो विश्वास करो दादा, वे कहीं भी नहीं हैं। मुझे बताओ दादा, इस क्रूर बीभत्सता पर कैसे आघात करूँ? कैसे छिन्न कर दूँ उस विकट नाग-पाश को जो मनुष्यता को अपनी दुरतिक्रम्य जकड़ में जकड़ता ही चला जा रहा है?···

"देवता कहाँ हैं दादा? देवता क्या ईंट-पत्थरों के जड़ आवरण में बन्दी हैं? क्या मनुष्य का भाव ही देवता को महान् नहीं बनाता? क्या इन भोले लोगों की भक्ति इस प्रकार उपेक्षणीय है?···

"बोलो दादा, कुछ बोलो! आज तुम्हारे चन्द्रमौलि के हृदय में जो क्षत हुआ है, वह क्या कभी ठीक भी होगा?"

माढ़व्य मुग्ध-भाव से किशोर कवि की बातें सुन रहे थे। क्या कह रहा है यह भोला कवि! कौन कहता है बाबा कि तू कवि नहीं है। कवि तो है पर यह कहाँ लिखा है कि कवि को उन्मत्त होकर सामने खड़े निरीह व्यक्तियों को छन्द के आघात से जर्जर कर देना चाहिए? तू कवि है, पर कवि को दया-माया-हीन होने का विधान तो कहीं नहीं है। सामने तेरा निरीह दादा खड़ा है और तू निर्दय की भाँति उसे छन्दों की मार से अधमरा करता रहा है।"

चन्द्रमौलि उसी प्रकार आविष्ट था। उसके अधरोष्ठों में थोड़ा कुंचन हुआ। ललाट-देश में रेखाएँ उभरीं। उसके कण्ठ में अकारण उत्तेजना के भाव आये। ऐसा जान पड़ा, जैसे सामने महाकाल ही दिख गये हों। 'हे महाकाल, अब तक मैंने तुम्हारे चरण-स्पर्श से पुलकित होते पुष्पों का मोहन-रूप ही देखा था। रात को जब मेरा चैतन्य किसी अन्ध तिमिर-समुद्र में डूब गया था, मैंने देखा कि तुम्हारा विकट अमंगल ताण्डव विवेकहीन होकर सब-कुछ को रौंद रहा है। मैंने नरक की आग बरसानेवाले क्रूर ज्वालामुखी को देखा है। मैंने एक ही साथ दो बातें देखीं।

मेरा मन क्षोभ और कलुष-भाव से भर गया—एक तरफ़ देखा, स्पर्द्धित क्रूरता और उन्मत्तता का निर्लज्ज हुंकार जो सब-कुछ को उजाड़कर, रौंदकर ध्वस्त करने पर तुला है; दूसरी ओर देखा, भीरुता और निष्क्रियता का दुविधा-भरा भीरु पद-संचार, जो चुपचाप आत्म-समर्पण कर रहा है। इस ओर लज्जा नहीं है तो उस ओर दृप्त जिजीविषा का कोई चिह्न नहीं है। महाकाल के चक्र-नृत्य के चालक देवता, मैं आज क्षुब्ध हूँ। मैं तुमसे न्याय की भीख नहीं माँगता। माँगता हूँ वह वज्र वाणी, वह दृप्त विचार, वह अकुतोभय वीर्य, जो दोनों पर कसके आघात कर सके। मैं एक ओर इस नारीघाती, शिशुघाती वीभत्सता का ध्वंस चाहता हूँ, दूसरी ओर उस भीरुता और कायरता का नाश चाहता हूँ जिसने तनकर खड़ा होने की भावना ही समाप्त कर दी है। महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचाराधीश, तुम मुझमें शक्ति दो कि इन दोनों प्रकार की कुत्सित वृत्तियों को धिक्कार दे सकूँ। महाकाल के अधिदेवता, आज देवता के साथ छाया की तरह लगे अपदेवता को मैं देख सका हूँ। प्रौढ़ प्रतापशाली नरपतियों की अधिकार-लालसा ने और सर्वग्रासी लोभ ने संसार को क्रूर परिहास का केन्द्र बना दिया है। मैं शक्ति चाहता हूँ, इस विकट वीभत्सता को समाप्त कर देनेवाली दृप्त वाणी की। सर्वत्र, हे महाकाल, नाश की आँधी बह रही है। विकट घूर्ण-चक्र में पड़ा हुआ जगत् 'त्राहि-त्राहि' कर उठा है। शक्ति दो, मैं तुम्हारे पद-संचार की अमृत-लेपिनी शक्ति चाहता हूँ।"

माढ़व्य सोचने लगे कि इस लड़के का दिमाग़ तो ख़राब नहीं हो गया। भिल्ल बालक खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे। उन्होंने माढ़व्य को बताया कि कुछ चिन्ता न करें। एक दण्ड बीत आया है। अब उनके साथी शान्त हो जायेंगे। भावुक लोग अक्सर यहाँ आने पर प्रायः इसी प्रकार का आचरण करते हैं। चन्द्रमौलि सचमुच शान्त हुआ। माढ़व्य ने उसके सिर पर हाथ फेरा। प्यार से बोले, "मित्र चन्द्रमौलि, उठो ! आर्य देवरात का भी तो पता लगाना है।" चन्द्रमौलि ने हाथ जोड़कर कहा, "दादा, थोड़ी देर और यहाँ रह लेने दो !"

माढ़व्य ने उसे थोड़ी देर और रहने का अवसर दिया। वे अकेले देवरात का पता लगाने चल पड़े। चन्द्रमौलि उसी प्रकार आविष्ट-अवस्था में बैठा रहा, भिल्ल बालक कुतूहलपूर्वक उसे ताकते रहे।

माढ़व्य लौटकर आये तो चन्द्रमौलि को स्वस्थ और प्रसन्न पाया। वे स्वयं म्लान लौटे थे। उन्होंने बताया कि आर्य देवरात का चित्त भी कुछ विकृत-जैसा लगा था। वे न जाने किस अदृश्य मायाविनी से बात कर रहे थे और एकाएक मथुरा को चल पड़े। माढ़व्य की ओर उन्होंने फिरकर ताका भी नहीं, मानो उनके साथ उनका कभी का परिचय ही न हो। चन्द्रमौलि ने सुना तो एकदम खड़ा हो गया। बोला, "दादा, मुझे भी क्षमा करो। मेरा मन अब यहाँ से भर गया है। इतने दिन तुम्हारे साथ रहकर न जाने किस जन्मान्तर के पुण्य का सुख अनुभव किया। तुम्हारे-जैसे उदार सहृदय का स्नेह यों ही नहीं मिल जाता। अवश्य ही हम दोनों

पूर्व जन्म में प्रिय सुहृद् रहे हैं। एक साथ चलते-चलते सुख और दुख दोनों अनुभव किये। पर दादा, अब लगता है, रास्ता बदल गया। तुम्हारा रास्ता जिधर जाता है, उधर मेरा रास्ता नहीं जाता। विदा होता हूँ दादा, इस अनुज पर तुमने अनेक उपकार किये हैं। पहले से ही पर्याप्त बोझ हो गया है, अब अधिक बढ़ाने से लाभ नहीं। प्रणाम करता हूँ। आशीर्वाद दो कि वाग्देवता की अराधना द्वारा कुछ ऐसी सिद्धि पा सकूँ जो इन नरमांस-भक्षी भुक्खड़ गिद्धों की लोलुपता से संसार की सौन्दर्य-लक्ष्मी की रक्षा कर सकूँ। उज्जयिनी में मैंने बहुत नये अनुभव प्राप्त किये हैं। तुम्हारे सरस साहचर्य का ही फल है कि आज भी जीवित हूँ।" चन्द्रमौलि ने दादा को भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। माढ़व्य को इस उपसंहार की प्रत्याशा बिलकुल नहीं थी। वे ऐसे निःशब्द हो गये जैसे किसी ने औषध-बल से उनकी वाक्-शक्ति लुप्त कर दी हो। वे चुपचाप चन्द्रमौलि का जाना देखते रहे।

सत्ताईस

प्रभात होने को आया। कमल-पुष्प के मधु से रँगे पंखोंवाले वृद्ध कलहंस की भाँति उदास मन्थर गति से चन्द्रमा आकाश-गंगा के पुलिन से पश्चिम की ओर चला गया। सारा दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोम-राजि के समान पाण्डुर हो उठा। हाथी के रक्त से रँगे सिंह के सटा-भार के समान सूर्य की लाल किरणें आसमान में फैलने लगीं, वन-देवियों की अट्टालिकाओं के समान महावनस्पतियों के शिखरों पर गर्दभ-लोम के समान धूसर धुआँ सटकर सब-कुछ को धूमिल आभा से आच्छादित कर गया——सर्वत्र थकान, क्लान्ति, अलस मन्थर भाव। आज का प्रभात हुआ पर पक्षियों का कलगान नहीं सुना गया, भौंरों की गुंजार जाने कहाँ विलीन हो गयी, मन्द-मन्द संचारी प्रभात-वायु का मादक संचार नहीं दिखायी दिया। आज का प्रभात कुछ विचित्र था। राजभवन उदास था, नगर म्रियमाण था, राजपथ शून्य थे, नदी के घाट शब्द-हीन थे; और तो और, महाकाल मन्दिर का घण्टा भी चुप था। धूतादेवी रात-भर किसी अज्ञात आशंका से साँस रोके पड़ी रहीं। प्रातःकाल उनका चित्त उद्विग्न था। सारी रात वे चारुदत्त की प्रतीक्षा करती रहीं, पर वे अभी तक लौटे नहीं। उन्होंने यह सोचकर आर्यक की ओर जाना भी उचित नहीं समझा कि विश्राम कर रहे होंगे। जब से उन्होंने अपने इस नये देवर को देखा है तब से उन्हें एक अद्भुत वात्सल्य का अनुभव हो रहा है। कैसा कमनीय मुख है! भुजाएँ जानु-देश तक लम्बमान हैं, वक्षःस्थल वज्र-कपाट के समान फैला हुआ

है, चलने में सिंह की ठवन है। पर बेचारे कितने दुखी हैं, चेहरा मुरझाया हुआ है, होंठ सूखे हुए हैं, शरीर पर कहीं भराव नहीं दिखायी देता जैसे उदन्त वनस्पति पर अचानक हेमन्त का पाला पड़ गया हो। भीतर कहीं कोई दारुण वेदना है जो शरीर को झुलसा रही है। सो रहे हैं, सोने दो। जाने कब से निश्चिन्त-भाव से सोने का अवसर नहीं मिला है। ऐसा अकुतोभय पौरुष और ऐसी दारुण पीड़ा!

धूता को आज का दिन बड़ा उदास लग रहा था। न जाने क्या हो गया है। वे घर छोड़कर बाहर आ गयी हैं। आज पहली बार लक्ष्मी-विनायक का पूजन नहीं हो सकेगा, पंजर-शुकों को दाना नहीं दिया जा सकेगा, होम की अग्नि प्रज्वलित नहीं की जा सकेगी, आँगन में आलिम्पन-उपलेपन नहीं हो सकेगा, नैवेद्य-पुष्पों की डालियाँ सूनी रह जायेंगी, पितरों का तर्पण नहीं हो सकेगा, कुल-देवताओं का अर्चन नहीं हो सकेगा। आज धूता के सारे नित्य-कर्म उपेक्षित होंगे। हे कुलदेवता, यह कैसी विडम्बना है!

इसी समय चारुदत्त आये--सदा की भाँति शान्त, स्निग्ध, शोभन। आते ही उन्होंने क्षमा माँगी—"रात बहुत बुरी बीती है देवि! दुष्टों ने नगर में आग लगा दी थी। हमारा घर तो जलकर राख हो गया है। सुना है कुछ परदेशियों ने लोगों का साहस बढ़ाया है और बड़े सुचारु रूप में आग से जूझने का प्रोत्साहन दिया है। अब आग तो बुझ गयी है पर नगर के कई भाग ध्वस्त हो गये हैं। राज-भवन को बचाने में रात-भर भाग-दौड़ करनी पड़ी। तुम्हें कष्ट हुआ। पर चिन्ता न करना देवि, गोपाल आर्यक को सुरक्षित रखना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। आज तक हमारे घर के किसी अतिथि को इतना कष्ट नहीं सहना पड़ा। तुम भी क्या कर सकती हो, लेकिन तुम्हें उनकी देख-रेख के लिए छोड़कर मैं थोड़ा निश्चिन्त अवश्य हुआ हूँ।"

धूता ने दृढ़ कण्ठ से कहा, "आर्यपुत्र निश्चिन्त रहें। मैं अपने देवर की सेवा में कुछ उठा नहीं रखूँगी। परन्तु इतना अवश्य कहूँगी कि अपने शरीर का भी थोड़ा ध्यान रखें। कल से ही निराहार हैं। मैं रात-भर प्रतीक्षा करती रह गयी।"

"मैं अभी स्नान-पूजा से निवृत्त होकर आ रहा हूँ। इस बीच तुम्हारे देवर यदि उठ जायें तो उन्हें भी तैयार रखो और स्वयं तो स्नान कर ही लो। अभी कुछ कठिनाइयाँ हैं।"

धूता ने कुछ याद करके पूछा, "आग किधर लगायी गयी थी, वसन्तसेना बहिन का घर तो सुरक्षित है न?" चारुदत्त वसन्तसेना के बारे में बहुत चिन्तित थे। यह भी पता लगा लिया था कि आग उधर नहीं फैली है। पर अभी तक उन्हें यह पता नहीं था कि वसन्तसेना है कहाँ। यथासाध्य वे पता लगाने का प्रयत्न भी कर रहे थे। पर धूता से यह कहने में वे लजा रहे थे।

"आग तो श्रेष्ठि-चत्वर से ही फैली है। उधर ठीक ही होगा।"

धूता कुछ व्याकुल हुई, "ठीक ही होगा? पता नहीं लगाया?"

"लग जायेगा। कुछ अच्छे परदेशियों की सहायता से नागरिकों ने आग को

बहुत फैलने नहीं दिया। श्रेष्ठि-चत्वर के आस-पास के मकान ही जले हैं।"

"ये परदेशी लोग कौन थे ?"

"कुछ ठीक पता नहीं चला है। पर उनके नेता का नाम सभी नागरिकों की जिह्वा पर है। वे लोग रात-भर 'आर्य देवरात की जय' बोलते रहे। देखा तो बहुत कम लोगों ने उन्हें, पर जय-जयकार सबने किया। कहते हैं, वह कोई देवता ही रहा होगा।"

पास के घर में गोपाल आर्यक विश्राम कर रहे थे। उन्हें चारुदत्त के अन्तिम वाक्य सुनायी पड़े। वे धड़फड़ाकर उठ बैठे—"क्या नाम बताया, भैया ? आर्य देवरात ?"

"हाँ मित्र, यही नाम बता रहे हैं।" आर्यक उठकर खड़े हो गये, "आर्य देवरात !"

"हाँ, आर्य देवरात !"

"कहाँ हैं आर्य देवरात ? किसने देखा उन्हें, मित्र !"

चारुदत्त को आश्चर्य हुआ कि गोपाल आर्यक कैसे आर्य देवरात को जानते हैं। बोले, "जानते हो, आर्य देवरात को जानते हो ? रुको, अभी उनका पता लगाता हूँ। पर वे हैं कौन ?"

"आर्य देवरात मेरे कौन हैं ? मेरे गुरु हैं भैया, जहाँ कहीं मिलें, उन्हें यहाँ ले आओ। कहाँ दिखे ? किसने देखा ? पूरा बताओ भैया, पूरा बताओ !"

"अभी खोजवाता हूँ। पूरा बताता हूँ। जितना जानता हूँ, उतना बता दिया है। अपनी भाभी से पूछ लो। मैं अभी आया।"

चारुदत्त आर्यक की उत्सुकता बढ़ाकर चले गये। आर्यक ने अनुनय-जड़ित वाणी में पूछा, "भाभी, भैया ने आर्य देवरात के बारे में क्या कहा है ? जल्दी बताओ भाभी।"

भाभी ने स्नेह-सिक्त वाणी में कहा, "विशेष कुछ तो नहीं बताया। इतना ही बताया कि वे कोई परदेशी महात्मा हैं। लोग समझ रहे हैं कि कोई देवता ही रहे होंगे। सब लोग उनकी जय-जयकार कर रहे हैं। रात उन्होंने नागरिकों की बड़ी सहायता की है। मुझे भी लगता है लल्ला, कि कोई देवता ही होंगे। ऐसी विपत्ति के समय देवता ही मनुष्य की सहायता करने आ जाते हैं। देवता ही होंगे।"

"देवता तो वे हैं ही भाभी, मनुष्य-रूप में देवता।"

"तुम्हारे गुरु का भी यही नाम है लल्ला ?"

"बिल्कुल यही नाम है। पर वह विपत्ति क्या थी, भाभी ?"

धूता भाभी एकदम सकपका गयीं। यह बात आर्यक को अभी नहीं बतानी है, ऐसा उनके पति कह गये थे। कुछ सम्हलकर बोलीं, "सब बातों का ठीक-ठीक पता नहीं चला है। वे अब आते होंगे। तब तक तुम भी स्नान कर लो। वे आते ही होंगे। कह गये हैं कि आर्य देवरात का पता लगाकर तुरन्त ही लौटेंगे। वे अवश्य पता लगायेंगे, देवर ! उनकी बात अन्यथा नहीं होती। वे जितना कहते हैं,

उससे अधिक करते हैं। पता लगाने गये हैं तो पता तो लगा ही लेंगे, हो सकता है कि साथ लेते भी आयें। तब तक तुम तैयार हो जाओ।"

गोपाल आर्यक अब तक गुरु देवरात की ही बात सोच रहा था। भाभी की बातों से जब लगा कि देवरात अभी आ सकते हैं, तो याद आया कि देवरात केवल गुरु ही नहीं, उसके श्वसुर भी हैं। आते ही मृणाल के बारे में पूछेंगे। और आर्यक की अपकीत्ति से वे पहले से ही परिचित होंगे, तो उस अभाजन का मुँह भी नहीं देखना चाहेंगे। चाहें भी तो अभागा आर्यक अपना मुँह कैसे दिखा सकेगा? विषम संकट सिर पर मँडरा रहा है। सबके सामने उसका मुँह काला होगा। फटो धरित्री, लील जाओ इस अभाजन को! क्षण-भर बाद ही आर्यक के जीवन का सबसे काला पक्ष सारी दुनिया में उजागर हो जायेगा।

भाभी ने आर्यक के चेहरे पर अचानक छा गयी मलिनता को देख लिया। स्नेह के साथ बोलीं, "तुम उदास क्यों हो गये, लल्ला?"

उदास! भाभी को क्या बताये! कैसे समझाये कि गुरु के आगमन से शिष्य का हृदय फटकर क्यों टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा? आर्यक के मुख की विषाद-रेखा और भी गहरी होती गयी।

भाभी उसकी यह अवस्था देखकर बहुत बुरी तरह डर गयीं—"भाभी से कुछ चूक हो गयी क्या लल्ला? नहीं मेरे लहुरे देवर, भाभी की बात का बुरा माना जाता है? हाय राम, यह क्या हो गया तुम्हें? अभी उनसे अभिमानपूर्वक कहा है कि देवर को प्रसन्न रखने में कुछ उठा नहीं रखूँगी और अभी तुम्हें चोट पहुँचा दी? पैरों पड़ूँ लल्ला, खुश हो जाओ। कुछ भूल-चूक हुई हो तो क्षमा करो। हाय-हाय, तुम्हारा चेहरा कैसा देख रही हूँ!"

गोपाल आर्यक अपने में ही खो गया था। भाभी की बात से उसकी चेतना लौटी। यत्न और आयास के साथ हँसने का प्रयास करते हुए कहा, "क्या कह रही हो भाभी, तुम्हारी बातों का कौन पापी बुरा मानेगा? नहीं भाभी, मैं दूसरी बात सोचने लगा था।"

"क्या सोचने लगे थे। कल भी सोचने लगे थे, आज भी सोचने लगे। अपना कष्ट तुम भाभी को नहीं बता सकते, देवर? बोलो, तुम्हें जो कष्ट है वह मुझे बताओ। मेरे सिर की शपथ, मुझसे कुछ छिपाओ मत। जो बात माँ से भी नहीं कही जा सकती, वह भाभी से कही जाती है। तुम अपना कष्ट बताओ। भाभी की छाती टूक-टूक हो जा रही है, लल्ला! कह दो ना!"

भाभी ने ऐसे दुलार से आर्यक के सिर पर हाथ फेरा, जैसे कोई माँ अपराध से भीत बालक के सिर पर हाथ फेर रही हो। उस करतल में अमृत की संजीवनी का लेप था। उसका रोम-रोम कृतार्थ हो गया। मातृत्व का ऐसा सुधा-लेप उसने बरसों बाद अनुभव किया। उसे ऐसा लगा कि भाभी से कुछ भी छिपाना महापाप होगा। पर कहे तो कैसे कहे, क्या कहे! लज्जा का दुर्भेद्य आवरण तो भाभी के एक स्पर्श से गलकर बह गया, पर वाणी की जड़िमा नहीं गयी। आर्यक आज

पार्वती का स्नेह पा रहा है, गंगा का पावन स्पर्श पा रहा है, अरुन्धती का वरदान पा रहा है; पर वाग्देवी रुष्ट हो गयी हैं, वचन-रचना की चातुरी जवाब दे गयी है। वह निर्वाक्-निःस्पन्द होकर इस अपूर्व मातृत्व से आप्लावित होता रहा। चन्द्रा ने भी एक बार उसे उदास देखकर इसी प्रकार दुलारा था, पर उस समय वाग्देवी चंचल हो उठी थीं। आज वे निश्चेष्ट हैं। आर्यक की आँखों से अश्रुधारा झरने लगी। भाभी के चरणों में उसने अपना सिर रखा। फिर सायास वाणी में बोला, "सब कहता हूँ भाभी, पर एक काम करो। कुछ ऐसा उपाय करो कि आर्य देवरात एकदम यहाँ न आ जायें। वे मेरे परम पूज्य गुरु ही नहीं हैं, श्वसुर भी हैं। मेरी कहानी सुन लो। यदि उन्हें समझा सको तो समझा दो। मैं कुछ कह नहीं सकूँगा, भाभी! पर उन्हें सामने देखकर मेरी हृदय-गति अवश्य बन्द हो जायेगी, मेरे मस्तिष्क की नसें अवश्य फट जायेंगी, मेरा सारा अस्तित्त्व कच्चे मिट्टी के घड़े की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। भाभी, मैं उनको मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ।" आर्यक ने एक बार फिर अपना ललाट भाभी के कोमल कमनीय चरणों पर पटक दिया।

भाभी ने फिर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा—"उठो लल्ला, यह मैं कर लूँगी। थोड़ा शान्त हो जाओ। भाभी तुम्हारा उपचार जानती है!"

"मेरा उपचार कुछ नहीं है, भाभी।"

"है, है! उठो भी तो!"

भाभी ने और भी सहानुभूति-भरे स्वर में रहस्य-भरी मुस्कान के साथ कहा, "उठो लल्ला, पहले मुँह-हाथ धोकर तैयार हो जाओ। भोले देवरों के सारे मानसिक कष्टों का उपचार भाभियाँ ही जानती हैं। भाभियाँ जादू भी तो जानती हैं, लल्ला!"

आर्यक अवाक्। जादू ही तो देख रहा हूँ। ऐसी शामक हँसी जादू नहीं तो क्या है? भाभियाँ मोहन-मन्त्र जानती होंगी।

आर्यक ने भाभी से कुछ भी नहीं छिपाया। सब ज्यों-का-त्यों कह गया। भाभी इस प्रकार सुनती रही जैसे पुरानी सुनी हुई कहानी नये सिरे से सुन रही हों। बीच-बीच में वे परिहास करने में भी नहीं चूकीं। जब आर्यक ने कहा कि विवाह के बाद भी चन्द्रा उन्हें अटपटे पत्र लिखती रही और आर्यक ने उन पत्रों को मृणाल को दे दिया, तो भाभी ने गम्भीर भाव से पूछा कि वे पत्र मृणाल तक पहुँचने के पहले हथेली के पसीनों से भीग तो नहीं गये थे? आर्यक को इस प्रश्न से आश्चर्य हुआ। भोलेपन से कह गया, "ऐसा तो नहीं हुआ।" भाभी ठठाकर हँस पड़ीं। बोलीं, "हुआ होगा भोलानाथ! ज़रा ठीक से याद करके कहो।" भाभी की हँसी से आर्यक की समझ में आया कि भाभी परिहास कर रही हैं। पोथियों में लिखे हुए सात्त्विक स्वेद की बात कह रही हैं। लज्जित होकर कहा, "भाभी, क्रूर परिहास कर रही हो।" भाभी ने गम्भीर होकर कहा, "देवर से किया हुआ परिहास क्रूर नहीं होता, लल्ला! भाभी को उपचार की बात भी तो सोचनी पड़ती है।" और

भी प्रसंगों पर भाभी ने परिहास किया जिससे आर्यक की पपनियाँ ऐसी गिरीं, जैसे गोंद से चिपका दी गयी हों। जब उन्होंने सरस स्मित के साथ पूछा कि "चन्द्रा को तुमने कभी प्यार किया ही नहीं लल्ला ?" तो ऐसी ही अवस्था हो गयी थी।

उपसंहार करते हुए आर्यक ने कहा, "तुम्हीं बताओ भाभी, मैं मृणाल को कैसे मुँह दिखाऊँ, आर्य देवरात को मुँह कैसे दिखाऊँ, भैया जानेंगे तो क्या मुझे क्षमा करेंगे ?"

भाभी ने हँसते हुए कहा, "देवर, अब तुमसे कैसे झगड़ा करूँ ! अगर तुम मेरे देवर न होकर ननद होते, तो झगड़ भी लेती। विधाता ने गुण तो सब ननद के दिये हैं, बना दिया है देवर !"

ननद के गुण ? आर्यक का सिर चकरा गया। क्या अभी तक उसने जो कुछ कहा है उससे भाभी ने यही समझा कि उसमें पुरुषोचित गुण हैं ही नहीं ? जो कुछ है वह केवल स्त्री-जनोचित है ? भाभी कहना क्या चाहती हैं ?

भाभी के अधरों पर मन्द स्मित ज्यों-का-त्यों सटा रह गया था। आर्यक की समझ में नहीं आता था कि भाभी के मन में क्या है। क्या वे उसे दयनीय जीव समझ रही हैं ?

भाभी ने कहा, "सुनो देवर, मेरी बात पर तुम विश्वास करोगे या नहीं, नहीं जानती, पर ये बातें अस्पष्ट रूप में मुझे मालूम थीं। कैसे मालूम थीं ? बताती हूँ।...

"तुम स्वप्न में विश्वास करते हो ? नहीं करते ? सब स्वप्न विश्वास करने योग्य होते भी नहीं। अधिकतर स्वप्नों में मनुष्य अपनी ही दबायी वासनाओं की काल्पनिक तृप्ति पाता रहता है। वे मायालोक में हमारी अतृप्त आकांक्षाओं को साकार रूप देते हैं। पर सच पूछो तो वे ही क्षणिक माया-लोक नहीं हैं। यह सारा संसार ही क्षणिक माया-लोक है। है यह भी स्वप्न ही। इस पर विश्वास करना और स्वप्न पर विश्वास न करना, दोनों निरर्थक हैं। विश्वास करो तो दोनों पर करो, नहीं तो किसी पर न करो। जैसे इस दुनिया में बहुत-कुछ झूठा भ्रम है और बहुत-कुछ सत्य-प्रतीति है, वैसे ही स्वप्न में भी होता है। पिछली शिव-रात्रि को तुम्हारे भैया बहुत उदास होकर लौटे। मैंने दुख का कारण जानना चाहा, नहीं जान सकी। फिर मैंने भवानी की आराधना की। इनको उदास देखती तो छाती फटने को आती। मन्दिर पास ही है। नित्य भवानी से प्रार्थना करती कि इन्हें प्रसन्न बनाओ। इनका सब दुख मेरे ऊपर डाल दो। तीन दिन बाद एक विचित्र बात हुई। इन्हें और बच्चे को खिला-पिलाकर मैं शयन-कक्ष में आयी। ये बच्चे को गोद में लेकर सो गये थे। देखा, स्वप्न में भी वैसी ही उदासी थी। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता था। मैं मन-ही-मन भवानी का ध्यान करते-करते सो गयी। दीया बुझाया या नहीं, मुझे याद नहीं है। मैं सोयी भी कहाँ थी ? पर एकाएक दिव्य प्रकाश से घर जगमग-जगमग हो गया। ऐसा लगा, कोई दिव्य ज्योति उतर रही है। धीरे-धीरे उस ज्योति ने मनुष्य का आकार ग्रहण किया।

दिव्य नारी-मूर्त्ति। गोरी-छरहरी काया, मानो ज्योति-रेखाओं से ही बनी थी। ज्योतिर्मय ललाट से चन्द्रमा के समान स्निग्ध ज्योति झर रही थी और मुख-मण्डल का तो क्या कहना ! वैसा ललित-मोहन रूप तो मैंने कभी देखा नहीं। मैंने समझा, साक्षात् भवानी आ गयी हैं। मैं धड़फड़ाकर उठी और उनके चरणों पर गिर पड़ी। यह स्वप्न नहीं था। अब भी उस ज्योतिर्मय स्पर्श की स्मृति से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्वप्न तो इसलिए समझना पड़ा कि वहीं सोये हुए इनको और बच्चे को कुछ भी आभास नहीं मिला। पर मेरा रोम-रोम कहता है कि मैंने प्रत्यक्ष देखा है। देखा है, अतुलित ज्योति-राशि, उमड़ते सौन्दर्य का पारावार, थिरकते छन्दों का चिद्घन वपु, अमृतोपम वाणी का सतत प्रवहमान निर्झर ! अंग-अंग पर शोभा निछावर हो रही थी। क्या रूप था देवर, आहा ! उस पर तरुण अरुण किरणों से होड़ करनेवाला कौशेय वस्त्र––वासं वासना तरुणार्कं रागम्। तपोनिरता पार्वती ही तो ऐसी थीं।···

"मैं ससम्भ्रम उठ पड़ी। मेरे मुख से केवल इतना ही निकला––'माता भवानी के चरणों में धूता का अशेष प्रणाम। आज मेरा जन्म-जन्म कृतार्थ है, माता !' उन्होंने मुझे रोका––'नहीं बेटी, तू भूल कर रही है। भवानी तो मेरी माता हैं। मैं उनकी पुत्री मंजुलोमा हूँ।' क्या बताऊँ लल्ला, वह वाणी थी या अमृत की धारा थी। मेरा सारा अस्तित्व ही उस सुधा-धारा में बह गया। मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रही थी कि मेरी सारी सत्ता बही जा रही है !"

आर्यक कुछ अभिभूत की भाँति सुन रहा था। एकाएक चौंका, "क्या नाम कहा भाभी, मंजुलोमा ? आश्चर्य है !"

"हाँ, देवर, मंजुलोमा। क्या संगीत है इस नाम में ! चकित मृगी जैसे वंशीनाद से विवश हो जाती है, उसी प्रकार विवश हो गयी थी मैं इस नाम के श्रवण-मात्र से।"

आर्यक को लगा कि भाभी रूप-महिमा के बाद अब इस नाम-महिमा का बखान आरम्भ करेंगी। अधीर-भाव से कहा, "आगे क्या हुआ भाभी, जल्दी बताओ। ऐसा न हो कि बात समाप्त भी न हो और आर्य देवरात आ जायें।"

"हाँ, बताती हूँ। मैं उन्हें 'माताजी' कहने लगी। वे मुझे प्यार से 'बेटी' कहने लगीं। देर तक बात हुई। सब तुम्हारे मतलब की नहीं हैं। जितने से तुम्हारा सम्बन्ध है उतना ही बताती हूँ।"

आर्यक ने चुहल की, "भैयावाली बात नहीं बताओगी ? मैं जानता हूँ। तुम जितने का अधिकारी मुझे समझती हो, उससे अधिक का अधिकारी माताजी मानती हैं !"

भाभी के मुख पर हल्की लालिमा आ गयी––"ऊपर से ही भोले दिखते हो, पेट में लम्बी दाढ़ी छिपा रखी है ! भैयावाली बात क्या जानते हो ?"

आर्यक ने हँसकर कहा, "भाभी, कुछ तुम जानती हो, कुछ तुम्हारा देवर भी जानता है।"

"तो पहले तुम्हीं बताओ।"

"अर्थात् देवरात के क्रोध में जल मरो।"

"नहीं-नहीं, कोई क्रोध नहीं करेगा। तुम कुछ नहीं जानते, सुनो तो !"

"सुनाओ भी !"

"माताजी ने विचित्र-विचित्र बातें बतायीं। उस समय मैं उनकी बात ठीक-ठीक समझ नहीं सकी। तुम्हारी कहानी सुनने के बाद अब कुछ समझ पायी हूँ। पूरी-पूरी तरह तो अब भी नहीं समझ पायी। जानते हो देवर, तुम्हें देखते ही क्यों पहचान गयी ? माताजी ने तुम्हारे बारे में जैसा-कुछ बताया था, वैसा ही तुम्हें पाया। कह रही थीं, उन्होंने तुमसे कई बार बात करने का प्रयत्न किया, पर तुम उन्हें देख ही नहीं सके। वे बहुत व्याकुल थीं। कहती थीं, उन्हें सब नहीं देख सकते। वे केवल भाव-रूप हैं—भाव-सत्ता मात्र। मन में कुछ वासनाएँ रह गयी थीं, उन्हीं के कारण सम्पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो पातीं। ये वासनाएँ सूक्ष्म लिंग-शरीर में चिपकी हैं। जो उन्हें कभी याद नहीं करता, उसके सामने लिंग-शरीर प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। वे मृणाल के सामने भी गयी थीं, पर वह उन्हें बिलकुल नहीं देख पायी। बड़े आयास के बाद वे तुम्हें दिख पायी थीं। उन्हें उज्जयिनी में कुछ आभास मिल गया था कि तुम्हारे और इनके बारे में कुछ षड्यन्त्र चल रहा है। वे तुम्हें तो किसी प्रकार दिख गयीं, हालाँकि अपनी पूरी दृष्टि-शक्ति का तुम्हारे भीतर प्रत्यारोप करना पड़ा। जब वह प्रत्यारोप खिंच गया, तो तुम उन्हें देख नहीं पाये। मुझसे वह कई बार मिलीं। कहती थीं कि एक तू ही मुझे देख पाती है। इनसे भी एक बार मिलीं, पर अधिक देर तक ये उनकी ओर देख नहीं पाये। जाने क्या बात है लल्ला, कि मैं उन्हें प्रायः देख लेती हूँ, पर तुम लोग नहीं देख पाते। हाँ, तो उस दिन माताजी ने कहा कि देख बेटी, आर्यक आया है। उस पर कुछ संकट आने की आशंका है। कल जैसे भी होगा, उसे तेरे पास भेजूंगी। इन दोनों को लेकर तुम तुरन्त घर छोड़ देना और किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर जाना। मैंने कहा कि मेरी बात पर ये कैसे विश्वास करेंगे, तो बोलीं, मैं कह दूंगी। कल प्रातःकाल इन्हें भी दिख गयीं। कह भी दिया, पर बहुत थोड़ी देर ही इनसे बात हुई। कहती थीं, इनमें भी दृष्टि-प्रत्यारोप करना पड़ा। ये जब बता रहे थे कि माताजी की पलकें स्थिर थीं तो मैं उसका रहस्य समझ गयी। उस दिन माताजी ने बहुत सारी बातें कहीं, पर सब समझ नहीं सकी। आज थोड़ा-थोड़ा समझ पा रही हूँ।"

आर्यक के भी बहुत-कुछ समझ में आ रहा था। पर वह भाभी के मुँह से अधिक सुनना चाहता था। भाभी माताजी के बारे में अधिक बता रही थीं, उनके सन्देशों के बारे में एकदम मौन थीं। आर्यक को वही आवश्यक जान पड़ता था। अनुनय के साथ भाभी से सन्देशा कहने की प्रार्थना करने पर भाभी ने चुहल की, "सुना रही हूँ लल्ला, भाभी का मुँह मीठा करना पड़ता है तब मीठी बात सुनने की आशा लगायी जाती है !" आर्यक ने कहा, "भाभी, तुम पहले सन्देशा कहो।

वह मीठा है कि खट्टा, यह तो देवर समझेगा।" भाभी ने कहा, "बड़े समझदार बननेवाले लालाजी, भाभी जिसे मीठा कहती है, वह मीठा ही होता है! इतना भी नहीं समझते!"

भाभी ने उपसंहार करते हुए कहा, "चन्द्रा और मृणाल प्रेमपूर्वक साथ रहती हैं। दोनों तुम्हारा पता लगाने को व्याकुल हैं। माताजी ने कहा है कि आर्यक को समझा देना कि चन्द्रा और मृणाल में न कोई झगड़ा है, न कभी होने की आशंका है। आर्यक घर जाये। सुनो लल्ला, तुम्हारी भाभी ने माताजी से पूछा भी था कि ऐसा वे कैसे सोचती हैं? दो सौतें भविष्य में भी नहीं लड़ेंगी, यह कैसे हो सकता है। माताजी ने कहा, 'बेटी, स्त्री एक ही जाति या श्रेणी की नहीं होती। चन्द्रा की जिस उद्दाम यौवन-लालसा से आर्यक घबरा गया है, वह उसका आरम्भिक रूप है। वह उतने ही प्रबल वात्सल्य-भाव का केवल पूर्वरूप था। चन्द्रा को उस वात्सल्य का आश्रय मृणाल के रूप में मिल गया है। वह सिर से पैर तक मातृत्व के उज्ज्वल आलोक से दीप्त शिखा की तरह ऊर्ध्वमुखी हो गयी है। चन्द्रा का प्रेम अप्रतिम है। अग्नि-शिखा की तीव्र आँच को देखकर उसकी पवित्रता पर शंका नहीं करनी चाहिए। आर्यक से कह दे कि चन्द्रा ने उसके प्रेम के लिए जो त्याग किया है, वह संसार की शायद ही कोई कुलांगना कर सकी हो। वह अश्रद्धेय नहीं, नमस्य है।'" भाभी ने थोड़ा रुककर दूसरी ओर देखा। फिर आँखें नीची किये हुए ही बोलीं, "माताजी की एक बात समझ में नहीं आयी। वे उच्छ्वसित-भाव से कह रही थीं, 'गणिका होकर भी जो साहस मंजुला नहीं कर सकी, वह साहस कुलांगना होकर चन्द्रा कर बैठी। इस उद्दाम प्रेम का निदर्शन खोजना कठिन है। उसके प्रेम में पाने का नहीं, लुटाने का वेग है।'"

भाभी ने माताजी का सन्देश सुनाने के बाद इतना और जोड़ दिया, "उस दिन मैं समझ नहीं पायी थी कि चन्द्रा कौन है और उसने कौन-सा त्याग किया है। अब मैं समझ सकती हूँ। मेरे प्रिय लल्ला, तुम्हारी कोई समस्या ही नहीं है। तुम बेकार परेशान हो। उठो, मैं आर्य देवरात को समझा लूँगी। तुम चिन्ता छोड़ो।"

इसी समय आर्य चारुदत्त ने आकर खबर दी कि आर्य देवरात आये तो हैं, पर उन्हें खोजा नहीं जा सका। पर इससे अधिक उल्लास के साथ उन्होंने बताया कि बड़े भैया श्यामरूप, जो यहाँ महामल्ल शार्विलक नाम से विख्यात हैं, आज के विकट युद्ध में हमारे पक्ष का नेतृत्व कर रहे हैं। वे विजयी सेनापति के रूप में राजभवन तक आ गये थे, पर बीच में एक आवश्यक कार्य से अन्यत्र गये हैं। वे शीघ्र ही लौट आयेंगे। आर्यक ने सुना तो एकाएक उल्लास के आवेग में चिल्ला उठा, "मेरे भैया श्यामरूप! सच कहते हो आर्य, श्यामरूप! मुझे उनके पास ले चलो, मित्र।" चारुदत्त ने कहा, "अभी नहीं, आज तो राजा को इस विशाल भवन के इसी सँकरे कक्ष में बन्दी बनकर रहना है! श्यामरूप अभी आ जायेंगे।"

अट्ठाईस

मथुरा नगरी निकट आ गयी थी। मल्लाहों ने बताया था कि एक दिन की यात्रा ही शेष है। बटेश्वर तीर्थ आ गया था। मृणाल के अनुरोध पर काका ने नाव रोकवा दी। उद्देश्य था बटेश्वर महादेव का दर्शन और पूजन। वैशाख की प्रचण्ड धूप और लू के कारण रात में ही यात्रा सुगम होती थी। मध्याह्न का समय यथा-सम्भव छायादार वृक्षों के नीचे बिताया जाता था, परन्तु मृणाल प्रायः नाव में ही रहती थी। सुमेर काका और चन्द्रा बाहर निकलकर आवश्यक कार्य कर लिया करते थे। परन्तु बटेश्वर तीर्थ की महिमा दूर-दूर तक फैली हुई थी। दूर-दूर से यात्री आते थे और इस सिद्धिदाता महादेव के दर्शन से अपनी-अपनी मनोकामनाओं की पूर्त्ति की आशा रखते थे। मृणाल ने भी बटेश्वर महादेव की महिमा सुन रखी थी। इस महिमामय देवता के चरणों में अपनी मनोव्यथा वह निवेदन करना चाहती थी। काका ने सोत्साह उसके निश्चय का समर्थन किया। नाव रोक दी गयी। सूर्योदय होने ही वाला था।

दूसरी नाव भी रुक गयी। इसमें साधारण नागरिक वेश में पुरन्दर के ऐसे विश्वस्त सैनिक थे जो किसी समय आर्यक के अनुचर रह चुके थे और लहुरा वीर की सेना में काम कर चुके थे। अब तक काका ने समझ लिया था कि अपनी नाव के साथ इस दूसरी नाव में कौन लोग हैं। परन्तु ऊपर-ऊपर से वे अनजान ही बने रहे। मृणाल और चन्द्रा को भी उन्होंने कुछ बताया नहीं। मृणालमंजरी स्नानादि से निवृत्त होकर चन्द्रा के साथ महादेव के मन्दिर को चली तो सैनिक भी चुपचाप उतरकर मन्दिर के चारों ओर बिखर गये। काका मृणाल और चन्द्रा के पीछे मन्दिर की ओर चले।

एक विशाल वट-वृक्ष की छाया में यह मन्दिर था। मन्दिर आकार में बहुत बड़ा नहीं था, पर उसकी सुन्दरता मन मोह लेती थी। वृक्ष काफी पुराना होगा। उसके प्ररोह दूर-दूर तक फैले हुए थे और स्वतन्त्र वृक्षों के रूप धारण कर चुके थे। मन्दिर जब बना होगा, उस समय यह वृक्ष इतना फैला हुआ नहीं रहा होगा, क्योंकि शिखर के समानान्तर प्ररोह ऊपर लटक आये थे जिन्हें भक्तों ने बीच से ही काट दिया था। उन पर नये हरे पत्ते भी लटक आये थे। ऐसा जान पड़ता था, वृक्ष बार-बार अपने पत्र-स्तवक को महादेव के चरणों में उत्सर्ग करने का प्रयत्न करता था और हर बार उसे नीचे तक हाथ बढ़ाने से रोक दिया जाता था; पर न वृक्ष ने हार मानी थी, न रोकनेवाले उपासकों ने। पत्र-गुच्छ एक निश्चित ऊँचाई तक ही पहुँच पाते थे। वृक्ष को महादेव के चरणों तक पहुँचने में बाधा पहुँचायी अवश्य गयी थी। परन्तु फिर भी वह अपने-आपको विशाल आतपत्र (छाता) के रूप में फैलाकर महादेव की सेवा किये ही जा रहा था। उसकी इस दुर्दम्य लालसा की स्वीकृति के रूप में ही उनका नाम 'बटेश्वर' पड़ा जान पड़ता

था। मृणाल को इस वृक्ष की स्निग्ध-शीतल छाया में बड़ी शान्ति का अनुभव हुआ। उसे ऐसा लगा कि कोई अदृश्य शक्ति उस पर स्निग्ध छाया उँड़ेल रही है। उसके मन में कुछ ऐसा विश्वास समा गया कि उसके तप्त-दग्ध हृदय को शीतल लेप से स्वस्थ बनाने की यह निसर्ग द्वारा निर्दिष्ट पूर्व-योजना है। भक्ति के साक्षात् विग्रह के समान ही वह मन्दिर में प्रविष्ट हुई। उसकी बायीं आँख अचानक फड़क उठी। इस शुभ निमित्त से उसका अन्तरतर खिल उठा। मुरझाये हुए चेहरे पर प्रच्छन्न आह्लाद की आभा दमक उठी। उसने बड़े उल्लास के साथ पूजा की और हाथ जोड़कर स्थिर बैठ गयी।

चन्द्रा पीछे खड़ी रही। दोनों की एक ही मनोकामना थी, पर दोनों में स्पष्ट अन्तर भी था। मृणाल अपने को भूल गयी, अपनी प्रार्थित वस्तु को भी भूल गयी, पर चन्द्रा न तो अपने को भूली, न अपने प्रार्थित को। मृणाल एक विचित्र समाधि में खो गयी। पर चन्द्रा स्थिर खड़ी रही। थोड़ी देर में उसे याद आया कि शोभन उठ गया होगा और उसे खोज रहा होगा। वह मन्दिर से निकल आयी, काका से कहकर नाव में चली गयी। मृणाल तपोनिरता पार्वती की भाँति समाधिस्थ बनी रही। काका मन्दिर-द्वार से थोड़ी दूरी पर चुपचाप बैठे उसकी प्रतीक्षा करने लगे। दर्शनार्थी आते-जाते रहे। महादेव के सामने हाथ बाँधे मृणाल उसी प्रकार खोयी-सी बेसुध बैठी रही। ऐसा लगता था कि उसकी सारी चेतना एकदम अन्तर्लीन हो गयी है। दर्शनार्थी शिव के सामने समाधि-लीना साक्षात् शिव-भक्तिन के समान अपूर्व सुन्दरी मृणालमंजरी को देखकर क्षण-भर के लिए ठिठक जाते थे और ऐसा अनुभव करते थे मानो शिव की करुणा को ही देख रहे हैं।

एक सुगठित शरीरवाला चारुदर्शन दर्शनार्थी तो ऐसा अभिभूत हुआ कि शिव के साथ ही शिव की साक्षात् अनुग्रहेच्छा मानकर मृणाल को पृथ्वी पर सिर रगड़-कर प्रणाम निवेदन कर बैठा। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में श्रद्धा के अश्रु भर आये। उसके रोम-रोम से कृतार्थता झड़ रही थी। ऐसा लगता था कि वह किसी चिरा-कांक्षित देवी का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया है। मृणाल वैसे ही बैठी रही। काका दूर से देख रहे थे। उन्हें युवक की हरकत पर क्रोध आया। डपटकर बोले, "युवक, मन्दिर के बाहर आओ। वहाँ क्या कर रहे हो ?"

युवक अकचकाया। बाहर निकलकर काका से बोला, "मुझसे पूछ रहे हैं तात? महादेव के सामने उनकी अनुग्रहेच्छा को देखकर आज मैंने जीवन को कृतार्थ समझा है। प्रणम्य को प्रणाम न करने से पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम होता है तात, मैंने कुछ अनुचित किया है ?" काका युवक के भोलेपन से प्रभावित हुए। बोले, "तुम्हें देखकर लगता है कि तुम्हारा जन्म किसी कुलीन वंश में हुआ है, तुम्हारे मुख पर प्रताप के चिह्न हैं पर किसी कुलवधू को पूजा के समय विव्रत करना क्या कुलीन-जनोचित कार्य है ?" युवक ने जैसे अपना दोष समझा—"क्षमा करो तात, ये तो साधारण कुलवधू नहीं जान पड़तीं, जिस कुल की ये वधू होंगी वह निश्चय ही देवताओं का कुल होगा। मैंने इनका दर्शन पाकर अपना जन्म कृतार्थ माना है।

विश्वास करो तात, मुझे ये पार्वती की प्रतिमूर्त्ति लगती हैं। ऐसा लगता है कि विधाता ने भक्ति को गलाकर, सतीत्व का मिश्रण करके, गंगा की धारा से तरल करके, ललिता देवी के साँचे में ही इन्हें सिरजा है। मेरा प्रणाम इसी दिव्य रूप को निवेदित हुआ है। मुझसे कोई दोष हुआ हो तो क्षमा करो तात, साक्षात् पार्वती को प्रणाम किये बिना कैसे रहा जा सकता था! परन्तु आप क्या इन्हें जानते हैं, ये कौन हैं? किस पवित्र कुल में इनका जन्म हुआ है? हिमालय और मैना के समान किन बड़भागी पिता-माता का वात्सल्य इन्हें प्राप्त हुआ है? आप क्या कुछ जानते हैं, तात?"

सुमेर काका इस सरल, सुन्दर युवक के प्रश्नों का उत्तर दें या न दें, कुछ निश्चय नहीं कर सके। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "सुनो आयुष्मान्, मैं इन्हें जानता हूँ, पर तुम्हारी मनोभावना का आदर करते हुए भी तुम्हें सावधान करना चाहता हूँ कि तुम्हारे-जैसे शिष्ट-कुलीन युवक को पर-स्त्रियों के बारे में ऐसे प्रश्न नहीं करने चाहिए। यह सब प्रकार से अनुचित है।" युवक का चेहरा बुझ गया—"क्षमा करें तात, दोष हो गया। पर मैं कोई लम्पट युवक नहीं हूँ। आपका अनुमान ठीक है। मैं कुलीन वंश में ही उत्पन्न हुआ हूँ। आज तक मैंने किसी कुल-ललना की ओर कुदृष्टि से नहीं देखा है। मैंने इस महीयसी बाला को कुलवधू से बहुत ऊपर की देवी समझकर ही प्रणाम किया है। सुनो तात, मैं नितान्त अकर्मण्य नहीं हूँ। सहस्रों कुलवधुओं की मान-रक्षा के लिए मैं व्याकुल हूँ। इन भुजाओं की ओर देखो तात, ये अगर कुलवधुओं की मान-रक्षा नहीं कर सकीं तो मैं इन्हें वृथा उच्छून मांसखण्ड ही समझूँगा। मैंने श्रद्धा-जनित कुतूहल के कारण पूछा है, किसी प्रकार की पाप-भावना से चालित होकर ऐसा नहीं किया। अच्छा तात, मैं चलता हूँ, मेरे अविनय को क्षमा करें!" कहकर युवक उदास भाव से चल पड़ा। उसने पीछे फिरकर देखा भी नहीं।

सुमेर काका इस युवक के श्रद्धापूर्ण वचनों से ऐसे प्रभावित हुए कि प्यार से उसे सम्बोधन करते हुए बोले, "रुको आयुष्मान्, तुम्हें बुरा लग गया! कौन नहीं जानता कि सुमेर काका गँवार है, उसे बोलने का ढंग नहीं मालूम। तुम सचमुच बहुत कुलीन लगते हो। हलद्वीप में सुमेर काका की बात का कोई बुरा नहीं मानता। बच्चा-बच्चा उसके गँवारपन का जानकार है। बुरा न मानो चिरंजीव, हम लोग हलद्वीप से आये हैं, यह मेरी बेटी है, मुझे लोग सुमेर काका कहते हैं; बेटे का भी काका, बाप का भी काका, बहू का भी काका, सास का भी काका, तुम भी मुझे 'काका' कह सकते हो। मुझे तुम्हारी सच्चाई और विनयशीलता अच्छी लगी है।"

सरल प्रकृति के सुमेर काका सब-कुछ कह गये। युवक प्रसन्न हुआ—"तो काका, आप लोग हलद्वीप के निवासी हैं। वही हलद्वीप जहाँ के राजा गोपाल आर्यक हैं? आप गोपाल आर्यक को तो जानते होंगे।" सुमेर काका प्रसन्न-भाव से बोले, "गोपाल आर्यक को तो मैंने गोद में खेलाया है, आयुष्मान्! तुम उसे कैसे

जानते हो ?"

"वाह काका, आपने भी खूब पूछा ! इस भरतभूमि में ऐसा कौन है जो गोपाल आर्यक को नहीं जानता ! उसी महावीर के प्रचण्ड भुज-दण्डों का प्रताप है कि सम्राट् समुद्रगुप्त आज आसमुद्र पृथ्वी की विजय का स्वप्न देखता है । आपने ऐसे महावीर को गोद में खिलाया है, आप नमस्य हैं ।"

काका प्रसन्न हुए । पर उदास स्वर में बोले, "सम्राट् कुछ अविमृश्यकारी जान पड़ता है बेटा, बिना सोचे-विचारे कर बैठनेवाला ! उसने गोपाल आर्यक को जाने क्या लिख दिया कि वह न जाने कहाँ मुँह छिपाता फिरता है । हमारी फूल-सी बिटिया को उसने आग में पटक दिया है । देख ही तो रहे हो । हर देवी-देवता के सामने ऐसे ही खो जाती है । मैं क्या कर सकता हूँ बेटा, हृदय फटा जाता है, पर विवश हूँ ।" कहकर वृद्ध काका ने दीर्घ निःश्वास लिया ।

युवक सम्भ्रम के साथ उठ खड़ा हुआ—"तो तात, ये क्या महावीर गोपाल आर्यक की पत्नी मृणालमंजरी हैं ?"

"हाँ आयुष्मान्, तुमने ठीक ही पहचाना है ।"

"क्षमा करें तात, मैंने सती-शिरोमणि मृणालमंजरी का यश बहुत सुना है । उधर गाँवों में स्त्रियाँ इन्हें ही 'मैना माँजर देई' कहकर पूजती हैं । मुझसे श्रद्धेय को श्रद्धा-निवेदन करने में कोई चूक नहीं हुई तात, मैं धन्य हूँ ! मैंने सतीत्व की साक्षात् विग्रह-रूपा अरुन्धती-कल्पा देवी को पहचानने में भूल नहीं की । अच्छा काका, आप तो सम्राट् को दोषी बता रहे हैं, पर यह क्या सत्य नहीं है कि गोपाल आर्यक ही इस सती पत्नी के दुख का कारण बना ? क्या वह किसी परस्त्री को लेकर भाग नहीं गया था ? क्या इस प्रकार की देवी को छोड़ देने का अपराधी वह नहीं है ? लोग क्या इस आचरण की कुत्सा नहीं कर रहे ?"

"नहीं आयुष्मान्, तुम भी समुद्रगुप्त-जैसी बातें करते हो ! जब तक मैं नहीं जानता था, तब तक मैं चन्द्रा को महापापिनी मानता था । अब जान गया हूँ तो उसे दृढ़व्रता सती मानने लगा हूँ । आर्यक बहुत शीलवान् युवक है । वह अपने से आप ही डरता है । चन्द्रा सामाजिक रूढ़ियों का शिकार है । उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह एक नपुंसक व्यक्ति से कर दिया गया । वह मन-ही-मन आर्यक को अपना पति मान चुकी थी, और जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, आर्यक की मौन स्वीकृति भी उसे प्राप्त हो चुकी थी । पर घटना-चक्र कुछ ऐसा घूमा कि आर्यक का विवाह मृणालमंजरी से हो गया । चन्द्रा अद्भुत साहसी लड़की है, आयुष्मान् ! उसने सारे समाज को, लोक-निन्दा को तलवों से रौंदकर अपने अन्तर्यामी का इंगित स्वीकार किया । वह अपने मनोवृत पति की सेवा चाहती थी, इस मृणाल की तो उसने ऐसी सेवा की है कि मैं विस्मित हो गया । आज भी जो यह जी रही है उसका कारण चन्द्रा की निश्छल सेवा और प्रेम ही है । दोनों को बस 'एक प्राण, दो शरीर' समझो । इतना प्रेम, इतनी सेवा, मैंने तो कभी देखी नहीं । और वह शील-दुर्बल आर्यक है कि भागा-भागा फिर रहा है ! चन्द्रा-जैसी खरी तेजस्विनी

सती नारी संसार में दुर्लभ है। सम्राट् ने निर्णय लेने में जल्दी की थी, इसलिए मैंने उसे अविमृश्यकारी—बिना सोचे-विचारे काम करनेवाला—कहा है। अपराधी कैसे कहूँ! मेरे जैसा गँवार ऊपर-ऊपर से देखकर जैसा सोचा करता था, वैसा ही इतना बड़ा प्रतापी सम्राट् भी सोचे, यह ज़रा वेतुका-सा लगता है। सम्राट् तो सम्राट्, मामूली राजा भी धर्म का अवतार माना जाता है। इस बिटिया के पिता आर्य देवरात बड़े पण्डित और ज्ञानी थे। उन्होंने एक बार मुझे बताया था कि धर्म का तत्त्व बहुत गहराई में रहता है, ऊपर-ऊपर से देखनेवाले उसे समझ नहीं पाते। राजा धर्मावतार होता है। उसे गहराई में देखना चाहिए। सम्राट् का दोष यह है कि वह ऊपर-ऊपर से देखता है और अपने नर्म-सखा गोपाल आर्यक से भी ऐसी ही आशा रखता है, मैं इससे अधिक कुछ नहीं कह सकता।"

युवक के मुख पर कुछ खिचाव का भाव आया, पर वह उसे पी गया। वह कुछ देर चुपचाप बैठा रहा, फिर उसके विशाल ललाट पर पसीने की बूँदें झलक आयीं।

ज़रा रुककर बोला, "क्षमा करें तात, मैं थोड़ी और धृष्टता कर रहा हूँ। आपने चन्द्रा को ठीक-ठीक पहचानने का अवसर पाया है कभी? कहीं ऐसा तो नहीं कि सारे वृद्ध जन अपनी बहू-बेटियों को जिस प्रकार पवित्रता की मूर्त्ति मान लेते हैं, वैसे ही आप भी मान बैठे हैं?"

सुमेर काका को क्रोध आया, पर युवक के चेहरे पर ऐसी गम्भीरता थी कि उनके जैसा फक्कड़ भी गुस्सा पी जाने को बाध्य हुआ। गला साफ़ करके बोले, "धृष्टता तो तुम सचमुच ही कर रहे हो, आयुष्मान्! पर तुम्हारे मुख पर शुचिता के भाव हैं। उससे मैं तुम्हारी सच्चाई के बारे में आश्वस्त हूँ। हाँ, मैं बल देकर कहना चाहता हूँ कि मैं जो कह रहा हूँ वह पूर्णरूप से परीक्षित सत्य है। सुमेर काका जान-बूझकर झूठ नहीं बोलता। तुम अब जा सकते हो। अपरिचित परदेशी साथी हो, हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध उतने ही तक सीमित रहना चाहिए। जाओ!"

युवक ने धरती पर सिर रखकर प्रणाम किया और उठकर चलने को प्रस्तुत हुआ। ज़रा रुककर कहा, "केवल एक बात और पूछना चाहता हूँ, काका। केवल एक बात।"

"पूछ लो।"

"मान लीजिये यदि मेरे स्थान पर सम्राट् समुद्रगुप्त आपसे यह बात पूछते तो भी क्या आप ऐसा ही उत्तर देते?"

"सम्राट् समुद्रगुप्त ही क्यों, यदि सम्राटों के सम्राट् भगवान् भी पूछें तो यही उत्तर दूँगा। जाओ!"

युवक जाने लगा। इसी समय बच्चे का हाथ पकड़े चन्द्रा भी नाव से निकलकर ऊपर आती दिखायी दी। युवक ने उसका आना देख लिया। वह तेज़ी से दूसरी ओर चला गया। चन्द्रा ने भी उसे देख लिया, पर केवल एक क्षण के लिए।

चन्द्रा ने आकर काका से पूछा, "किससे बातें कर रहे थे, काका? यह आदमी

तुमसे क्या पूछ रहा था ?"

काका के मन में अब भी क्रोध बना हुआ था। बोले, "पता नहीं, कौन है ! देखने में तो कुलीन लगता है पर लड़कियों के बारे में बेकार सवाल पूछता है। मुझे क्रोध भी आया, पर क्या जाने क्या बात हुई कि मैं कसकर डाँट भी नहीं सका।"

चन्द्रा ने कहा, "काका, मुझे एक क्षण के लिए जो झलक मिली उससे मुझे लगा कि ये सम्राट् समुद्रगुप्त ही थे। वेश बदलकर प्रजा से बात करना उनका स्वभाव है। वे इसी प्रकार सच्ची बातों का पता लगाते हैं। तुमसे उनकी क्या बातें हुई !" काका आश्चर्य से ठक् रह गये, "तू पहचानती है उन्हें ?" चन्द्रा ने कहा, "पहचानती हूँ, पर देखा तो सिर्फ़ एक क्षण के लिए ही। वही होंगे।"

काका ने लापरवाही से कहा, "होंगे तो होंगे !" और सारी बातें ज्यों-की-त्यों चन्द्रा से कह दीं। चन्द्रा ने प्रसन्न-भाव से कहा, "ठीक कहा। ऐसी खरी बात कहनेवाला सम्राट् को अब तक नहीं मिला होगा।" वह प्रसन्नता से खिल गयी, "काका, तुम्हारी सारी बातें सुनकर मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि वे सम्राट् ही थे।" कहकर चन्द्रा किसी पुरानी स्मृति में थोड़ी देर के लिए खो गयी। कुछ स्मरण करके हँसती हुई बोली, "जानते हो काका, सम्राट् मुझसे क्यों अप्रसन्न हैं ? भेद जानने की अपनी इसी आदत के कारण।" फिर अपने में आप ही डूबती-उतराती-सी कहने लगी, "जब गोपाल आर्यक सम्राट् के आदेश पर सेनापति बनकर दिग्विजय के लिए चला गया तो सम्राट् ने एक दिन मुझे बुलाया और अत्यन्त सहानुभूति दिखाते हुए कहा, 'देखो चन्द्रा रानी, मैं तुमसे एक बात जानना चाहता हूँ। जब आर्यक जाने लगे तो मैंने उनसे कहा कि बन्धु, तुम्हारी सुन्दरी पत्नी को वियोग का दुख दे रहा हूँ, परन्तु मुझे आशा है कि तुम शीघ्र ही दिग्विजयी होकर लौट आओगे और उस समय उन्हें जो सुख मिलेगा, उससे सारी वियोग-वेदना बहुत सुखद लगने लगेगी। मित्रों में इस प्रकार का परिहास होता ही रहता है, पर आर्यक का चेहरा उतर गया, आँखों में आँसू छलक आये। भरे गले से केवल इतना ही कहा कि मेरा जन्म पत्नी को वियोग की ज्वाला में जलाने के लिए ही हुआ है। मैं ठीक समझ नहीं सका कि वे क्या कहना चाहते थे ? वे क्या तुम्हारे साथ रहकर भी तुम्हें वियोग का दुख देते हैं ?' मैंने सम्राट् से साफ़ कह दिया कि आर्यक की शास्त्र-विधि से विवाहिता पत्नी हलद्वीप में सचमुच वियोग-ज्वाला से जल रही है। मैं आर्यक को उसके पास ले जाना चाहती हूँ। मैं भी उसकी पत्नी हूँ, पर जिसे आप शास्त्र-विधि समझते हैं उस विधि से मैं विवाहिता नहीं हूँ। आर्यक मेरा मनोवृत पति है। सम्राट् ने आँखें चढ़ा लीं। उन्होंने क्रुद्ध भाव से कहा, 'तुम्हारी-जैसी निर्लज्ज महिला मैंने आज तक नहीं देखी। तुम मेरे सामने से हट जाओ।' मैंने भी छोड़ा नहीं। कहा, 'मैं पतिव्रता हूँ, तुम्हारे-जैसे सम्राट् भी मुझे उस व्रत से हटा नहीं सकते। मैं कुंचित भृकुटियों की उपेक्षा करना जानती हूँ।' और सम्राट् को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर चली आयी। सम्राट् क्रुद्ध दृष्टि से ताकते रह गये। पर काका, उस समय मैंने अनावश्यक औद्धत्य दिखाया था।..."

"उस दिन मैंने ऐसा औद्धत्य न दिखाया होता तो आज बेचारे आर्यक को भटकना नहीं पड़ता और मेरी इस बहिन को इतना कष्ट न होता। दुर्मुख होना भी पाप ही है !"

जब मृणालमंजरी का ध्यान टूटा तो दिन बहुत चढ़ आया था। वह अलस मन्थर गति से प्रदक्षिणा करके मन्दिर से बाहर आयी। उसकी आँखों में विचित्र कुतूहल का भाव था। जैसे किसी अपरिचित जगत् में लौट आयी हो। शोभन दौड़कर उससे लिपट गया। चन्द्रा ने उसे सहारा दिया। नाव में बैठते ही प्रसन्न-भाव से उसने कहा, "मैना, आज तेरी तपस्या सफल हुई। सम्राट् स्वयं आकर सिरदा दे गया है !" मृणाल कुछ समझ नहीं सकी। अभी भी वह किसी दिव्य लोक की चकाचौंध से अभिभूत लग रही थी। बोली, "दीदी, आज सचमुच मुझे बहुत मिला है। जानती हो दीदी, मुझे भगवान् शंकर के दर्शन हुए। एक साथ सहस्रों बिजलियों के कौंधने से जैसा प्रकाश होता है वैसा प्रकाश मैंने देखा है। उसी दिव्य ज्योति में मैंने कर्पूर गौर शिव को समाधिस्थ देखा। अपूर्व शोभा थी दीदी, अपूर्व ! कैसे बताऊँ कि क्या देखा—बरसने से पहले घनघुम्मर घटा में जो आशा-संचारिणी शामक शोभा दिखायी देती है, निस्तरंग विशाल अम्बुराशि में जो भीषण-मनोहर अचंचल निस्पन्दता दिखायी देती है और ऊर्ध्वगामिनी शान्त-अकम्पित दीप-शिखा में अन्धकार-विमर्दिनी साहस-दायिनी जो स्थिरता होती है, इन सबको एक साथ मिला देने पर जो अक्षोभ्य शान्ति बनेगी, कुछ-कुछ वैसा ही। ऐसा जान पड़ा कि शान्ति सहस्रधार होकर मेरे ऊपर बरस रही है। तुम विश्वास करो दीदी, मैंने आज अक्षोभ्य मूर्त्ति देखी है। मन्दिर के सम्पूर्ण गर्भगृह में शामक प्रकाश जगर-मगर कर रहा था। इतना प्रकाश था मगर आँखें ज़रा भी चौंधियायीं नहीं। क्या वह चन्द्रमौलि महादेव के शिर-स्थित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना थी या कहीं अन्तराल-विहारिणी पार्वती की मन्दस्मित का आलोक था? और इसी अद्भुत शोभा में धीरे-धीरे प्रकाश को सिमटते देखा। किस प्रकार वह प्रकाश सिमटते-सिमटते एक आलोक-विग्रह के रूप में प्रकट हुआ, वह मैं तुम्हें नहीं बता सकती। सच मानो दीदी, वे ही थे। बिल्कुल वे ही। क्लान्त नहीं थे, पर बुरी तरह चिन्तित थे। उनका तेज वैसा ही था, पर शरीर सूखकर ऐसा दिखायी दे रहा था जैसे पत्तों के झड़ जाने पर कोई महावनस्पति हो। दुखी तो नहीं लगे, पर चिन्ता-कातर अवश्य लगते थे। जानती हो दीदी, मैंने क्या सुना? कह रहे थे, 'चिन्ता न करो मैना, मैं आ रहा हूँ। तुम्हारी चन्द्रा दीदी के पैरों पड़कर क्षमा माँगूंगा। तुम उनसे कहना कि वे क्षमा कर दें।' "

चन्द्रा की आँखें आकर्ण विस्फारित हो गयीं, "सच मैना, तूने ऐसा सुना? भोली बहना, तू जैसा सोचा करती है वैसा ही सपने में भी देखती है और ध्यान में भी अनुभव करती है। मेरी प्यारी मैना, तू साक्षात् अरुन्धती है। दे, तेरा मुँह चूम लूँ।" आवेश में चन्द्रा ने मैना का मुँह चूम लिया। मैना मानो सोते-से जागी, "तुम तो दीदी पागल हो जाती हो।"

"फिर से कह बहिन, फिर से कह ! इस प्रेम-परवशा पगली को कोई प्यार से पागल कहनेवाला भी नहीं है। तू ही इस पगली की व्यथा समझती है। अब मैं कृतार्थ हूँ मैना, परम कृतार्थ हूँ। तेरे पवित्र हृदय में बैठा हुआ आर्यक ही सही आर्यक है। उस निष्कलंक आर्यक ने जो कुछ कहा है उसे सत्य मानकर अपने को कृतार्थ मानती हूँ। बहिन, इससे अधिक का लोभ तेरी पगली दीदी में नहीं है। बहुत पा गयी रे, बहुत पा गयी ! और क्या सुना बहिन ?"

"दीदी, यह स्वप्न बिल्कुल नहीं था। यह महादेव की कृपा का प्रसाद था। मैंने प्रत्यक्ष देखा है दीदी, वे आ रहे हैं, चले आ रहे हैं, भागे आ रहे हैं। बार-बार कह रहे थे, 'मैंने चन्द्रा के साथ अन्याय किया है, तुमने उसे प्यार देकर मेरी लाज बचा ली। मैंने तुम्हें भी कष्ट दिया है, चन्द्रा को भी कष्ट दिया है। मैंने अपने पहले के प्रेम को तुमसे छिपाकर तुम्हें भी धोखा दिया है, दुनिया को भी धोखा दिया है, चन्द्रा को भी धोखा दिया है। मैना, मेरी प्यारी मैना, तुम दोनों मुझे क्षमा कर दो। मैं पैरों पड़ता हूँ, क्षमा कर दो।' "

चन्द्रा स्तब्ध !

मृणाल ने ही फिर कहा, "बताओ दीदी, ऐसा कभी मैंने सोचा है ? क्या धोखा दिया है मुझे ? तुम कहती हो, जो सोचती है वही देखती है। मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं। सच दीदी, कभी नहीं।"

"अपनी सारी सोची बातों को आदमी कहाँ जानता है, मैना ?"

"जानता है, जानता है। मेरे मन में कभी कहीं ऐसी विचित्र बात नहीं आयी, नहीं आ सकती।"

"अरी भोली, चन्द्रा का सत्संग भी तो तुझे मिला है !"

"मिला है, प्राण ढालकर उसे ग्रहण किया है, पर ऐसा विचार मेरे मन में कभी नहीं आया।"

"तो तू इसे सत्य मानती है ?"

"सोलह आना सत्य। यह महादेव का प्रसाद है—सत्य प्रसाद। वे आ रहे हैं। तैयारी करो दीदी, अभ्यागत के स्वागत की तैयारी करो ! चूकना नहीं, दीदी ! यह देखो, मेरे सारे शरीर में रोमांच हो रहा है।"

"मेरे में भी वैसा ही हो रहा है। मगर मैं तेरी-जैसी भोली नहीं हूँ। जब तेरी अँगिया दरक जायेगी, तब मेरी आँख फड़केगी। तुझमें अपार ग्राहिका शक्ति है। मेरा संवेदन थोथा हो गया है।"

"तुमने अपना संवेदन मुझे जो दे दिया है। नहीं दीदी, रुको मत, चूको मत। वे आ रहे हैं।"

चन्द्रा ध्यानस्थ !

ऐसे ही समय काका आ गये। शोभन भी उनके साथ ही आ गया। मृणाल और चन्द्रा दोनों खड़ी हो गयीं। काका आसन पर बैठकर बोले, "ले, इस बार नाती से उलझना पड़ रहा है। कहता है, मैं भी पूजा करूँगा। अरे बाबा, तू क्या

पूजा करेगा ! तू तो स्वयं देवता है। कहता है, मन्त्र सिखा दो। इसका नाना तो भाग गया। मैं इसे क्या मन्त्र सिखाऊँ ? कहता है, नाना को बुलाओ। कहाँ से बुलाऊँ ?"

चन्द्रा ने झपटकर बच्चे को गोद में ले लिया। "मैं सिखा दूँगी रे, ऐसा मन्तर सिखाऊँगी कि तेरा नाना भी दौड़ा आयेगा, तेरा बाप भी आ जायेगा।" चन्द्रा आवेश में थी। उसने बच्चे को प्यार से चूम लिया। काका हँसने लगे।

मृणाल ने काका के पैर छू लिये। काका ने आश्चर्य से देखा—मैना का चेहरा उत्फुल्ल कमल की भाँति प्रफुल्ल दिखायी दिया। काका ने सन्तोष का अनुभव किया। मृणाल ने कहा, "काका, अभी मैं दीदी को बता रही थी, पूरी बात कह नहीं पायी कि तुम आ गये। वे आ रहे हैं काका। दो दिन और यहीं रुक जाओ तो कैसा हो ! और हाँ दीदी, मैंने पिताजी को भी देखा है। वे भी आ रहे हैं। शायद वे एक दिन बाद आयेंगे। लेकिन वे भी आ रहे हैं।"

चन्द्रा ने हँसते हुए कहा, "आज शिवजी प्रसन्न हैं काका, मेरी भोली बहिन ने जो-जो सोचा है, सब होनेवाला है।"

मृणाल ने प्रतिवाद किया, "बार-बार ऐसा न कहो दीदी, देवता को साक्षी करके जो देखा है, सब घटित होगा—सब !"

चन्द्रा सकुचा गयी। काका ठहाका मारकर हँस पड़े।

काका ने पुरानी बात याद करते हुए कहा, "आर्य देवरात एक बार मुझे बता रहे थे कि जो कुछ घट रहा है, वह भाव-जगत् में पहले से ही घटा रहता है। निर्मल-निष्पाप चित्त के दर्पण में सब दिखायी दे जाता है। जिसके चित्त में आवरण पड़ा रहता है—त्रिविध मलों का आवरण—वह नहीं देख पाता। बताया था कि कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को होनेवाली सारी घटनाओं को अपने भीतर दिखा दिया था। मेरे चित्त पर बहुत आवरण पड़े हुए हैं। दर्पण ही मलिन हो तो दिखेगा क्या ! लेकिन तू दो दिन यहाँ क्यों रुकना चाहती है, बिटिया ?"

"आदेश हुआ है काका, दो दिन और पूजा करने का आदेश।"

"तो रुक जाते हैं। तब तक शोभन पण्डित भी मन्त्र सीख लेंगे। गुरु-रूप में चन्द्रा तो है ही।"

काका फिर फक्कड़ाना हँसी हँस पड़े।

उनत्तीस

सुमेर काका की दो बातें समुद्रगुप्त को चीर गयीं। सम्राट् अविमृश्यकारी है—बिना सोचे-समझे काम कर बैठता है। उसके जल्दबाज़ी में किये गये निर्णय ने फूल-सी कोमल बिटिया को आग में पटक दिया है! यदि ये दोनों बातें सत्य हैं तो सम्राट् के लिए कलंक हैं। अविमृश्यकारिता सबके लिए चरित्रगत दोष है, पर सम्राट् के लिए तो वह अक्षम्य अपराध भी है। उसके बिना सोचे-विचारे निर्णय से सहस्रों को कष्ट हो सकता है, सैकड़ों की मान-मर्यादा ध्वस्त हो सकती है, साम्राज्य ही लड़खड़ा सकता है। उसका प्रत्येक निर्णय 'बहुजन-सुखाय, बहुजन-हिताय' होना चाहिए। गोपाल आर्यक और चन्द्रा के सम्बन्ध में क्या सोच-विचार कर काम किया गया? क्या इतने बड़े विश्वसनीय सखा और सेनापति को खो देना साम्राज्य के हित में हुआ? समुद्रगुप्त का वह निर्णय तत्क्षण उत्पन्न किसी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं था? आचार्य पुरगोभिल कहते हैं कि राजा का एकान्त में किया गया निर्णय धर्म-सम्मत नहीं होता, उसमें राजा के राग-द्वेष से प्रभावित होने की आशंका रहती है। समुद्रगुप्त ने एकान्त में जो निर्णय लिया, उसमें राग-द्वेष का स्पर्श था? समुद्रगुप्त के अन्तर्यामी कहते हैं—था।

फिर मृणाल-जैसी सती साध्वी देवी यदि कष्ट पाती है तो समुद्रगुप्त की उस थोथी प्रतिज्ञा का क्या मूल्य है कि वह देश की बहू-बेटियों के मान और मर्यादा की रक्षा करेगा और उन्हें किसी प्रकार की परिशोचना में नहीं पड़ने देगा। समुद्रगुप्त के रोम-रोम में यह विश्वास भरा था कि किसी देश की सभ्यता और धर्माचार की कसौटी उस देश की स्त्रियों का सम्मान और निश्चिन्तता है। मनु की यह व्यवस्था कि जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं, उन्हें बहुत सम्मान-योग्य मालूम होती थी। सतीत्व, शील, विनय, पवित्रता और सरलता का अनाविल रूप उन्हें स्त्रियों से ही मिलता था। वे मानते थे कि स्त्रियों का सम्मान इन्हीं गुणों के कारण विहित है। परन्तु उनके उस निर्णय से क्या इस सम्मान में कोई त्रुटि आयी है? उनके अन्तर्यामी कहते हैं—नहीं।

किन्तु समुद्रगुप्त का चित्त उत्क्षिप्त ही बना रहा। मृणालमंजरी को कष्ट हो तो रहा है। सतियों में शिरोमणि, रूप, शील और पवित्रता की साक्षात् मूर्त्ति, परम प्रिय नर्म-सखा की सहधर्मिणी मृणालमंजरी यदि उनके किसी निर्णय से दुखी हो गयी है तो कहीं-न-कहीं अपराध तो हुआ ही है। मृणालमंजरी सारे देश की शुचिता और पवित्र संस्कारों का ही रूप है। कहीं-न-कहीं ग़लती हुई अवश्य है; कहाँ हुई है, यह स्पष्ट नहीं हो रहा है।

और चन्द्रा? उसे समझने में भी कहीं चूक हुई है। सच्चाई, सरलता और तेजस्विता को निर्लज्जता मान लेना ही कदाचित् यह चूक है। सम्राट् समुद्रगुप्त मणालमंजरी की एक झलक पाने के लिए कई दिनों से नाव का पीछा करते आ रहे

थे। उसके रूप, शील, सतीत्व की कहानियाँ सुन चुके थे। लेकिन अवसर मिला आज बटेश्वर मन्दिर में। अहा ! कैसा दिव्य रूप है, कैसी कमनीय कान्ति है, कैसी अनुभाव-तरंगों से घिरी शरीर-यष्टि है ! श्रद्धा और भक्ति की वह मिलित विग्रह है; शील, शोभा और पवित्रता की मोहन त्रिवेणी है। परन्तु चन्द्रा उसे नित्य दिख जाती थी। सेवा ही मानो प्रत्यक्ष रूप धारण करके उपस्थित हुई थी, तितिक्षा ही मानो गंगा-यमुना की शामक शोभा देखने आ गयी है। निरन्तर सेवा में निरत दिखती थी, क्या रूप दिया है विधाता ने ! अंग-अंग से सुषमा, सब ओर से सन्तुलित सौन्दर्य। तेज से प्रदीप्त, जैसे ज्वलन्त दीप-शिखा हो, जिसे छूने से जल जाने की आशंका होती है। स्वच्छ वस्त्र से आगुल्फ-आच्छादित उसकी तेजोमयी देह-यष्टि को देखकर आश्चर्य हुआ था उन्हें—'जलचादर के दीप ज्यों झलमलाति तन-जोति !' सहज भाव से कर्म-निरता तपस्विनी चन्द्रा तरंगों पर थिरकती पद्मिनी की तरह लगती थी। वह रात को शायद सोती भी नहीं थी। हाय-हाय, इसी सेवा-परायण महिला को अपशब्द कह दिये थे ! भाग्यवान् हो आर्यक, जो तुम्हें स्वेच्छा से अपने को तिल-तिल उत्सर्ग करनेवाली प्रेयसी मिली है। और मन्द-भाग्य हो समुद्रगुप्त, जो तुमने इस चक्रवाक-मिथुन को अन्धतिमिर की भाँति अलग-अलग कर देने का असाधु निर्णय लिया !

परन्तु यह आर्यक भाग्यवान् है कि हतभाग्य है ? समुद्रगुप्त को मुँह नहीं दिखायेगा ! क्या हुआ है तेरे मुँह में कि मुँह नहीं दिखायेगा ? समुद्रगुप्त दूसरों के लिए राजाधिराज हो, चक्रवर्ती सम्राट् हो, तेरे लिए तो वह केलि-सखा ही है। बहुत बार झगड़ चुका है, एक बार और झगड़ लेगा तो क्या अन्तर आ जाता है। मित्र के निर्णय में त्रुटि रह गयी हो तो मित्र नहीं समझायेगा तो कौन समझायेगा ? गँवार कहीं का ! अपने से आप ही छिपता फिरता है। इस बार नहीं रुकेगा समुद्रगुप्त। जब नहीं समझता था तब नहीं समझता था। वह जानता है और मानता भी है कि निश्छल सेवा के पसीने से अधिक पावनकारी वस्तु विधाता की सृष्टि में है ही नहीं। सेवा का पसीना शरीर और मन के सारे कलुष को धो देता है। हो सकता है कि पहले चन्द्रा में कोई दोष रहा भी हो, पर अब ? निश्छल सेवा के पसीने ने सब धो दिया है। केवल धो ही नहीं दिया है, पवित्रता का पानी चढ़ा दिया है। क्या कुन्दन-सी दमकती देह-द्युति है ! यह क्या अन्तरतर की पवित्रता के बिना आ सकती है ! नहीं आर्यक, समुद्रगुप्त तुम्हें भागने नहीं देगा। जहाँ कहीं होगे, अवश्य पकड़े जाओगे। समुद्रगुप्त मित्रघात नहीं होने देगा। नहीं होने देगा !

समुद्रगुप्त अत्यन्त साधारण नागरिक वेश में थे। वे एक शालि-जातीय घोड़े पर सवार थे। जान-बूझकर उन्होंने 'होत्र'-जातीय घोड़ा नहीं लिया था। उससे सैनिक होने का सन्देह हो सकता था। उन्होंने किसी अंग-रक्षक को भी साथ नहीं लिया था। उनकी सेना नदी के दूसरे किनारे से जा रही थी—एक दूरी बनाये रखकर। वे विचारों में उलझे हुए थे। सामने से ऊँट पर सवार दो साधारण

नागरिक आ रहे थे। समुद्रगुप्त ने उन्हें देखा ही नहीं। ऊँट पर भटार्क का दूत था। नियमानुसार उसे 'जय' बोलकर अभिवादन करना चाहिए था, पर रास्ते में ऐसा करने की कड़ी मनाही थी। दूत ने अनेक कौशल से उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा, पर वे खोये ही बने रहे। ऊँट पर से कूदकर दूत ने घोड़े की रास पकड़ ली। अब समुद्रगुप्त का ध्यान उधर गया। चुपचाप प्रणाम निवेदन करके भटार्क का मुद्रांकित पत्र उसने सम्राट् के हाथों में रख दिया। भटार्क ने लिखा था, "महाराजाधिराज के प्रताप से विजय हुई है। महावीर गोपाल आर्यक ने राजकीय सेना के पहुँचने के पहले ही अत्याचारी प्रजा-पीड़क पालक को मारकर उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया है। उनके अग्रज महामल्ल श्यामरूप शार्विलक ने नागरिकों की सहायता से शत्रु-सेना को उसी प्रकार बिखरा दिया था, जिस प्रकार प्रबल प्रभंजन मेघ-घटा को छिन्न-भिन्न कर देता है। नगरश्रेष्ठी ब्राह्मण चारुदत्त के प्रभाव से नगर में शान्ति लौट आयी है। विशिष्ट समाचार भेजे जा रहे हैं। शेषमेषोऽभिधास्यति !"

पत्र पढ़कर समुद्रगुप्त घोड़े से कूद पड़े और दूत को कठिन आलिंगन-पाश में बाँध लिया—"कहाँ से आ रहे हो, भद्र ?"

"उज्जयिनी से धर्मावतार !"

"गोपाल आर्यक को तुमने अपनी आँखों से देखा, भद्र ?"

"नहीं धर्मावतार, परन्तु उनके अग्रज महामल्ल शार्विलक के दर्शन करने का सौभाग्य मिला है। यह शार्विलक का ही बाहु-बल था जिसने हमें उज्जयिनी पर अधिकार दिलाया है। वे आर्य चण्डसेन को छुड़ाने नगर के बाहरी उपकण्ठ में आये हुए थे। अभी तक वे भी अपने अनुज महावीर गोपाल आर्यक से नहीं मिल पाये थे। सेनापति ने मुझे वहीं से भेजा है।"

"साधु भद्र, ये चण्डसेन कौन हैं ?"

"धर्मावतार, मथुरा और उज्जयिनी दोनों राज्यों के राजाओं के पितृव्य हैं ये आर्य चण्डसेन। बहुत धर्मपरायण और प्रजा-वत्सल हैं। पर राजा के साले भानुदत्त ने इन्हें बन्दी बना लिया था।"

"साधु भद्र, ऐसे शुभ समाचार देनेवाले को कुछ भी अदेय नहीं होता। रास्ते में क्या दूँ, पर कुछ दूँगा अवश्य—यह लो मणिखचित केयूर !"

दूत ने सम्राट् के बाहु-मूल में यत्नपूर्वक छिपाये केयूर को आदर के साथ ग्रहण किया। फिर आदेश की प्रतीक्षा में सावधान मुद्रा में खड़ा हो गया। समुद्रगुप्त ने कुछ सोचकर कहा, "भद्र, मैं यहीं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम नाव से नदी पार कर जाओ। उधर हमारी सेना जा रही है। तुम सेनापति को तुरन्त साथ लेकर आओ।"

"जो आज्ञा, धर्मावतार !" कहकर दूत अपने ऊँट को वहीं बाँधकर चला गया। सम्राट् प्रतीक्षा करने लगे। दूत को सेनापति के साथ लौटने में बहुत देर नहीं हुई। यद्यपि सम्राट् ने किसी को साथ नहीं लिया था, किन्तु सेनापति सावधान

थे। नदी के दूसरे किनारे से वे सम्राट् पर दृष्टि रखते चल रहे थे। ज्यों ही सम्राट् रुके, वे नदी पार करने लगे और दूत से इसी किनारे पर भेंट हो गयी। आकर हाथ जोड़, मौनभाव से अभिवादन करके, वे आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हो गये। सम्राट् ने मन्दस्मित के साथ कहा, "धनंजय, उज्जयिनी से ये बहुत शुभ समाचार ले आये हैं। हमारी सेना के पहुँचने के पहले ही हमारे महाबलाधिकृत गोपाल आर्यक ने उज्जयिनी पर विजय-ध्वजा फहरा दी है।" सेनापति धनंजय ने उल्लसित होकर वर्धापनिका दी। फिर सम्राट् धनंजय को एक ओर खींचकर ले गये, "मन की शंका बताता हूँ, धनंजय ! जब आर्यक सुनेगा कि मैं निकट आ गया हूँ तो भागने की कोशिश करेगा। उसे भागने न देने का उत्तरदायित्व तुम्हारा है। अभी विश्वस्त अनुचरों को दौड़ा दो। उज्जयिनी के बाहर जानेवाले सभी रास्ते घेर लो। मिले तो कहना कि समुद्रगुप्त उससे मिलने के लिए व्याकुल है। निस्संकोच मिले—मित्र के नाते मिले। जाओ !"

यह व्यवस्था करके समुद्रगुप्त घोड़े पर सवार हुए और तीव्र गति से आगे बढ़ गये। उनका मन अब बहुत उत्फुल्ल था। नर्म-सखा आर्यक से शीघ्र ही मिलने की आशा से वे उल्लसित थे।

उस पार उज्जयिनी-विजय का समाचार पहुँच चुका था। सेना एक कोस तक लम्बी पंक्ति में फैली हुई थी। इस उल्लासजनक समाचार से उसमें भी उत्साह की लहर दौड़ गयी। देखते-देखते यह समाचार सेना के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया। सैनिकों में उन्माद-सा छा गया। महाराजाधिराज समुद्रगुप्त के जय-निनाद से आकाश गूँज उठा। रह-रहकर समुद्रगुप्त के साथ-ही-साथ गोपाल आर्यक का जय-निनाद भी सुनायी देने लगा। सेना का पिछला हिस्सा बटेश्वर तीर्थ के उस पार तक फैला हुआ था। एकाएक जय-निनाद की तुमुल ध्वनि सुनकर काका चौंक पड़े। हुआ क्या ! उस पार से आनेवाले शब्द स्पष्ट सुनायी नहीं पड़ रहे थे, पर काका के मन में सन्देह नहीं रहा कि कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण घटना हुई है। कहीं किसी शत्रु-सेना से मुठभेड़ तो नहीं हो गयी ? काका जानते नहीं थे कि उस पार समुद्रगुप्त की विशाल वाहिनी प्रायः उनके साथ-ही-साथ चल रही है। वे चिन्तित हुए। साथ की नाव भी उस दिन बटेश्वर तीर्थ में ही रह गयी थी। काका जान गये थे कि उसमें हलद्वीप के ही सैनिक हैं, पर अभी तक वे उनसे दूर-दूर ही रह रहे थे। अब किसी संकट की आशंका से उनके मन में आया कि इनसे मेल-जोल बढ़ाया जाय। सैनिक भी ऐसा सोचने लगे थे। काका नदी-तट पर मन्दिर के सामने के एक वट-प्ररोह के नीचे बैठे थे। मृणाल और चन्द्रा ने आज बड़ी देर तक बटेश्वर मन्दिर में पूजा की थी। शोभन भी आज यथाविधि स्नान करके मन्दिर में उनके साथ गया था। अब तीनों नाव में आराम कर रहे थे। दिन ढलने लगा था। यद्यपि अब भी सूर्य की प्रचण्ड किरणों से आग बरस रही थी, फिर भी वट-वृक्ष के नीचे बहुत ठण्डक थी। दूर-दूर तक फैले हुए घने प्ररोह-तरुओं ने इस तिजहरी में भी अन्धकार कर रखा था। प्ररोहों की बाढ़ में मन्दिर के पास के क्षेत्र को छोड़कर

कहीं भी मनुष्य का हस्तक्षेप नहीं हुआ था। वे यथेच्छ फैले हुए थे। कई जगह उनके घने जमाव ने वट-निकुंज ही बना दिये थे। काका चिन्तित भी थे और इस अद्‌भुत शोभा से मुग्ध भी थे। वट-वृक्ष की सघन छाया ने सचमुच ऐसा दृश्य उत्पन्न कर दिया था कि अलंकार-रचना में प्रवीण कवि कह सके कि यहाँ सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से भागकर अशेष जगत् का अन्धकार छिप गया है।

एक गठीले शरीर का युवक आया और काका को प्रणाम करके खड़ा हो गया। काका ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा। बोले, "क्या कुछ कहना चाहते हो, आयुष्मान् !"

"हाँ काका, आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं योगेश्वर का पुत्र सोमेश्वर हूँ। आप लोगों के साथ ही दूसरी नाव में मैं और मेरे सात साथी चल रहे हैं। हमें आदेश था कि किसी संकट की जब तक सम्भावना न रहे, तब तक हम गोपनीय रहकर आप लोगों की देख-रेख करें। अभी तक हमारी यात्रा शान्ति के साथ होती आयी है। पर उस पार जो विकट कोलाहल सुनायी दे रहा है, उससे हमें आशंका हुई है कि कुछ संकट आ सकता है।"

"उस पार कोलाहल करनेवाले लोग कौन हो सकते हैं ?"

"पता लगा रहा हूँ काका, अभी तक कुछ ठीक ज्ञात नहीं हो सका है।"

"बेटा, तुम योगेश्वर के पुत्र हो और हलद्वीप के ही निवासी हो, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आशंका मेरे मन में भी थी, पर तुम लोगों के रहते चिन्तित होने की कोई बात नहीं है। वैसे भी तुम्हारा काका अकेले एक सहस्र के बराबर है, पर तुम लोगों के रहते तो कोई शंका की बात ही नहीं है।"

युवक ने हाथ जोड़कर फिर कहा, "काका, हमारा पूरा परिचय जान लें। हम आर्यक भैया के साथी रहे हैं। हलद्वीप में जब अशान्ति थी और भैया उसका प्रतिरोध कर रहे थे, तो हम उनके साथ थे। उन्हीं की आज्ञा से हम हलद्वीप की सेना में आये हैं। अमात्य पुरन्दर ने बहुत सोच-समझकर हमें भाभी के साथ लगाया है। हमारी नाव के छह मल्लाह भी शस्त्र-विद्या में निपुण हैं। हम अपनी दोनों भाभियों के सम्मान पर रंचमात्र आँच नहीं आने देंगे। आपकी अतुलनीय वीरता से हलद्वीप का कौन निवासी अपरिचित है ? पर जब बच्चे साथ में हैं तो आप क्यों चिन्तित होंगे। आपके सामने कुछ बोलना छोटे मुँह बड़ी बात होगी, पर आर्य, विशुद्ध सूचना के रूप में कहना चाहता हूँ कि हमारी चौदह तलवारें काल-सर्प की चौदह जिह्वाओं के समान हैं जो सहस्रों को चाट जाने का सामर्थ्य रखती हैं। हम महावीर गोपाल आर्यक के सिखाये नौजवान हैं, काका ! बालकपन में भी हमने राजा के सैकड़ों गुण्डों का मान-मर्दन किया है। चन्द्रा भाभी मुझे पहचान लेंगी, आर्य। मैं उनके आर्यक के प्रति प्रबल अनुराग का भी साक्षी हूँ और घोर संकट में उन्होंने भैया का प्राण जिस साहस के साथ बचाया था, उसका भी।"

"चन्द्रा को तुम कैसे जानते हो, बेटा ?"

"चन्द्रा भाभी को मैं उस समय से जानता हूँ, जब आर्यक भैया के लहुरा वीर

दल में रहा करता था। चन्द्रा भाभी का साहस सुनकर आप आश्चर्य करेंगे, काका ! दुष्टों ने आग लगा दी थी और आर्यक भैया एक बच्चे और उसकी माँ को बचाने के लिए जलते घर में कूद पड़े थे। हम लोग 'रुको-रुको' कहें तब तक तो वे माँ और बच्चे को बाहर लेकर आ ही गये। दोनों बेहोश थे। इसी समय दुर्वृत्तों ने उन पर प्रहार किया। हम लोग कई लोगों से लड़ रहे थे। हमें पता ही नहीं चला कि क्या हुआ। भैया के सिर में चोट पहुँचाकर दुर्वृत्त भाग गये। वे जलते घर के द्वार पर गिर पड़े। इसी समय चन्द्रा भाभी न जाने कहाँ से आँधी की तरह आयी और उन्हें उठाकर आग से दूर लायी। इत्ते बड़े गबरू जवान को उसने ऐसे उठा लिया जैसे माता किसी अबोध शिशु को उठा लेती है। हम लोग भी दौड़े, पर ऐसे कर्त्तव्यमूढ़ हुए कि कुछ किसी को सूझा ही नहीं। भैया के सिर से रक्त की धारा बह रही थी। किसी की ओर देखे बिना चन्द्रा भाभी ने अपनी पूरी साड़ी फाड़ दी और क्षत-स्थान को फुर्ती से बाँधकर रक्त बन्द किया। वह लगभग निर्वस्त्र हो गयी, पर रक्त तो रोक ही दिया। इसके बाद उसने जो सेवा की, वह कोई देवी ही कर सकती है। लेकिन आर्यक भैया लजा गये। लजाने की क्या बात थी काका, मगर स्त्रियों के सामने वे सदा इसी प्रकार लजा जाते थे। अब भी उनकी आदत वैसी ही है।" काका ने दीर्घ निःश्वास लिया।

सोमेश्वर आविष्ट-सा कहता ही गया, "कोई एक समय ऐसा हुआ है, काका ! कई बार भैया की रक्षा के लिए चन्द्रा भाभी ने अपने प्राण संकट में डाले हैं। मगर उसका प्रेम बड़ा उत्कट था। आर्यक भैया उसे प्यार करने में भी लजाते थे। आज भी उनकी यही आदत है। हम लोग तो उसी समय से चन्द्रा भाभी कहने लगे थे। पर उसका भाग्य कुछ गड़बड़ था। देवी है आर्य, पूरी देवी !" मृणाल और चन्द्रा कोलाहल से आशंकित होकर नाव से बाहर आ गयी थीं। काका को खोजती आयीं तो उन्हें किसी से बात करते देख ठिठक गयीं। मृणाल ने चन्द्रा के इस साहस और सेवा की बात सुनी तो उसकी आँखों में आँसू आ गये। चन्द्रा आगे बढ़ गयी, मृणाल दर-विगलित अश्रु-धारा के साथ नाव में लौट गयी। चन्द्रा ने आगे बढ़कर कहा, "सोमेश्वर, तू कहाँ से आ गया ? काका से क्या अनाप-शनाप कहे जा रहा है ?"

सोमेश्वर अकचका के खड़ा हो गया। बड़ी श्रद्धा के साथ भूमि पर सिर रखकर उसने चन्द्रा को अपना प्रणाम निवेदन किया। उसकी आँखों में आँसू आ गये—"साथ ही तो चल रहा हूँ, भाभी !"

"साथ ही चल रहा है और अब तक बताया नहीं ! धन्य है तू।"

"आज्ञा नहीं थी, भाभी !"

"आज कैसे आज्ञा हो गयी ?"

"उस पार के कोलाहल के कारण, भाभी !"

"यह कैसा कोलाहल हो रहा है, सोमेश्वर ?"

"पता लगा रहा हूँ, भाभी ! तुम अभी नाव में जाओ। अभी बताता हूँ।"

काका ने भी चन्द्रा को नाव में जाने को कहा। वह लौट गयी।

सोमेश्वर ने काका से कहा, "काका, अनुमति दें तो इन पेड़ों के अन्तराल में पटवास लगा दें। अमात्य ने कहा था कि पटवास साथ लेते जाओ। हमारे पास तीन हैं। कोई संकट आया तो नाव में भाभियों का रहना ठीक नहीं होगा। इन पेड़ों में सुरक्षा भी रहेगी। पटवास के द्वार पर खड़ा एक जवान भी सहस्रों को रोक सकेगा। अन्धकार में वे दिखायी भी नहीं देंगे। वैसे तो हम नाव की रक्षा के लिए भी तैयार हैं, पर यह स्थान अधिक सुरक्षित होगा। तो आज्ञा है न, काका ?"

काका को यह बात जँच गयी। दोनों ने स्थान का चुनाव किया। सोमेश्वर के इशारे पर पटवास के लिए दस-बारह जवान बाहर आ गये। इनमें कई मल्लाह भी थे। पटवास फुर्ती से खड़े कर दिये गये। सघन प्ररोहों के अन्तराल में ये पटवास छोटे-छोटे दुर्ग-से बन गये। तीनों थोड़ी-थोड़ी दूरी पर खड़े कर दिये गये। काका के आदेश से मृणाल, चन्द्रा और शोभन ने एक में प्रवेश किया। दूसरे में काका के रहने की व्यवस्था की गयी। तीसरा सैनिकों ने अपने लिए रखा। पर ये दोनों खाली ही पड़े रहे। काका के साथ सैनिक मन्दिर के सामने ही डट गये।

उस पार का कोलाहल और भी तेज़ हुआ। सोमेश्वर ने एक मल्लाह को पता लगाने को नदी पार कर उधर जाने का आदेश दिया था। वह लौट आया। उसने आकर समाचार दिया कि यह सम्राट् समुद्रगुप्त की सेना है, मथुरा जा रही है। बीच में ही किसी प्रकार इन्हें समाचार मिला है कि अकेले ही महावीर गोपाल आर्यक ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया है। ये लोग महाराजाधिराज समुद्रगुप्त और महावीर गोपाल आर्यक की जय-जयकार कर रहे हैं। कई तरह की कहानियाँ सुना रहे हैं। किस प्रकार अकेले महावीर आर्यक ने प्रचण्ड शत्रुवाहिनी को ध्वस्त करके प्रजा-पीड़क राजा पालक को मारा है, किस प्रकार उसकी तलवार ने चक्र की भाँति घूम-घूमकर शत्रुओं के शवों से रण-स्थल को पाट दिया है। और भी समाचार मिला है कि गोपाल आर्यक के बड़े भाई श्यामरूप शार्विलक ने अकेले ही पालक की दूसरी और बड़ी सेना को मार भगाया है। समाचार भेजे जाने के समय तक दोनों भाई मिल भी नहीं पाये हैं। लोग कह रहे हैं कि श्यामरूप में एक सहस्र हाथियों का बल है।

काका ने सुना तो उन्मत्त-भाव से चिल्ला उठे, "सुन रे बिटिया, सुन ले ! बोलो, महावीर गोपाल आर्यक की जय !"

पन्द्रह कण्ठों ने एक साथ जय-घोष किया। उस समय चन्द्रा की गोद में सिर रखकर मृणाल रो रही थी, "दीदी, तुमने उनकी कितनी सेवा की है ! मैं अभागिन तो उनके किसी काम नहीं आयी। दीदी, तुम साक्षात् जगदम्बा हो।" चन्द्रा दुलार से डाँट रही थी, "बेकार बात न कर। मैं तो उस गँवार की दासी ही रही हूँ और रहूँगी। ऐसी बात न किया कर। मुझे अच्छा नहीं लगता। उठ मैना, तू उदास होगी तो वह भी उदास हो जायेगा !" इसी समय काका का उन्मत्त कण्ठ सुनायी दिया, "सुन रे बिटिया, सुन ले, बोलो, महावीर गोपाल आर्यक की जय !" चन्द्रा

धड़फड़ाकर उठी। क्या हुआ ? क्या कोई संघर्ष छिड़ गया ? काका इतने उत्तेजित क्यों हैं ? वह बाहर निकल आयी। ज्यों ही चन्द्रा बाहर आयी, सोमेश्वर दीप्त कण्ठ से गरज उठा, "बोलो, चन्द्रा भाभी की जय !" सभी मल्लाह आ जुटे थे—सबने उत्तेजित कण्ठ से चन्द्रा भाभी का जय-निनाद किया। चन्द्रा चकित थी—"अरे मेरे सोमेश्वर भैया, पागल हो गये हो क्या ! क्या बात है ?" सोमेश्वर सचमुच उन्मत्त था, कोई उत्तर दिये बिना फिर चिल्ला उठा, "बोलो, चन्द्रा भाभी की जय !" चन्द्रा विस्मय-विमूढ़ !

अब मृणाल भी बाहर निकल आयी। वह भी विस्मित थी। उसे बाहर देखते ही सोमेश्वर ने उन्मत्त-भाव से चिल्लाकर कहा, "बोलो, मैना देई की जय !" जय-जयकार से दिङ्मण्डल काँप उठा। सब उन्मत्त थे, काका उत्तेजना के चरम शिखर पर थे। वे नाच रहे थे। बीच-बीच में चिल्ला उठते थे, "मेरे बेटे सिंह हैं, स्यार क्या खाकर उनसे जूझेंगे !" फिर झपटकर शोभन को कन्धे पर लेकर चिल्ला उठे, "बोलो शोभन, युवराज की जय !" शोभन किलकारी मारकर हँस रहा था और काका उसे कन्धे पर लेकर नाच रहे थे। अद्‌भुत दृश्य था।

चन्द्रा ने गरजकर कहा, "भाई सोमा, तू ही बता क्या बात है ? काका का तो दिमाग़ खराब हो गया है।"

सोमा ने कहा, "जय हो भाभी, आर्यक भैया ने अकेले उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया है और भगवान् की माया देखो कि श्यामरूप भैया भी वहीं पहुँच गये हैं। दोनों ने बड़ी वीरता दिखायी है।"

काका फिर उन्मत्त-भाव से नाच उठे, "मेरे बेटे सिंह हैं, स्यार क्या खाकर उनसे जूझेंगे !"

चन्द्रा को बात समझ में आ गयी। अब उसके उन्मत्त होने की बारी थी। उसने मृणाल का हाथ पकड़कर घसीटा और उसे उन्मत्त-भाव से गोदी में उठा लिया, "तेरा पातिव्रत धर्म विजयी हुआ, मैना ! मेरा आर्यक लाखों में एक है। मैंने अपनी आँखों उसका पराक्रम देखा है। लिच्छवियों की सेना पर ऐसा टूटा था जैसे बाज़ बटेरों पर टूटता है। उसकी तलवार फिरकी की तरह नाचती थी। पर तेरा पातिव्रत ही उसकी शक्ति है। तेरा पातिव्रत विजयी हुआ मैना, तेरा सतीत्व उसे विजयी बनाता है।"

मैना ने कहा, "छोड़ो दीदी, तुम भी पागल हो गयीं ? मेरा नहीं, तुम्हारा पातिव्रत विजयी हुआ है।"

"नहीं रे नहीं, मैं निश्चित जानती थी कि मेरा आर्यक कुछ करके लौटेगा। मैं क्या यों ही उसे प्यार करती हूँ ! वह सच्चा पुरुष है। पौरुष उसकी बोटी-बोटी से उछलता रहता है। वह नीचे से ऊपर तक दीप्त पौरुष है। थोड़ा गँवार अवश्य है। तेरी तपस्या सार्थक हुई मैना, चन्द्रा का कलंक दूर हुआ। वह अब आयेगा, अवश्य आयेगा। आ, एक बार उसकी ओर से तुझे प्यार कर दूँ।"

मृणाल गम्भीर हो गयी, "श्यामरूप भैया भी मिल गये हैं, दीदी। भगवान् का

कैसा अनुग्रह है। जब देते हैं तो छप्पर फाड़कर देते हैं। उठो दीदी, पहले मन्दिर में चलो। और बातें बाद में होंगी।" चन्द्रा को घसीटती हुई मृणाल बटेश्वर महादेव के मन्दिर में गयी और एकदम लकुट की भाँति पृथ्वी पर गिरकर महादेव को अपना कृतज्ञ प्रणाम निवेदन किया। चन्द्रा ने भी वैसा ही किया।

प्रणाम निवेदन करके मृणाल आसन मारकर बैठी और ध्यान में डूब गयी। चन्द्रा धीरे-धीरे मन्दिर से बाहर आयी। बाहर अब भी सोमेश्वर के साथी खड़े थे। उन पर भी भक्ति की मादकता छा गयी थी। वे ऐसे शान्त-निस्तब्ध खड़े थे जैसे प्रस्तर की मूर्त्तियाँ हों। बाहर निकलकर चन्द्रा ने सोमेश्वर को बुलाया। सोमेश्वर विनीत-भाव से सामने आकर खड़ा हो गया। चन्द्रा की वाणी रुद्ध थी। वह केवल आँखें फाड़कर सोमेश्वर को ताकती रही। उसकी आँखों से अश्रु-धारा झरने लगी। चन्द्रा की आँखों में क्वचित्-कदाचित् ही आँसू दिखायी देते थे। सोमेश्वर उसके अन्तरतर को समझने का प्रयास करता हुआ चुपचाप खड़ा रहा। चन्द्रा की आँखों से अश्रु-धारा उसी प्रकार बहती रही। सोमेश्वर ने उसका मन फेरने के लिए देवर-जनोचित परिहास करना चाहा, पर क्या कहे, उसकी समझ में नहीं आया। यों ही बोला, "मिठाई नहीं खिलाओगी भाभी? कितना बढ़िया समाचार सुनाया है!" चन्द्रा का मन सचमुच दूसरी ओर फिरा––"किस बात की मिठाई खायेगा भाई सोमा? समाचार देने की? उसकी नहीं खिलाऊँगी। वह तो मेरा जाना हुआ-सा था। पर एक दूसरी बात की मिठाई अवश्य खिलाऊँगी।"

"और किस बात की मिठाई खिलाओगी भला?"

"यही कि तुम पहले आदमी हो जिसने मुझे भाभी कहा है। तुमने मेरे कानों में अमृत डाल दिया है देवर, इस अभागी को आज तक किसी ने भाभी नहीं कहा।" चन्द्रा के करुण आनन्द से सोमेश्वर भीग गया—"इन सबको पहचानती हो, भाभी! सब बालक थे, परन्तु तुम्हारा स्नेह सबने पाया था। ये बड़े पाजी भाई हैं, भाभी। मुझसे भी पहले तुम्हें भाभी कहते रहे हैं। ये मेरी मिठाई में हिस्सा माँगेंगे।"

चन्द्रा खिल गयी, "सबको बुलाओ तो देखूँ।" सब बुलाये गये। चन्द्रा ने देखा, कई अस्पष्ट परिचित चेहरे लगे। सोमेश्वर ने कहा, "क्यों मेरे भाइयो, पहचानते हो, ये कौन हैं?"

सबने उल्लसित स्वर में एक साथ उत्तर दिया, "चन्द्रा भाभी, चन्द्रा भाभी!"

सोमेश्वर ने कहा, "देखा भाभी, एक-से-एक दुष्ट हैं तुम्हारे देवर। वे क्या सोमेश्वर को अकेले प्रसाद लेने देंगे?"

चन्द्रा प्रफुल्ल हुई, "सबको मिठाई खिलाऊँगी। सब मेरे प्यारे देवर हैं।"

सबने एक साथ जय-निनाद किया, "चन्द्रा भाभी की जय!"

मन्दिर में मृणाल के कानों तक ध्वनि गयी। उसका ध्यान भंग हुआ। बाहर आयी तो चन्द्रा ने कहा, "देखा मैना, कित्ते देवर जुट गये! सब मिठाई खाना चाहते हैं। खिला सकेगी?"

मृणाल का चेहरा खिल गया। मन्दस्मित के साथ बोली, "अहोभाग्य!"

सुनते ही फिर भाभियों के जय-निनाद से आकाश प्रकम्पित हो उठा। सैनिक देवर कुछ और निकट आ गये। एक ढीठ देवर बोल उठा, "बाद वाली मिठाई तो मिलेगी न, भाभी! कहीं यहीं सब समाप्त न कर देना।"

मृणाल और चन्द्रा एक साथ बोल उठीं, "मिलेगी, और मिलेगी!"

तीस

भटार्क और शार्विलक (श्यामरूप) साथ-ही-साथ आर्यक के पास गये। आर्य चारुदत्त ने उन्हें मार्ग दिखाया। आर्यक बहुत दिनों के बिछुड़े भाई के पैरों में लोट गया। देर काल तक दोनों भाई एक-दूसरे से लिपटे रहे। दोनों की वाणी रुद्ध थी। शार्विलक प्यार से आर्यक का सिर सूँघता रहा। दोनों की आँखों से अविरल अश्रु-धारा बहती रही। भटार्क और चारुदत्त इस अपूर्व भ्रातृ-मिलन का दृश्य देखते रहे। फिर दोनों शान्त हुए। आर्यक ने आग्रह के साथ कहा, "भैया, हलद्वीप लौट चलो!" शार्विलक ने स्वीकृति दी। दोनों भाई एक-दूसरे से हलद्वीप लौट चलने का अनुरोध करते रहे। शार्विलक ने बताया कि उसे एक नये पिता और नयी माता के स्नेह पाने का सौभाग्य मिला है। उनका दर्शन करने के बाद ही वह हलद्वीप जा सकेगा। परन्तु आर्यक को स्पष्ट आदेश के स्वर में उसने कहा कि वह बिना देरी किये हलद्वीप चला जाये। इसी समय वसन्तसेना का सन्देशवाहक शार्विलक को उनके आवास पर जाने का निमन्त्रण लेकर आया। शार्विलक को जाना पड़ा, पर फिर से आर्यक को प्यार करके यह आदेश देता गया कि वह जल्दी-से-जल्दी हलद्वीप पहुँच जाये। जब शार्विलक वहाँ पहुँचेगा, तो उसके स्वागत के लिए आर्यक वहाँ अवश्य रहे। चारुदत्त ने मुस्कराते हुए आर्यक से कहा, "भैया के साथ भाभी का भी स्वागत करना होगा।" आर्यक ने उल्लसित होकर कहा, "भाभी कहाँ हैं भैया, तुमने कुछ बताया नहीं।" पर शार्विलक ने आर्य चारुदत्त से ही कहा, "क्यों लड़के को बेकार बातों में उलझाते हो, आर्य!" चारुदत्त ने संकेत समझकर कहा, "अभी भाभी कहाँ हैं मित्र, जब होंगी तो तुम्हें और मुझे अवश्य कृतार्थ करेंगी। अभी थोड़ा धीरज रखो।"

चारुदत्त और श्यामरूप शार्विलक विदा हुए। शार्विलक के चले जाने के बाद भटार्क को अवसर मिला। दोनों मित्रों में देर तक वार्त्तालाप होता रहा। मथुरा के अभियान का विस्तृत विवरण पाकर आर्यक को प्रसन्नता हुई। चण्डसेन का विस्तृत

परिचय पाने के बाद और भटार्क से उनकी बातचीत के विश्लेषण के बाद आर्यक ने कहा, "मित्र भटार्क, चण्डसेन को मथुरा-उज्जयिनी के राज्य-संचालन का भार देना सम्राट् की नीति के अनुरूप होगा। तुम शीघ्र ही इस प्रकार की सलाह सम्राट् को भेज दो।"

भटार्क ने हँसते हुए कहा, "तुम्हारे रहते मैं अब सन्देश भेजनेवाला कौन होता हूँ। कहो तो सन्देशा तुम्हारे नाम से ही भिजवा दूँ। मैं अब इस राजनीतिक प्रपंच में नहीं पड़ूँगा। सैनिक हूँ, जहाँ मार-काट करानी हो, वहाँ भेज दो, बाकी सब तुम्हारा। मैं सदा तुम्हारा विनीत सेवक रहा हूँ। आज भी हूँ, कल भी रहूँगा।"

आर्यक इस प्रस्ताव से सहम गया—"मित्र, मैं सम्राट् के सामने किसी प्रकार नहीं जा सकता—पत्रलेख के रूप में भी नहीं। तुम्हीं उनके पास जो चाहो लिख-कर भेज दो।"

भटार्क ने दृढ़ता के साथ कहा, "क्यों नहीं जा सकोगे? तुमने कोई अपराध किया है? क्या दोष तुमसे हुआ है? कौन नहीं जानता कि आज समूचे उत्तरापथ में जो महाराजाधिराज समुद्रगुप्त का डंका बज रहा है, वह गोपाल आर्यक के प्रचण्ड बाहु-बल और तीक्ष्ण बुद्धि के बल पर ही। मित्र, मैंने उज्जयिनी के सारे समाचार सम्राट् को भेज दिये हैं। वे आज मथुरा आ गये होंगे। तुम्हें तो अब राजनीतिक सुझाव ही भेजना शेष रह गया है।"

आर्यक एकाएक सनाका खा गया—"क्या कहा? सम्राट् मथुरा पहुँच गये हैं?"

"हाँ मित्र, वे मथुरा पहुँच गये होंगे और यदि उज्जयिनी भी आ जायें तो आश्चर्य न करना। उन्होंने उज्जयिनी के अभियान का स्वयं नेतृत्व करने का निश्चय किया था, पर मैंने उन्हें लिखकर सूचित कर दिया है कि इस अभियान की आवश्यकता नहीं। गोपाल आर्यक ने अकेले ही इस लक्ष्य की पूर्त्ति कर दी है।"

"यह तो तुमने अच्छा नहीं किया, भटार्क! मैं तो इस समय उज्जयिनी का दायित्व तुम्हें सौंपने जा रहा हूँ।"

"तो सौंप दो ना! तुम्हारा दिया हुआ सब आदेश सदा मेरे सिर-माथे! पर जैसे सेना का संचालन सदा गोपाल आर्यक करते रहे हैं, वैसे ही उज्जयिनी का संचालन भी वही करते रहेंगे। उनका सेवक भटार्क इस राज्यभार को उसी प्रकार वहन करेगा, जिस प्रकार भरत ने राम के राज्य का संचालन किया—न कम, न अधिक।" कहकर भटार्क हँस पड़ा—"फिर भैया, तुम्हें हलद्वीप भी तो जाना है। अभी तो तुमने शार्विलक को वचन दिया है। पर मेरी एक बात मानो, समुद्रगुप्त केवल राजाधिराज नहीं हैं, तुम्हारे सखा भी तो हैं। उनसे मिल अवश्य लेना। अरे भाई, सौ बात बड़े भाई की मानी जाती हैं तो एक बात छोटे भाई की भी मान ली जाती है। बोलो, मानोगे न?"

आर्यक ने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। इतना ही कहा कि अवसर आने पर वह भटार्क की बातों पर अवश्य विचार करेगा। उसने बात को आगे बढ़ने से रोकने

के लिए कहा, "अभी तुम थोड़ा विश्राम करो। फिर बातें होंगी।"

भटार्क के जाने के बाद आर्यक अकेला रह गया। सम्राट् मथुरा पहुँच गये हैं। उनसे मैं कैसे मिलूँगा। चन्द्रा के बारे में पूछेंगे तो क्या उत्तर दूँगा। बेचारी चन्द्रा इस समय न जाने कहाँ होगी। केवल लोक-लाज के भय से उसने चन्द्रा के उद्दाम प्रेम की उपेक्षा की है। क्या चन्द्रा के प्रति उसने आकर्षण नहीं दिखाया था ? क्या सचमुच उसके प्रति उसके मन में परस्त्री-भावना थी ? क्या मृणाल-मंजरी से अपनी भावना छिपाने का अपराध उसने नहीं किया ? कभी उसने इस सम्बन्ध में मृणालमंजरी से सलाह क्यों नहीं ली ? उसके अन्तर्यामी कहते हैं कि इस सम्बन्ध में वह झूठ की ओर अधिक झुका है, सत्य की ओर कम। भाभी कहती हैं, तुम्हारी सब समस्याएँ हल हो जायेंगी। कैसे होंगी ! भाभी न चन्द्रा को जानती हैं, न मृणाल को। भाव-लोक-विहारिणी कोई माताजी उनसे न जाने क्या-क्या कह गयी हैं। भोली भाभी ने सबको ब्रह्मवाक्य मान लिया है। कहती हैं, तुम अपने को ही अपने से छिपाते रहे हो। वे ठीक कहती हैं। आर्यक ने यह पाप अवश्य किया है। उसमें सत्य का सामना करने का साहस नहीं है। वह असत्य को प्रश्रय देता रहा है और मानता आया है कि दुनिया इस असत्य को सत्य मान लेगी। दुनिया के सामने बहुत समस्याएँ हैं। उसे इतनी फुरसत नहीं है कि हर व्यक्ति के अन्तर में झाँककर सच-झूठ का निर्णय करती फिरे। व्यक्ति को अपने प्रति आप ही ईमानदार बनना होगा। हर बड़ी वस्तु के लिए कर चुकाना पड़ता है। सत्य से बड़ा धन क्या हो सकता है ! उसे पाने में खर्च करना पड़ता है। जो सोचता है कि बिना कुछ दिये इतनी बड़ी सम्पत्ति पा जायेगा और रख सकेगा, वह मूढ़ है। सत्य को पाना कठिन है, पाकर सुरक्षित रखना और भी कठिन। सम्राट् से बातचीत करते समय उसने सत्य को छिपाया था। यह दोष था।

फिर चन्द्रा के बारे में वह सत्य क्या था, जिसे स्वीकार करने में वह संकुचित होता रहा है। भाभी ने पूछा था कि देवर, सच बताओ, तुम्हारे मन में चन्द्रा के प्रति आकर्षण था या नहीं ? क्या तुम दुनिया को यह नहीं दिखाना चाहते थे कि वह गले पड़ गयी है पर मन-ही-मन प्रसन्न नहीं थे कि वह अनायास मिल गयी है ? भाभी कैसा छेद देनेवाला प्रश्न करती हैं। आर्यक क्या उत्तर दे। चन्द्रा जहाँ उद्दाम प्रेम की मूर्त्ति है, वहीं और उससे भी अधिक अकुण्ठ सेवा का सजीव विग्रह है। संसार में आज तक किस स्त्री ने इतना साहसिक प्रेम और इतनी अकुण्ठ निश्छल सेवा की है। कितनी बार उसने आर्यक के लिए प्राणों को संकट में डाल दिया है, कितनी बार उसने प्राण ढालकर आर्यक में संजीवनी शक्ति भरी है, कितनी बार उसने सामाजिक विधि-विधानों को तलवे से रौंदकर सत्य को स्वीकार किया है। आर्यक ने उसके शारीरिक उद्दाम वेग को ही देखा है, मानसिक और आध्यात्मिक त्याग-भावना की ओर ध्यान ही नहीं दिया। क्या उसकी उपेक्षा ने ही चन्द्रा को अधिकाधिक उग्र नहीं बना दिया ? सम्राट् से उसने क्यों नहीं कसकर सच्चाई कह दी ? आर्यक को चन्द्रा ने कितनी ही बार 'कायर' कहा था। क्या उसकी बात

नितान्त असत्य थी ? चन्द्रा जब उसे गँवार कहती है, कायर कहती है, निर्बुद्धि कहती है तो वह घबरा जाता है, पर इसमें कितनी आत्मीयता होती है। प्रेम-रस में सराबोर इन कुवाच्यों की मिठास अपूर्व ही होती है। परन्तु आर्यक ने इस आत्मीयता की सदा अवहेलना की है। उसके अन्तर्यामी जानते हैं कि उसकी अवहेलना दिखावा है, संसार की दृष्टि में अपने-आपको निर्दोष दिखाते रहने का नाटक है। हाय, आर्यक ने अपने को कैसी क्रूर नियति के हाथों बेच दिया है। चन्द्रा कहाँ होगी, किस अवस्था में होगी, जिसने अपने-आपको सारी विधि-व्यवस्थाओं और लोक-मर्यादाओं के विरुद्ध झोंककर अन्तरतर के सत्य का अनुपालन किया, उस देवी को कैसा धोखा दिया आर्यक ने ! चन्द्रा समर्पण की मूर्त्ति है, आर्यक वंचना का अवतार। आर्यक की वंचना को भाभी ने कैसा पकड़ लिया। पूछती हैं, 'देवर, जब तुम चन्द्रा की चिट्ठियाँ मृणाल को देते थे तो वे हथेली के पसीने से भीग गयी होती थीं न, ठीक स्मरण करके बताओ !' करारी चोट करती हो, भाभी। पहले तो उसका गँवारपन उभर आया। फिर उसकी वंचना उजागर हो गयी। हृदय पर किसी ने कसके हथौड़े से चोट की थी। भाभी ने कैसा चीर दिया हृदय को ! भाभी, तुम भोली दिखती हो पर समझती सब हो। आर्यक की लज्जा से भी रस खींच लेती हो ! हाय, यह कैसी विडम्बना है कि आर्यक जिस बात को सारी दुनिया से छिपाता आया है, वह इस भोली भाभी के लिए करतल पर रखे हुए आँवले के फल के समान स्पष्ट है।

आर्यक डूब रहा है, उतरा रहा है, बह रहा है। भाभी मिल जातीं तो उनसे पूछता कि मेरा कर्त्तव्य क्या है ? क्या सम्राट् से मिल लेना चाहिए या उनकी भी उपेक्षा करनी चाहिए ? उपेक्षा के बाद ? और सम्राट् का सामना करने से भी अधिक भयंकर है मृणाल का सामना करना। क्या सोचेगी वह सुकुमार-हृदया प्राणवल्लभा ! आर्यक उसे कैसे अपना मुँह दिखा सकेगा ? फटो धरित्री, निगल जाओ इस भण्ड को। आर्यक डूब रहा है।

चन्द्रा को ही क्या मुँह दिखायेगा ? मगर वह क्षमा कर देगी। चन्द्रा क्षमा की मूर्त्ति है। थोड़ा मान तो करेगी, पर तुरन्त प्रसन्न हो जायेगी। प्रेम-परवशा चन्द्रा जानती ही नहीं कि अभिमान क्या होता है। कायर कहेगी, गँवार कहेगी और सेवा में जुट जायेगी। सेवा में ही वह अपने को पाती है, अपने प्यार को पाती है, अपनी चरितार्थता अनुभव करती है। चन्द्रा सेवामयी है। आर्यक उतरा रहा है।

और मृणाल ? उस भोली ने तो जाना ही नहीं कि मान क्या होता है, ईर्ष्या किसे कहते हैं, असूया किस खेत में पैदा होती है। उसे, अपना सुख क्या है इसका पता ही नहीं; वह तो एक बात जानती है, सुख वह है जिसमें आर्यक सुखी रहे। चन्द्रा ने कई बार कहा कि मृणाल के पास चलो। वह दोनों को प्यार कर सकती है। पर पवित्र-चेता चन्द्रा ने जिस बात को अनायास समझ लिया, उसे कुटिल आर्यक नहीं समझ सका। दोनों साथ रह सकती हैं, आर्यक की दोनों आँखों के

समान। आर्यक कल्पना की धारा में वह रहा है। इसी समय अमृतवर्षी मधुर स्वर में भाभी ने पूछा, "किस उधेड़-बुन में पड़े हो, देवर ? कहो तो बता दूँ ?" जैसे रंगीन रेशमी धागे से किसी ने आर्यक के मन को खींच लिया हो। वह अकचकाकर उठ के खड़ा हो गया। भाभी कब से खड़ी हैं ? अत्यन्त विनीत-भाव से प्रणाम निवेदन करके मन्दस्मित के साथ आर्यक ने कहा, "क्षमा करो भाभी, एक समस्या का समाधान आपको करना होगा।"

"मैं जानती हूँ, लल्ला, तुम दूसरों को भुलावा दे सकते हो, भाभी तुम्हारे अन्तरतर में झाँककर देख चुकी है, उसे भुलावा नहीं दे सकते। और कौन-सी समस्या हो सकती है तुम्हारी ? तुम्हारी भाभी सब जानती है। समस्या यही है न कि चन्द्रा और मृणाल दोनों तुम्हारी दो आँखें हैं, इनमें कौन दाहिनी है, कौन बायीं है ? यही है न समस्या ?"

"भाभी, तुम बड़ा वेधक परिहास करती हो !"

"वेधक है ? मैं तुम लोगों की रग-रग पहचानती हूँ। तुम्हारे भैया की भी यही समस्या थी। अच्छा देवर, आँख दाहिनी हो या बायीं, क्या फर्क पड़ता है !"

"तुम्हारा ही प्रश्न है, भाभी, तुम्हीं उत्तर दो। पर भैया की दो आँखों की क्या बात है भाभी ?"

"फिर तुमने मान लिया कि समस्या दो आँखों की ही है। भैयावाली जानना चाहते हो, अपनीवाली छिपाना चाहते हो।"

आर्यक हँसकर चुप हो गया। भाभी ने ही आगे कहा, "देखो लल्ला, तुम भैया से अधिक भाग्यवान् हो। उनकी दो आँखों का फ़ैसला दोनों आँखों को ही करना पड़ता है, पर मेरे भोलानाथ, तुम्हारे तो एक तीसरी आँख भी है, उसे क्यों भूल जाते हो !"

"देखो भाभी, पहेली न बुझाया करो। तुम्हारा देवर पहले ही हार मान चुका है। वह तुम्हें भोली समझता है तो तुम उसे बमभोला समझती हो। तुम्हीं ठीक समझती हो, अब गँवार पर नागरी का कृपा-कटाक्ष निक्षेप करो और पहेली को ऐसी भाषा में समझाओ जिससे वह ठीक से समझ सके।"

"तो भोलानाथजी, अपनी तीसरी आँख को ठीक से जान लीजिए। रोज़-रोज़ नागरी का कृपा-कटाक्ष नहीं मिलेगा।"

"बताओ भाभी, मेरे गँवारपन की शपथ है, ठीक-ठीक समझा दो।"

"बलि-बलि जाऊँ इस गँवारपन पर ! तो गिनो उँगली पर।"

"गिन रहा हूँ।"

"एक आँख चन्द्रा रानी। ठीक ?"

"ठीक, एक !"

"दूसरी आँख मैना रानी, ठीक ?"

"ठीक, दो !"

"और तीसरी आँख तुम्हीं बताओ भोलानाथ !"

"बता दूँ ?"

"बनते हो, जान-बूझकर बनते हो !"

"नहीं भाभी, पहले बता देता हूँ, फिर तुम बताना कि ठीक हुआ या नहीं ।"

"बताओ ।"

"तीसरी आँख है मेरी नागरी भाभी । ठीक ?"

"पेट में दाढ़ी है तुम्हारे ! है न ?"

"तीसरी आँख से देखने का प्रयत्न कर रहा हूँ । हाँ, है !"

"कित्ती बड़ी है ?"

"बहुत बड़ी । यही भाभी के बराबर !"

"ठीक देखा है, शाबाश ! अब जब दो आँखों को देखना हो तो तीसरी आँख से पूछ लिया करो !"

आर्यक आनन्द-लहरी में बह रहा है—"पूछ रहा हूँ भाभी !···ऐ मेरी तीसरी आँख, बता तो मेरी दो आँखें कहाँ हैं, कैसे हैं ?"

भाभी आर्यक के अभिनय से हँसते-हँसते दोहरी हो गयीं—"वाह लल्ला, नाटक करो तो नाम कमाओगे ।"

आर्यक ने गम्भीर होकर कहा, "हँसी नहीं कर रहा हूँ, भाभी, सचमुच मैं उलझन में हूँ । तुम्हें बार-बार याद कर रहा था कि तुम ठीक जान लो कि मेरे सिर पर विचिकित्सा के बादल मँडरा रहे हैं । राजाधिराज समुद्रगुप्त मथुरा आ गये हैं, दो-तीन दिनों में उज्जयिनी भी आ सकते हैं । मैं उनके सामने जाऊँ या न जाऊँ ?"

भाभी भी गम्भीर हो गयीं । "क्यों नहीं जाओगे ? तुमने उनका क्या बिगाड़ा है ? नासमझी उन्हीं ने की है, तुम क्यों लज्जित होगे ?"

"ठीक है भाभी, पर अभी तो उससे भी कठिन समस्या है । मृणाल के सामने कौन-सा मुँह लेकर जाऊँगा ?"

"यही सोने-सा चमकता मुँह । इसमें मुझे तो कोई खाद दिखायी नहीं देता । मृणाल को दिखायी दे तो भाभी को बुला लेना । मैं उसे समझा दूँगी । वैसे, आवश्यकता नहीं पड़ेगी । तुम पतिव्रताओं को जानते नहीं । समझे मेरे देवरजी !"

"जिसे जानता ही नहीं, उसे समझूँगा क्या ?"

"नहीं समझते हो तो भाभी की बात मानो । पहले समुद्रगुप्त से मिलो । राजा हो या राजाधिराज, मनुष्य तो होगा ही । एकदम मित्र की भाँति मिलो । हर बात का खुलकर जवाब दो । दोष हो या गुण, छिपाओ कुछ भी नहीं । वे प्रिय कहें या अप्रिय, वाणी का और शिष्टाचार का संयम न छोड़ना । मीठा तो तुम बोलते ही हो, साफ़ भी बोलो । अपने अन्तर्यामी पर अधिक विश्वास करो, लोक-जल्पना पर कम । सत्य सबसे बड़ा है, यह मत भूलो ।···

"मृणाल के पास अवश्य जाओ—सच्चाई के साथ, विश्वास के साथ, विनय के साथ, शील के साथ । उसकी महिमा का सम्मान करो । सती की आँख में वरदान

रहता है। कभी कोई ऐसा काम न करो जिससे उस आँख में क्षोभ का संचार हो। उसकी तपस्या से तुम विजयी हुए हो, यह बात कभी न भूलना। देखो लल्ला, पुरुष का अहम् और उसकी भीरुता, दोनों ही स्त्री को कष्ट देते हैं। भूलना मत।···

"चन्द्रा को मैं जितना समझ पायी हूँ वह निर्भीकता, स्पष्टता और साहस में अद्वितीय नारी है। उसका मूल भाव माता का भाव है। वह तुम्हारी और मृणाल की सेवा के लिए लालायित है। उसके इस सेवाभाव की उपेक्षा करोगे तो अच्छा नहीं होगा। उपेक्षा करके तुमने उसे चण्ड बना दिया है। सेवा की उपेक्षा से ही संसार की आधी समस्याएँ हैं। इस विषय में तुम अपने भैया को गुरु मानो।"

आर्यक तृप्ति अनुभव करता रहा। भाभी देवबाला की तरह लग रही थीं। ऐसा लग रहा था, स्वयं सरस्वती आकर आर्यक को मार्ग बता रही हैं। वह कृत-कृत्य हो गया। इतना स्पष्ट तो उसे कभी सूझा नहीं। वातावरण बहुत गम्भीर हो गया था। भाभी माता की भूमिका में पहुँच गयी थीं। आर्यक का मन भार-मुक्त हो गया था। देवर-भाभी के धरातल पर लौट आने के उद्देश्य से उसने चुहल की।

"सब मानूँगा, एक बात को छोड़कर। भैया को नहीं, भाभी को गुरु मानूँगा।"

"उससे अच्छा होगा कि मृणाल को गुरु मान लेना।"

"अच्छा भाभी, तुम इतना स्पष्ट कैसे देख लेती हो?"

"देवर की आँख से! समझे?"

इसी समय आर्य चारुदत्त आये और धूतादेवी के हाथ में एक पत्र देकर दूसरी ओर आँख फिराकर बैठ गये।

पत्र से सुगन्ध निकल रही थी। आर्यक को इस सुगन्ध ने आकृष्ट किया। सुन्दर सँवारे हुए भोजपत्र पर कुसुम-राग से लिखे हुए पत्र में कस्तूरी और अगरु के उपलेपन की सुगन्ध थी। धूतादेवी ने आदर के साथ पत्र खोला। पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखें चमकने लगीं और अधरों पर मन्द मुस्कान बिखर गयी। बोलीं, "लो देवरजी, उज्जयिनी में तुम्हारी भाभियों की सेना तैयार हो गयी है। एक तो मेरी नटखट बहिन वसन्तसेना है। अकेली ही एक सेना है। दूसरी अभी वधू-वेश में ही है—तुम्हारे भैया श्यामरूप की नयी बहू—मदनिका। चलो, वसन्तसेना का निमन्त्रण बहुत मुखर है—कहती है, 'दीदी, सुना है, तुम्हारे पास एक गँवार देवर आया है। जल्दी उसे भेज दो। मेरे यहाँ बन्दरों का नाच होनेवाला है, एक कम पड़ रहा है।' दूसरी बेचारी क्या कहे! चुपचाप प्यार निवेदन किया है। अब तुम्हारी यह भोली भाभी कहाँ तक तुम्हारी रक्षा करे?"

गोपाल आर्यक और चारुदत्त हँसने लगे।

आर्यक बहुत प्रसन्न है। मन में कोई भार नहीं है। छिप के नहीं जा रहा है।

उज्जयिनी में उसे निर्मलीकरण का रसायन मिला है। तीनों भाभियों के निर्मल सरस परिहास ने उसमें नया जीवन भर दिया है। वह अब तक भाभी के प्यार से वंचित रहा है। भगवान् ने एक ही साथ तीन भाभियों का वरदान दिया। जीवन उसे जीने योग्य जान पड़ता है। उज्जयिनी का मोह अब उसे छोड़ नहीं रहा है। वह भागेगा नहीं, भाभी का उपदेश उसके हृदय में सीधे पैठ गया है—'अब लौं नसानी, अब ना नसैहों !'

भटार्क को उज्जयिनी का भार सौंपकर वह मथुरा की ओर चला। भटार्क ने पहले ही दूत भेज दिया। इस बार आर्यक यथा-नियम शालि-वाहन (घुड़सवार) होकर निकला। भटार्क ने उसकी इच्छा के विरुद्ध गुप्त रूप में कुछ अंग-रक्षक आगे-पीछे कर दिये। आर्यक तीव्र गति से आगे बढ़ा। वह आज सारी मानसिक कुण्ठा को घोड़े की टाप से कुचल देना चाहता है। वह सरपट भागा जा रहा है, उसे अपना इच्छित अर्थ मिल गया है। चन्द्रमौलि ने कहा था, 'जिसका मन ईप्सितार्थ पर स्थिर भाव से जमा हो उसे, और नीचे की ओर ढरकती वारिधारा को, कौन रोक सकता है ? कोई नहीं रोक सकता।' आर्यक अब मृणाल के सामने जायेगा, चन्द्रा की खोज करेगा, सम्राट् को स्पष्ट और सच्चा उत्तर देगा। भाभी की बातों से अधिक स्पष्ट और खरा उपदेश उसे नहीं मिल सकता। कैसी अद्भुत है भाभी की अन्तर्दृष्टि ! गहराई तक वेध देती है। कहती हैं, 'तुम पतिव्रताओं को नहीं जानते।' आर्यक सचमुच नहीं जानता। भाभी को ही देखो, कहीं कोई गाँठ नहीं है; जहाँ ईर्ष्या होनी चाहिए वहाँ स्नेह है; जहाँ असूया होनी चाहिए वहाँ आदर है; सब-कुछ को दबाकर, सब-कुछ से रस खींचकर प्रफुल्ल शतदल की तरह विराजमान हैं। कैसा अद्भुत सहज भाव है ! मन्दस्मित के सामने शरत्कालीन चन्द्रमा की कोमल मरीचियाँ भी फीकी पड़ जाती हैं, चलती हैं तो चरणों से अनुभाव की तरंगें बिखरती रहती हैं। आर्यक धन्य है जो उसे ऐसी भाभी मिल गयी। आर्य चारुदत्त सचमुच भाग्यवान् हैं। आर्यक भाग्यहीन है, अब नहीं रहेगा। बहुत नाच चुका गोपाल, अब अभिनय बन्द कर, जहाँ तेरा सच्चा विश्राम है वहाँ चल। लोकापवाद के भय से अन्तरतर का निरादर न कर। पतिव्रता की महिमा की अवहेलना न कर।

किसी ने जय-ध्वनि की, "महावीर गोपाल आर्यक की जय हो !" आर्यक का ध्यान भंग हुआ।

"धनंजय हूँ आर्य, प्रणाम स्वीकार हो !"

"धनंजय ? हलद्वीप के अमात्य पुरन्दर के भाई धनंजय ?" आर्यक ने कुछ विस्मित होकर पूछा।

"हाँ आर्य, मैं पुरन्दर का भाई धनंजय ही हूँ।"

"यहाँ कैसे आये हो भाई धनंजय ? तुम क्या सम्राट् की रक्षावाहिनी के बलाधिकृत नहीं रहे ? यहाँ इस तरह क्यों घूम रहे हो ?"

"अब भी हूँ, आर्य। महाराजाधिराज के साथ मथुरा आया हूँ। महाराजा-

धिराज का सन्देशा लेकर ही सेवा में उपस्थित हुआ हूँ ।"

"महाराज ने क्या आज्ञा दी है, भद्र ?"

"महाराजाधिराज ने सन्देशा भिजवाया है कि वे अपने नर्मसखा गोपाल आर्यक से मिलने को व्याकुल हैं। वे अपने महाबलाधिकृत से नहीं, अपने नर्मसखा से मिलने को आतुर हैं।"

"सम्राट् महाबलाधिकृत से तो रुष्ट होंगे, भाई धनंजय ?"

"किसने आपके मन में ऐसी पाप-आशंका पैदा कर दी, आर्य ? सम्राट् को तो हमने इतना प्रसन्न कभी देखा ही नहीं। आप तो जानते ही हैं कि वे समुद्र के समान गम्भीर रहते हैं, उनका समुद्रगुप्त नाम कितना सार्थक है, पर मथुरा आते ही उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, 'आयुष्मान् धनंजय, गोपाल आर्यक नरशार्दूल है। उसने जो पराक्रम दिखाया है उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। मैंने उसके हृदय पर वृथा चोट पहुँचायी थी। अब मैं वास्तविक स्थिति से परिचित हो गया हूँ। तुम उज्जयिनी जाओ और जैसे भी हो मेरे मित्र को यहाँ ले आओ। उसका राजकीय सम्मान तो उचित अवसर पर किया जायेगा, पर व्यक्तिगत रूप से मैं उसका स्वयं सम्मान करूँगा।' सम्राट् की आँखें डबडबा आयी थीं। आज तक मैंने कभी उनके मुख-मण्डल पर विकार के चिह्न नहीं देखे थे। पहली बार चन्द्रमा के आने की आशा-मात्र से समुद्र में ऐसा चांचल्य देखा है, आर्य !"

"साधु, भाई धनंजय, चलो, मैं आ रहा हूँ।"

धनंजय चला गया—मथुरा की ओर। आर्यक का मन और भी हल्का हुआ। उसने धीरे-धीरे मथुरा की ओर घोड़ा बढ़ाया।

सम्राट् मिलनेवाले हैं। बीच का इतिहास न चाहते हुए भी आर्यक के मन में दीवार खड़ी कर रहा है। कैसा मिलना होगा ! आर्यक अब वही आर्यक नहीं, बीच में कालदेवता ने उसे बदल दिया है, सम्राट् वही सम्राट् नहीं हैं, बीच में इतिहास-विधाता ने उनके आगे भी काँटा खड़ा कर दिया है—'सखि वै तुम वै, हम वै ही रहे, पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं !'

आर्यक की गति धीमी हो गयी।

कहाँ सारे देश को अत्याचार और शोषण से मुक्त करने का संकल्प और कहाँ व्यक्तिगत पचड़ों का व्यवधान। अगर सम्राट् हर आदमी के व्यक्तिगत जीवन को अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न न करते तो क्या हानि होती ? बृहत्तर मानवीय समस्याओं के सुलझाने के प्रयास में छोटी-मोटी घरेलू बातों को ले आने का क्या औचित्य है ? आर्यक विक्षुब्ध भाव से सोचता चला जा रहा है।

परन्तु सम्राट् को धर्म का रक्षक होना चाहिए। क्या अधिकतर सामाजिक उलझनों का कारण यही नहीं है कि शासन का जो सर्वोपरि संरक्षक है वह धर्म के बारे में उदासीन है। पालक का व्यक्तिगत जीवन क्या धर्माचार के विपरीत होने से ही अनर्थ का कारण नहीं बना ? सुरा और सुन्दरी उसके व्यक्तिगत जीवन के ही तो लक्ष्य थे। प्रजा उसके विरुद्ध क्यों हो गयी ? क्या अच्छा है—राजा का प्रजा

के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप या प्रजा की राजा के व्यक्तिगत जीवन के प्रति सतर्क दृष्टि ? पहले आर्यक को उखाड़ फेंका और दूसरे को उखाड़ फेंकने में आर्यक ही निमित्त बन गया। धर्म क्या व्यक्ति को आश्रय करके चलता है या वह अन्त-र्वैयक्तिक सम्बन्धों का आश्रय बनाता है ? दूसरा पक्ष ही ठीक जान पड़ता है। एक से अधिक व्यक्तियों का संसर्ग ही तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का प्रश्न उठाता है। एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध न हो तो धर्म की आवश्यकता ही क्या है। सम्राट् धर्म का संरक्षक होता है, इस कथन का अर्थ है कि सम्राट् अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का नियामक होता है। पर क्या सम्राट् स्वयं एक व्यक्ति नहीं है ? वह भी क्या अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की विशुद्धता का विषय नहीं है ? अनुराग-विराग, ईर्ष्या-असूया क्या उसके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की विशुद्धता के निर्णय को धर्म-सम्मत रहने देंगी ? आर्यक अनुभव कर रहा है कि सम्राट् के निर्णय में कहीं कोई त्रुटि अवश्य है, पर कहाँ ? आर्यक समझ नहीं पा रहा है कि यह त्रुटि कहाँ है। भाभी ने कहा था, बहुत सहज भाव से कहा था, 'सत्य अविभाज्य है।' क्या सारे अनर्थों में सत्य को विभक्त करके देखने की दृष्टि तो नहीं है ? आर्यक व्याकुल-भाव से सोच रहा है। वह सम्राट् की कठोर धर्म-परायणता को जानता है, पर यह भी जानता है कि उसके सारे धर्म-सम्बन्धी विचार एक ही आधार पर टिके हुए हैं—संयम। ठीक भी है। यदि धर्म अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का आश्रय करके रहता है तो संयम––शरीर, मन, वाणी पर अंकुश––रहना ही चाहिए। दो या अधिक व्यक्तियों के सम्बन्ध के साधन तो ये तीन ही हैं—शरीर, मन और वाणी। शरीर का कर्म, मन का चिन्तन और वाणी का सम्प्रेषण, ये ही तो अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के आधार हैं—मन, वचन, कर्म ! सम्राट् शरीर के कर्म पर अधिक बल देते हैं। आर्यक जानता है और मानता भी है। पर शरीर-सम्बन्धों को इतना महत्त्व देना क्या ठीक है ? पुराण-ऋषियों ने क्या कहा है ? वे तीनों का सन्तुलन चाहते हैं। तीनों के सन्तुलन से सत्य अविभाज्य रह सकता है। सम्राट् सन्तुलन की बात नहीं सोचते। तो क्या सम्राट् पुराण-ऋषियों की अवहेलना के दोषी हैं ? अभी यह प्रश्न सामने आयेगा। सम्राट् मिलेंगे।

आर्यक की गति और भी शिथिल होती जा रही है। घोड़ा भी समझ रहा । वह धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है।

कुछ लोग इकट्ठे होकर किसी से कुछ सुन रहे थे। सुनानेवाला बहुत मीठे स्वर से कुछ सुना रहा था। सुननेवाले तन्मय होकर सुन रहे थे। आर्यक ने सोचा, इनकी तन्मयता भंग नहीं होनी चाहिए। धीरे-से घोड़े से उतर गया। घोड़े को एक जगह बाँधकर वह भी सुनने की इच्छा से चुपचाप उधर ही बढ़ गया––अवश की भाँति। सुरीले कण्ठ से गानेवाले ने पहले समझाया, शायद इसके पहले भी बहुत-कुछ समझा चुका था। आर्यक बीच में आ गया था। प्रसंग पार्वती की तपस्या का था। शिव ब्रह्मचारी वेश में परीक्षा लेने आये थे। तपोनिरता पार्वती से कुशल-प्रश्न पूछ रहे थे, 'हे सुकुमारि, बड़ी कठोर तपस्या कर रही हो। शरीर का ध्यान त

रखती हो न ? शारीरिक शक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए—वही तो पहला धर्म-साधन है ! ऐसा न करना कि कठोर तप के कारण यह सुकुमार शरीर ही टूट जाय—

'अपि स्वशक्त्या तमसि प्रवर्तसे
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् !'

कैसा कण्ठ है ? कैसी मर्मभेदी अभिव्यक्ति है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ! आर्यक को लगा कि स्वर परिचित जान पड़ता है। किन्तु श्रोताओं की भीड़ चीरकर सामने जाना उचित भी नहीं था, सम्भव भी नहीं था। आर्यक सावधानी से सुनने लगा। यह तो चन्द्रमौलि का कण्ठ है ! अब धीरज नहीं रहा। निश्चय ही यह चन्द्रमौलि का कण्ठ था। आर्यक के प्रश्न का कैसा विलक्षण उत्तर है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ! शरीर अर्थात् आचरण-पक्ष ! वह चन्द्रमौलि के सामने जाने का प्रयत्न करने लगा। श्रोताओं में से किसी ने पहचान लिया। वह चिल्ला उठा, "महावीर गोपाल आर्यक की जय।" सभा की तन्मयता भंग हो गयी। जय-जयकार की ध्वनि से आकाश कम्पित हो उठा। चन्द्रमौलि जैसे सोते से जागा। आर्यक को सामने देखकर चकित-विस्मित ताकता रहा। आर्यक ने उसे गाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। फिर भीड़ की ओर ताककर बोले, "बोलो, महाकवि चन्द्रमौलि की जय !" जनता ने द्विगुणित उल्लास से जय-ध्वनि की। श्रोताओं में कई धनंजय के सैनिक थे। आर्यक को पहचानते थे। परन्तु यह नहीं जानते थे कि आर्यक चन्द्रमौलि को जानते हैं। कथा फिर जमी नहीं। दोनों मित्र एक ओर हो गये। दोनों साथ ही मथुरा की ओर चल पड़े। एक और घोड़े की व्यवस्था भी हो गयी।

मार्ग में आर्यक ने चन्द्रमौलि से कहा, "बन्धु चन्द्रमौलि, आज तक मैंने अपने-आपको सारी दुनिया से छिपाया है, तुमसे भी छिपाया है। अब मुझे सहज गुरु-मन्त्र मिल गया है—अपने-आपको छिपाते फिरना सारे अनर्थों की जड़ है। अब मैं अपने-आपको छिपाऊँगा नहीं। विधाता ने मुझे जो बनाया है वह हूँ। इसमें छिपाना क्या है ! तुम्हें मैंने अपनी मनोव्यथा नहीं बतायी, पाप किया। उसका प्रायश्चित्त करूँगा। मैं अपनी सारी राम-कहानी सुनाऊँगा। सुनोगे ?"

"अवश्य सुनूँगा, बन्धु !"

आर्यक ने सारी कहानी सुना दी।

चन्द्रमौलि ने दीर्घ निःश्वास लिया—"बन्धु आर्यक, मैं भी अपने को छिपाता आया हूँ, पर तुम्हारे समान भाग्यवान् नहीं हूँ। गुरु नहीं पा सका, साहस नहीं बटोर सका। तुम्हें गुरु कहाँ मिला मित्र ?"

"उज्जयिनी में। पतिव्रताओं की मुकुट-मणि, आर्य चारुदत्त की सहधर्मिणी, अरुन्धती-कल्पा धूता भाभी मेरी गुरु हैं। सहज सत्य पर उनकी दृष्टि सहज ही चली जाती है !"

"भाग्यवान् हो मित्र, पर तुम्हारे भाग्योदय से मुझे भी आशा बँधी है। कोई-

न-कोई पतिव्रताओं की मुकुट-मणि, किसी-न-किसी मित्र की सहधर्मचारिणी, कोई-न-कोई अरुन्धती-कल्पा भाभी मुझे भी गुरु-रूप में मिल ही जायेगी।"

आर्यक इंगित समझकर ठठाकर हँस पड़ा, "लगता है मित्र, कि माढ़व्य शर्मा का सत्संग व्यर्थ नहीं गया है!"

चन्द्रमौलि का चेहरा खिल गया।

उधर सम्राट् ने बीच रास्ते में ही आर्यक की अगवानी की। दोनों सखा देर तक एक-दूसरे से लिपटे रहे। अविरल प्रेमाश्रुओं ने बिना कुछ कहे ही सब-कुछ कह दिया। चन्द्रमौलि मुग्ध-गद्गद भाव से यह मिलन देखता रहा। दोनों ही मौन, दोनों ही प्रेम-निर्भर! सम्राट् ने ही मौन भंग किया—"कल तुमसे बात करूँगा मित्र, आज अधिक आवश्यक कार्य है, तुमसे विदाई ले रहा हूँ। वह नाव है, जाकर बैठ जाओ। सामने बटेश्वर तीर्थ है। वहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा हो रही है। देर न करो। कल मिलेंगे।"

"कौन प्रतीक्षा कर रहा है, सखे?" आर्यक ने पूछा।

सम्राट् ने कहा, "समय नष्ट न करो। प्रतीक्षा करा-कराके जान ले ली, अब पूछते हैं कौन प्रतीक्षा कर रहा है!"

आर्यक सनाका खा गया। सम्राट् की रहस्यपूर्ण हँसी से कुछ-कुछ अनुमान लगाने लगा।

चन्द्रमौलि की ओर देखकर सम्राट् से बोला, "महाकवि चन्द्रमौलि हैं। मेरे परम मित्र हैं।"

सम्राट् ने कहा, "मेरे साथ जायेंगे। आओ बन्धु!" आर्यक की ओर देखे बिना ही चन्द्रमौलि को खींचकर सम्राट् अपने साथ ले चले। आर्यक नाव में जा बैठा। कौन प्रतीक्षा कर रहा है? क्या मृणाल है? यह समुद्रगुप्त पूरा बताता ही नहीं। बता देता तो क्या बिगड़ जाता? हँसना ही जानता है—हँसो बाबा, आर्यक भी हँसता-हँसता सब सहेगा।

सम्राट् के इस प्रकार के बन्धुजनोचित व्यवहार से चन्द्रमौलि प्रभावित हुए। वे सम्राट् से एक बात कहने की अनुमति लेकर आर्यक से बोले, "सखे, एक बात कहना भूल गया था। आर्य देवरात मथुरा आये हुए हैं। उनके मन में कुछ भ्रामक समाचारों से थोड़ा कष्ट है। मैं उनसे मिलूँगा और उनके चित्त में भ्रमवश जो अन्यथा-भाव आ गया है उसे दूर करने का प्रयास करूँगा। यदि सम्भव हुआ तो उन्हें लेकर तुम्हारे पास आ जाऊँगा। जानते हो मित्र, वे सम्बन्ध में मेरे मौसा हैं।"

"मौसा!" आर्यक ने आश्चर्य से पूछा। सम्राट् ने अधिक अवसर नहीं दिया। बोले, "बस मित्र, आज इतना ही। तुम दोनों मौसेरे भाई बन गये, आज इतना ही पर्याप्त है। दुनिया जानती है कि मौसेरे भाई कौन होते हैं! बस, जाओ!" सम्राट् के संकेतपूर्ण नर्म वाक्य से चन्द्रमौलि और आर्यक दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़े। नाव चल पड़ी।

सम्राट् ने चन्द्रमौलि को प्यार से निकट खींच लिया। बोले, "बन्धु, तुम मेरे प्रिय सखा आर्यक के मित्र हो। मुझे भी अपना वैसा ही मित्र मानना। तुम आर्य देवरात से मिलना चाहते हो। मैं तुम्हें मिला दूँगा। तुम्हीं शायद उनको शान्ति दे सकोगे। मैंने कल ही उन्हें देखा था, कुछ अशान्त दिखते थे। मगर बन्धु, तुम्हारा पूरा परिचय पा सकता हूँ ? आर्य देवरात तुम्हारे मौसा कैसे हैं ?"

चन्द्रमौलि इस प्रश्न के लिए एकदम प्रस्तुत नहीं था। हाथ जोड़कर बोला, "सब बता दूँगा मित्र, सब बता दूँगा, पर थोड़ा रुकने की अनुमति दें !"

सम्राट् ने कहा, "तो सखे, मैंने ठीक ही समझा था कि चोर-चोर मौसेरे भाई होते हैं। तुम भी आर्यक की तरह अपने से अपने को चुराते रहने का कारबार करते हो !"

चन्द्रमौलि थोड़े लज्जित हुए। "हाँ महाराज, आर्यक से भी बड़ा चोर हूँ। मेरी कहानी उलझी हुई नहीं है, पर बहुत सुलझी भी नहीं है। लेकिन थोड़ा रुकेंगे नहीं ?"

सम्राट् ने हँसते हुए कहा, "थोड़ा बाद में सही।"

चन्द्रमौलि सम्राट् की इस सहानुभूति से गद्गद हो उठा। फिर सम्राट् ने आदरपूर्वक कहा, "आर्यक से कैसे मैत्री हुई, यह तो बताओगे ना ?" चन्द्रमौलि ने सोल्लास सारी कथा सुना दी। आर्य देवरात, माढ़व्य शर्मा के बारे में भी बताया और उज्जयिनी में सुनी हुई शार्विलक की कहानी भी सुनायी। सम्राट् ने हर बात की ब्यौरेवार जानकारी पाने का प्रयत्न किया, चन्द्रमौलि ने यथा-ज्ञान उन्हें समझाया। सम्राट् चन्द्रमौलि से बहुत प्रभावित जान पड़े। सम्राट् ने फिर अनुनय-भरा आग्रह किया, "कह ही दो न मित्र, अपनी भी !"

चन्द्रमौलि इस आग्रह-भरे अनुनय की उपेक्षा नहीं कर सका। उसके चेहरे पर लज्जा के भाव दिखायी पड़े। बोला, "कैसे कहूँ धर्ममूर्ते, कुछ कहने-योग्य तो है नहीं। मैं बहुत छुटपन में ही मातृ-पितृहीन अनाथ हो गया था। ऐसे अनाथ-अभाजन को भी कोई प्यार कर सकता है, यह एक विचित्र विधि-विधान है। परन्तु ऐसा सचमुच ही हुआ। एक परम रूपवती राजदुहिता ने इस अभाजन को पाने के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं सहे ? दारुण तपस्या की ज्वाला में उसका स्वर्ण-कमल-सा कमनीय मुख झुलसकर काला हो गया। उसके अभिभावक मुझ-जैसे अनाथ को कन्या नहीं दे सकते थे और उसने ऐसी ठान ली कि दूसरे को किसी प्रकार वरण नहीं कर सकी। केवल एक बार मुझे छिपकर उसे देखने का सौभाग्य मिला। मैंने उसे हठ छोड़ देने को कहा, पर उस समर्पित-प्राणा को अपने निश्चय से डिगा नहीं सका। उसके मन में यह आशंका थी कि उसके घरवाले मेरा अनिष्ट करेंगे। वह बार-बार मुझे देश छोड़कर अन्यत्र चले जाने को कहती रही। कैसे छोड़ देता महाराज ! पर छोड़ना पड़ा। सच-झूठ तो नहीं जानता, पर उसके घरवालों ने ही बताया कि वह मर गयी ! यही तो कहानी है, धर्ममूर्ते !"

राजाधिराज समुद्रगुप्त ने टोका, "झूठा समाचार भी तो हो सकता है,

कवि ?"

"कैसे कहूँ अकारण-बन्धु ! यक्ष-भूमि में धर्म-संकट से उद्धार पाने के लिए अपनी प्राणप्यारी कन्या या वधू को मार डालने की घटना तो होती ही रहती है। मेरा संसार सूना हो गया है। कौन बतायेगा कि समाचार ठीक था या नहीं। मेरा तो वहाँ प्रवेश ही निषिद्ध है।"

"अपने मित्र पर विश्वास रखो। मैं पता लगाऊँगा।"

"अपने मानसिक सन्ताप की ज्वाला से जलता रहा हूँ। संसार में कहीं भी तो उस रूप को नहीं देख पाता ! मैंने अपने को भुलाने के लिए समष्टि-चेतना में अपनी क्षुद्र सीमा को निमज्जित कर देने का प्रयास किया है। चन्द्रमौलि महादेव ने तपोनिरता पार्वती को सम्बोधित करके कहा था, 'हे अवनतांगि, आज से मैं तुम्हारी तपस्या से खरीदा हुआ दास बना—अवनतांगिदासः।' मैं क्या कहता ?···

"मुझे वह दृश्य कभी नहीं भूलता, जब मैंने दीर्घ उपवास से काली पड़ी हुई प्रिया को देखा था। क्या करूँ, धर्ममूर्त्ते ! मैंने अपने व्यक्ति चन्द्रमौलि को समष्टि-चेतना के पुंजीभूत विग्रह महादेव चन्द्रमौलि को सौंप दिया है। जहाँ कहीं भी दुख, परिताप और क्षणभंगुरता रही है, उसे आनन्द, कल्याण और शाश्वत रूप के साथ एकमेक करके आनन्द अनुभव किया है। भगवान् चन्द्रमौलि को तपोनिरता पार्वती के सम्मुख उपस्थित कराकर एक काव्य में मैंने अपने सीमित अस्तित्व को असीम सत्ता में विलीन करने का प्रयत्न किया है। छन्द उसमें अपने-आप ढलते गये हैं, कलुष और सीमा की क्षुद्रता अपने-आप झड़ती गयी है। मैं नहीं जानता कि भगवान् शिव उससे कितने प्रीत हुए हैं, किन्तु मैं अपनी ओर से बहुत-कुछ आश्वस्त हो गया हूँ। मैंने तो अपनी प्रिया की कान्ति को काली पड़ते देखा था, परन्तु समष्टि-चेतना के नारी-पक्ष की विग्रहवती पार्वती को मैं काली कैसे कह सकता था ! मेरे सारे कलुष और मेरी अशेष क्षुद्रता उस महिमामयी के सामने बह गये।···

"मैंने 'अवनतांगि' सम्बोधन करवाया। तपस्या से वे भी निश्चय ही झुलस गयी होंगी। परन्तु समष्टि-चेतना कभी विवर्ण नहीं होती। तेज कभी कृश नहीं होता। सो, मैं पल्लविनी लता के हेमन्त के झकोरों से निष्पत्र होकर झुक जाने के सिवाय अधिक कुछ नहीं कह सका : धर्मावतार, समष्टि-चेतना का नारी-रूप अधिक-से-अधिक दुःसह आतप के झकोरों से झुका हुआ-सा ही लग सकता है, काला नहीं पड़ सकता। सो, समष्टि-चेतना का पुरुष-पक्ष अपने को तपस्या से अभिभूत मानकर उसे 'अवनतांगि' ही कह सकता है। समष्टि-चेतना के पुरुष-विग्रह शिव से मैंने उनको 'अवनतांगिदास' ही कहलवाया है। मैंने दारुण वियोग-व्यथा को झेला है, लेकिन उसे महाअज्ञात देवता के चरणों में निछावर कर देने के बाद अपने को अमृत-रूप में ही पाया है। मेरी प्रिया भी अब समष्टि-चेतना में घुल-मिलकर अमृत-स्वरूपा बन गयी है। और मैं क्या कहूँ, धर्ममूर्त्ते !"

सम्राट् समुद्रगुप्त चकित होकर सब सुन रहे थे। इस करुण कथा का उप-संहार सुनकर उनकी आँखें विस्मय से कानों तक फैल गयीं। चन्द्रमौलि के कन्धे

पर हाथ रखकर उन्होंने सहानुभूति-गद्‌गद स्वर में कहा, "मैं धन्य हूँ वयस्य, जो व्यक्ति-चेतना को समष्टि-चेतना में विलीन करनेवाले महाप्रेमी को देख रहा हूँ। तुम्हें समष्टि-चेतना के 'अवनतांगिदास' चन्द्रमौलि प्रिय हैं। मैं इतना विस्फार नहीं सह सकता। मैं तो कालिदास चन्द्रमौलि में ही अपने सीमित चित्त का विश्राम देख रहा हूँ। विश्वास करो मित्र, मैं तुम्हारी पीड़ा कम करने का प्रयत्न अवश्य करूँगा।"

इसी समय धनंजय ने आकर अभिवादन किया। सम्राट् ने पूछा कि उनके आदेशों का कैसा अनुपालन हुआ। धनंजय ने बताया कि सेनापति भटार्क को आदेश दे दिया गया है कि वे आर्य चण्डसेन को उज्जयिनी का नरेश बनाने की व्यवस्था करें। सम्राट् स्वयं तिलक देने उज्जयिनी पहुँचेंगे। आर्य चारुदत्त और महामल्ल शार्विलक के राजकीय सम्मान के आयोजन का भी आदेश भेज दिया गया है। यह भी व्यवस्था की गयी है कि राजकीय सम्मान के बाद आर्य शार्विलक के हलद्वीप जाने की पूरी व्यवस्था कर दी जाये। सम्राट् ने सन्तोष के साथ कहा, "बहुत ठीक।"

इकत्तीस

सुमेर काका ने उल्लसित होकर कहा, "समाचार मिला है बिटिया, आर्यक उज्जयिनी से मथुरा के लिए चल पड़ा है।" चन्द्रा ने सुना, मृणाल ने भी सुना। काका ने प्रस्ताव किया कि मथुरा चलना चाहिए। प्रस्ताव न चन्द्रा को पसन्द आया, न मृणाल को। चन्द्रा के हृदय में अननुभूत कोई वेदना सन्न-से टीस गयी। मृणाल को लगा, जिस देवता के आशीर्वाद से यह समाचार मिला है, उसी की शरण में रहकर फलोदय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसने काका से कुछ न कहकर चन्द्रा से ही कहा कि वे काका से दो-तीन दिन और यहीं रुककर पूजा-आराधना करने की अनुमति लें। पटवास लग गये हैं, इसलिए कुछ दिन और रुक जाने में असुविधा नहीं होगी। चन्द्रा के मन में भी रुकने की बात थी, पर कारण कुछ और था। काका ने बात मान ली।

मृणाल और चन्द्रा दोनों ने स्नान किया और साथ-साथ मन्दिर में गयीं। चन्द्रा उदास थी, मृणाल उत्फुल्ल।

प्रतिदिन की भाँति मृणाल ध्यानमग्न हो गयी। चन्द्रा ध्यान नहीं कर सकी। किसी अस्पष्ट पीड़ा से वह व्याकुल थी। चुपचाप खिसक आयी और दूर जाकर एकान्त में बैठ गयी। उसका चित्त पहली बार इस प्रकार उत्क्षिप्त हुआ था। वह

स्वयं को नहीं समझ पा रही थी। चली थी तो उत्साह था—आर्यक को ढूँढ़ निकालेगी। आर्यक बिना प्रयास के ही मिल गया। अगर वह स्वयं खोज निकालती, तो मन इतना भारी नहीं होता। वह आर्यक को पकड़कर मृणाल के पास ले आती। उस समय बात कुछ और होती। अब आर्यक स्वयं आ रहा है। उसे देखकर कहीं आर्यक फिर तो नहीं भाग खड़ा होगा। अपने किये का अनुताप उसे कभी नहीं हुआ था। आज हो रहा है। अगर आर्यक उसे देखकर बिदक गया, तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। कैसे बचा जाय!

चन्द्रा के हृदय पर कोई आरी चल रही है। आज वह सोचने लगी है कि मेरे कारण सब अनर्थ हुआ है—'मैं सठ सब अनरथ कर हेतू!'

चन्द्रा अपने में डूब रही है। किससे पूछे? कौन उसकी वेदना समझ सकता है? मृणाल समझ सकती है, पर उससे इस समय ऐसी बात कैसे पूछी जा सकती है! हाँ, एक आदमी और है—बाबा। बाबा मिल जाते तो रास्ता पूछती। बाबा सब जान जाते हैं। बिना कहे ही सब समझ लेते हैं। पर बाबा बहुत दूर हैं। उनके पास कैसे पहुँचा जा सकता है। उसे विन्ध्याचल की वह गुफा याद आयी। बाबा इसी गुफा में रहते हैं। वह मन-ही-मन उस गुफा में उतरने लगी। पता नहीं, बाबा मिलें या न मिलें। बाबा अपने को बूढ़ा बेटा कहते हैं, चन्द्रा को माँ कहते हैं। क्यों न उन्हें माँ के रूप में पुकारा जाय। "कहाँ हो चन्द्रा के बूढ़े बेटे, माँ व्याकुल है। दिखते क्यों नहीं।" चन्द्रा बाबा को देख रही है। ठीक वैसे ही एक किनारे चुपचाप बैठे हैं जैसे उस दिन बैठे थे—ठीक उसी तरह मुस्का रहे हैं—ठीक उसी तरह।

"अरी मेरी त्रिनयनी माँ, तू देख क्यों नहीं रही है! बूढ़ा बेटा तो तेरे सामने है। तेरी आँखों को क्या हो गया माँ, तू तो सामने पड़े बूढ़े बेटे को भी नहीं देख रही है! क्यों बुलाया माँ, क्या कष्ट हो गया तुझे!"

"तुम्हीं बताओ बाबा, तुम्हारी त्रिलोचना माँ क्यों नहीं देख पा रही है।"

बाबा ठठाकर हँसे, "तेरी आँखों में विकार आ गया है माँ।"

"हाँ बाबा, कुछ सूझ नहीं रहा है, रास्ता दिखाओ!"

"मेरी मनोजमानभंजिनी माँ, तू तो बच्चों की-सी बात कर रही है। तू तो अपने बूढ़े बेटे को रास्ता दिखायेगी। तू क्यों रास्ता पूछ रही है? तू बहुत भोली है, माँ! तेरे तो सारे मनोविकार जल गये थे, फिर पलुहा गये क्या, माँ? तेरी ललिता बहिन भी तो मेरी माँ है। मैंने उस दिन उससे कहा था कि जब आर्यक आ जाये तो अपनी चन्द्रा दीदी का हाथ उसके हाथ में दे देना। तू सुनके बुरा मान गयी थीं न माँ? मैंने तो तेरी परीक्षा लेनी चाही थी। तू एक ही परीक्षा में भहरा गयी। तेरे मन में अभिमान पैदा हो गया था। तूने सोचा, यह अधिकार तेरा है! भहरा गयी न, माँ! अरे यह अभिमान भी मनोज ही है—मन में पैदा होता है। साथ में पैदा कर देता है ईर्ष्या को, असूया को, क्षोभ को, मोह को, अहंकार को। ये सब मनोज हैं माँ, मन ही में पैदा होनेवाले। कवियों ने केवल काम को मनोज कहा है—जानती है क्यों? क्योंकि वह बिना किसी कारण के अकेले में भी पैदा हो जाता है।

ये दूसरे जो हैं वे किसी दूसरे से सम्पर्क होने से पैदा होते हैं। जिसमें ये दूसरे मनो-विकार पैदा नहीं होते, वह व्यक्ति-निष्ठ होता है, ऐकान्तिक होता है और मेरी भोली माँ, वह असामाजिक हो जाता है। तू पहले ऐसी ही थी। अब तुझे ऐकान्तिकता से अलग होने का अवसर मिला है। अब ये दूसरे प्रकार के मनोज विकार तेरे मन पर धावा बोलेंगे, बोल चुके हैं। ठीक कह रहा हूँ न, जगत्तारिणी माँ?

"जानती है माँ, पुरुष ऐकान्तिक प्रेम का स्तव-गान करे तो कर भी सकता है। पर जिसे जगत्-माता ने नारी-विग्रह दिया है उसके लिए यह प्रेम कठिन है। नारी, त्रैलोक्य-जननी का पार्थिव विग्रह है, उसे ऐकान्तिक प्रेम महँगा पड़ता है।"

"समझ नहीं पा रही हूँ, भरमानेवाली बातें न बताओ। मेरे मन में विकार पैदा हुए हैं, उन पर मेरा वश नहीं है, क्या करूँ! क्या जगत्-माता ने नारी-विग्रह देकर मुझे इस भवसागर में भटकने के लिए ही भेजा है?"

"ना रे ना! तुझे नारी-विग्रह न देती तो मेरे जैसे कोटि-कोटि बालक अनाथ न हो जाते! विकार बुरी बात थोड़े ही है! इन्हें उलीचकर महाप्रेमिक को दे देना माँ! जानती है माँ, सेवा को क्यों इतना महत्त्व दिया जाता है? सचराचर विश्व-रूप भगवन्त को पाने का यही एक साधन है। और साधनाएँ व्यक्तिपरक हैं या निर्वैयक्तिक। सेवा ही ऐसी साधना है जो व्यक्ति के माध्यम से अग-जग-व्यापी विश्वात्मा की प्राप्ति कराती है। नारी माता होकर इस साधना का अनायास अव-सर पा जाती है। ऐकान्तिक प्रेम उसका सोपान-मात्र है। तू उसे पार कर चुकी है। अब तुझे प्रेमी को माध्यम बनाकर विश्वात्मा को प्राप्त करने का अवसर मिला है।...

"भोली माँ, ईर्ष्या तो तब होगी जब तू स्वयं सब-कुछ पाना चाहेगी। औरों को वंचित करना चाहेगी, माँ! नहीं मेरी भोली माँ, तू भाव रूप में 'माँ' बन, अकुण्ठ-अकातर चित्त से सेवा में लग जा। अपने प्रेमी को माध्यम बनाकर सारे मनोभव विकारों को अज्ञात महाप्रेमिक के चरणों में उँड़ेल दे। ईर्ष्या, मान, अभि-मान सब उसी के चरणों में डाल दे। तेरा क्या है रे? कैसा मान और कैसा अभि-मान! मन में उटते हैं तो उसे ही दे दे जिसके लिए उठते हैं।"

"बड़ी दुर्बल हूँ बाबा, न दे पायी तो क्या टूटकर बिखर जाऊँगी?"

"टूटे तेरा अहंकार! तू क्यों टूटेगी, माँ! वही टूटता है जिसमें देने की इच्छा नहीं रहती। मन दृढ़ कर माँ, तू दे सकेगी। सब उलीचकर दे सकेगी। तेरी इच्छा-शक्ति प्रबल है, उतनी ही प्रबल है तेरी क्रिया-शक्ति। दोनों को तूने दो कोठों में डालकर बन्द कर दिया है। ऐसा कर कि दोनों साथ-साथ ताल मिलाकर चल सकें। और बूढ़ा बेटा किस दिन काम आयेगा रे, जगदम्बिके! तेरी इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति ताल मिलाकर चलने लगेंगी, उस दिन नयी गरिमा पायेगी। और तेरा बूढ़ा बेटा नाच-नाचकर तेरे पीछे भागेगा। जब कठिनाई हो तो बुला लेना, माँ!"

चन्द्रा उद्विग्न हो गयी। क्या सुना उसने? अब तक वह ऐकान्तिक प्रेम में थी। अब सामाजिक परिवेश में आने का अवसर मिला है। सबकी सेवा करने से

ही उसे सचराचर विश्वरूप भगवन्त का साक्षात्कार होगा। सारे मनोज-विकार महाप्रेमिक के चरणों में उँड़ेल देने होंगे—मान भी, अभिमान भी, ईर्ष्या भी, असूया भी! ये सब सामाजिक परिवेश की देन हैं। अपना क्या है? कुछ नहीं।

चन्द्रा उसी प्रकार तन्द्रिल अवस्था में देर तक पड़ी रही। आर्यक यदि उसे देखकर बिदक गया तो सारा खेल बिगड़ जायेगा। अभिमान अगर मन में पैदा हुआ तो वह उसे उखाड़कर फेंक देगी। आर्यक सुखी रहे, मृणाल सुखी रहे—उसे कोई लोभ नहीं है।

अभिमान को कैसे किसी को दिया जा सकता है? बाबा कहते हैं, सारे मनोभव विकारों को महाप्रेमिक के चरणों में उँड़ेल दे। कैसे उँड़ेल दे भला? बाबा पहेली बुझाते हैं! कैसे दिया जा सकता है? इच्छा-शक्ति के साथ क्रिया-शक्ति भी होनी चाहिए। देने की इच्छा और देने की क्रिया—क्या मतलब हुआ? हाय मूर्खे, अपने-आपको बचा लेने की इच्छा और तदनुकूल क्रिया, इसी का नाम तो अभिमान है। उसे देना तो अपने-आपको ही दे देना है—रंचमात्र भी बचा रखने की लालसा और प्रयास के बिना परिपूर्ण आत्मदान! चन्द्रा कुछ-कुछ समझ रही है।

बोली, "नहीं हो सकेगा बाबा, नहीं हो सकेगा! जानते हो बाबा, मैंने कभी भी आर्यक को आदरार्थक सर्वनाम 'आप' से सम्बोधित नहीं किया। मृणाल जब आदरार्थक सर्वनामों से उसकी चर्चा करती है तो बड़ा मीठा लगता है। वह आर्यक का नाम कभी नहीं लेती। सभी स्त्रियों की यही परम्परा है। जब वह कहती है 'वे' और 'उनका' तो उसके मुँह से निकले ये शब्द छोटे बच्चों की तोतली बोली के समान बड़े प्यारे लगते हैं। छोटे बच्चे व्याकरण और वाक्यरचना की बारीकियाँ नहीं जानते हैं, केवल अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कितने मीठे लगते हैं वे अनबूझे शब्द! मृणाल बच्ची है, उसके ये शब्द तोतली बोली के समान प्रिय लगते हैं। बेचारी जानती ही नहीं कि इनका अर्थ क्या है। मैं उससे बड़ी हूँ, इन शब्दों का अर्थ जानती हूँ, मैं इन निरर्थक शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकती। सामान्य रूप से कहा जाता है और माना जाता है कि पति देवता होता है, उसकी पूजा करनी होती है। यह बात आज तक मेरी समझ में न आयी कि प्रेम में पूजा का स्थान कहाँ है और क्या है? बाबा, मुझे ये विचार भोंडे लगते हैं। कहोगे बाबा, तो मैं उसके लिए आग में कूद जाऊँगी, पर चरणों में अपने को नहीं उँड़ेल सकती। कुछ और बताओ बाबा, जो मेरे 'स्वभाव' के अनुकूल हो।"

"धन्य है मेरी ऋतम्भरा माँ! तू अगर सच बोल रही है तो तेरी यह बात अद्भुत है। इतनी बड़ी बात तो त्रिपुर-सुन्दरी भी नहीं कह सकी थीं। कहते हैं कि केवल त्रिपुर-भैरवी ही नाम लेकर शिव को सम्बोधित कर सकती थीं। तुझमें त्रिपुर-भैरवी का निवास देख रहा हूँ, माता! त्रिपुर-सुन्दरी ने शिव के कर्पूर-गौर वक्षःस्थल में अपनी ही छाया देखकर उसे भैरवी नाम दिया था। ऐ सौभाग्य-जननी माँ, तूने कैसे समझ लिया कि मैंने तुझे तेरे सखा के चरणों में लोट जाने को कहा है? आर्यक तो केवल तेरा माध्यम होगा माँ, तुझे अपने सारे विकारों को

उसे सौंपने को तो मैंने कहा नहीं माँ। मेरा संकेत था कि तू अपने सारे विकारों को निखिल चराचर विश्वात्मा को सौंप दे। तू अगर अपने सखा प्रेमिक के चरणों में अपने-आपको नहीं डाल सकती, तो न डाल। इसमें कोई दोष नहीं है। त्रुटि-विच्युति तब होगी माँ, जब विश्वात्मा के चरणों में अपने को उलीचकर नहीं दे सकेगी। कैसे देगी मेरी निर्बोध माँ, तू तो अहंकार से जकड़ गयी है। अहंकार क्या है, जानती है ? अपने-आपको सबसे अलग विशिष्ट समझने की बुद्धि। हैं रे जगद्धात्री माँ, तू इसी बुद्धि के चक्कर में है! इसी बुद्धि से बचने के लिए माध्यमों का विधान है। ये माध्यम अनेक हो सकते हैं—श्रद्धा का पात्र गुरु, प्रेम का पात्र प्रेमी या प्रेमिका, स्नेह का पात्र सन्तान, विश्वास का पात्र देवता—कोई-न-कोई माध्यम खोजना ही पड़ता है। तुझे अनायास मिल गया है आर्यक, साथ में मिली है मृणाल। पर माँ, श्रद्धा हो, प्रेम हो, स्नेह हो, आत्म-दान करना ही होता है। चरणों में लोटना ही आत्म-दान नहीं होता। अपने अहंकार को, अलगाव की बुद्धि को, मान को, अभिमान को, सम्पूर्ण आपा को तो उलीचकर दे ही देना पड़ता है। चरणों में देने का मतलब है अपने को, अपने अहंकार को, नीचे की ओर झुकाना। सिर पर पटक देने से तो अहंकार ऊर्ध्वगामी होगा, माँ! भावार्थ को समझने का प्रयत्न कर, अक्षरार्थ में मत उलझ।"

चन्द्रा भावार्थ में जाने का प्रयास करती है। बाबा हँस रहे हैं—"त्रिपुर-भैरवी माया है माँ, वह त्रिपुर-सुन्दरी के अहंकार की छाया है। धोखा है। अनेक जन्मों की विकट साधना से जब जगज्जननी सन्तुष्ट होती हैं तो नारी-विग्रह देती हैं। वे स्वयं निषेध-व्यापार-रूपा हैं, अपने-आपको मिटा देने की भावना का मूर्त्त विग्रह। वे नारी-काया को ही अपना प्रतिरूप बनाती हैं, पर यह त्रिपुर-भैरवी हैं कि सर्वत्र उपस्थित हो जाती हैं—अहंकार के रूप में वे नारी को ऐकान्तिक प्रेम के मार्ग पर चलने को प्रोत्साहित करती हैं, सेवा के वास्तविक धर्म से वंचित रहने को उत्साहित करती हैं, उद्दाम वासना को उकसाती हैं, पर निखिल जगत् की माता त्रिपुर-सुन्दरी सदा रक्षा करती रहती हैं—तू बिना सेवा के किसी प्रकार के प्रेम की कल्पना कर सकती है मेरी भोली माँ ? नहीं कर सकती। यही त्रिपुर-सुन्दरी के अस्तित्व का प्रमाण है। है न ?"

"हाँ बाबा !"

"तो विभिन्न भाव-धाराओं में बहने-उतराने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? सहज बन जा ! एकदम सहज ! अहंकार को उखाड़कर फेंक दे ! मेरी माँ, अहंकार को तो तू इस बूढ़े बेटे को भी दे सकती है। दे दे माँ ! दे तो अपनी ग्रीवा, तनिक दे दे।"

चन्द्रा ने अपनी गर्दन झुका दी, बाबा ने अपने अँगूठे से उसकी ग्रीवा को दबाया। चन्द्रा वेदना से चिल्ला उठी। बाबा ने आश्चर्य से कहा, "मन्या और अलंबुषा दोनों बहुत सूज गयी हैं। हैं न माँ जगद्धात्री !" उन्होंने थोड़ा सहलाकर और दबाया। चन्द्रा को बड़ी पीड़ा हुई, लेकिन पीड़ा में एक प्रकार का सुख भी

था। लगता था, हृदय-द्वार से अनेक जटिल ग्रन्थियाँ खुलती जा रही हैं। वह चीखती जाती थी और शान्ति भी अनुभव करती जा रही थी। बाबा का अँगूठा देर तक उसकी ग्रीवा पर बना रहा। वे हर चीख पर हँसते जा रहे थे, "ठीक हो रही हैं रे, सब नाड़ियाँ ठीक होती जा रही हैं। घबरा मत माँ, सब सहज अवस्था में आती जा रही हैं—एकदम सहज ! हाय माँ, ये बनी रहतीं तो तेरा सिर झुक नहीं सकता था। बहुत दिनों से सूजी हुई लगती हैं।" बाबा ने एक बार हथेली से पूरी ग्रीवा दबायी, "सो जा माँ, सो जा। कैसा मालूम हो रहा है रे मेरी अभिमानिनी माँ, कैसा लग रहा है ?" चन्द्रा लुढ़ककर बाबा के चरणों पर गिर पड़ी। अपूर्व शान्ति उसके मुख पर दमक उठी। बाबा ने उसे बैठा दिया। "सो जा माँ, भगवती त्रिपुर-सुन्दरी की गोदी में सो जा। जब उचित समझेंगी, तब तुझे उठा देंगी।"

बाबा उठे, पता नहीं किससे बात करते रहे। अन्त में बोले, "भगवती, बहुत भोली है मेरी यह माँ, तुम्हीं सम्हालो। अब मेरा यहाँ क्या काम है !"

बाबा चले गये। चन्द्रा ऐसे सो गयी जैसे कोई नन्ही बालिका माँ की गोद में सो गयी हो।

मृणाल ध्यान-मग्न है—"महादेव, तुम्हारी कृपा अपरम्पार है। तुम्हीं ने दिया है नाथ, तुम्हीं उन्हें अपना बनाओ। वे आयेंगे, यहीं आयेंगे। तुम्हारे चरणों में ही उन्हें पा सकूँगी। देवाधिदेव, तुम्हारा आशीर्वाद अमोघ है।"

आयेंगे, अवश्य आयेंगे। मृणाल का हृदय उछल रहा है।

मृणाल मन-ही-मन आर्यक के शुभागमन की कल्पना कर रही है। आते ही उसके पास पहुँचेंगे। छाती से लगा लेंगे। मैं उनकी आदत जानती हूँ। छाती से लगाकर चिबुक ऊपर उठा लेंगे। पर नहीं, यह उचित नहीं होगा। पहले उन्हें दीदी से मिलना चाहिए। दीदी का अधिकार पहला है। हाय-हाय, दीदी ने आग में कूदकर उनका जीवन बचाया है। दुर्धर्ष शत्रुओं के व्यूह में घुसकर उनकी सहायता की है।—दीदी को अपने प्राणों की, मान की, चिन्ता नहीं है। दीदी का अधिकार उनके प्राणों पर है, शरीर पर है, मन पर है ! कहीं ऐसा न हो कि वे दीदी को भूल जायें। बुरा होगा। जो सचमुच आदरणीय है उसका आदर उपेक्षित न हो जाय। वे आ रहे हैं; देवाधिदेव, कोई उपाय करो कि वे पहले दीदी से मिल लें। अनौचित्य-दोष से रक्षा करना, देवता ! मैं दीदी के चरणों में सदा नत रही हूँ। इस सौभाग्योदय के दिन कोई दोष न हो जाय, जगद्गुरो !

मृणाल चिन्तित है। इतने दिनों तक न जाने कहाँ-कहाँ भटकते फिरे हैं। कैसी हो गयी होगी उनकी बलिष्ठ काया ! बहुत दुख भोगा है—सिर्फ एक मानसिक भ्रम के कारण। देवाधिदेव, सारे मानसिक विकारों को ध्वस्त करते रहते हो। उनके मानसिक भ्रम को भी दूर कर देना।

दीदी के मन में आज चांचल्य देखा है; महादेव, उनके चित्त की निर्मलता और प्रेम की पवित्रता के तुम साक्षी हो ! सब-कुछ ठीक कर दो नाथ, मृणाल

अबोध है।

सुमेर काका एक बार घाट की ओर जाते हैं, एक बार ऊपरवाले रास्ते को देखते हैं। मथुरा जाना चाहिए था। वह क्या जानता है कि हम लोग कहाँ हैं। मथुरा पहुँच गया होगा। सुना है सम्राट् उससे मिलने को व्याकुल है। कुछ तो बतायेगा ही। कहीं नाव से ही न चल पड़े। बिचारा कैसे पहचानेगा अपनी नाव ! वे दूर-दूर तक की नावों को देख रहे हैं।

भोले सुमेर काका को पता नहीं कि सम्राट् को उन लोगों की घड़ी-घड़ी की स्थिति मालूम है।

शोभन भी समझ रहा है, चुप है।

सोमेश्वर के साथियों में मन्त्रणा चल रही है। भैया हम लोगों को पहचान लेंगे कि नहीं ? मथुरा तक तो आ गये होंगे ? भाभी ने नाव रोक क्यों दी ? भैया यहीं आ जायें, यह सम्भव है या नहीं ? कैसे उनका स्वागत किया जाय ! शोभन ऊब गया है। वह बड़ी अम्मा को खोज रहा है। कहाँ गयी बड़ी अम्मा ? वह काका से पूछता है। काका ने मन्दिर में देखा, पटवासों में देखा, नाव में देखा, कहीं नहीं है। कहाँ चली गयी ?

काका का हृदय धड़कने लगा। कहाँ चली गयी ?अभी तो यहीं थी—"चन्द्रा, चन्द्रा !"

काका ने फिर देखा, फिर देखा। कहीं नहीं है। कहाँ चली गयी ? हे भगवान् !

जितने भी साथी थे, सब विभिन्न स्थानों की ओर दौड़े। दोनों नावें दोनों दिशाओं में भागीं—"चन्द्रा भाभी, चन्द्रा भाभी !"

जिस समय आर्यक की नाव घाट पर लगी, मन्दिर के चारों ओर भाग-दौड़ मची थी। सोमेश्वर के साथी विशाल बरगद के कोने-कोने छान रहे थे और चिल्लाते जा रहे थे—"चन्द्रा भाभी, चन्द्रा भाभी !" काका के होश-हवास गुम थे। वे नदी की ओर दौड़ पड़े थे—"चन्द्रा, चन्द्रा !" सोमेश्वर के दो साथी सामनेवाले रास्ते पर दौड़ रहे थे—"चन्द्रा भाभी !" मन्दिर में मृणाल का ध्यान टूट चुका था। वह भी भागी—"दीदी, दीदी !"

विचित्र दृश्य था। आर्यक मन्दिर के सामने आया। भारी गोलमाल देखकर वह स्तब्ध रह गया। इसी समय सोमेश्वर ने दूर के एक सघन प्ररोह-कुंज में चन्द्रा को संज्ञाशून्य अवस्था में पड़ी देखा। वहीं से चिल्लाकर बोला, "भाभी, दौड़ो ! काका, दौड़ो ! देखो, चन्द्रा भाभी को क्या हो गया है ! अरे जल्दी दौड़ो ! हे भगवान्, क्या हो गया है इन्हें ! चन्द्रा भाभी, चन्द्रा भाभी, उठो ! दौड़ो काका, दौड़ो भाभी !"

मृणाल उन्मादिनी की तरह दौड़ी—"दीदी, दीदी, हे भगवान् !" काका दूर थे। शोभन को लिये-दिये हाँफते-हाँफते दौड़े।

आर्यक भी दौड़ा। अप्रत्याशित आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा।

मृणाल ने चन्द्रा को गोद में उठा लिया था—"भाई सोम, दौड़ के पानी लाओ।" सोमेश्वर पानी लाने भागा।

आर्यक पहुँच गया—"क्या हुआ मैना ?"

'हाय, देवाधिदेव, वे आ गये ! कैसा विचित्र संयोग खड़ा कर दिया, नाथ ! उनके चरणों में सिर रख देने से भी वंचित रह गयी। दीदी को बचा लो प्रभो, सब दिया, इतना और दे दो नाथ !'

मैना की आँखों से अश्रुधारा बाँध तोड़कर बहने लगी। उसने इशारे से आर्यक को पास बुलाया। अश्रुभरित आँखों से देखा, सिर आयासपूर्वक झुकाया। फिर चन्द्रा को उसकी गोद में डाल दिया। आर्यक की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने चन्द्रा की नाड़ी देखी। पानी माँगा। सोमेश्वर पानी ले आया था, आर्यक को देखकर सहम गया—"भैया !"

मृणाल ने होंठों पर उँगली रखकर कहा, "चुप !" इशारे से कहा, "तनिक उधर जाओ।"

आर्यक ने चन्द्रा के मुँह में पानी दिया। मृणाल हवा करने लगी। काका आये —हतवाक् !

वे एक ओर हो गये।

शोभन की आँखें पथरा गयीं—"बड़ी अम्मा !"

मृणाल ने प्यार से कहा, "चुप बेटा।" वह चुप हो गया।

आर्यक की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। शोभन रो पड़ा—"बड़ी अम्मा !" वह कानों के पास झुक गया, "बड़ी अम्मा !"

इसका प्रभाव मन्त्र-जैसा पड़ा। चन्द्रा धड़फड़ाकर उठ गयी। शोभन को गोद में लेकर चूम लिया। धीरे-धीरे उसकी तन्द्रा टूटी। वह कुछ समझ नहीं पा रही थी। संज्ञा पूरी तरह लौट आने पर उसे परिस्थिति का ज्ञान हुआ। यह क्या, वह आर्यक की गोदी में पड़ी हुई है ! मृणाल उसके पैर दबा रही है। वह एकदम झटके से उठी और कटे रूख की तरह आर्यक के चरणों में गिर पड़ी। आर्यक ने पैर छुड़ाने का प्रयत्न किया। मृणाल ने इशारे से रोक दिया। दर-विगलित अश्रुधार से आर्यक के पैर धुल गये। उन आसुओं में सारे मान-अभिमान बह गये। सारे कलुष प्रक्षालित हो गये। सब विचिकित्साएँ डूब गयीं। आर्यक अभिभूत, मृणाल गद्‌गद !

थोड़ी देर बाद मृणाल ने ही मौन भंग किया, "दीदी, चलो पटवास में।" चन्द्रा उठी, जैसे देह-धारिणी भक्ति उठी हो। मृणाल के कन्धे पर सिर रखकर आर्यक का हाथ पकड़कर वह धीरे-धीरे पटवास में आयी।

शायद ऊपर देवताओं ने दुन्दुभि-निनाद किया, धरती पर महावीर आर्यक, चन्द्रा भाभी और मैना भाभी के जय-निनाद से वायु-मण्डल गूँज उठा—'जय, जय, जय !'

●●●

अनामदास का पोथा

अथ रैक्व-आख्यान

भूमिका

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल !

कुछ दिन पहले एक अपरिचित मित्र आये थे। वे कुछ लिखने की योजना बना चुके थे। मुझसे कुछ परामर्श चाहते थे। मैं थोड़ी देर की बातचीत में ही समझ गया कि वे परामर्श कम और स्वीकृति अधिक चाहते थे। उन्होंने कहा था कि विधाता ने मनुष्यमात्र को सौ साल की आयु दी है; कुछ लोग पूर्वजन्म के पापों के कारण पहले ही मर जाते हैं और कुछ दूसरे लोग इस जन्म के पुण्यों के कारण अधिक जी जाते हैं। जो लोग 66-67 साल तक जी जाते हैं उनके पूर्वजन्म के पाप बहुत प्रचण्ड नहीं होते। शास्त्र के अनुसार वे मध्यम आयु भोगकर दीर्घायु में प्रवेश करते हैं। उस दिन मेरे यह मित्र बता गये थे कि वे दीर्घायु में प्रवेश कर चुके हैं या प्रवेश करने की तैयारी में हैं। मैंने जब उनसे पूछा कि वे निश्चित रूप से क्यों नहीं कहते, तो उन्होंने बताया कि निश्चित रूप से दस दिन के बाद ही बता सकते हैं! कारण यह था कि अभी चान्द्र गणना के अनुसार ही दीर्घायु के कोठे में पहुँचे हैं, सौर गणना के हिसाब से अभी दस दिन शेष हैं! उन्होंने गम्भीर मुद्रा में बताया था कि यमराज के कार्यालय में चान्द्र गणना प्रचलित है, पर विधाता के दफ्तर में सौर गणना के हिसाब से काम होता है। यमराज पितृयान-परम्परा पर चलते हैं, ब्रह्माजी देवयान-परम्परा पर। कभी-कभी दोनों दफ्तरों की गणनाएँ परस्पर टकरा जाती हैं। अन्तिम निर्णय विधाता (ब्रह्मा) के इंगित पर होता है। पर दोनों में जितने दिनों का अन्तर होता है, उतने दिनों तक मरनेवालों को बड़ी साँसत सहनी पड़ती है। यमराज के दूत उन्हें घसीटकर ले जाना चाहते हैं। उधर ब्रह्मा का आदेश न मिलने से मरण-शय्या पर पड़े रोगी का जीव निकल नहीं पाता। बुरी खींच-तान में बिचारे की दुर्गति हो जाती है। इस जानकारी के कारण मेरे यह मित्र सन्दिग्ध भाषा में बोल रहे थे। पर दस दिन का अन्तर कोई खास अन्तर नहीं है। वे आश्वस्त थे कि अगले दस दिन भी निर्विघ्न बीत जायेंगे, क्योंकि उनके पुराने पापों की कमज़ोरी तो सिद्ध हो ही चुकी है। यह और बात है कि हर विश्वास-परायण हिन्दू के समान वे भी हिसाबी थे। अपनी बात का उपसंहार करते हुए

उन्होंने हाथ घुमाकर, मुँह बिचकाकर, इतना जोड़ दिया था कि "पर कौन जानता है ? क्षणमूर्ध्वं न जानामि विधाता किं करिष्यति !"

इस अपरिचित मित्र की बात मुझे आकर्षक लगी थी। मुझे विश्वास हुआ था या यों कहिए कि मैंने मन-ही-मन शुभकामना की थी कि वे केवल दीर्घायु में प्रवेश ही नहीं करेंगे, उसे पूर्णतः भोगेंगे।

आज प्रमाण मिल गया है कि वे सचमुच दीर्घायु के कोठे में प्रवेश कर गये हैं।

यह उस दिन की बात है जब वे कुछ लिखने का संकल्प कर चुके थे और मुझे समर्पित करने की अनुमति माँग गये थे। अब तो वे सौर गणता के अनुसार भी दीर्घायु में प्रवेश कर चुके हैं। उनका पोथा भी आ गया है।

कभी-कभी जीवन में ऐसी बातें घट जाती हैं जिन्हें साहित्यिक समालोचक 'नाटकीय' समझकर उपेक्षा करते हैं। मतलब यह होता है कि जीवन में तो वह घटता नहीं, लेखक ज़बर्दस्ती घटा लेता है; अर्थात् नाटककार जिस प्रकार कथा को अपनी वांछित दिशा में मोड़ लिया करता है, उसी प्रकार ऐसी बातें भी बना ली जाती हैं। समालोचकों से न डरना कोई बुद्धिमानी नहीं है, पर डरके सही बात न कहना भी कोई अच्छी बात नहीं कही जा सकती। जीवन में कभी-कभी ऐसी बातें अवश्य ही घट जाती हैं और उन्हें 'नाटकीय' कहने का एक ही अर्थ हो सकता है कि जीवन भी एक नाटक ही है। ईमानदारी की बात तो यही है कि जीवन सचमुच ही एक नाटक है। मेरे मित्र भी ऐसा ही मानते हैं। यहाँ मुद्दे की बात सिर्फ़ इतनी है कि जब यह मित्र अपनी बात कह रहे थे तो मैं भी मन-ही-मन हिसाब करने लगा था और यह विचित्र संयोग है कि मैं भी 66$\frac{2}{3}$ वर्ष पार कर रहा था ! पर मेरे मित्र मुझे इससे अधिक आयु का समझ रहे थे क्योंकि श्रद्धापूर्वक वे कह गये थे कि आप तो अब देवता-कोटि में पहुँच चुके हैं। उनकी बात का अर्थ मैं समझता था। पर मैंने प्रतिवाद करने की आवश्यकता नहीं समझी। महाभारत में कहीं लिखा है कि जो आदमी सतहत्तर वर्ष, सात महीने, सात दिन जी जाता है वह देवता बन जाता है, सो उनके विचार से मैं इतनी उमर पार कर गया था। प्रतिवाद करने से व्यर्थ ही बात बढ़ती। और अन्तर भी कितना है ? सिर्फ़ ग्यारह साल का ! ग्यारह साल के लिए एक घण्टे की माथापच्ची कोई अक्लमन्दी नहीं जान पड़ी ! सो, वे कहते गये, मैं सुनता गया।

मेरे इस मित्र के समान कल्पनाशील आदमी कम ही होते हैं। वे अपनी कल्पनाओं को प्रामाणिक इतिहास मान लेते थे; उसमें रम जाते थे और प्रतिवाद या रोकाटोकी से मर्माहत-से हो उठते थे। आँसूभरी आँखों से ताकने लगते थे, जिसका अर्थ होता था—'आप भी ऐसा ही कहते हैं !'

मुझे ऐसे अवसरों पर उन्हें यह समझाने में काफ़ी समय लग जाता था कि उनकी प्रामाणिकता पर सन्देह करना मेरा उद्देश्य नहीं था। हालाँकि उद्देश्य यही होता था। इस प्रकार के झूठ में कोई दोष नहीं माना जाता, क्योंकि इसे अभिजात

जनोचित शिष्टता ही समझा जाता है। फिर भी झूठ तो झूठ ही होता है। इससे बचने का शिष्ट तरीक़ा 'मौन' है—ऐसा मौन जिससे सुनानेवाले को पता ही न चले कि सुननेवाले के मन में क्या प्रतिक्रिया हो रही है। यह बात भी नाटकीय जैसी ही है। ऐसा नाटक मैं बहुत कर चुका हूँ। इसलिए मुझे इसमें कोई ख़ास परेशानी नहीं हुई।

मेरे मित्र ने बताया था कि जब सूरदास ने यही अवस्था पार की थी, तभी उन्होंने वह प्रसिद्ध पद लिखा था जिसमें कहा गया है कि 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल!' प्रमाण? प्रमाण यही था कि ठीक आज ही, जब वे चान्द्र गणना के अनुसार 66⅔ साल पूरे कर चुके हैं, इसी प्रकार के भाव उनके मन में आये हैं! मेरा मन सनाका खा गया था। मैं भी आज प्रातःकाल से यह पद रटे जा रहा था! तो क्या यह मान लिया जाये कि सूरदास जब 66⅔ साल के हुए तो उनके मन में इस प्रकार का पश्चात्ताप हुआ था? सूरदास बहुत महान् सन्त थे। उनके बारे में तो यह दैन्योक्ति ही कही जायेगी। पर मेरे मन में और मेरे सामने बैठे अपरिचित मित्र के मन में यह भाव आज ही कैसे आ गया? दो के मन में उठा है तो तीसरे, चौथे के मन में भी उठता होगा! 66⅔ महत्त्वपूर्ण लगता है!

मेरे मित्र उस दिन आश्वस्त होकर गये थे, पर मेरे मन में एक विचित्र हलचल पैदा कर गये थे।

उनकी बातों में भोलेपन के आवरण में अजीव लुभावनापन भी था। मैंने उनका नाम और पता जान लेना चाहा था पर वे विचित्र असमंजस में पड़ गये थे। 'नाम में क्या रखा है? कुछ भी समझ लीजिए। आप ही बताइए, आपका क्या नाम है? जिस नाम से सारी दुनिया आपको जानती है वह नाम क्या आपके गुरुजनों के मन में कहीं भी था जब आप इस संसार में आये थे? और अब आप जिस नाम से जाने जाते हैं, उसी का कोई वास्तविकता के साथ तालमेल है? असल में नाम धोखा है।' और कोई अवसर होता तो उनकी बात को हँसकर उड़ा देता। कई लोग दूसरों पर रहस्यवादिता का रोब जमाने के लिए इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान का घटाटोप फैलाया करते हैं, पर 66⅔ की महिमा है कि मैं उस दिन अभिभूत हो गया। यह सही है कि अपने प्रचलित नाम के कारण मुझे कई बार कठिनाइयों में पड़ना पड़ा है। एक अहिन्दी-भाषी नेता ने जब मुझसे इसका अर्थ पूछा तो मैं केवल यही उत्तर दे सका कि यह नाम शब्द के रूप में बिल्कुल अर्थहीन है। एक दूसरे विद्वान् ने इसका अर्थ स्वयं बता दिया जो मेरी दृष्टि में बेमानी था। उनके अनुसार यह एक देवी के नाम से सम्बद्ध है। एक बार संस्कृत का पक्ष लेकर कुछ बोल रहा था कि किसी मित्र ने मज़ाक़ किया कि 'नाम तो आपका हिन्दुस्तानी है और समर्थन कर रहे हैं संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का।' उस दिन मैंने भी कहा था—'नाम में क्या रखा है!' भगवान् साक्षी है कि मैं न संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन कर रहा था, न तथाकथित हिन्दुस्तानी का विरोध। कर रहा था संस्कृत की समृद्धि की स्थापना, पर मेरा नाम अकारण घसीट लाया गया!

इस नाम को लेकर मुझे अपने एक परम श्रद्धेय गुरु से भी उलझना पड़ा। अगर उस समय उलझने में हठ न पकड़ लेता तो शायद यह नाम बदल ही गया होता। मेरे श्रद्धेय गुरु संस्कृत के महान् विद्वान् थे। उन्होंने कहा था कि तेरे नाम में मुसलमानियत की बू है। पितामह का दिया हुआ 'वैद्यनाथ' नाम ही ठीक है। बदल दे। मुझे 'बू' शब्द खटक गया। मैंने प्रतिवाद किया, 'गुरुजी, सुगन्धि कहिए। अगर इसमें ऐसी सुगन्धि है तो मैं इसे नहीं बदलने दूँगा।' गुरुजी द्रवित हो गये। बोले, 'तो रहने दे।' और पितृ-पितामह का दिया नाम छूट गया, लोक-दत्त नाम रह गया! एक बार मेरे परम श्रद्धेय अग्रज-तुल्य महान् कवि 'नवीन' जी ने मुझे एक पुस्तक भेंट की। उन्होंने उसमें मेरा नाम 'सहस्रार प्रसाद' कर दिया और कहा कि मैंने तुम्हारा नाम संस्कृत बना दिया। मैंने उन्हें बताया कि 'हजार' वस्तुतः 'सहस्र' शब्द में विद्यमान 'हस्र' का ही फ़ारसी उच्चारण है और इस शब्द द्वारा आर्य भाषा के विस्तृत परिवेश की सूचना मिलती है तो वे मुग्ध हो गये। पर मैंने उनके हाथ का लिखा संस्कृतीकृत नाम बड़े जतन से अपने पास रख छोड़ा है। यह बात जब मैंने एक बड़े तान्त्रिक विद्वान् को बतायी तो खिन्न और विस्मित भी हुए। दोनों का कारण हम लोगों का अज्ञान था। उनके मत से सहजावस्था देने-वाली शक्ति का नाम ही हजारी है। 'सहज' शब्द गुणपरक है—'ह' (हठयोग) और 'ज' (जययोग) का समन्वित रूप और 'हजारी' क्रियापरक है—ह और ज का समन्वय करनेवाली देवी—'हजमाराति या देवी महामायास्वरूपिणी, सा हजारीति सम्प्रोक्ता राधेति त्रिपुरेति वा।' मुझे याद आया कि एक महाराष्ट्रीय विद्वान् ने भी कभी बताया था कि 'हजारी' एक देवी का नाम है। होगा, पर मेरा यह नाम इसलिए नहीं पड़ा कि यह किसी तन्त्रशास्त्रोक्त देवी के साथ सम्बद्ध था, बल्कि इसलिए कि गाँव-घर के लोग प्रसन्न थे कि मेरे जन्म से एक विषम संकट ही नहीं टला था, कुछ हज़ार रुपये की आमदनी भी हो गयी थी। मुझे यह नाम 'विरुद' के रूप में मिला और अब तो गले पड़ गया है। पण्डितों से तो सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि इसका अर्थ भी है—काफ़ी अच्छा अर्थ, जो शाक्त मत की त्रिपुरा हैं, वैष्णव मत की राधा हैं और योगियों की भाषा में हजारी हैं, मैं उन्हीं का प्रसाद हूँ। अर्थ अच्छा है, परमार्थ भी हो जाये तो क्या कहना, पर नाम में क्या रखा है, काम होना चाहिए। मेरे ये नये मित्र नाम नहीं बताना चाहते, काम दिखाना चाहते हैं। वे अपनी भावी रचना मुझे सर्मपित करने की अनुमति लेकर चले गये। छोड़ गये सूरदास की व्याकुल वेदना, जो उन्होंने, मेरे इस नये मित्र के अनुसार, 66⅔ वर्ष की अवस्था में अनुभव की थी—अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल!

क्या तुलसीदास ने जब कातर-भाव से गाया था कि 'नाचत ही निसि-दिवस मर्यो', तब उनकी भी अवस्था 66⅔ साल की ही थी? कौन बतायेगा? मित्र तो गये सो गये!

पर उनकी अनुपस्थिति का एक लाभ भी हुआ है। मैं उनकी भाषा में सोचने लगा था, उनके विचार को अपना सत्य मानने लगा था। नाम में क्या रखा है, यह

एक विदेशी मुहावरा ही है। नाम इतना हल्का पदार्थ नहीं है। 'देखियत रूप नाम आधीना।' नाम को सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। नामी, नाम से ही पहचाना जाता है। जिस नाम को सामाजिक स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई, वह निरर्थक शब्दमात्र है। अर्थ, नामी है। नाम उसका संकेत देनेवाला पद है। नाम को जब सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है तो वह 'पद' बनता है। तभी नामी पदार्थ-—पद का अर्थ—बनता है। मेरे अपरिचित मित्र तब तक 'अपदार्थ' हैं, जब तक उनका कोई नाम नहीं है। एक नाम 'अनाम' भी है। भाई जैनेन्द्रकुमारजी ने एक उपन्यास लिखा है—'अनाम स्वामी'। इस अपरिचित मित्र को भी 'अनाम' कहा जा सकता है। स्वामी वे नहीं थे। मैं उन्हें आवश्यकतानुसार 'अनामदास' कह सकता हूँ।

महात्माओं की बात और है। वे लोग अपने बहाने साधारण मनुष्यों के मन को कुछ अच्छी बात सिखाना चाहते होंगे। किन्तु मैं साधारण मनुष्य के रूप में ही सोच सकता हूँ। किसी को सिखाना इसका उद्देश्य नहीं है। पीछे की ओर देखता हूँ, विराट् रिक्तता! जो कुछ करता रहा हूँ वह क्या सचमुच किसी काम का था? अपनी सीमाओं, त्रुटियों, ओछाइयों को छिपाकर अपने को कुछ इस ढंग से दिखाना कि मैं सचमुच कुछ हूँ, यही तो किया है। छोटी-छोटी बातों के लिए संघर्ष को बहादुरी समझा है, पेट पालने के लिए छीना-झपटी को कर्म माना है, झूठी प्रशंसा पाने के लिए स्वाँग रचे हैं—इसी को सफलता मान लिया है। किसी बड़े लक्ष्य को समर्पित नहीं हो सका, किसी का दुःख दूर करने के लिए अपने को उलीचकर दे नहीं सका। सारा जीवन केवल दिखावा, केवल भोंड़ा अभिनय, केवल हाय-हाय करने में बीत गया। तुलसीदास ने मेरे-जैसे ही किसी को देखकर कहा होगा—
'कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि वासना न मन तें जाई।'

मगर यह रोना भी व्यर्थ ही है। क्या लाभ है इससे? किस दुखिया के आँसू पुँछने की सम्भावना है इससे? किसी का भला न होता हो तो उसका पँवारा पसारना सामाजिक अपराध ही है। फलितार्थ सिर्फ़ इतना ही है कि अनामदासजी ने एक पोथा भेज दिया है। मुझे समर्पित है यह। पर समर्पण उस अर्थ में नहीं है जिस अर्थ में साधारणतः हुआ करता है। उन्होंने लिखा है कि इसे जैसा चाहूँ वैसा करने का अधिकार मुझे है, इसी अर्थ में यह समर्पित है!

क्या किया जाये? न्यास का उत्तरदायित्व आ पड़ा है। छपा देना ही ठीक जान पड़ता है।

मगर छपे कैसे? काग़ज़ की ऐसी किल्लत है कि बड़े-बड़े नामी लेखकों की रचनाएँ नहीं छप पा रही हैं। हर प्रकाशक नाम खोजता है। ऐसा नाम, जो कसके कमाया गया हो। नाम भी कमाया जाता है। कोई भी नाम रख लेने से काम नहीं चलता। संसार नाम की भी कमाई देखता है और यह अनामदास कहता है कि नाम में क्या रखा है। गोसाईं तुलसीदास—जिनका असली नाम क्या था, वह विवाद का विषय

बना हुआ है—कह गये हैं कि नाम जाने बिना तो करतलगत वस्तु भी नहीं पहचानी जाती। कुछ-न-कुछ नाम तो होना चाहिए। नाम से ही नामी की पहचान होती है। मैं एक बार एक विकट ज्योतिषी के पास गया था। नाम से ही सब बता देता था। मैंने पूछा कि राशि-नाम बताऊँ या लोक-नाम। बोले, लोक-नाम। मैं हैरान था, क्योंकि इसके पहले एक ज्योतिषी से पाला पड़ा था, वे राशि-नाम से फल भाखते थे। एक प्रसिद्ध दैनिक-पत्र में हर सप्ताह राशिफल निकलता है। यह राशि-नाम के अनुसार देखा जा सकता है। जिस सप्ताह अनामदास मिले थे, उस सप्ताह उस दैनिक-पत्र ने मेरी राशि का फल बहुत अच्छा नहीं बताया था। लिखा था, इस सप्ताह तुम्हारी प्रतिभा लुप्त हो जायेगी। प्रतिभा कितनी लुप्त हुई, यह मैं नहीं समझ सका, क्योंकि लुप्त होने के पहले वह होनी चाहिए। जिसके प्रतिभा ही नहीं उसकी प्रतिभा लोप ही होकर कौन-सा नया करिश्मा कर लेगी! मगर अब सोचता हूँ कि अनामदास का मिलना और प्रतिभा का लोप होना क्या एक ही बात है? सुना है कि प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि होती है, अनामदास शायद ऐसा पत्थर था जो उन्मेष की सम्भावना को भी दबा देता है। सारी दुनिया नाम कमाने के चक्कर में है और अनामदास ने उस दिन मुझे समझा दिया कि नाम में क्या रखा है। मैं भी मान गया, बुद्धि तो मारी ही गयी थी। राशि-नाम ठीक ही होता होगा!

मगर अनामदास ने बताया था कि राशि-नाम भी धोखा ही है। कहते थे, भारतीय वर्णमाला की विन्यास-परम्परा से भिन्न यावनी वर्णमाला से राशि-नाम की पद्धति विकसित हुई है। किसी समय यहाँ कृत्तिका नक्षत्र से सत्ताईस नक्षत्रों की गणना होती थी, अब अश्विनी से होती है। पर बहुत-सी ज्योतिषिक गणनाएँ अब भी कृत्तिका से ही होती हैं! सत्ताईस नक्षत्रों के 108 चरण होते हैं। यावनी वर्णमाला में इतने अक्षर नहीं थे। जो थे, उनके पाँच स्वरों समेत 108 बनाना सम्भव नहीं था। क्रम उनका अ, ब, क जैसा था, बहुत-कुछ अंग्रेज़ी के ए, बी, सी की भाँति। यवन-भाषा के पाँच स्वरों के साथ आ, ई, ऊ, ए, ओ, बा, बी, बू, बे, बो होते थे। इन्हीं को नक्षत्रों के चरण का प्रतीक माना जाता था। मज़ेदार बात तो यह है कि इसे कहते भी अवकहरा चक्र ही हैं—यावनी वर्णमाला के चार अक्षरों का भारतीय रूप! संस्कृत वर्णमाला के घ, ङ, छ आदि कुछ अक्षर जोड़कर 108 की संख्या पूरी की गयी। यह एकदम कल्पित विधान है। कभी-कभी पण्डित को इन अक्षरों से नाम बनाने में कठिनाई हो जाती है। मेरी ओर इशारा करके उन्होंने कहा था, क्या आपके नाम अर्थात् राशि-नाम रखने में कठिनाई नहीं पड़ी होगी? मैं हैरान था। मेरा जन्म तुलसीदास की भाँति मूल नक्षत्र के प्रथम चरण में हुआ था। उसका सांकेतिक अक्षर 'ये' है। संस्कृत में 'ये' से बननेवाले शब्द कम ही हैं। मेरी पत्री बनानेवाले पण्डित अवश्य चक्कर में पड़े थे। बहुत बुद्धिबल लगाकर उन्होंने नाम रखा 'येन नाथ'! क्या मतलब हुआ? मतलब यही हुआ कि नाम में क्या रखा है, कुछ भी रख दो, काम चल जायेगा। अनामदास

का कहना है कि यह भी धोखा है। होगा! फल भाखनेवाले तो काम चला ही लेते हैं। इस विचित्र विधान से ही ब्याह-शादी होती है। इससे जाति तय होती है, योनि का निश्चय होता है, गण का निर्णय होता है, कुण्डली मिलायी जाती है—एक समानान्तर व्यवस्था खड़ी हो जाती है। मेरे एक मित्र थे, प्रख्यात ब्राह्मण-वंश के कुल-भूषण। परन्तु उनका लड़का इस अबकहरा गणना-पद्धति के हिसाब से शूद्र वर्ण का निकला। यह केवल उसी ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर सकता था जो इस ज्योतिषिक गणना से शूद्र वर्ण की हो। अनेक लड़कियों के पिता उसके विवाह का प्रस्ताव लेकर आये, पर उनमें से एक भी ज्योतिष के हिसाब से शूद्र नहीं निकली। जो लड़की उन्हें ठीक जँचती वही या तो ब्राह्मण निकलती या फिर क्षत्रिय या वैश्य। विवाह तय नहीं हो पाता था। बहुत परेशान थे। अन्त में एक ज्योतिषी ने 'विवाह-वृन्दावन' का श्लोक पढ़कर उनकी परेशानी दूर की कि 'मैत्री यदा स्यात् शुभदो विवाहः'। ग्रहमैत्री बनती हो तो और बातों का विचार नहीं किया जाता। 'मैत्री' मिल गयी थी। किसी प्रकार बला टली। अनाम की बातें वज़नदार लगती हैं।

बहुत-सी आदिम जातियों में नाम छिपाने का प्रयत्न होता है। आदिम मनुष्य नाम और नामी की एकता में विश्वास रखता था। यदि नाम मालूम हो जाये तो कभी दुश्मनी से कोई अभिचार कर सकता है। 'देवदत्त मर जाये' कहने से देवदत्त मर नहीं जाता, यह बात तो अब लोग कहने लगे हैं! बहुत आदिम-काल में सोचते थे कि अगर ध्यानपूर्वक जप किया जाये तो 'देवदत्त' पद नहीं, इस पद का अर्थ—पदार्थ—देवदत्त मर जायेगा। कोई चित्र बनाकर उसकी छाती में छुरा भोंके तो छुरा उस चित्र के अर्थ में—जीवन्त मनुष्य में—लग जायेगा! अब लोग कहेंगे कि ये सब बेकार बातें हैं, पर अब भी गालियों में, अभिशाप में उसका अवशेष बचा है! और ज्योतिषी भी उसी पुरानी प्रथा से चल रहा है। दुनिया से कोई भी विश्वास एकदम ग़ायब नहीं हुआ है। रूप बदलकर वह जी ही रहा है। नहीं जीता होता तो अपने को 'प्रोग्रेसिव' या प्रगतिशील कहने और माननेवाले लोग विरोधी के पुतले क्यों जलाते, मुर्दाबाद के नारे क्यों लगाते? आदिम मनोवृत्ति जी ही रही है! जियेगी!

अनामदास नहीं जानते कि दुनिया यह नहीं पूछती कि क्या कहा जा रहा है, वह पूछती है, कौन कह रहा है! कौन अर्थात् नाम। बड़े-बड़े समालोचक नाम देखकर आलोचना लिखते हैं; परीक्षक निर्देशक का नाम तौलकर उपाधिकारी की वैतरणी पार करा देते हैं! 'नाम' अनेक कामों को अपने में बाँधे रहता है। अब इस पोथे को पढ़ना होगा, फिर अगर अच्छा हुआ यानी मेरे मन-माफ़िक हुआ तो कहना होगा कि अनामजी को कोई जानता तो नहीं, पर लिखते अच्छा हैं। फिर प्रकाशक नखरे करेगा। राज़ी भी होगा तो कहेगा कि किसी नामी आदमी से प्रस्तावना लिखा दीजिए। महा झंझट है। सारी दुनिया नाम खोजती है। धर्म-ग्रन्थ तो नाम की महिमा से भरे पड़े हैं। सब झूठे हैं, सच्चे हैं महात्मा अनामदास!

मगर इस भले आदमी ने मुझे ही इस झकमारी के लिए क्यों चुना ? बड़े-बड़े विद्वान् हैं, नेता हैं, राजपुरुष हैं, सेठ-साहूकार हैं; चाहें तो तिल का ताड़ बना दें, ताड़ का तिल बना दें। वहाँ जाओ। उनसे कहो, मुझ ग़रीब को क्यों फाँसते हो ? विश्वास देखिए कि आये थे समर्पण करने की अनुमति माँगने; लिख दिया, 'आपको समर्पित है, जो चाहे कीजिए।' अजब समर्पण है ! ऐसा समर्पण भी नहीं सुना। पढ़ना पड़ेगा। पता नहीं, क्या-क्या लिखा है ? बात तो पते की थी। सिर खपाना बुरा नहीं होगा।

मुश्किल यह है कि हिन्दी में लिखना जितना आसान है, उतना पढ़ना नहीं। लोग फटाफट लिख देते हैं, पढ़नेवाला मग़ज़ मारता रहता है। व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि कुछ ऐसे लेखक हैं जिनकी एक पुस्तक पढ़कर समाप्त नहीं कर पाया तब तक उनकी चार पुस्तकें छप गयीं। अनाम भी कहीं वैसा ही लिक्खाड़ न निकले ! मगर अब डरने से भी क्या होगा ! संस्कृत के एक अनुभवी कवि सलाह दे गये हैं कि डर से तभी तक डरना चाहिए जब तक डर सचमुच सामने आकर खड़ा न हो जाये—'तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम्'। और यहाँ तो भय सिर पर सवार है ! पोथे से छुटकारा नहीं है।

पोथा पढ़ गया। अजब गप्पी है यह अनाम। अनुभव का क्षेत्र तो इसका बहुत सीमित लगता है, पर उस सीमा के भीतर उछल-कूद कर सकता है। कभी-कभी तो ऐसा उछलता है कि लगता है अंगद-कूद करके ही मानेगा। कहते हैं, जब रामचन्द्रजी लंकाविजय करके लौटे तो ससुराल गये थे और साथ में वानरी सेना भी गयी थी। लक्ष्मणजी सदा चिन्तित रहते थे कि कहीं लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ बन्दर कुछ ऐसा न कर बैठें कि ससुराल में भद्द हो। सो, सब समय सिखाते रहते थे—मुझे देखते रहो, मैं जैसा इशारा करूँगा वैसा ही करना। बन्दर बिचारे भी काफ़ी सावधान थे। सब समय देखते रहते थे कि लक्ष्मणजी क्या इशारा करते हैं। भोजन करने सब लोग बैठे थे। लक्ष्मणजी ने बहुत सावधान कर दिया था। अन्न देखकर ही न टूट पड़ना, मेरी ओर देखते रहना, जैसा इशारा करूँ वैसा करना। ससुराल का मामला है, गड़बड़ न होने पाये। राम के एक ओर सुग्रीव बैठे, एक ओर युवराज अंगद। लक्ष्मणजी कोने में सुग्रीव के बग़ल में थे। दायें, बायें, सामने वानर यूथाधिपति लोग। भोजन परसा गया। लक्ष्मण ने इशारा किया, चुप शान्त। सब वानर उनकी ओर दृष्टि बाँधे अधीर-भाव से प्रतीक्षा करते रहे। लक्ष्मणजी ने नींबू का टुकड़ा उठाया, उसे दबाया। एक बीज छटककर ऊपर उठा। बन्दरों ने समझा, इशारा हो गया। पासवाला उचककर थोड़ा कूदा। धीरे-धीरे क्रम से एक-एक वानर उचकने लगा। थोड़ा और अधिक उचकने की होड़ लग गयी। अंगद की बारी आयी तो ऐसा उचके कि छत ही ले उड़े। राम-लक्ष्मण हैरान ! यह क्या हो रहा है; मगर अंगद तो छत ले ही उड़े थे। इसी को अंगद-कूद कहते हैं। अनाम

भी कभी ऐसी ही कुलाँचें भरता है। पर वह अंगद की भाँति छत लेकर नहीं उड़ पाता। छत से टकराकर नीचे ही आ जाता है। सीमा उसे अधिक बहकने नहीं देती। अनाम के भीतर सोया हुआ कोई कवि भी है। रह-रहकर वह जाग पड़ता है, पर न तो यह कवि उसके पूरे व्यक्तित्व को अभिभूत कर पाता है, न अनाम वैसा करने की उसे अनुमति ही देता है। बिचारा सोया कवि जागता है, फिर किसी अदृश्य चाबुक की चोट खाकर बेहोश हो जाता है। न मरता है, न मोटाता है। अनाम के भीतर का आलोचक सब समय गर्जन-तर्जन द्वारा उसका होश-हवास गुम करता रहता है। पर ऐसा लगता है कि यह आलोचक जितना गर्जन करता है, उतना शक्तिशाली नहीं है। कालिदास ने अपने एक विदूषक से कहलवाया है कि जैसा साँपों में डुण्डुभ होता है वैसा ही ब्राह्मणों में मैं हूँ। डुण्डुभ बिल्कुल निर्विष सर्प है। अनाम का आलोचक भी आलोचकों में डुण्डुभ ही है। कहने का मतलब यह है कि अनामदास के पोथे से लगता है कि उसके लेखक के भीतर का कवि सुप्त है, आलोचक अशक्त। फिर भी कोई बात है जो आकृष्ट करती है।

शायद यह और कुछ नहीं, उसका मात्रा-ज्ञान है। कहाँ रुक जाना चाहिए, कहाँ मुड़ जाना चाहिए, कहाँ तेज़ चलना चाहिए, यह अनाम को मालूम है। पर कितना नहीं लिखना चाहिए, यह नहीं मालूम। मालूम होता तो इतना न लिखता। अभी तो भलेमानस ने एक अच्छा-ख़ासा महाभारत लिख मारा है। 'महाभारत' इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि जो इसमें है वही अन्यत्र मिल सकता है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं मिल सकता (यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्), बल्कि इसलिए कि यह बहुत भारी है—वज़नी! महाभारत में ही कहा गया है कि तराज़ू के एक पलड़े पर वेद रखे गये, दूसरे पर यह पाँचवाँ वेद रखा गया, यही वज़नी साबित हुआ। सो, 'महत्ताद्, भारवत्त्वाद् च महाभारतमुच्यते' महान् और भारवान् होने के कारण इस ग्रन्थ को 'महाभारत' कहा गया! मेरा अनुमान है कि हिन्दी की थीसिसों में जो सबसे भारी है—एक तो चौदह किलो का था!—उससे भी यह भारी सिद्ध होगा। इसलिए इसे भी 'महाभारत' ही कहना चाहिए—महान् भारवाला पोथा! ऐसे भारवान् पोथे को किसी पाठक के सिर पर पटकने का अपराध मैं नहीं कर सकता! इसलिए मैंने इस ग्रन्थ के कुछ अंश चुने हैं। उन्हीं को प्रकाशित कराके अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

हिन्दी में एक प्रथा है, हर त्रुटि के लिए सहृदय पाठक से क्षमा माँग ली जाती है। किसी पाठक की, लिखकर क्षमा देने की बात नहीं सुनी गयी पर इसके विपरीत भी कहीं कुछ नहीं सुना गया। अनुमान है कि हिन्दी का हर पाठक क्षमासिन्धु है। क्षमा माँगते ही वह उदार-भाव से मौन क्षमा प्रदान कर देता है। अनाम यह जानते हैं। क्षमा माँगने की उन्हें जरूरत नहीं महसूस हुई। जो बात अनायास मिल जाती है वह बिन माँगे भी मिल ही जायेगी। परन्तु मैं पाठकों से सहानुभूति की याचना अवश्य करना चाहता हूँ। कितना कठिन कर्त्तव्य निभा रहा हूँ, यह सब नहीं समझ सकेंगे। कुछ भुक्तभोगी ही इस बात को समझ सकते हैं। मेरा समान-

धर्मा भुक्तभोगी शायद होगा ही नहीं कहीं। तब भी मैं याचना कर ही देता हूँ। दोष क्या है ? बहुत होगा, नहीं मिलेगी। मिल भी जाये तो कौन-सा भाण्डार मिलता है, न भी मिले तो क्या नुक़सान हुआ जाता है !

अनामदास बहुत पहले से ही लिखते आ रहे हैं। उनके पोथे का एक मनोरंजक अंश है, रैक्व-आख्यान। कोई चालीस वर्ष पहले उन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् के रैक्व-आख्यान पर एक कहानी लिखी थी। कहानी का शीर्षक था—'सब हवा है !' वह कहीं प्रकाशित नहीं हुई। उन्होंने कहानी बड़े हल्के मनोभाव से लिखी थी। अब उसका दूसरा रूप उन्हें मिल गया है और उन्हें खेद हुआ है कि उन्होंने हल्का-पन दिखाया था। जान पड़ता है, उसके अन्त में उन्होंने कुछ नयी पंक्तियाँ भी जोड़ दी हैं। आरम्भ में लाल स्याही से यह भी लिख दिया है कि 'तब अति रहेउँ अचेत'। जो हो, इस भूमिका में वह पुरानी कहानी दे रहा हूँ। इससे पाठकों को अनाम के व्यक्तित्व के एक विनोदी पक्ष का कुछ आभास मिलेगा। बाद में लिखा 'रैक्व-आख्यान' भी अलग से दिया जा रहा है।

सब हवा है !

"इस देश में अनेक बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हुए हैं। उनकी तपस्या और मनन-चिन्तन से हम आज भी प्रभावित हैं। ऐसे ही एक ऋषि थे रैक्व। उपनिषद् में इनकी चर्चा आती है। जितना कुछ मालूम है उससे यही लगता है कि वे एक रथ के नीचे बैठकर अपना शरीर (शायद पीठ) खुजला रहे थे। उसी समय राजा जानश्रुति तत्त्व-ज्ञान की भिक्षा माँगने पहुँचे थे। कोई नहीं जानता कि रैक्व और सारी चीज़ों को छोड़कर रथ की छाया में ही क्यों बैठे थे। अनुमान किया गया है कि शायद वे स्वयं रथ बनाने या चलाने का कारोबार करते हों या ऐसा भी हो सकता है कि जिस प्रसंग की चर्चा उपनिषद् में मिलती है उस अवसर पर संयोग ही कुछ ऐसा था कि वे रथ की छाया में आ बैठे थे। पर दोनों अनुमान असंगत लगते हैं क्योंकि वे रथ-चालक नहीं थे, शुद्ध तत्त्व-चिन्तक ऋषि थे। संयोग-वाली बात भी ठीक नहीं लगती। पहली बार जब राजा का दूत उनका पता लगाने गया तब भी वे रथ की छाया में ही बैठे-बैठे पीठ खुजला रहे थे और दूसरी बार जब स्वयं राजा उपस्थित हुआ तब भी वही हाल था। तीसरी बार भी राजा पहुँचा तो तथैव च। कितनी तो छाया मिलती होगी बेचारे को। कुछ अनुमान से यही कहा जा सकता है कि छाया की अपेक्षा उन्हें रथ से ही प्रेम था और यथासम्भव अपने रथ से दूर नहीं रहना चाहते थे। लेकिन इससे भी कठिन सवाल यह है कि वे अपनी पीठ क्यों खुजला रहे थे ? एक कारण तो यह भी हो सकता है कि उन्हें नहाने की आदत न हो और शरीर में मैल बैठ गयी हो ! परन्तु ऋषि-मुनियों के बारे में यह बात कैसे कही जा सकती है। भारतवर्ष के पुराने साहित्य से इतना तो

पता चल ही जाता है कि ऋषि-मुनि और चाहे कुछ न करते हों, सुबह-सुबह स्नान तो ज़रूर कर लेते थे। सभी ऋषि स्नान करते थे तो रैक्व मुनि भी स्नान करते ही होंगे, इसलिए शरीर पर मैल जम जाना तो उनकी खुजली का कारण नहीं है। ऋषि-मुनि नहाते तो ज़रूर थे मगर देह पोंछते थे कि नहीं, इसमें सन्देह है। बेचारों के पास कपड़ा ही क्या होता था, वल्कल-मात्र ! उससे देह पोंछने का काम ज़रा कठिन ही जान पड़ता है। हो सकता है, और इसी को छान्दोग्य में भी ठीक समझा गया है, कि बराबर शरीर के भीगे रहने पर रैक्व मुनि को थोड़ी-बहुत दाद की बीमारी हो गयी हो। हालाँकि ऋषियों के बीमार होने की खबर भी बहुत कम ही मिलती है, पर दाद-जैसे रोग तो उन्हें हो ही नहीं सकते। कहते हैं, दाद की बीमारी सभ्यता की देन है। लोग ज़्यादा कपड़ा पहनने लगे और दाद की बीमारी आ धमकी। रैक्व मुनि के दाद नहीं होगा। हो सकता है कि शरीर खुजलाने की उनकी आदत हो। ऋषि लोग अपने-आप पर नियन्त्रण कर लेते थे। खुजली होती भी थी तो उसे खुजलाने की ज़रूरत नहीं होती थी। कहते हैं कि भगवान् महावीर ने जब 13 साल तक घोर तप किया था तो उन्होंने शरीर को खुजलाया तक भी नहीं था। इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि ऋषि-मुनियों को खुजली होती तो अवश्य थी, पर अत्यधिक संयम के कारण वे उसे खुजलाते नहीं थे। पर रैक्व मुनि खुजला रहे थे। कुछ हरकतें मनुष्य जान-बूझकर नहीं करता, किसी प्रयोजन से भी नहीं करता, वे उसकी लत होती हैं। हो सकता है कि रैक्व मुनि भी किसी प्रयोजन से नहीं, बल्कि आदतन ऐसा किया करते थे। जो भी हो, उनकी खुजली का उल्लेख उपनिषदों में मिल जाता है। वे गाड़ी की छाया में बैठकर शरीर खुजला रहे थे।

"ऐसी ही अवस्था में राजा जानश्रुति उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे। लगता है, ऊँची जाति के आदमी नहीं थे। राजा कहने से आजकल हम लोग जैसा धन-धान्य और शान-शौक़त का अनुभव करते हैं वैसा तो उस समय क्या रहा होगा। किसी छोटे-मोटे गाँव के खाते-पीते मुखिया रहे होंगे। लोग उन्हें राजा कहते थे और उपनिषद् में भी उन्हें राजा ही कहा गया है। इनके बारे में कोई विशेष सूचना नहीं दी गयी है। केवल उन्हें राजा कहकर ही यह बता दिया गया है कि वे और दस आदमियों से अधिक सम्पन्न थे और उनके पास कुछ दास-दासी, सोना-चाँदी, गाय-बैल भी अवश्य थे। ज्ञान के पिपासु थे। उन्हें ज्ञान मिल नहीं रहा था। ज्ञान की खोज में उन्होंने न जाने किन-किन लोगों से बात की होगी, उसका कोई विवरण हमें नहीं प्राप्त है। हम इतना ही जानते हैं कि वे ज्ञान-प्राप्ति के लिए रैक्व मुनि के पास अवश्य पहुँचे और रैक्व मुनि थे कि शरीर खुजला रहे थे, गाड़ी की छाया में बैठकर। वे कुछ फ़क्कड़ ज़रूर थे। राजा के आने पर कुछ-न-कुछ सम्मान किया ही जाता है और करना भी चाहिए। पर लगता है कि रैक्व मुनि पर उनके आगमन का कोई असर नहीं हुआ। न वे उठे और न और किसी प्रकार का सम्मान ही किया। बैठे रहे तो बैठे ही रहे !

"जो भी हो, राजा जानश्रुति कोई ऐसे-वैसे साधारण आदमी नहीं थे। वे कई भाषाओं के जानकार होंगे। इसमें शक करने की ज़रूरत नहीं है। आजकल भाषा की जानकारी ज्ञान की कसौटी मानी जाती है, खास करके अंग्रेज़ी की जानकारी। जो आदमी अंग्रेज़ी जानता है और झमाझम उसको बोल देता है वह चतुर माना जाता है। अंग्रेज़ी समझदार लोगों की भाषा है और जो लोग उसे जानते हैं वे अगर समझदार मान लिये जाते हैं तो इसमें बुराई कुछ नहीं है। जानश्रुति अंग्रेज़ी तो नहीं जानते होंगे, परन्तु हंसों की बोली वे समझते थे। आदमियों में जैसा अंग्रेज़, चिड़ियों में वैसा हंस। हंसों की भाषा समझनेवाला उन दिनों अवश्य समझदार माना जाता होगा। राजा जानश्रुति जानते थे। परन्तु भाषा जानने मात्र से वे अपने को ज्ञानी नहीं समझते थे। बहुत लोग समझते हैं। हमारे गाँव में एक पण्डितजी थे, वे कौओं की भाषा समझते थे। उनके मत से कौआ सर्वज्ञ होता है। वह तरह-तरह की आवाज़ करके अज्ञ मानव-जन को बराबर सावधान करता रहता है। बताता रहता है कि अब क्या घटनेवाला है। लेकिन आदमी है कि वह समझ ही नहीं पाता। हमारे गाँव के पण्डितजी कौओं की बोली समझते ही नहीं थे, लोगों को उसका अर्थ भी बता दिया करते थे। भीड़ लगी रहती थी उनके द्वार पर। आश्चर्य की बात तो यह है कि अधिकांश लोगों को विश्वास था कि वे कौओं की भाषा बिल्कुल सही-सही बता देते हैं। पण्डितजी की बात अगर कभी ग़लत साबित होती थी तो लोग समाधान कर लिया करते थे कि कौए ने तो ठीक ही बताया होगा, पण्डितजी ने ठीक-ठीक समझा नहीं। आदमी से ग़लती तो होती ही रहती है। अगर कौओं की भाषा इतनी सटीक है तो हंसोंवाली का तो कहना ही क्या!

"हंस विवेकी पक्षी है। वह नीर-क्षीर को अलग कर देता है। यद्यपि अभी तक किसी ने परीक्षा करके इस बात का जायज़ा नहीं लिया कि सचमुच हंस पानी मिले हुए दूध में से दूध ले लेता है और पानी छोड़ देता है या नहीं। बंगाल के एक पक्षी-प्रेमी ने अनेक प्रकार के प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला था कि यह बात सही नहीं है। असल में हंस को जब दूध पिलाया जाता है तो उसके जबड़ों से एक प्रकार का रस क्षरित होता रहता है। इसी क्षरित लाला-रस को लोग पानी समझ लेते हैं। परन्तु आजकल ऐसा नहीं सुना गया कि बंगाली पण्डित की इस खोज के बाद हंसों के बारे में लोगों की धारणा बदल गयी है। मुझे तो एक दूसरे बंगाली विद्वान् ने यह बताया था कि जिन पक्षियों पर ये प्रयोग किये गये हैं वे असली मानसरोवर के हंस थे ही नहीं। सो, हंसों की इज़्ज़त अभी बची हुई है और वे इतने विवेकवान् माने जाते हैं कि महाज्ञानी साधु-सन्त अब भी परमहंस कहलाते हैं। सो राजा जानश्रुति के ज़माने में हंसों की महिमा और भी अधिक प्रतिष्ठित थी और वे हंसों की भाषा समझते थे। यह कोई मामूली बात नहीं थी।

"राजा जानश्रुति कहीं जंगल में भ्रमण कर रहे थे। क्यों भ्रमण कर रहे थे, यह ठीक-ठीक नहीं मालूम। खोजी तो वे थे ही, कुछ खोजने के लिए निकल पड़े होंगे या यों ही स्वास्थ्य-लाभ के लिए जंगल की हवा खा रहे थे। रास्ते में उन्हें

हंसों का जोड़ा मिल गया। राजा लोग शिकार के शौक़ीन होते हैं। वे चाहते तो इन हंसों को मारकर घर ले आ सकते थे। उस दिन रात्रिकालीन भोजन में सुस्वादु मांस पाकर तृप्ति अनुभव कर सकते थे, परन्तु वे और लोगों से कुछ भिन्न थे। उन्होंने हंसों का शिकार नहीं किया। चुपचाप खड़े होकर उनकी बातचीत सुनते रहे। भाषा तो वे जानते ही थे, समझ गये कि वे क्या बातें कर रहे हैं। वे आपस में बात कर रहे थे कि जिस प्रकार पाँसे के सब निचले दाव ऊँचे दावों के अन्तर्गत आ जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य जितने भी पुण्यकर्म करते हैं वे सब सर्वरथी, तत्त्वज्ञानी रैक्व मुनि के पास पहुँचते हैं। उन दिनों पाँसे का खेल कैसे हुआ करता था, यह पण्डितों के अनुमान की बात है। लेकिन हंसों के कहने का तात्पर्य इतना अवश्य था कि छोटे-मोटे आदमियों के जितने भी धर्म-कर्म, ज्ञान और पुण्य हैं वे सर्वरथी रैक्व के पास पहुँच जाते हैं। राजा की आँखें आश्चर्य से फैल गयीं। कौन है यह रैक्व ? जो इतना प्रतापी है कि सब लोगों के तप, स्वाध्याय, मनन-चिन्तन आदि उसके पास पहुँच जाते हैं। वह निश्चय ही कोई महान् तत्त्वदर्शी होगा, पता लगाना चाहिए। जिसकी प्रशंसा हंस भी करें वह ज़रूर बड़ा तत्त्वज्ञानी होगा। यह बात बहुत-कुछ ऐसी ही थी जैसी आजकल घटित हो रही है। जिसकी प्रशंसा श्वेतकाय अंग्रेज़ कर दें, उसे आज भी महान् तत्त्वज्ञानी मान लिया जाता है। उसकी खोज तो की ही जाती है।

"राजा जानश्रुति ने अपने चरों को चारों ओर भिजवा दिया। खोजो उस महान् तत्त्वज्ञानी को, जिसकी प्रशंसा हंस भी करते हैं। वह कहाँ रहता है, क्या करता है, कैसे उसके पास पहुँचा जा सकता है ! चरों ने दौड़ लगायी। उन दिनों जहाँ-जहाँ खोजा जा सकता था वहाँ-वहाँ वे गये। अन्त में एक ने आकर खबर दी कि रैक्व कोई बहुत दूर नहीं रहते, पास ही किसी रथ की छाया में बैठकर शरीर खुजलाते रहते हैं। सन्धान पाते ही राजा बहुत-सा उपहार लेकर उस रथ के पास पहुँचे जिसकी छाया में बैठे परम तत्त्वज्ञानी रैक्व मुनि शरीर खुजला रहे थे। उन्हें देखकर राजा को आश्चर्य हुआ।

"उपनिषद् की गवाही से इतना ही पता चलता है कि रैक्व मुनि ने शूद्र राजा को उपदेश देना अस्वीकार कर दिया। अन्न और सोने का उपहार भी लौटा दिया। गायें, सोने के हार, घोड़े जुते हुए रथ सब लौटा दिये। राजा ने जानना चाहा था कि वे किस देवता की उपासना करते हैं। परन्तु रैक्व तो फक्कड़ आदमी थे। उन्होंने कहा कि उन्हें राजा के गोवंश, हार और रथ से कोई मतलब नहीं है। बेचारे जानश्रुति लौट आये।

"उपनिषद् में कुछ विशेष रूप से यह नहीं बताया गया है कि इसके बाद क्या हुआ। केवल कहानी का अन्तिम अंश इस प्रकार बताया गया है कि वे दूसरी बार ऋषि के पास गोवंश, हार और रथ तो ले ही गये, अपनी सुन्दर कन्या को भी ले गये। फक्कड़ ऋषि अब जाकर प्रसन्न हुए और जानश्रुति की सुन्दरी कन्या का मुख अपनी ओर उठाकर बोले कि 'हे शूद्र, इस सुन्दर मुख के कारण तुम मुझे

बोलने को बाध्य कर रहे हो।'

"सो, बाध्य होकर उन्होंने अपना उपदेश जानश्रुति को सुनाया। उपदेश बड़ा संक्षिप्त था। उन्होंने बताया कि वायु में ही समस्त वस्तु-जगत् का लय हो जाता है; जब आग बुझती है तो वह वायु में ही लीन हो जाती है; जब सूर्य अस्त होता है तो वह भी वायु में ही विलीन हो जाता है; जब जल सूख जाता है तो वायु में ही उसका विलय हो जाता है। इस प्रकार वायु में ही संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का विलय हो जाता है। रैक्व मुनि ने यह नहीं बताया कि समस्त जगत् सिर्फ़ वायु में विलीन ही होता है या उत्पन्न भी होता है। ऊपर-ऊपर से देखने से इस तत्त्वज्ञान का अर्थ सिर्फ़ यही होता है कि सब चीज़ें हवा में विलीन हो जाती हैं। अगर इस तत्त्ववाद का अर्थ हो कि वायु ही समस्त जगत् का कारण है और सारा विश्व वायु में ही लीन हो जाता है तो ग्रीस देश के एक दूसरे फक्कड़ डाइजोनीज़ के साथ रैक्व मुनि की तुलना की जा सकती है, लेकिन अब तो यह केवल अनुमान की बात है कि वे उस ग्रीस देश के दार्शनिक की तरह यह मानते थे कि नहीं कि वायु ही समस्त पदार्थों का चरम आश्रय है। जो भी हो, कहीं कुछ छूटा हुआ-सा लगता है और ऊपर-ऊपर से यह तत्त्वज्ञान सुन्दरी राजकन्या के पाने योग्य तो नहीं ही लगता। कहीं कुछ और बात होगी।

" इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए जानश्रुति को बीच में क्या-क्या प्रयास करने पड़े और अन्त में उन्हें अपनी कन्या को लेकर क्यों जाना पड़ा, और सारी घटना से शरीर के खुजलाने का क्या सम्बन्ध है, यह अभी तक मालूम नहीं था। ठीक-ठीक मालूम तो अब भी नहीं है, परन्तु जितना कुछ मालूम हुआ है वह मनोरंजक अवश्य है। आगे वह कहानी दी जा रही है।"

रैक्व आख्यान

एक

उन दिनों देश का अधिकांश भाग जंगलों से घिरा हुआ था। इन जंगलों में जहाँ अनेक हिंसक जन्तु फैले हुए थे, वहाँ ज्ञान के साथ कुछ तपस्वी भी यत्र-तत्र अपनी कुटिया बनाकर रहा करते थे। कुछ तपस्वी तो केवल तपश्चर्या में ही सारा समय लगा देते थे, लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो अध्ययन-अध्यापन किया करते थे। उनके यहाँ जिज्ञासु विद्यार्थियों की उपस्थिति बराबर बनी रहती थी। ये ऋषि कहलाते थे। वे गृहस्थ-रूप में रहते थे, उनके अपने बाल-बच्चों के अतिरिक्त गायें भी हुआ करती थीं और किसी-किसी के यहाँ बकरियाँ भी रहती थीं। बकरियों को 'अजा' कहा जाता था। उनके दूध से जो घी बनता था उसे 'आज्य' कहा जाता था। ऋषियों के यहाँ यज्ञ आदि हमेशा हुआ करते थे और आज्य का हवन आवश्यक माना जाता था। बाद में गाय के घी को भी 'आज्य' ही कहा जाने लगा। दोनों प्रकार के घी हवन के काम आते थे और पौष्टिक भोजन के लिए भी आवश्यक माने जाते थे। रिक्व ऋषि बड़े मेधावी तपस्वी थे, उनके यहाँ अध्ययन-अध्यापन भी होता था, यज्ञ-याग के अनुष्ठान भी होते थे और दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन भी हुआ करता था। उनका पुत्र छोटी उम्र से ही इन सब क्रियाओं में बड़े उत्साह से योग देता था और बड़े ध्यान से पिता की बातें सुना करता था। रिक्व ऋषि जब अपने विद्यार्थियों को समझाते थे कि संसार में जो नानात्व दिखायी दे रहा है वह वस्तुतः किसी एक ही मूल से विकसित हुआ है और फिर वे एक मूल में विलीन हो जायेंगे तो उनका बालक पुत्र आश्चर्य से चकित होता रहता था। उसमें सोचने-विचारने की प्रवृत्ति तीव्र रूप से विद्यमान थी और पिता की बातों को समझने के लिए वह विभिन्न मूलों की कल्पना करता था। बालक का कुछ ऐसा दुर्भाग्य था कि बहुत जल्दी ही उसके पिता स्वर्गवासी हो गये, माता तो उसके जन्म के साथ ही प्रस्थान कर गयी थी। कोई भाई भी नहीं था, बहिन भी नहीं थी। आश्रम उजड़ गया। बालक अनाथ हो गया। परन्तु उसमें सोचने की प्रवृत्ति बराबर बनी रही। कभी-कभी वह अन्य ऋषियों के आश्रमों में जाता, लोगों की बातें

सुनता और स्वयं सोचने का प्रयत्न करता। जंगल में जो कुछ मिल जाये उससे वह पेट भर लेता था। किसी के द्वार भिक्षा माँगने नहीं गया। उसका अधिकांश समय चिन्तन-मनन में ही व्यतीत होता था।

उसने किसी पुराने ऋषि का मन्तव्य सुना था कि सृष्टि के आदि में केवल जल की ही सत्ता थी। जल से ही सत्य का उदय हुआ। सत्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म से प्रजापति की उत्पत्ति हुई और प्रजापति से देवताओं की सृष्टि हुई। ये देवता-गण केवल सत्य की ही उपासना करते हैं। यह सिद्धान्त उसे बड़ा विचित्र मालूम हुआ। क्या संसार का मूल जल है? क्या सत्य जल से आया है? इस वचन का तात्पर्य क्या हो सकता है? जल से उत्पन्न हुए सत्य की क्या कोई मौलिक सत्ता है? ऋषि ने बताया था कि सत्य में तीन अक्षर हैं। एक 'स' है, एक 'ति' है और एक 'अ' है। पहला और तीसरा अक्षर सत्य है और बीचवाला मिथ्या है। इसका मतलब बालक की समझ में नहीं आया, लेकिन उसने अपने मन में यह निष्कर्ष निकाला कि आदि सत्य है और अन्त सत्य है, बीच का प्रपंच सब मिथ्या है। इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ दिखलायी दे रहा है वह बीच का है और सब असत्य है। उसके पिता ने बताया था कि सभी वस्तुएँ एक ही तत्त्व से निकली हैं और उसी तत्त्व में विलीन हो जायेंगी। अब ऋषि के वाक्य में उसने इतना और जोड़ लिया कि वह मूल तत्त्व जिससे सब निकला है वह सही है और जिसमें सब विलीन हो जायेगा, वह भी सही है—केवल बीच का प्रपंच मिथ्या है। परन्तु उसका मन यह मानने को किसी प्रकार तैयार नहीं था कि वह मूल तत्त्व जल ही है।

लड़का चिन्तन-मनन में इतना खो गया कि उसे संसार की किसी और बात का ध्यान ही नहीं रहा। केवल ध्यान करता था और समझने का प्रयत्न करता था कि वह मूल तत्त्व क्या है जिससे सब-कुछ उत्पन्न होता है और जिसमें सब विलीन हो जाता है। अपनी इस सोचने की आदत के कारण वह लोक-सम्पर्क में बहुत कम आता था। अनाथ तो था ही, वह पूर्ण रूप से अनिकेत भी हो गया, अर्थात् उसके पास अपना कहा जाने लायक कोई घर भी नहीं था। वह एकान्त-सेवी हो गया था। प्रातःकाल नदी में स्नान करने के बाद वह ध्यान में बैठ जाता और सोचने लगता। तन-मन की सुधि न रहती, भूख लगती तो आस-पास का कन्द-मूल लेकर पेट भर लेता। उसे पता ही नहीं था कि दुनिया में और क्या होता है, अन्न कैसे उत्पन्न होता है, सामाजिक जीवन क्या चीज़ है, पुरुष और स्त्री का क्या भेद है, इन सब बातों से वह एकदम अपरिचित ही बना रहा, लेकिन उसकी सोचने की प्रक्रिया निरन्तर बढ़ती ही जाती थी।

देखते-देखते बालक किशोरावस्था में आ गया। कभी कोई परिचित ऋषि या जिज्ञासु उससे मिल जाता तो उसे रिक्व का बेटा कहकर पुकारता। रिक्व का बेटा अर्थात् रैक्व। किशोरावस्था में प्रवेश करने पर उसे सिर्फ़ इतना ही मालूम था कि उसका नाम रैक्व है अर्थात् किसी रिक्व ऋषि का बेटा। इससे अधिक न उसने जाना और न किसी ने बताया। लेकिन जिज्ञासु जनों में उसके प्रति आदर का भाव

अवश्य बढ़ गया था। उसमें चिन्तन-मनन की प्रवृत्ति, निरन्तर ध्यान करने की शक्ति और हर बात में मूल तक पहुँचने का प्रयास प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता था। धीरे-धीरे लोग उसे देखने के लिए भी आने लगे। ऐसा विश्वास किया जाने जाने लगा कि यह निष्क्रिय, निष्काम तरुण तापस समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर रहा है; क्योंकि उसकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख नहीं हैं, अन्तरतर में लीन हो गयी हैं। लोगों के आते-जाते रहने पर भी वह उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता था, अपनी समाधि में उसी प्रकार बैठा रहता था। लेकिन उसका यश जैसे-जैसे फैलता गया वैसे-वैसे उसके पास खाने-पीने की चीज़ें आने लगीं। लोग कुछ-न-कुछ उसके पास रख जाया करते थे। इससे जंगल में जाकर कन्द-मूल खोजने की कठिनाई से वह बच गया। उसकी ध्यान-धारणा और भी निर्विघ्न-भाव से चलने लगी। इस बीच एक घटना और हुई।

तरुण तापस रैक्व जब अपने आसन से उठा तो तीसरा पहर हो गया था। उस दिन उसने अपनी समाधि में इस बात का अनुभव किया था कि समस्त चैतन्य जगत् को जो चीज़ सचमुच प्राणवन्त बनाये हुए है, वह वायु है। वस्तुतः प्राण भी वायु ही है। तो इस प्राण को ही क्या मूल तत्त्व माना जा सकता है? कुछ दिन पहले उसने किसी ऋषि से सुना था कि समस्त पदार्थों का परम तत्त्व प्राण ही है। प्राण में ही समस्त तत्त्व विलीन हो जाते हैं। प्राण ही सबको जीवन्त बनाये हुए है। यह प्राण ही वायु के रूप में बाह्य जगत् में व्याप्त है। परन्तु वायु क्या चरम और परम है या इससे भी परे कोई चीज़ है? तरुण तपस्वी ने देर तक इस विषय पर मनन किया। उन्हें पता ही नहीं चला कि कब सूर्योदय हुआ, कब मध्याह्न हुआ और कब सूर्य पश्चिम की ओर ढरक पड़ा। जब वे उठे तो उनका मन बहुत प्रसन्न था। वे अब प्राण-तत्त्व का रहस्य समझना चाहते थे। उन्हें ऐसा लग रहा था कि उन्होंने कोई बहुत बड़ी उपलब्धि पा ली है। उठकर वे नदी में स्नान करने के लिए चले गये। आज उनका चित्त बहुत ही उत्फुल्ल था; लेकिन जब वे नदी में उतरे तभी उन्होंने देखा कि आसमान के पश्चिमी किनारे पर काले मेघ-खण्ड दिखायी दे रहे हैं। सरल तपस्वी को यह समझ में नहीं आया कि आँधी आनेवाली है। जिस वायु की महिमा को उन्होंने अपनी समाधि में अनुभव किया था, वही प्रचण्ड वेग धारण करके सिर पर आनेवाला है; इसका उन्हें लेश-मात्र भी ध्यान नहीं था। अचानक बड़े ज़ोर की आँधी आयी। नदी उस प्रचण्ड वेग से उफन उठी। विचार-मग्न ऋषि कुछ तरंगों के एक ही आघात में उलट गये और आँधी के साथ भयंकर वर्षा भी शुरू हो गयी। जब तक वे सँभलें तब तक नदी की गरजती हुई धारा ने उन्हें बहा लिया। यद्यपि वे बुरी तरह से आँधी-पानी में फँस गये थे फिर भी उनका मन प्रसन्न था, क्योंकि वे वायु की प्रचण्ड शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे थे। ऋषि-कुमार नदी की गरजती हुई तरंगों से काफी दूर तक धकेले जाते रहे और अन्त में एक ऊँचे शिला-खण्ड से टकरा गये। किसी प्रकार से शिला-खण्ड के ऊपर जा बैठे। आँधी तब भी तेज़ चल रही थी और नदी की धारा तब भी तेज़ गरज रही थी।

ऋषिकुमार भी बहुत थक गये थे और शिला-खण्ड पर बैठते ही वे मूर्च्छित हो गये। कितनी देर तक वे बेहोशी की हालत में रहे यह उन्हें भी नहीं मालूम, लेकिन स्वप्न में भी वे यही सोचते रहे कि वायु सबसे प्रचण्ड शक्ति है, जल से भी और धरती से भी। यह वायु का ही वेग था जो जल को खींच लाया, पानी बरसने लगा। नदी के जल को उछाल दिया, वह फुफकारने लगी और उन-जैसे चेतन प्राणी को उसने ऐसा धक्का मारा कि वे न जाने कितनी दूर इस अज्ञात जगह पर आ बैठे। वायु की महिमा सचमुच प्रचण्ड है। वे अब भी जो सपना देख रहे हैं या सोच रहे हैं वह सिर्फ़ इसलिए है कि उनकी साँस चल रही है, यह साँस भी वायु ही है। अचेतावस्था में भी उन्हें बार-बार अपनी इस नयी उपलब्धि का आभास मिलता रहा। वे आनन्दित और उल्लसित होते रहे।

धीरे-धीरे आँधी का वेग कम हुआ। नदी का भयंकर फूत्कार शान्त हुआ, आसमान में तारे दिखायी देने लगे। ऋषि की मूर्च्छा भंग हुई। वे चकित भाव से आकाश की ओर देखने लगे। इतने असंख्य तारे अब तक दिखायी क्यों नहीं देते थे! वायु के प्रचण्ड वेग से सारा आसमान मेघों से भर गया और तारे तक उसमें लुप्त हो गये! वायु की महिमा सचमुच विस्मयकारी है!

रैक्व के पिता सामवेद के प्रख्यात विद्वान् थे। नाना देशों से आये हुए धुरन्धर विद्वान् उनसे साम-गान के बारे में चर्चा करते थे। बालक रैक्व को सब समझ में नहीं आता था। कभी-कभी ऋषियों के साथ उनके पुत्र भी आ जाया करते थे। खुले और चमकते हुए तारों से भरे हुए आकाश को देखकर रैक्व को पुरानी बात याद आ गयी। उस समय रैक्व की अवस्था बहुत थोड़ी थी, सब चीज़ें उसकी समझ में नहीं आती थीं। वृद्धों के पास जाने में तो उसे संकोच भी होता था लेकिन नौ-जवान ऋषि-पुत्रों की चर्चा में वह खुलकर हिस्सा लेता था। तारों-भरे आकाश को देखकर उसे याद आया कि तीन तरुण ऋषिकुमार उसके आश्रम में साम-गान की चर्चा में लगे हुए थे। उनमें दो तो ब्राह्मण थे और तीसरे क्षत्रिय थे। ब्राह्मण ऋषियों में प्रथम थे शालवान् के पुत्र शिलक और दूसरे थे चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य। क्षत्रिय ऋषि जीवल के पुत्र प्रवाहण थे। तीनों उद्गीथ-विद्या के मर्मज्ञ थे। एक बार इन लोगों में इस तत्त्व के आश्रय के सम्बन्ध में विचार हुआ। शिलक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए दाल्भ्य ने बताया था कि साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है, प्राण का आश्रय जल है और जल का आश्रय स्वर्ग-लोक है। इसके आगे प्रश्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि साम को 'स्वर्ग-लोक' कहकर ही स्तुति की गयी है—'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः।'

किन्तु शालवान् के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य के इस कथन से सहमत नहीं हो सके। यह कैसे हो सकता है कि स्वर्ग-लोक ही अन्तिम सत्य है? उन्होंने शिलक के प्रश्न के उत्तर में कहा था—स्वर्ग-लोक का आश्रय मनुष्य-लोक है—यह मिट्टी की धरित्री है। शिलक ने बाद में दाल्भ्य के ढंग पर ही स्वीकार किया कि इसके आगे प्रश्न अनुचित है। सबकी प्रतिष्ठारूप इस मनुष्य-लोक की

प्रतिष्ठा और क्या हो सकती है ? साम को पृथ्वी कहकर ही स्तुति की गयी है— 'इयं वै रथन्तरम् !' सो साम का चरम आश्रय यह मनुष्य-लोक ही है।

जीवल के पुत्र प्रवाहण को यह भी चरम आश्रय नहीं जान पड़ा। बोले, 'मनुष्य-लोक ही अन्तिम सत्य नहीं है। मनुष्य-लोक की भी कोई गति होनी चाहिए। यह कैसे मान लिया जाये कि इसके आगे कुछ है ही नहीं ? वस्तुतः इसका भी आश्रय आकाश है। भूतमात्र आकाश में ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही विलीन होते हैं। आकाश सबसे बड़ा है। आकाश ही परम आश्रय है।'

आज रैक्व शुभ्र आकाश को देख रहे हैं। तो क्या यह आकाश ही सब-कुछ है ? इसी में सब-कुछ विलीन हो जाता है, इसी से सब उत्पन्न होता है, इसी में सब-कुछ चक्कर मार रहा है ? किन्तु इसमें प्राण कहाँ है ? प्राण के बिना तो कुछ भी चंचल नहीं होता। जीवधारियों में जो प्राण है वही आकाशमण्डल में व्याप्त वायु है ? वायु ही पृथ्वी और स्वर्ग के अन्तराल को भरता है ? आकाश पर इसका प्रभुत्व नहीं है ? पृथ्वी उसकी क्षमता से परे है ? रैक्व मुग्ध-भाव से आकाश की ओर देखते रहे। उन्हें ठीक उत्तर नहीं सूझ पड़ा। सोचते हुए वे अपने स्थान से उठे और जिधर पानी का प्रवाह नहीं फैला था उस ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगे। उनके मन में तीन तत्त्व मुख्य रूप से चक्कर काट रहे थे : वायु, जल और आकाश। अन्धकार चारों ओर व्याप्त हो गया था। रास्ता पाना कठिन मालूम हो रहा था। वे ठीक नहीं समझ पा रहे थे कि आखिर वे हैं कहाँ। अपनी कुटिया से कितनी दूर हैं। जब-जब वे कुटिया की बात सोचते थे तब-तब उनके मन में वायु की शक्तिशालिता उजागर हो उठती थी। यह वायु ही है जिसने उन्हें अचानक यहाँ तक ठेल दिया। यह वायु ही है जिसने जल को ऐसा प्रलयंकर बना दिया। यह वायु ही है जिसने आकाश को काली मसृण स्याही से पोत दिया था और अब निर्मल तारे-खचित शुभ्र रूप में प्रकट करा रहा है। लेकिन वायु क्या चरम है ? वायु का भी कुछ कारण होना चाहिए। वायु क्या स्वयं शक्तिशाली है या किसी और से शक्ति पाता है ?

मगर तरुण तापस अँधेरे में रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़ रहे थे। रास्ता तो कहीं था नहीं। दूर तक कँटीली झाड़ियों का विस्तार था। थोड़ी ही देर में चद्रमा का उदय हुआ। सारी वनस्थली में किसी ने दूध की चादर बिछा दी। तरुण तापस और आगे बढ़ा। उसे कुछ खेत दिखायी पड़े। निश्चय ही वे किसी गाँव के निकट पहुँच गये थे। उन्होंने सावधानी से चारों ओर देखा, एक पगडण्डी-सी दिखायी पड़ी। गाड़ियों के चलने से चिह्न बन गये थे। एक गाड़ी तो लगता है तूफ़ान में फँस गयी थी, क्योंकि उसके पहिये दूर-दूर तक धँसे हुए दिखायी देते थे। उन निशानों पर आगे बढ़ते हुए एक जगह आकर रैक्व एकदम रुक गये। यह क्या ? सामने एक बैलगाड़ी, जिसे उन दिनों 'रथ' कहा करते थे, बुरी तरह कीचड़ में धँसी पड़ी है। बैल उसमें अवश्य जुते हुए थे, लेकिन जान पड़ता है कि आँधी के भयंकर वेग से भाग खड़े हुए थे और गाड़ी धँसी पड़ी हुई थी। गाड़ीवान पास ही

में मरा पड़ा था। रैक्व के मन में करुणा का उदय हुआ। हाय ! बेचारा आँधी-तूफ़ान में मर ही गया, लेकिन गाड़ी से कोई दस-पन्द्रह हाथ पर एक और जीव उसी तरह आँधी-पानी से जूझता हुआ शिथिल-मूच्छित पड़ा हुआ था। रैक्व ने पहले तो उसे भी मरा समझा, परन्तु एकाएक अपने चिन्तन से प्राप्त उपलब्धि की याद आ गयी---वायु के बिना कोई जीवित नहीं रहता। देखना चाहिए कि यह जीवित है कि मर गया है। अगर जीवित होगा तो नाक से साँस निकल रही होगी। गाड़ीवान की नाक पर हाथ रखकर देखा, कोई हलचल नहीं थी। दूसरे प्राणी की नाक पर हाथ रखकर देखा तो साँस चल रही थी।

ऋषिकुमार ने सोचा कि अगर इसकी कुछ सहायता की जाये तो शायद जी जाये। कठिनाई यह थी कि यह दूसरा प्राणी इतने कपड़ों से और मणि-मोतियों से जड़ा हुआ था कि उनकी समझ में नहीं आया कि ये सब कपड़े क्या हैं। ये मोती-मानिक जैसी चीज़ें इस प्राणी ने पहले से ही धारण की थीं या बाद में उसके शरीर पर डाली गयी हैं। यह प्राणी निस्सन्देह मनुष्य ही था। हाथ, पैर, नाक, मुँह, देह सब-कुछ मनुष्य-जैसे थे, परन्तु था कुछ विचित्र। इस प्रकार की मानवमूर्त्ति उन्होंने अपने जीवन में कहीं देखी नहीं थी। उनके समझ में नहीं आया कि आँधी और तूफ़ान से जो कपड़े इधर-उधर बिखर गये हैं, उनका क्या उपयोग किया जाये। फिर भी कुछ तो करना ही चाहिए।

उन्होंने अपने सिद्धान्त की परीक्षा की। अगर वायु सब-कुछ का कारण है और समस्त वायु में ही विलीन हो जाता है तो वायु के उपचार से इस प्राणी को कुछ राहत मिल सकती है। उन्होंने उसके शरीर पर उलझे हुए कपड़ों का एक सिरा उठाया और हवा करने लगे। थोड़ी देर में उन्होंने देखा कि उस प्राणी में कुछ हलचल हुई। ऐसा लगा कि उसकी मूर्च्छा दूर हो रही है और वह धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहा है। एक और आश्चर्य मुनि को यह हुआ कि जिस कपड़े से वे हवा कर रहे थे वह सूख गया। रैक्व के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने धीरे-धीरे उसके सब कपड़े उतारकर सुखाने का निश्चय किया। उन्होंने उसका सिर उठाकर कपड़ा हटाना चाहा। एकाएक उनका ध्यान उसकी आँखों की ओर गया। ऋषिकुमार विस्मित होकर देखने लगे। ऐसी आँखें तो मनुष्य की नहीं होतीं। ये तो बिल्कुल मृग की आँखें हैं। अवश्य ही इस प्राणी ने कहीं से मृग की आँखें लेकर अपने चेहरे पर बैठा ली हैं। वे धीरे-धीरे आँखों के चारों ओर उँगली फिराकर देखने लगे कि कहीं जोड़ के चिह्न हैं या नहीं। नहीं थे। ऋषिकुमार एकदम उसके चेहरे पर झुक गये। अवश्य ही कोई रहस्य है ! उसी समय उस प्राणी की आँखें खुल गयीं। वह अकचका कर उठ बैठा। क्रोध-भरे स्वर में उसने कहा, "कौन है तू ? क्या कर रहा है ?" रैक्व ने इतनी मधुर वाणी कभी नहीं सुनी थी। उन्होंने समझा, निश्चय ही यह कोई देवलोक का मनुष्य है। हाथ जोड़कर बोले, "मैं बहुत प्रसन्न हूँ देवलोक के मनुष्य ! तुम्हारी संज्ञा लौट आयी, तुम उठकर बैठ गये, मैं तुम्हारे कपड़े सुखाने का प्रयत्न कर रहा था।" देवलोक के प्राणी को रैक्व की यह

वाणी सुनकर कुछ कुतूहल हुआ। बोला, "तुम कौन हो ?"

रैक्व ने गद्गद-भाव से प्रणति की और कहा, "धन्य हो देवता ! मुझे लोग रिक्व ऋषि का पुत्र रैक्व कहते हैं। मैं भी आँधी-तूफ़ान में फँस गया था और इधर आते समय देखा कि यह रथ भी फँस गया है। इसका चलानेवाला मर गया है, इसका एक प्राणी जीवित है। तुम धन्य हो। अब बताओ, तुम कौन हो ?"

रैक्व की सरल निष्कपट स्तुति से देवता को प्रसन्नता हुई। उसने उठकर अपने कपड़े ठीक किये और चुपचाप एक ओर ज़रा ऊँची ज़मीन देखकर आसन ग्रहण किया। रैक्व उसके पीछे-पीछे उसी तरह खिंचते चले गये जैसे चुम्बक के पीछे लोहा खिंचता है। ऐसा लगता था कि रैक्व जिसे देवलोक का मनुष्य समझ रहे थे, उसे थोड़ी-बहुत चोट भी आयी थी। उसकी पीठ में, हाथ में कुछ चोट के निशान भी थे। रैक्व को लगा कि अकारण ही उसके अन्तरतर में एक भयंकर आँधी चल रही है। ऐसा दिव्य रूप उन्होंने कभी नहीं देखा था, इतनी मीठी बोली उन्होंने कभी नहीं सुनी थी। यह कौन है ? क्या स्वर्ग के देवता ऐसे ही होते हैं ? कातर-भाव से बोले, "अगर मैं कुछ सेवा करने योग्य माना जाऊँ तो आज्ञा पाकर कृतार्थ होऊँगा।" देवलोक का मनुष्य उनकी ओर एकदम देखता ही रहा। उसके मुख पर सीधे चन्द्रमा की शुभ्र किरणें बरस रही थीं। रैक्व ने कातर-विनीत वाणी में कहा, "हे देवलोक के मनुष्य ! तुम्हें देखकर मेरा सारा अस्तित्व तुम्हारी सेवा के लिए ढरक जाना चाहता है। मैंने बचपन में मधुर साम-वाणी सुनी है, परन्तु ऐसी मीठी वाणी आज तक नहीं सुनी। मुझे आज ऐसा जान पड़ता है कि मेरा जन्म कृतार्थ है, मेरा जप-तप सफल है, मेरा सारा अस्तित्व परिपूर्ण हो गया है। अहा हा, कैसा सुन्दर रूप है ! सत्य कहता हूँ देवता, मैंने ऐसी सुन्दर आँखें पहले कभी नहीं देखीं। तुम जब हँसते हो तो मुझे लगता है कि फूल बरस रहा है, तुम जब बोलते हो तो मुझे लगता है कि अमृत की वर्षा हो रही है। कैसा अद्भुत है ! अब तक मैंने तुम्हारी अवस्था के जितने ऋषि-पुत्र देखे हैं, सबके केश रूक्ष और जटिल होते हैं, परन्तु तुम्हारे केश कितने मुलायम और मनोहर हैं। तुम्हारे अधरों में कैसी दिव्य प्रभा है। मुझे ठीक-ठीक बताओ, तुम किस स्वर्गलोक के निवासी हो और यहाँ कैसे आ गये ?" आनन्द-गद्गद होकर रैक्व ने उसके मुलायम बालों को हाथों से अनुभव करने का प्रयत्न किया। फिर अत्यन्त सरल सहज भाव से उन्होंने देवता के गालों पर भी हाथ फेर दिया और आनन्द-कातर भाव से बोले, "अहा हा, तुम्हारी अवस्था के ऋषि-पुत्रों के तो रूखे-रूखे बाल जम आते हैं, कैसा दिव्य तुम्हारा मुख-मण्डल है, कितने लाल-लाल अधर हैं।" स्वर्गीय प्राणी ने ज़रा झिड़ककर कहा, "ऋषिकुमार, ज़रा दूर हटकर रहो। तुम क्या पहली बार किसी स्त्री को देख रहे हो ?" ऋषिकुमार कुछ समझ नहीं सका, केवल आँखें फाड़कर उसकी ओर देखता ही रहा। अब उस स्वर्गीय प्राणी ने ही कहा, "देखो ऋषि-कुमार ! मैं महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ, तुम्हें इतनी तो जानकारी होनी ही चाहिए कि इस तरह से स्त्रियों का स्पर्श करना अनुचित है, पाप है, परन्तु मैं

तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि तुमने जीवन में मेरी ऐसी कोई लड़की देखी ही नहीं। तभी तुम्हें आश्चर्य हो रहा है। मैं राजा की कन्या हूँ, कुछ समझ रहे हो?"

ऋषिकुमार भौचक्के खड़े थे। असमंजस में पड़े हुए बोले, " 'कन्या' शब्द से मैं परिचित हूँ; लेकिन वह होता क्या है, यह मैं नहीं जानता।" अब राजकुमारी को कुतूहल हुआ—"अच्छा ऋषिकुमार, तुमने व्याकरण पढ़ा है?" ऋषिकुमार ने गर्व से कहा, "अवश्य पढ़ा है।"

"तो फिर जानते हो, व्याकरण में पुल्लिग और स्त्रीलिंग होता है?"

"जानता हूँ।"

"तुम पुल्लिग हो, मैं स्त्रीलिंग हूँ। आगे मुझे सम्बोधित करना तो वह व्याकरण-सम्मत स्त्रीलिंग के अनुसार होना चाहिए। मुझे क्या सम्बोधन करोगे, बोलो तो?"

ऋषिकुमार अभिभूत हतप्रभ की भाँति उसकी ओर देखते रहे। बोले, "मैं नहीं जानता। इतना अवश्य जानता हूँ कि स्त्रीलिंग शब्द भाषा में व्यवहार किये जाते हैं। पद का मुझे ज्ञान है, पदार्थ का मुझे ठीक ज्ञान नहीं है। मैं जानता हूँ कि कन्या शब्द स्त्रीलिंग है, इसलिए मैं आपको कन्या शब्द से सम्बोधित कर सकता हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि आर्ये, भवति, शुभे, इत्यादि शब्द स्त्रीलिंग के सम्बोधन हैं। परन्तु मुझे ठीक नहीं मालूम कि इन पदों के अर्थ—पदार्थ—क्या हैं।"

जाबाला ने हँसकर कहा, "अच्छी बात है। तुम मुझे 'शुभे' कहकर पुकारा करो। मैं देवलोक से नहीं आयी हूँ, इसी पृथ्वीलोक पर महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ। मैं तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ। तुमने मेरे प्राण बचाये। मैं इस रथ पर बैठकर अपने एक सम्बन्धी के यहाँ जा रही थी, बीच में ज़ोर की आँधी आयी और पानी बरसने लगा। आँधी का वेग इतना तेज़ था कि बैल रास्ता छोड़कर इधर भाग पड़े। फिर वे किसी तरह जुआ उतारकर न जाने किधर चले गये। जान पड़ता है कि भागते हुए बैलों ने गाड़ीवान को अपने खुरों से रौंद डाला, वह बेचारा समाप्त हो गया है। मुझे भी बचने की आशा नहीं थी। तुम एक काम कर सकते हो? मुझे मेरे पिता के घर पहुँचा दो।"

ऋषिकुमार अत्यन्त विनीत भाव से बोले, "शुभे, तुम जैसा भी आदेश करोगी, उसका पालन करना मेरे लिए हर्ष और गौरव की बात होगी। परन्तु तुम्हारे पिता के घर का रास्ता मुझे मालूम नहीं है। तुम्हें अपनी पीठ पर बैठाकर जिधर कहो, उधर पहुँचा दूँ।"

राजकुमारी हँसने लगी। बोली, "देखो ऋषिकुमार, तुम्हारा यह प्रस्ताव अनुचित है। इससे लोक-निन्दा होगी। कोई भी युवक किसी कुमारी को पीठ पर ले जाने की बात नहीं करता। सोचता भी नहीं। मुझे सिर्फ़ उस रास्ते तक पहुँचा दो जहाँ से बैलगाड़ी इधर आयी है। मेरे पिता के आदमी अवश्य ही उधर

खोजने के लिए आये होंगे। मेरे पैरों में यदि कष्ट न होता तो उतनी दूर जा सकती थी।"

ऋषिकुमार हैरान थे। उनकी समझ में नहीं आया कि इसमें लोक-निन्दा की क्या बात है। कुछ हारे हुए-से बोले, "शुभे, मैंने वृद्ध लोगों से सुना है कि आर्त्त और विपन्न लोगों की सेवा करना धर्म है, मैं तो धर्म की ही बात कर रहा हूँ। क्या मैं कुछ अनुचित कह रहा हूँ ?"

राजकुमारी मुग्ध दृष्टि से ऋषिकुमार की ओर देखती रही। कैसा सरल भाव है ! कैसा सहज-कमनीय मुख ! हँसकर बोली, "हाँ कुमार, तुम जानते ही नहीं कि कितनी अनुचित बात कह रहे हो !"

ऋषिकुमार सोच में पड़ गये—"मैं जानता कैसे नहीं ! यह धर्म-संगत प्रस्ताव है। इसमें अनुचित क्या हो सकता है ! नहीं शुभे, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। आ जाओ मेरी पीठ पर। अनुचित क्या है भला !" और अपनी पीठ राजकुमारी के सामने कर दी। उन्हें आशा थी कि वह उनकी पीठ पर आ जायेगी। पीठ में एक अजीब-सी सनसनाहट हो रही थी। वह शान्त नहीं हुई। राजकुमारी दो पग पीछे खिसक गयी। बोली, "तुम बहुत भोले हो ऋषिकुमार, उठो, मेरी ओर देखो !"

पीठ की सनसनाहट ज्यों-की-त्यों बनी रही। बाध्य होकर उन्हें उठना पड़ा। हताश होकर चकित दृष्टि से उन्होंने राजकुमारी को देखा। राजकुमारी हँस रही थी। निराश ऋषिकुमार उस मोहक हँसी से अभिभूत हो गये—"हँसती हो शुभे, मैंने कोई हास्यास्पद आचरण किया है ?"

राजकुमारी का मुख म्लान हो गया। बोली, "नहीं ऋषिकुमार, तुम स्वर्गीय ज्योति हो। मेरी हँसी तो अधम जन के कलुषित चित्त का विनोद है। हाय, तुम्हारे-जैसा पवित्र मन कहाँ मिलता है ? अच्छा कुमार, मुझे देखकर तुम्हें कैसा अनुभव होता है ?"

"--अनुभव ? जानती हो शुभे, सब-कुछ वायु से उत्पन्न होता है, वायु में विलीन हो जाता है। मेरे भीतर, तुम्हारे भीतर और समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में वायु ही सब-कुछ करा रहा है। मेरे भीतर जो प्राणवायु है, वह तुम्हें देखकर बहुत चंचल हो गया है। तुम्हें दिखायी नहीं देता, पर मेरे भीतर भयंकर आँधी बह रही है। मैं नहीं जानता कि वह मुझे उड़ाकर कहाँ ले जायेगी। पर वह उड़ा रही है। मैं उड़ रहा हूँ। वह मेरे अन्तर्वर्त्ती प्राणवायु को तुम्हारे भीतर ठेलकर घुसा देना चाहती है। मेरा प्राण चंचल हो उठा है। वायु की इस अद्भुत शक्ति का परिचय मुझे पहले नहीं था। तुम्हें देखकर मुझे नया प्रकाश मिल रहा है। प्रकाश का कारण वायु ही है।"

"थोड़ा रुको ऋषिकुमार ! तुमने बहुत बड़ी बात कही है। पर तुम जिसे वायु कहते हो वह क्या सचमुच वायु है ? वह वस्तुतः एक प्रत्यय है, प्रतीति है। जानते हो ऋषिकुमार, प्रत्यय आत्मा का धर्म है। पद और पदार्थ को यह प्रत्यय ही

जोड़ता है ।"

"नहीं शुभे, यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। वायु तो सबका कारण है, उसका कोई कारण कैसे हो सकता है ? तुम जिसे प्रत्यय कहती हो, उस पर मैंने विचार नहीं किया है। क्या ही अच्छा होता कि तुम्हारे साथ बैठकर इस पर विचार करता !"

"ऋषिकुमार, मैं तुम्हारे साथ बैठकर विचार कर सकती तो कितना अच्छा होता ! पर तुम नहीं जानते कि ऐसा सम्भव नहीं है ।"

"क्यों, इसमें क्या दोष है ?"

राजकुमारी ने हँस दिया। ऋषिकुमार फिर सोचने लगे। राजकुमारी ने ही मौन तोड़ा।

"जानते हो ऋषिकुमार, मेरे पिता के पास एक बड़े विद्वान् आये थे। वे बता रहे थे कि कोई राजा जनक थे जिनके पास याज्ञवल्क्य ज्ञानचर्चा के लिए गये थे। याज्ञवल्क्य से राजा जनक ने पूछा कि मनुष्य की ज्योति क्या है। याज्ञवल्क्य ने पहले उत्तर दिया कि 'मनुष्य की ज्योति सूर्य है। यह सूर्य के ही कारण है कि मनुष्य बैठने, विचारने, कार्य करने और लौटने की शक्ति रखता है।' राजा जनक ने कहा, 'जब सूर्य छिप जाता है, तब मनुष्य की ज्योति क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'तब मनुष्य की ज्योति चन्द्रमा है; क्योंकि चन्द्रमा की ज्योति के कारण ही मनुष्य बैठ सकता है, विचार कर सकता है तथा लौट सकता है।' राजा जनक ने कहा कि 'जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों अस्त हो जाते हैं, तब मनुष्य की ज्योति क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'निश्चय ही तब मनुष्य की ज्योति अग्नि है, क्योंकि अग्नि के प्रकाश के कारण ही मनुष्य बैठ सकता है, विचार कर सकता है और लौट सकता है।' जनक ने कहा कि 'जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त हो जाता है और अग्नि बुझ जाती है, तब मनुष्य की ज्योति क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'अब आप मुझे गहनतम प्रश्न की ओर ले जा रहे हैं। जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त हो जाता है, जब अग्नि बुझ जाती है, तब आत्मा ही एकमात्र ज्योति है !' "

"विचित्र है। इस चर्चा में वायु का कोई स्थान ही नहीं है !"

"हाँ, इसीलिए मैं सोचती हूँ कि जिसे तुम वायु कहते हो वह वही चीज़ तो नहीं है जिसे जनक 'आत्मा' कहते हैं ! सोचो, सोचने में दोष क्या है !"

"सोचूँगा शुभे, तुम्हारे इस सुन्दर मुख से निकली वाणी साम-गान की तरह पवित्र लगती है। इस सुन्दर मुख ने मुझे सोचने को बाध्य कर दिया है।"

राजकुमारी हँसती रही, ऋषिकुमार मुग्धभाव से उसकी ओर देखते रहे। इसी समय कुछ लोग उधर आते दिखायी पड़े। राजकुमारी ने ऋषिकुमार से कहा, "जान पड़ता है, मेरे आदमी आ रहे हैं। तुम कहीं दूर जाकर छिप जाओ। ये लोग जानने न पायें कि हम लोग यहाँ एकान्त में बात कर रहे थे।" ऋषिकुमार हैरान ! "क्यों, क्या इसमें भी दोष है ?" राजकुमारी ने बल देकर कहा, "हाँ, है;

जल्दी करो।"

ऋषिकुमार ने अनमने भाव से आज्ञापालन किया। राजकुमारी को लेकर सब लोग चले गये। ऋषिकुमार का मन उदास हो गया। रथ के पास जाकर देखा तो गाड़ीवान का शव भी नहीं था। शायद उसे भी उठा ले गये। रथ को ज़रूर खींच-कर कीचड़ से निकाल दिया गया था, पर शायद वह बेकार हो गया था। किसी ने उसे ले जाने की आवश्यकता नहीं समझी। तीन दिन, तीन रात ऋषिकुमार उस रथ के पास बैठे रहे। उन्हें आशा थी कि कोई-न-कोई उसे लेने आयेगा। राजकुमारी के कुछ समाचार मिलेंगे। कोई नहीं आया। उन्होंने रथ को खींचकर उस स्थान पर रखा जहाँ राजकुमारी बैठी थी। उसी की छाया में बैठकर चिन्तन करने लगे। पर पीठ की सनसनाहट बनी रही। वे प्रायः उसे खुजला लेते।

दो

जाबाला राजा जानश्रुति की इकलौती दुलारी कन्या थी। बड़े लाड़-प्यार में उसका लालन-पालन हुआ था। लड़की बहुत बुद्धिमती थी। राजा जानश्रुति ने उपयुक्त अध्यापकों को लगाकर उसे पढ़ने-लिखने में चतुर बनाया था। यद्यपि राजा का वैभव बहुत अधिक था; वह सौ बैलों की खेती करता था, अनेक दास-दासी उसके यहाँ नियुक्त थे; जाबाला को कुछ करने की आवश्यकता नहीं थी; परन्तु फिर भी वह खेतों में जाती, कर्मकरों के साथ खेती-बारी का काम देखती और अपने हाथों से गाय-बैलों की सेवा भी करती थी। राजा जानश्रुति आस-पास के गाँवां में सबसे सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी रूपवती और गुणवती कन्या को प्राप्त करने के लिए अड़ोस-पड़ोस के अनेक राजकुमार प्रयत्नशील थे, परन्तु जाबाला कुछ विचित्र स्वभाव की लड़की थी। उसे अपनी विद्या और ज्ञान पर गर्व था। वह ऐसे किसी से विवाह नहीं करना चाहती थी, जो ज्ञान और विद्या में उसके समकक्ष न हो। राजा जानश्रुति लाड़-प्यार में पली अपनी बेटी के योग्य वर नहीं खोज पा रहे थे, क्योंकि उनकी जाति के लोगों में पढ़ने-लिखने का विशेष चलन नहीं था। अच्छे पढ़े-लिखे युवक ब्राह्मण और क्षत्रियों में ही प्राप्त हो सकते थे। जाबाला की प्रखर बुद्धि की समकक्षता उनमें भी बहुत थोड़े ही कर सकते थे। इस प्रकार माँ-बाप की लाड़ली जाबाला का विवाह-कार्य रुका हुआ था। उसे उसकी बहुत चिन्ता भी नहीं थी। वह पठन-पाठन और शास्त्र-चिन्तन में ही आनन्द अनुभव करती थी।

उस दिन जाबाला अपनी मौसी के घर जा रही थी। मौसी के यहाँ कोई

उत्सव था। वह गाँव बहुत दूर नहीं था इसलिए पिता-माता की अनुमति लेकर दिन रहते ही जाबाला केवल गाड़ीवान को साथ लेकर अपनी मौसी के घर जा रही थी। अचानक आसमान धूल से भर गया। गाड़ीवान को आँधी और वर्षा का आभास मिल गया। उसने जाबाला को सावधान किया। अपना घर अभी बहुत दूर नहीं छूटा था। मौसी का घर अधिक दूर था। गाड़ीवान ने जाबाला की अनुमति से गाड़ी को घर की ओर लौटाया भी, लेकिन आँधी का वेग इतना प्रचण्ड था कि वे बीच में ही फँस गये। आँधी के साथ-साथ पानी भी बड़ी तेज़ी से बरसने लगा। चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा हो गया। बैल गाड़ीवान के नियन्त्रण से बाहर हो गये। वे रास्ता छोड़कर झाड़ियों के भीतर घुस गये और बुरी तरह विद्रोह कर बैठे। इधर गाड़ी का चक्का भी धँस गया। गाड़ीवान ने उतरकर उसे ठीक करने का प्रयन्त किया और इसी बीच बैल अपने कन्धे से जुआ उतारकर रथ को लिये ऊधम मचाने लगे। कुछ भी दिखायी नहीं देता था। ऐसा लगा कि गाड़ीवान नीचे गिर गया है और बैल उसे बुरी तरह से रौंद रहे हैं। जाबाला साँस रोक यह दृश्य देखती रही। एकाएक वह गाड़ी से कूद पड़ी, लेकिन आँधी के वेग से वह कुछ थोड़ी दूर तक ठेली जाती रही। उसके बाल अस्त-व्यस्त हो गये थे। उसने चिल्ला-चिल्लाकर गाड़ीवान को बुलाया, लेकिन कहीं कोई नहीं आया। बैल भाग चुके थे। वह स्वयं एक झाड़ी से उलझकर गिर गयी। आँधी की तीव्र गति बढ़ती ही जाती थी; देर तक वह बेहोश पड़ी रही।

जाबाला को चोट उतनी नहीं लगी थी, जितना उसके मन में भय समा गया था। बेहोश वह भय के आघात से हुई थी। वह कितनी देर बेहोश रही, उसे पता ही नहीं चला। उसी अवस्था में उसे जान पड़ा कि कोई उसकी आँखों के चारों ओर उँगलियों से दबा रहा है। उसकी आँखें खुलीं। सामने उसके चेहरे पर आँखें गड़ाये कोई ताक रहा था। उसे भय हुआ। वह एक झटके में बैठ गयी। देखा, रूक्ष जटिल चेहरेवाला कोई तापस आश्चर्य से उसे देखे जा रहा है। क्रोध से उसने डाँटा। तापस डरकर पीछे हट गया। जाबाला के वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। आँधी और वर्षा से वे बुरी तरह बिखर गये थे। तापस का भयभ्रान्त मुख उसे अच्छा लगा। वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा रहा था। पहले तो उसने उसे मूर्ख ही समझा। पर उसकी बातों से उसे लगा कि यह ऋषिकुमार बुद्धिमान भी है और भोला भी। जीवन में उसने शायद कभी किसी स्त्री को नहीं देखा। जाबाला को वह स्वर्गलोक का प्राणी समझ रहा है। उसे कुतूहल हुआ। भोले ऋषिकुमार की बातें उसे मीठी लगीं। थोड़ी देर तक की बातचीत से ही उसे ऐसा लगने लगा कि ऋषिकुमार प्यारे-प्यारे भोले शिशु के समान है। उसे लोक-व्यवहार का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अगर वह देर तक उससे बात कर सकती तो अच्छा होता, पर विघ्न आ गया। ऋषिकुमार तो नितान्त भोला है, पर वह तो लोक-व्यवहार जानती है। उसे कहीं छिपने को कहकर वह घर लौट आयी। पर लौट आने पर भी मन चंचल ही बना रहा। कहाँ गया होगा वह? क्या सोचता होगा? दिव्य लोक के प्राणी के बिछुड़ने

पर क्या मानसिक अवस्था उसकी हुई होगी ? कचट जाती नहीं, हृदय मसोस उठता है। हाय, बिचारा बड़ा ही भोला है ! कहता है, सब-कुछ वायु से ही निकला है, उसी में विलीन हो जायेगा। हृदय में न जाने कैसी उथल-पुथल महसूस करता है, पर मानता है कि यह भी वायु से ही उत्पन्न हुआ है ! भोलेराम को और कुछ का पता ही नहीं है। हृदय में उसके आँधी बह रही है, वायु ही तो है !

मगर जाबाला स्वयं कुछ हलचल महसूस कर रही है। छाती में कहीं बुरी तरह हलचल है। यह भी क्या वायु का ही प्रताप है ! पहले उसे कुतूहल हुआ था, अब उससे अलग कोई भाव है। भोलेराम कहते हैं कि उनके बाल रूक्ष हैं, जटिल हैं और स्वर्गीय प्राणी के मुलायम हैं ! हाय रे भोला, तू तो जानता ही नहीं कि केशों को मुलायम बनाने के लिए कितनी दासियाँ लगी रहती हैं, कितना तेल-उबटन ख़र्च होता है; कहीं तेरे बालों की भी ऐसी ही सेवा हुई होती तो क्या कम सुन्दर या कमनीय होते ! जाबाला के मन में एक विचित्र प्रकार की गुदगुदी अनुभूत हुई। अगर उसे अवसर मिलता तो वह उसकी ऐसी सेवा करती कि तीन दिनों में ही उसका रूप निखर आता। एक सप्ताह भी अगर वह उसे धौरी गाय का दूध पिला सकती तो उसका शरीर तप्त कांचन की भाँति लहक उठता। नाई बुलाकर उसके सुन्दर मुख को चाँद की तरह चमका देती। तीन दिन के तेल-उबटन से वह दिव्य पुरुष की भाँति खिल उठता। मगर है हठी। नाई से ही झगड़ पड़ेगा। तेल-उबटन लगानेवालों से तो लड़ ही पड़ेगा। सब तो वायु का खेल है, तुम कौन होते हो दखल देनेवाले ! मगर जब वह गुस्सा होगा तो उसका भोला मुँह और भी कमनीय हो जायेगा। जाबाला उसे आँखों से ही डाँट देगी—'नहीं, ऊधम मत करो, चुपचाप जो कहती हूँ करा लो।' मान जायेगा या नहीं ? मान जायेगा। कहेगा, 'इस सुन्दर मुख की वाणी के कारण मैं बाध्य हो रहा हूँ।' मज़ा आ जायेगा। भोलेराम को पता ही नहीं कि सुन्दर मुख की वाणी कितनी गहराई में चोट करती है !

मगर जाबाला यह सब क्या सोच रही है। असम्भव दिवास्वप्न हैं ये सब ! जंगल का जानवर पगहा तुड़ाकर भागा सो भागा। अब क्या वह पकड़ाई देगा ! अगर पकड़ में आ भी गया तो जाबाला को उसकी सेवा के लिए कौन अवसर देगा ! छिः, वह राजकुमारी है, उसे ऐसा सोचना क्या शोभा देता है ! जाबाला कुछ बेचैनी महसूस कर रही है। वह भागा कहाँ, मैंने ही तो भगा दिया ! यही तो उसके हृदय को कुरेद रहा है। वह बिचारा तो पीठ सामने करके उस पर जाबाला को बैठाकर उसके घर तक पहुँचाने को गिड़गिड़ा रहा था। कह रहा था, इसमें दोष ही क्या है। एक बार जाबाला के जी में आया था कि उसकी पीठ पर सवार हो ही जाये। पर रुक गयी थी। दोष तो था ही। ऐसा भी कहीं होता है। उस जंगली मृगछौने को इसमें दोष नहीं दिखता तो क्या राजकुमारी जाबाला भी वैसी ही बन जाये ? नहीं, उस समय उसने अपने मन पर क़ाबू पा लिया, यह अच्छा ही हुआ। उसने अपने पिता से सुना था कि पुरा काल में भी कोई जबाला थी। उसका बेटा सत्य-

काम बड़ा ज्ञानी हुआ था। परमज्ञानी होने के बाद वे अपने को सत्यकाम जाबाल कहते थे। एक बार उन्होंने याज्ञवल्क्य को बताया था कि मन ही सत्य है। पर राजा जनक ने कहा था कि यह आंशिक सत्य है। आंशिक सत्य क्या पूर्ण सत्य का विरोधी होता है ? मन ने उसे चंचल बनाया था, उसने उस पर क़ाबू पा लिया था; पर आंशिक रूप में ही सही, सत्य की एक झलक तो मिल ही गयी थी। भोलेराम बता रहे थे, उनके प्राणों में वायु आन्दोलित हो रही थी। उदंक ऋषि ने याज्ञवल्क्य को कहा था कि प्राण ही परम सत्य है। जनक ने इसे भी आंशिक सत्य ही बताया था। तो उधर भी आंशिक सत्य का ही साक्षात्कार हो रहा था ! पूर्ण सत्य क्या होता होगा ? न भोले ऋषिकुमार को उसका साक्षात्कार हुआ, न सुशिक्षिता राजकुमारी को ही।

जाबाला के पिता ने बताया था कि महाराज जनक ने कहा था कि 'जिसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, किन्तु जो वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करती है, उसी को परम सत्य समझो; उसे नहीं जिसकी लोग व्यर्थ उपासना करते हैं। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, किन्तु जो मन की कल्पना करती है, उसी को परम सत्य समझो। जिसे देखने में नेत्र असमर्थ हैं, किन्तु जिसके द्वारा हम नेत्रों से देखते हैं; वही परम सत्य है। जिसे श्रवण सुन नहीं सकते, किन्तु जो श्रवण-ज्ञान की शक्ति प्रदान करती है, वही परम सत्य है। जिसे प्राण श्वसित अथवा उच्छ्वसित करने की शक्ति नहीं रखते, किन्तु जो प्राणों को श्वासोच्छ्वास की शक्ति प्रदान करती है, उसी को परम सत्य समझो !'

भोलेराम को यह बताया जाता तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होती उन पर ? वे तो वायु को ही परम और चरम माने बैठे हैं। जाबाला ने जब उनसे पूछा कि क्या वायु वही चीज़ तो नहीं है जिसे जनक आत्मा कहते हैं, तो सोचने पर राज़ी हो गये थे। क्या सोचा होगा ? सोचता वह ज़रूर होगा। पर कैसे सोचेगा ? दुधमुँहे बच्चे का-सा तो स्वभाव है। किसी से मिलता-जुलता भी नहीं। बहुत-सी बातें तो सत्संग से ही जानी जाती हैं। आँखें मूँदकर चुपचाप ध्यान करने से ही सब बातों का पता कहाँ लग पाता है ! उस भोले के समान मुझमें विचारों की दृढ़ता तो नहीं है, पर जानती मैं उससे अधिक हूँ। जाबाला के मन में आया कि अवसर मिलता तो वह उसे अधिक सोचने को बाध्य कर सकती थी। इस 'सुन्दर मुख' की वाणी की वह उपेक्षा नहीं कर सकेगा। पर अवसर क्या मिल सकेगा ? जाबाला उद्विग्न हो उठी।

इसी समय उसका ध्यान भंग हुआ। वृद्ध आचार्य औदुम्बरायण उसके भी गुरु थे और उसके पिता के भी। जाबाला को तो उन्होंने गोद में खिलाया था। लड़की के प्रति उनका स्नेह और ममत्व बहुत अधिक था। जाबाला की माँ जब नहीं रहीं तो उसकी माता के समान ही उसे स्नेह और दुलार दिया। जाबाला उनसे पढ़ती भी थी और अनेक प्रकार के बालहठ भी पूरा कराती थी। उनके स्नेह के कारण वह ढीठ भी हो गयी थी। पढ़ते समय वह उनसे खुलकर बहस करती। आचार्य

उसके गुरु और माता दोनों का काम करते थे। यद्यपि जाबाला अब सोलह पार कर चुकी थी, पर वृद्ध आचार्य उसे नन्ही बिटिया के समान ही समझते थे। राजा जानश्रुति ने जाबाला के लिए उपयुक्त वर ढूंढ़ने का भार भी उन्हें ही दिया था। आचार्य जैसा वर चाहते थे, वैसा मिल नहीं रहा था। राजा जब उनसे अधिक आग्रह करते तो वह सहज भाव से उत्तर देते, अभी जल्दी ही क्या है। उनकी बिटिया की उमर ही क्या है, अभी तो दूध के दाँत भी नहीं टूटे। जाबाला भी समझती थी कि आचार्य का कहना ठीक है। कई दिनों से वे आये नहीं थे। कहीं गये हुए थे। आज आकर सीधे बिटिया के पास पहुँचे—"क्या कर रही है बिट्टो रानी ? सुना, उस दिन तुझे चोट आ गयी। अब कैसा लग रहा है ?"

जाबाला का ध्यान भंग हुआ। वृद्ध आचार्य को देखकर उसे प्रसन्नता भी हुई और उसके मन में कुछ अमनख का भाव भी आया। ठुनककर बोली, "ठीक तो हूँ, पर आप मुझे छोड़कर चले कहाँ गये थे ?"

आचार्य ने हँसते हुए कहा, "अरे, क्या बताऊँ बिट्टो रानी, मैं भी तेरी ही तरह आँधी-तूफ़ान में फँस गया था। तुझे छोड़कर कहाँ जाऊँगा ? मैं तो समझता था तू मौसी के घर आराम से होगी और इस बूढ़े को भूल ही गयी होगी।"

जाबाला ने आशंकित होकर पूछा, "आप कैसे तूफ़ान में फँस गये, तात !"

आचार्य असल में उस दिन जाबाला के योग्य वर की तलाश में ही गये थे। इस बात को उन्होंने छिपा लिया। बोले, "मेरे एक सहपाठी थे। बहुत दिनों से उन्हें देखा नहीं था। सोचा, जब तक तू मौसी के यहाँ रहेगी तब तक मेरा मन तो यहाँ लगेगा नहीं, इस बीच उन्हें देख आऊँ। उनका पुत्र बड़ा तत्त्वज्ञानी है। वे लोग अश्वल गोत्र के हैं, आश्वलायन कहे जाते हैं। बड़े आश्वलायन जो मेरे सहपाठी थे, वे अब नहीं रहे। उनके सुपुत्र को देखकर ही लौट आया। अपने पिता की कीर्त्ति को यह लड़का बढ़ा रहा है। बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता उससे ज्ञानचर्चा करने आते हैं। पिछली बार तो एक यज्ञ में जितने विचारक आये थे सबने एक स्वर से स्वीकार किया कि तरुण आश्वलायन बहुत बड़ा तत्त्वज्ञानी है। मगर मैं तो रास्ते में ही फँस गया। उनके घर तो दूसरे दिन पहुँचा।"

"क्या हुआ तात, बताइए न !" उतावले भाव से जाबाला ने पूछा।

"हुआ क्या बिटिया, सन्ध्या समय सूर्यास्त से कुछ पूर्व ही जब मैं चन्द्रधुनी नाले के किनारे-किनारे जा रहा था, अप्रत्याशित रूप से आसमान काला हो गया। भयंकर वेग से आँधी आयी। ऐसा जान पड़ा कि मुझे उड़ा ही ले जायेगी। नाले का पानी भी बुरी तरह उफन रहा था। मुझे आसपास कोई आश्रय नहीं मिला। ऐसा लगा कि यह भयंकर वात्या मुझे नाले में ही फेंक देगी। संयोग से एक ठूँठा शिंशपा वृक्ष दिख गया। आँधी की ओर पीठ करके मैंने कसके उस ठूँठ को पकड़ लिया। आँधी गरजती रही, पानी बरसता रहा और मैं उस ठूँठ को दोनों हाथों से कसकर बाँधे बैठा रहा। पानी क्या था, लगता था, कोई लोहे की रस्सियों से पीट रहा है। मैं सविता देवता की मन-ही-मन स्तुति करता भींजता रहा। नाले के दोनों किनारों

पर हंसों के दल चिल्लाते रहे। इधर से एक दल चिल्लाता था, 'रयि क्व।' उधर से दूसरा दल उतने ही ज़ोर से चिल्लाता, 'रयि क्वे।' जैसे आँधी का वेग बढ़ता वैसे चिल्लाहट भी बढ़ती जाती। एकाएक मेरे मन में आया, ये तो शुद्ध संस्कृत में जवाब-सवाल चला रहे हैं। तू समझती है बेटा, इसका क्या अर्थ है ?"

"अर्थ ? अर्थ कैसा ? यह तो उनकी बोली है। आपको जैसा सुनायी पड़ा, वही ध्वनि यह है।"

"नहीं रे, 'रयि' सम्पत्ति को कहते हैं। तुझे बताया तो था, याद नहीं है ? वेदों की ऋचाओं में भी यह शब्द आता है। मुझे लगा कि एक दल पूछ रहा है कि सम्पत्ति कहाँ जाती है ? दूसरा दल जवाब दे रहा था, रैक्व के पास !"

"तात, आप भी क्या बात करते हैं। हंस संस्कृत बोलते थे ?"

"नहीं-नहीं, वे तो अपनी बोली में ही कुछ पूछ रहे होंगे। मैंने जो सुना उसका संस्कृत में यही अर्थ होता है। मैं क्या यों ही मान लेता ! दूसरे दिन मुझे तरुण आश्वलायन ने भी यही बात बतायी और मजेदार बात तो यह है बिटिया, कि सचमुच ही रिक्व मुनि का एक पुत्र महातपस्वी रैक्व है। लोग तो उसकी अलौकिक शक्तियों को देखकर उसे दिव्य पुरुष ही मानने लगे हैं। तरुण आश्वलायन तो उस महान् तापस के दर्शन भी कर आये हैं। कहते थे कि यह किशोर किसी से कुछ भी नहीं बोलता। वह किसी को भी ज्ञानी नहीं मानता। कभी बोलता भी है तो बहुत कम। उसे अपने ऊपर जितना विश्वास है, उतनी ही दूसरों पर अनास्था। बेकार की बात करनेवालों को वह तिरस्कारयोग्य समझता है। प्रायः 'शूद्र' कहकर लोगों का तिरस्कार करता है। लोग बुरा नहीं मानते क्योंकि उसकी सिद्धियाँ सत्य हैं। महा फक्कड़ है। पण्डित और सिद्ध अवश्य है। वह वायु को सब वस्तुओं का कारण मानता है। मनुष्य-शरीर में प्राण-रूप से जो वायु निबद्ध है, उसे वश में करके सब-कुछ पाया जा सकता है। आश्वलायन से उसकी थोड़ी बातचीत हुई थी। वह अपने प्राणों को इस प्रकार निरुद्ध कर सकता है कि हवा में उड़ सकता है, उनका ऐसा संक्रमण दूसरों में कर सकता है कि लोग रोग-मुक्त हो सकते हैं। हज़ारों की संख्या में लोग उसकी सिद्धियों से लाभान्वित हुए हैं। पर वह ऐसा भोला है कि कुछ जानता ही नहीं। आश्वलायन से उसने कहा था कि यदि किसी दिन बाहरी वायु पर नियन्त्रण पाने की सिद्धि उसे मिल जाये तो वह काल की गति को भी रोक सकता है। आश्वलायन ने उससे थोड़ी देर बात करके ही उसकी विद्वत्ता और तपश्चर्या की गहराई जान ली है। पर वह भोला अपनी ही शक्ति को भी नहीं जानता। बातें करता है तो ऐसा लगता है कि दुधमुँहा बच्चा बोल रहा है। दृढ़ता इतनी है कि अपने अनुभव के सामने श्रुति-वाक्यों को भी प्रमाण नहीं मानता। आश्वलायन का दृढ़ विश्वास है कि हंसों में उसी के गुण का बखान हो रहा है।"

जाबाला को कैसी जाने टीस अनुभव हुई। आश्चर्य से उसकी आँखें टँग गयीं—"विचित्र है, तात !"

"विचित्र तो है ही। तेरे पिताजी से जाकर मैंने सारी बातें बतायीं तो तुरन्त

नाले के पास जाकर उन्होंने भी हंसों की कहनी सुनी। आश्वलायन से भी मिल आये। अब तो उन्होंने आश्वलायन से अनुरोध किया है कि उन्हें उस किशोर तापस के पास ले चलें। लेकिन आश्वलायन ने आकर समाचार दिया कि तरुण तापस कुटिया में नहीं है, शायद आँधी-तूफ़ान में कहीं उड़ ही गया! राजा ने और भी चर भेजे हैं। मुझे भी खोजने का काम मिला है। कैसे खोजूँ, कहाँ खोजूँ? कौन जाने, जीवित है भी या नहीं!"

जाबाला के प्राण उत्कण्ठ हो गये। वह जानती है, उस सिद्ध तापस को। उसने देखा ही नहीं, पाया है। भोला तो वह अवश्य है, पर क्या प्राणों के संक्रमण द्वारा वह सचमुच रोग-शोक, चिन्ता से मुक्त कर सकता है! तातपाद तो उच्छ्वसित हैं, बिना देखे ही। देखते तो इनकी क्या दशा होती। उसके मन में कई बार आया कि वह तातपाद को बता दे कि उसकी भेंट उससे हो चुकी है पर हर बार कोई लज्जा उसकी वाणी रुद्ध कर गयी। हाय-हाय, उसने कैसी निधि पायी थी! पर किसी दुर्भाग्य ने उसे पायी हुई निधि से दूर कर दिया। हृदय विदीर्ण होकर टुकड़े-टुकड़े हो जाना चाहता है। वाणी रुद्ध हो गयी है। चेतना गहराई में विलीन हो गयी है। आचार्य बहुत-कुछ कहते रहे, जाबाला ने कुछ नहीं सुना। फिर वे चले गये।

देर तक जाबाला सोचती रही। तरुण तापस वायु को जानता है, उसके कहने का अर्थ शायद कुछ और है। वह क्रियामार्गी है; जाबाला अब तक उसे ज्ञानमार्गी समझती रही।

जाबाला कह नहीं पा रही है मगर उसके हृदय में भारी उथल-पुथल है। उस ऋषिकुमार ने अपना नाम रैक्व ही तो बताया था। वह जीवित तो अवश्य है पर कहाँ है? हाय, उसने उसे दूर जाकर छिप जाने को कह दिया और स्वयं चली आयी। आकर क्या उसने उसे खोजा नहीं होगा! क्या वह विक्षिप्त की भाँति 'शुभे-शुभे' कहकर चिल्लाया नहीं होगा! क्या बीती होगी उस भोले तापसकुमार पर! वह अपनी व्यथा किसी से कह नहीं रही थी। भीतर-ही-भीतर वह अपने ताप से आप ही जलने लगी।

राजा ने पुत्री की अवस्था देखी तो व्याकुल हो गये। वैद्य बुलाये गये, पर रोग का कुछ पता नहीं चला। आचार्य की तो दशा और चिन्तनीय थी। क्या हो गया उनकी प्यारी बिट्टो रानी को! चेहरा सूखता जा रहा है, शरीर काला पड़ता जा रहा है। आश्वलायन ने बताया था कि रैक्व ने सैकड़ों को अपने अन्तर्निहित वायु को संक्रमित करके नीरोग बना दिया था। उन्होंने राजा से प्रस्ताव किया कि रैक्व को खोजने के लिए और अधिक प्रयत्न किया जाये। वही जाबाला को रोग-मुक्त कर सकता है। पता लगाने का अभियान और तेज़ कर दिया गया। चरों ने आकर सूचना दी कि कोई तापसकुमार उस टूटे रथ की छाया में समाधि लगाता है जिससे बिटिया मौसी के घर जा रही थी और जो तूफ़ान में फँस जाने के बाद बुरी तरह टूट गया था। वह समाधि लगाता है तो एक हाथ धरती के ऊपर उठ जाता है।

जब समाधि टूटती है तो फिर धरती पर आ जाता है। बोलता बहुत कम है। रथ को थोड़ी देर के लिए ही छोड़ता है। प्रातःकाल नित्य-क्रिया और स्नानादि के लिए जाता है। कहीं कन्दमूल खोजकर खा लेता है, फिर समाधि पर बैठ जाता है। कुछ रोगी दिन-भर बैठे रहते हैं। सन्ध्या-समय उनसे थोड़ी बात कर लेता है। खोया-खोया-सा ही रहता है। किसी की ओर ताकता भी नहीं। पीठ अवश्य खुजलाता रहता है। कभी-कभी तो समाधि की अवस्था में भी खुजला लेता है। राजा ने आचार्य से कहा कि वे स्वयं जाकर पता लगायें कि यही व्यक्ति रैक्व है या नहीं। जाबाला को जब यह समाचार मिला तो उससे नहीं रहा गया। आचार्य को बुलाकर उसने ज़ोर देकर कहा कि "तात, निस्सन्देह यही व्यक्ति रैक्व है।" आचार्य ने जब पूछा कि "तू कैसे कह सकती है कि यही तापस रैक्व है ?" तो उसने बिना किसी झिझक के कहा, "मैं जानती हूँ।" और उठकर अन्यत्र चली गयी। आचार्य को कुछ अप्रत्याशित लगा। वे देर तक उसकी प्रतीक्षा में खड़े रहे, पर वह लौटी नहीं।

तीन

आचार्य औदुम्बरायण रैक्व का पता लगाकर सीधे राजा के पास पहुँचे। राजा उस समय जाबाला के पास बैठे थे। बेटी के अज्ञात रोग से वे बहुत व्याकुल थे। लेकिन बेटी बहुत ठीक थी। यद्यपि उसका शरीर अब भी दुर्बल था; पर रैक्व के मिल जाने के समाचार से वह बहुत आश्वस्त हो गयी थी। पिता को बता रही थी, वे व्यर्थ ही दुःखी हैं, वह बिल्कुल स्वस्थ है। पर पिता की चिन्ता बनी हुई थी। आचार्य एकदम वहीं पहुँच गये। उन्हें देखकर राजा और जाबाला दोनों ही आश्वस्त हुए। राजा ने आतुर-भाव से पूछा कि क्या वे रैक्व से मिल सके हैं? आचार्य प्रसन्न थे। बोले, "बैठिए महाराज, बताता हूँ। बड़े बेढब जीव से मिलकर आ रहा हूँ।"

राजा की उत्सुकता और बढ़ गयी—"तो क्या यह मनुष्य कोई और है ? आपने जिस तापस को देखा, वह रैक्व से भिन्न है ?"

जाबाला की आँखें कान तक फैल गयीं। वह मानो आँख और कान दोनों को मिलाकर सुनना चाहती थी।

आचार्य ने हँसते हुए कहा, "हैं तो वे रिक्व ऋषि के पुत्र महाभाग रैक्व ही—पर विचित्र जीव हैं। गया तो समाधि लगाये हुए थे। समाधि भंग हुई तो थोड़ी

देर तक खोये-खोये-से रहे। फिर मुझे देखकर खिसियाये-से बोले, 'आप कौन हैं ? यहाँ क्या करने आये हैं ?'

"मैंने विनीत-भाव से कहा, 'उदुम्बर-गोत्रीय औदुम्बरायण हूँ, तापसकुमार! महाराज जानश्रुति ने मुझे भेजा है। मैं जानना चाहता हूँ कि आप क्या महान् ऋषि रिक्व के सुपुत्र रैक्व हैं ?'

" 'हूँ तो रिक्व ऋषि का पुत्र रैक्व ही। पर यह जानश्रुति कौन हैं ? क्या ये महाभागा शुभा के पिता हैं ?' मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने विनीत भाव से कहा, 'नहीं, उनकी कन्या का नाम कुछ और है, शुभा नहीं।'

" 'तो कोई और होंगे। उन्हें मुझसे क्या काम है ?' "

जाबाला की छाती को बिजली चीर गयी। उसकी वाणी रुद्ध थी, पर उसका रोम-रोम चिल्लाकर कह रहा था—'नहीं, नहीं, शुभा जाबाला ही है! महाराज जानश्रुति ही शुभा के पिता हैं।' किसी को यह चीत्कार नहीं सुनायी दिया। महाराज तो कुछ आश्वस्त-से ही लगे कि जिसकी लड़की को यह तापसकुमार जानता है वह जानश्रुति कोई और हैं!

आचार्य औदुम्बरायण ने बताया कि उन्होंने तापसकुमार से कहा कि राजा जानश्रुति उनसे तत्त्व-ज्ञान की चर्चा करना चाहते हैं। तापसकुमार ने अवज्ञा की हँसी के साथ कहा, 'ज्ञान की चर्चा करना चाहते हैं ? आप उनके कौन होते हैं ?'

" 'मैं उनका अध्यापक हूँ।'

" 'तो ज्ञान की चर्चा आपसे ही क्यों नहीं कर लेते ? यहाँ मुझे विव्रत करने क्यों आना चाहते हैं ?'

" 'मैं उनकी सब जिज्ञासा शान्त नहीं कर सकता। वे बहुत जिज्ञासु हैं, मैं अल्पज्ञ हूँ।'

" 'अच्छा, आप अल्पज्ञ हैं ? अल्पज्ञ-जैसी बातें तो आप कर ही रहे हैं!' "

आचार्य ने कहा, "मैंने ऐसे अशिष्ट उत्तर की अपेक्षा नहीं की थी। थोड़ा अप्रतिभ हो गया। तापस को मानो प्रसन्नता हुई। बोला, 'मैं भी अल्पज्ञ हूँ, परन्तु पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप मुझसे अधिक अल्पज्ञ हैं या कम। बताइए, आपने व्याकरण पढ़ा है ?'

"मैं इस आदमी से अधिक बात नहीं करना चाहता था। मेरे अभिमान को चोट पहुँची थी। पता नहीं, फिर यह कैसा अशिष्ट वाक्य बोले; इसलिए चुप ही रहा। मगर उसके चेहरे पर भोलापन देखकर थोड़ा कुतूहल हुआ। कहा, 'इतना ही समझिए कि कभी व्याकरण पढ़ा अवश्य था, पर आपसे कम ही जानता हूँ।' तरुण तापस हँस पड़ा, 'वही तो जानना चाहता हूँ कि मुझसे कितना कम जानते हैं। बताइए, स्त्रीलिंग और पुल्लिग पद आप जानते होंगे, पर पदार्थ का भी ज्ञान है ? स्त्री-पदार्थ और पुरुष-पदार्थ का भेद आपको मालूम है ?'

"मैंने सिर हिलाकर ही बताया कि मुझे मालूम है।

"तरुण तापस ने आश्चर्य से पूछा, 'यह तो बड़ा आश्चर्य है! आपने कभी स्त्री-

पदार्थ देखा है ?'

"मैं हैरान था, केवल उसके भोले मुँह को आश्चर्य से ताकता रह गया ।

" 'तब तो आप निश्चय ही मुझसे अधिक जानते हैं । मुझे नहीं मालूम था । मुझे तो कुछ ही दिन पहले एक महान् दिव्य गुरु मिल गया । उसी गुरु ने मुझे पद और पदार्थ का भेद बताया । तब तक मुझे ज्ञान नहीं था कि पद और पदार्थ को जोड़नेवाला एक पदार्थ है प्रत्यय । वह आत्मा का धर्म है । मैं तो जान गया, पर अभी मैं उसे उपलब्ध नहीं कर पाया । मैं सोच रहा हूँ । प्रत्यय का कुछ रूप मुझे उपलब्ध हो गया है । देखिए, मेरे गुरु का नाम 'शुभा' है । यह पद-मात्र है । शुभा पदार्थ बिलकुल भिन्न है । उस पदार्थ-जैसी सुन्दर चीज़ मैंने आज तक नहीं देखी । इस समय वह पदार्थ मेरे सामने नहीं है, पर पद आज भी मेरे साथ है । जब मैं कहता हूँ 'शुभा', तो वह पदार्थ अनायास मेरे मन में आ जाता है । आपके मन में नहीं आयेगा, क्योंकि आप उसे नहीं जानते । जानते हैं, वह पदार्थ मेरे मन में क्यों आ जाता है ? प्रत्यय के बल से । अगर किसी दिन मैं उसे फिर देखूँ तो पहचान लूँगा कि यह शुभा है । आप नहीं पहचानेंगे, क्योंकि पद और पदार्थ को जोड़नेवाला पदार्थ प्रत्यय है । मेरे पास है, आपके पास नहीं है । यह वायु से निश्चय ही भिन्न है । वायु होता तो आपको भी पहचान देता । मगर आप इस बात को कैसे समझेंगे? आपको शुभा-जैसा गुरु तो मिला नहीं ! आप मुझसे ज्ञान में अधिक हैं । भाग्य में हीन ! ठीक कह रहा हूँ न !'

" 'ठीक तो कह रहे हैं पर यह शुभा कौन है, आप मुझे कुछ पहचान बता सकते हैं ? आप एक बात भूल रहे हैं । मैंने स्त्री और पुरुष पदार्थ के भेद जानने की बात कही थी । पुरुष और स्त्री जातिवाचक शब्द हैं, शुभा व्यक्तिवाचक । शुभा-जैसी और भी स्त्रियाँ होंगी । पर उनमें कुछ विशेषता होगी । जाति सामान्य होती है, व्यक्ति विशेष ।'

"ऋषिकुमार चकित । बोले, 'आप मुझसे निश्चय ही अधिक जानते हैं । मगर इतना और जान लीजिए कि शुभा-जैसी कोई नहीं हो सकती । वह अद्वितीय है, अनुपमेय है । जाकर आप अपने राजा से कहिए कि मैं कुछ नहीं जानता । मेरा समय नष्ट न करें । शुभा-जैसी कोई स्त्री आपको मिल जाये तो उसी से ज्ञानचर्चा करें । जाइए, मुझे और काम है !'

"इतना कहकर वे उठ गये । मैं सोच नहीं सका कि अब क्या करूँ । एक ओर वहीं बैठ गया । वे स्नान करके फिर समाधि पर बैठ गये । बात करते-करते कई बार उन्होंने पीठ खुजलायी ।

"मैं दूर से ही उन्हें समाधि की अवस्था में देखता रहा । वहाँ और भी कई लोग बैठे थे । उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ बताया कि तापस से अपने रोग के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती । समाधि-भंग के समय जिस पर उनकी दृष्टि पड़ जाती है वह रोग, शोक, चिन्ता, ग्लानि से अवश्य मुक्त हो जाता है । आप पर उनकी दृष्टि पड़ गयी है । अब आपकी सारी चिन्ता दूर हो जाएगी ।

"अर्धरात्रि को तापस धरती पर आ गये और रथ के नीचे ही पैर फैला कर सो गये। मैंने समाधि और निद्रा का भेद स्पष्ट देखा। निद्रा की स्थिति में भी वे पीठ खुजला लेते थे। परन्तु थी वह गाढ़ निद्रा। ब्राह्म मुहूर्त्त में वे उठे, नदी-तट पर जाकर नित्य कृत्य किया। फिर स्नान करके रथ के नीचे आ गये। उस समय कई लोग चुपचाप प्रणाम करके खड़े हो गये। बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्होंने उनकी ओर देखा। किसी-किसी से दो-एक बातें भी कर लीं। उनकी प्रसन्न मुद्रा देखकर मैंने भी उनके सामने उपस्थित होने का साहस किया। मुझे भय था कि कहीं कुछ अन्यथा न बोल दें। पर मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके भोले मुँह पर कुछ कातरता दिखायी पड़ी। बोले, 'कल बुरा मान गये, आचार्य! मैं अल्पज्ञ हूँ, आप बहुत जानते हैं। अल्पज्ञ की बात का बुरा नहीं माना जाता। कल मैंने स्वप्न में अपने गुरु को देखा। गुरु, महाभागा शुभा! वे तो दिव्यलोक-निवासिनी हैं। स्वप्न में आ गयीं। आचार्य, क्या बताऊँ कि उनका रूप कैसा सुन्दर है! उनके मुख पर हमारे-जैसे रूखे बाल नहीं हैं, एकदम चिकना, फूल के समान खिला हुआ। आँखें एकदम मृग की आँखों जैसी हैं—बड़ी-बड़ी, काली-काली, अत्यन्त मोहन। केश हमारे-तुम्हारे-जैसे नहीं हैं, एकदम मुलायम, काले, लहरदार! समझे!'

"मैं कुछ जवाब दूँ उसके पहले ही मानो अपने-आपसे ही कह उठे—'कैसे समझेंगे? देखा भी हो!'

"कहीं फिर न बिगड़ उठें, इस आशंका से मैंने बात आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। कहा, 'आश्चर्य है ऋषिकुमार, महाभागा शुभा आपको स्वप्न में दिख गयीं। यह तो अद्भुत है!'

"ऋषिकुमार प्रसन्न हुए। उल्लसित-भाव से कहने लगे—'केवल दिख नहीं गयीं, बातें कीं। उन्होंने ही तो कहा कि तुम आचार्य से बात करना नहीं जानते। वे दुःखी हो गये हैं। समझे आचार्य?'

"क्या उत्तर दूँ, यह सोच ही रहा था कि वही बोल पड़े—'कैसे समझेंगे? आपने देखा भी हो!'

"मौन रहना ही उचित था। सो, मैं केवल उत्सुकता से उनकी ओर ताकता रहा—एकटक!

"'शुभा ने मुझसे कहा कि तुम्हें आचार्य का सम्मान करना चाहिए। नहीं तो पाप होगा। अच्छा आचार्य, मुझे बता दें कि मैं आपका सम्मान कैसे करूँ? न जाने इस पाप का दण्ड कितना भोगना पड़ेगा।'

"ऋषिकुमार का मुख म्लान हो गया। पहले दिन जो फक्कड़ाना लापरवाही थी वह एकदम लुप्त हो गयी। वे ज़ोर-ज़ोर से अपनी पीठ खुजलाने लगे। मैंने उन्हें आश्वस्त करने के लिए कहा, 'नहीं ऋषिकुमार, तुमसे कोई पाप नहीं हुआ है, कोई दण्ड भी नहीं भोगना पड़ेगा। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए तो कठिन ही है, पर वृद्धों से सुना है कि आसन देकर और प्रणिपात करके वृद्धों का सम्मान किया जाता है।'

" बीच ही में तापसकुमार झुँझलाकर बोल उठे—'आप कैसे जानते हैं? शुभा जानती हैं। आपको पता है कि जिसे धर्म कहा जाता है, वह कभी-कभी भयंकर पाप भी हो जाता है? पर कैसे जानेंगे? शुभा जानती हैं।'

" मैं हैरान था! मनु नहीं, वशिष्ठ नहीं, आपस्तम्ब नहीं, अत्रि नहीं, याज्ञवल्क्य नहीं, धर्म के बारे में जानती हैं तो केवल शुभा! पागल है क्या!

" परन्तु ऋषिकुमार की वाग्धारा आज रुकना नहीं चाहती थी। उसकी बातें उसकी सच्चाई और भोलेपन से ऐसी मीठी लगती थीं कि मैं उत्सुकतापूर्वक सुनता ही रहा।

" 'अच्छा आचार्य, विपन्न व्यक्ति की सेवा धर्म है न? कैसे जानेंगे आप? कल स्वप्न में मैंने शुभा से पूछा था कि ये लोग जो मेरे पास रोगमुक्त होने की आशा से आते हैं, उनकी सेवा धर्म है या नहीं? उन्होंने हँसकर कहा—है! शुभा जब हँसती हैं तो लगता है फूल झर रहे हैं!'

" मैंने कुतूहल के साथ कहा, 'इतना तो मैं भी बता सकता था।' तापसकुमार ठठाकर हँसे और बोले, 'इतना मैं भी जानता था। लेकिन बस, इतना ही। उस रात को ऐसा हुआ कि शुभा को चोट आ गयी थी। मैंने कहा कि वे मेरी पीठ पर बैठ जायें। यह तो धर्म ही था। लेकिन शुभा ने कहा कि नहीं, यह ठीक नहीं होगा। ऐसा किसी युवक का सोचना भी पाप है। मैं नहीं माना, मैंने अपनी पीठ उनके सामने कर दी। वे हट गयीं। मेरी पीठ में सनसनाहट अनुभव हुई। थोड़ी देर वैसे ही बैठा रहा। पर शुभा हट गयीं। उन्होंने कहा कि यह अनुचित है, पाप है। सचमुच पाप था। मेरी पीठ की सनसनाहट वैसी ही बनी रह गयी। पाप का फल तो मिलता ही है। मैंने वायु-निरोध कर इसे दूर करना चाहा। नहीं दूर हुआ। ऐसा लगता है कि गहराई में कोई शल्य धँस गया है और वहाँ वायु की शक्ति काम नहीं कर पाती। अच्छा आचार्य, वायु से भी कोई प्रबल चीज़ होती होगी? मगर आप कैसे जानेंगे? शुभा बता सकती हैं। शुभा, महाभागा शुभा!' "

राजा और आचार्य औदुम्बरायण इस मनोरंजक बातचीत में इतने तल्लीन थे कि वे देख ही नहीं सके कि जाबाला के चेहरे पर कैसी सफ़ेदी आ गयी। उसे जान पड़ा कि उसके अन्तरतर को कोई आरी से चीर रहा है। उसकी आँखों से आँसू की धारा उमड़ पड़ी थी, पर उसने प्रयत्नपूर्वक अपने को सँभाल लिया। उसके भीतर अजीब तरह की हलचल थी। कैसे बताये कि उस भोले तापसकुमार की शुभा वही है। हाय, यह वयस्क शिशु कितना भोला है, कितना सरल! उसने लोकगीतों में किसी भोले प्रेमी की कहानी सुनी थी। वह थका-माँदा अपनी अज्ञातनामा प्रिया के द्वार पर पहुँचकर गिड़गिड़ाकर पूछने लगा, 'वह है कहाँ, कोई बता दे मुझे।' प्रिया कटकर रह गयी। शर्म से बोल ही नहीं पायी कि 'अरे भोले बटोही, वह मैं ही तो हूँ, वह मैं ही तो हूँ।' जाबाला को कुछ वैसा ही अनुभव हो रहा था।

आचार्य कहने लगे—"मैं कुछ कहूँ, यह तापस को स्वीकार नहीं था।

इसलिए मैं चुपचाप सुनता रहा। भोलेराम को यह बताना व्यर्थ था कि शुभा के अतिरिक्त कोई और भी कुछ जानता है। पर महाराज, यह शुभा कौन है ? उसके पिता का भी वही नाम है जो आपका है।" फिर जाबाला की ओर देखकर बोले, "जानश्रुति-कन्या तो तुम भी हो बिट्टो रानी ! इतने में तो तू उसकी गुरु शुभा के समान ही है। पता नहीं, उसने इस भोले तापस को कितनी गहराई में प्रभावित किया है !"

जाबाला रुद्धवाक्, हतचेष्ट !

आचार्य ने आगे कहा, "अभी इस सत्संग का सबसे मनोरंजक अंश आपको नहीं बता पाया। मैंने विनोद करने की इच्छा से ही पूछा, 'अच्छा ऋषिकुमार, प्राणवायु से भी अधिक गहराई में जो चीज़ है उसके बारे में शुभा ने कुछ नहीं बताया ? सुना है कि तत्त्वज्ञानी लोग उसे 'मन' कहते हैं। आपको इसका पता नहीं है ?'

"ऋषिकुमार ने कहा, 'है। मैंने बाल्यावस्था में अपने पिता से सुना था कि आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा था कि जिस प्रकार एक सूत्र में बँधा हुआ पक्षी पहले प्रत्येक दिशा में उड़ने की चेष्टा करता है और कहीं शान्ति न पाकर उसी स्थान पर बैठ जाता है जहाँ पर कि वह बँधा हुआ है; ठीक उसी प्रकार सौम्य, मन प्रत्येक दिशा में उड़ने के बाद कहीं शान्ति न पाकर श्वास पर ठहर जाता है, क्योंकि मन श्वास से ही बँधा हुआ है। तभी से मैंने मन के बारे में सुन रखा है। पर मन तो श्वास से बँधा है। श्वास वायु है। इसलिए मन, वायु के बस में रहता है। शुभा ने उसके बारे में कुछ नहीं बताया। समय ही कहाँ मिला ! शूद्रों का मेला था, उन्हें पकड़कर न जाने कहाँ ले गये। अच्छा आचार्य, आप क्या अनुभव करते हैं, मन प्रबल है या वायु ?'

"मैंने किसी भूमिका के बिना दृढ़ता के साथ कहा, 'मन।'

"ऋषिकुमार सोचने लगे। अपने-आप से ही कहा, 'शुभा ने कहा था, मैं जिसे वायु कहता हूँ वह वही चीज़ है जिसे तत्त्वदर्शी लोग आत्मा कहते हैं। मन बीच में कहाँ से आ गया ?' फिर मेरी ओर देखकर बोले, 'मुझे ऐसा लगा है आचार्य, कि वायु भी शक्तिशाली है पर अलग स्तर पर। मन भी हो सकता है, दूसरे स्तर पर। इनमें विरोध नहीं है। महाभागा शुभा ने बताया था कि पद और पदार्थ को जोड़ने-वाला तत्त्व प्रत्यय है, वह आत्मा का धर्म है। यह प्रत्यय रहता तो मन में ही है। श्वास में तो निश्चय ही नहीं रहता। पर···नहीं आचार्य, मैं भटक गया हूँ, मुझे ठीक सूझ नहीं रहा है, मैं गुरु की खोज में जा रहा हूँ। आप नहीं जानते, मैं बहुत व्याकुल हूँ।'

"मैं चुपचाप बैठा रहा। हटने का कोई प्रयत्न नहीं किया। ऋषिकुमार चिन्तित दिखायी पड़े। फिर एकाएक बोले, 'वायु के बल पर मैं निर्जीव वस्तुओं में गति पैदा कर सकता हूँ, पर सजीव वस्तुओं पर यह बल नहीं चलता। आपके हाथ में जो डण्डा है, उसे छोड़िए तो ज़रा।'

"मैंने छोड़ दिया। वह धरती पर गिर गया। ऋषिकुमार ने श्वास-निरोध किया। थोड़ी देर में डण्डा सीधा खड़ा हो गया और धीरे-धीरे उनकी ओर सरकने लगा। उन्होंने रेचक की प्रक्रिया शुरू की। डण्डा धीरे-धीरे मेरे पास आ गया और लुढ़ककर धरती पर गिर गया। ऋषिकुमार ने मेरी ओर देखकर कहा, 'अब आप इस पर मन की शक्ति लगाकर देखिए तो, इसमें हलचल होती है या नहीं।'

"मैंने हाथ जोड़कर कहा, 'ऋषिकुमार, मुझे मन की शक्ति लगाने का अभ्यास नहीं है। मैंने सुनी-सुनायी बात आपसे कही है।'

"ऋषिकुमार ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा—'आप बिना परीक्षा किये ही कोई बात मान लेते हैं? विचित्र हैं। यह तो नेयता हुई। यही शूद्र-धर्म है।'

"फिर एकाएक उठकर खड़े हो गये। बोले, 'मैं ही परीक्षा करूँगा। कहीं गुरु के दर्शन हो जाते!' फिर कुछ असमंजस में पड़े दिखायी दिये—'आपने यह नहीं बताया कि मुझे किस प्रकार आपका सम्मान करना चाहिए। बताइए न!' मैं क्या बताता! उनके उद्विग्न भोले मुख की ओर ताकता रहा। फिर ऋषिकुमार ने नम्रता के साथ कहा, 'मैं आपको प्रणिपात निवेदन करता हूँ। मेरा किया हुआ यह सम्मान ग्रहण करें।' फिर एकदम चल पड़े, जान पड़ा जैसे उड़े जा रहे हैं। शायद गुरु की खोज में चल पड़े। मैं दूर तक उन्हें जाते देखता रहा। रह-रहकर वे अपनी पीठ पर हाथ फेर लेते थे।"

कहानी समाप्त करने के बाद राजा और आचार्य दोनों ने आश्चर्य के साथ देखा कि जाबाला का चेहरा सफ़ेद हो गया है। वह एकदम पाषाणमूर्त्ति के समान जड़ीभूत हो गयी है। दोनों उसकी दशा से चिन्तातुर हो उठे।

चार

ऋषिकुमार रैक्व व्याकुल-भाव से चलते गये। कहाँ जा रहे हैं, यह उन्हें स्वयं नहीं मालूम। विचित्र प्रकार की व्याकुलता उनके मन में है पर वे समझ नहीं पा रहे हैं। प्राण-वायु की शक्ति से वे थोड़ा-बहुत जड़ पदार्थों को प्रभावित कर सकते हैं। आश्वलायन ने यह तो उन्हें बताया था कि हंसों की वाणी से स्पष्ट है कि 'रयि' पदार्थ रैक्व के पास पहुँच जाते हैं। पर उन्होंने यह नहीं बताया कि 'रयि' वस्तुतः जड़ वस्तुओं का वाचक है। पर स्वप्न में शुभा कैसे खिंच आयी, वह तो जड़ पदार्थ नहीं है! स्वप्न कौन देखता है? आचार्य कहते हैं कि मन नामक कोई पदार्थ है, वह वायु से अधिक शक्तिशाली है। यह उनकी सुनी-सुनायी बात है, परीक्षित सत्य

नहीं है; पर जिससे सुना होगा, वह कदाचित् परीक्षा कर चुका हो। स्वप्न में क्या मन कार्यरत रहता है ? स्वप्न क्या है ? सुषुप्ति क्या है ? प्राण-वायु और मन का क्या सम्बन्ध है ? किससे पूछा जाये, कौन बतायेगा ? शुभा बता सकती थी पर वह मिलेगी कहाँ ? क्या मन की शक्ति से उसे प्रत्यक्ष खींचा जा सकता है ? स्वप्न में जो बिना बुलाये ही आ गयी, वह क्या प्रयत्न करने पर भी जाग्रत अवस्था में नहीं मिल सकती ? ऋषिकुमार चलते गये। कुश-कण्टकों से पैर विंध जाते थे, पर वे अपनी धुन में मस्त थे। कब रात हुई, कब थककर बैठ गये, इसका ध्यान ही नहीं रहा। पीठ की जो सनसनाहट भूल गयी थी, वह अवसर पाते ही फिर अनुभूत हुई। उन्होंने पीठ पर हाथ फेरा। व्यथा कुछ गहराई में उतरती जान पड़ी। छाती तक उसने हमला किया। एक हाथ से छाती पकड़ी। सनसनाहट जा नहीं रही है। प्राणायाम करना चाहिए, पर प्राणायाम सिद्ध नहीं हो रहा है। व्याकुलता बढ़ गयी जान पड़ी। क्लान्ति से शरीर चूर-चूर हो गया। उन्हें झपकी आ गयी। थोड़ी देर में वे सो गये। स्वप्न में शुभा दिखायी पड़ी। चिन्ता-कातर मुख की शोभा कुछ और ही थी। उन्हें शुभा के अमृत-वचन सुनायी दिये : 'ऋषिकुमार, तुम्हारी पीठ में बड़ी वेदना है। आओ, तुम्हारी पीठ सहला दूँ।' और सचमुच ही शुभा ने उनकी पीठ पर हाथ फेर दिया। कितना शीतल स्पर्श था ! सारी व्यथा जाती रही। ऋषिकुमार को अपूर्व तृप्ति मिल रही थी। पर अचानक उनकी निद्रा भंग हुई। बैठे-बैठे जहाँ लेट गये थे वहाँ एक सुन्दर-सी लता थी। उसी के पल्लव हवा के झोंके से उनकी पीठ पर झूम रहे थे। क्या रहस्य है ? इस लता में कुछ दैवी शक्ति थी क्या ? पर हिल तो रही है वायु से ही। यह तो वायु की शक्ति का ही उद्घोष है। ऋषिकुमार को अपना परीक्षित सत्य फिर अभिभूत करने लगा— वायु ही परम शक्तिशाली तत्त्व है ! पर स्वप्न क्या वायु का उपजाया था ? वे फिर विचारमग्न हो गये।

प्रातःकालीन हवा ने उनमें ताज़गी भरी। उन्हें लगा कि पीठ की सनसनाहट कुछ कम हुई है। वे खड़े हो गये और फिर चलने लगे। वायु में ऐसा कुछ अवश्य है जो शरीर में स्फूर्त्ति भरता है।

कल दिन-भर न कुछ खाया, न पिया। आज उन्हें भूख और प्यास दोनों का अनुभव हुआ। सामने नदी थी। पहले स्नान कर लिया जाये, फिर कुछ कन्दमूल-फल खोजा जाये। वे सीधे नदी की ओर बढ़े। किनारा बुरी तरह ऊबड़-खाबड़ था। किनारे-किनारे कुछ आगे बढ़े। एक जगह उतरने का अच्छा घाट-सा बना हुआ था। वे उतर गये। पर स्नान नहीं कर सके। वहाँ एक वृद्धा स्नानादि से निवृत्त होकर सूर्य को अर्घ्य दे रही थीं। वे एकटक उन्हीं की ओर देखने लगे। आश्चर्य और कुतूहल से उनकी आँखें कान तक फैल गयीं। शुभा के मुख की तरह यह मुख भी चिकना था। कहीं दाढ़ी-मूँछ के जटिल बाल नहीं थे। कहीं-कहीं झुर्रियाँ थीं, पर सब मिलाकर वह शुभा के मुख के समान ही सौम्य-मनोहर था। केश कुछ सफ़ेद थे, पर यह सफ़ेदी तो बूढ़े ऋषियों के केशों में भी मिल जाती है।

ये बड़े ऋषियों के सफ़ेद बालों से अधिक स्वच्छ और मुलायम थे। क्या ये भी स्त्री-पदार्थ हैं ? पूछना चाहिए।

पर उन्हें पूछना नहीं पड़ा। वृद्धा महिला ने ही उनकी ओर देखकर पूछा, "इस तरह क्या ताक रहे हो, सौम्य ? तुम कौन हो ?"

ऋषिकुमार के आश्चर्य में मानो बाढ़ आ गयी। यह वाणी भी वैसी ही मधुर है, कानों में मानो अमृत घोलती हुई। वे क्या कहकर सम्बोधन करें, कुछ समझ में नहीं आया। 'शुभे' कहें ? ना। शुभा तो बस एक ही है — अद्वितीय ! तो फिर ? व्याकरण और कोश में पढ़े हुए अनेक स्त्रीलिंग सम्बोधन उनके मन में आये, पर निश्चय कुछ भी नहीं कर सके। कौन जाने, ठीक से समझ पायें या नहीं। बहुत छुटपन में पिता से सुना था कि ब्रह्मचारी को यदि भिक्षा माँगने जाना हो तो गृहस्वामिनी को 'भवति' कहकर सम्बोधन करना चाहिए। व्याकरण की दृष्टि से गृहस्वामिनी भी तो स्त्री-पदार्थ है। भिक्षा माँगने का कभी अवसर ही नहीं मिला और आज भी नहीं माँग रहे हैं, फिर भी 'भवति' सम्बोधन बुरा तो नहीं है। उनके गले से आवाज़ नहीं निकल पा रही थी। रुक-रुककर बोले, "भवति, प्रणिपात स्वीकार करें। मैं रिक्व ऋषि का पुत्र हूँ, लोग मुझे रैक्व कहते हैं। पर पहले आप मुझे यह बतायें कि क्या कहकर मैं आपको सम्बोधित करूँ ?"

वृद्धा को कुछ कुतूहल हुआ। मृदु-भाव से कहा, "सौम्य, तेरे-जैसे लड़के मेरी-जैसी वृद्धा को 'माँ' कहकर पुकारते हैं। तुझे इतना भी नहीं मालूम ? तेरी माँ तो होंगी !"

ऋषिकुमार की आँखें विकच पुण्डरीक की तरह खिल गयीं। अपने-आपको ही समझाते हुए कहा, "ठीक ही समझा था, आप भी शुभा की भाँति स्त्री-पदार्थ हैं ?"

वृद्धा को और भी विस्मय हुआ—"क्या तूने स्त्री नहीं देखी, तेरी माँ या बहिन नहीं है ? घर में कोई महिला नहीं है ?"

"थोड़ा रुको माँ, थोड़ा रुको। मेरी माँ थीं, मगर मेरे जन्म के समय ही चल बसीं, ऐसा पिताजी ने बताया था। पिताजी भी बचपन में मुझे छोड़कर वायुलीन हो गये, मैं अकेला ही रहा। ध्यान और तप में लग गया !"

"तो तूने सचमुच कोई स्त्री नहीं देखी ?"

"देखी है माँ, शुभा को देखा है; बहुत सुन्दर है शुभा। बहुत मीठा बोलती है। बहुत बड़ी तत्त्वज्ञानी है। पिछली रात ही तो उसे स्वप्न में देखा है।"

"शुभा कौन है, बेटा ?"

"मेरी गुरु हैं। उन्होंने ही तो मुझे बताया था कि स्त्री-पदार्थ और पुरुष-पदार्थ में भेद है। उन्होंने ही बताया कि पद और पदार्थ का सम्बन्ध 'प्रत्यय' जोड़ता है। प्रत्यय आत्मा का धर्म है। पर मैं बहुत थोड़ा ही सीख पाया। थोड़ी देर के लिए ही तो उन्हें देख पाया था।"

ऋषिकुमार अजीब-सी व्याकुलता अनुभव करने लगे। उनके हाथ अनायास

पीठ की ओर चले गये। वे ज़ोर-ज़ोर से पीठ खुजलाने लगे। वृद्धा के मन में इस वयस्क शिशु के प्रति वात्सल्य-भाव उमड़ आया। बोलीं, "तू तो बेटा, इतना बड़ा हो गया, लेकिन अभी दुधमुँहे बच्चे-जैसा भोला-भाला है। यह बता कि तुझे मालूम है कि बच्चे को माँ की हर आज्ञा का पालन करना चाहिए ?"

"मालूम है माँ, मेरे बचपन में मैंने अपने पिता के आश्रम में एक तत्त्वदर्शी महात्मा दाल्भ्य वैरोचनि को देखा था। उन्होंने बताया था कि आदि-मनु ने कहा है कि आचार्य से सौ गुना गौरव पिता का होता है और पिता से हज़ार गुना गौरव माता का होता है, पर मुझे अवसर ही कहाँ मिला कि मैं माता को गौरव दूँ ?"

"आज मिला है न ? मैं तेरी माँ हूँ। उठ, पहले स्नान कर ले। फिर मेरे साथ मेरी कुटिया में चल, वहाँ कुछ खा ले, फिर तुझसे और बात पूछूँगी। उठ, जल्दी कर।"

"अच्छा माँ, जो आप कहोगी, वह अवश्य करूँगा, पर मैं मन और आत्मा के बारे में जानने को व्याकुल हूँ, स्वप्न और निद्रा का रहस्य जानने को छटपटा रहा हूँ, आप यह सब बतायेंगी न ?"

"चल बेटा, यह तो तुझे किसी बड़े तत्त्वज्ञानी से पूछना चाहिए। तुझे एक बड़े तत्त्वज्ञानी से मिला दूँगी।"

"वे भी क्या स्त्री-पदार्थ हैं, माँ ?"

"नहीं रे, वे तेरे पिता के समान हैं, मेरे पति। माँ का पति कौन होता है, जानता है ?"

"जानता हूँ—पिता !"

"तो उन्हें अपना पिता मानकर जो पूछना हो, पूछना।"

"वे शुभा के समान ही ज्ञानी होंगे, माँ !"

"अभी तो उठकर स्नान कर। पहले मैं तेरी शुभा के बारे में जान लूँ, फिर बताऊँगी कि शुभा के समान हैं या उससे बड़े। उठ बेटा, स्नान कर।"

वृद्धा माता ने ऋषिकुमार के रूक्ष मस्तक पर प्यार से अपना हाथ रख दिया। उन्हें अद्भुत आनन्द मिला।

स्नानादि से निवृत्त होकर ऋषिकुमार रैक्व वृद्धा की कुटिया में गये और पहली बार माँ के हाथ का बना भोजन ग्रहण किया। उन्हें सब-कुछ विचित्र लग रहा था। भोजन में अकृष्ट-पच्य नीवार के उबाले हुए दाने थे और साथ में उसी प्रकार के भुने हुए कुछ कन्दमूल, जिनमें थोड़ी मात्रा में लवण मिलाया गया था। ऋषिकुमार ने बड़ी तृप्ति के साथ उन्हें ग्रहण किया। वे एक-एक के बारे में पूछते जाते थे। माँ ने उन्हें बताया कि यह तपस्वी लोगों का भोजन है। गृहस्थ लोग ज़मीन जोतकर चावल-गेहूँ आदि उगाते हैं। जो ज़मीन जोती जाती है उसे कृष्ट भूमि कहते हैं। पर तपस्वी लोग बिना जोती ज़मीन में जो पौधे अपने-आप उगते हैं और फिर स्वयं पककर झड़ जाते हैं, ऐसे दानों से ही काम चलाते हैं। इसी को अकृष्ट-पच्य अन्न कहते हैं। ये अग्नि की सहायता से उबाले जाते हैं। फिर पत्ते

के दोने में उन्होंने थोड़ा-सा मधु भी दिया। उन्होंने यह भी बताया कि उनके पास एक गाय भी है, पर अभी वह दूध नहीं दे रही है। जल्दी वह दूध देने लगेगी तो ऋषिकुमार को दूध-दही भी थोड़ा-बहुत मिल सकेगा।

माँ ने प्यार से पूछा, "बेटा, तुझे कभी दूध मिला है ?"

"हाँ माँ, जब पिताजी जीवित थे तो मिलता था, पर अब कई वर्षों से नहीं मिला।"

वृद्धा माता की आँखें डबडबा आयीं—"हाय, तुझे न माता का सुख मिला, न पिता का। अच्छा बेटा, तू यहीं रहकर जैसा चाहे वैसा चिन्तन-मनन कर। माँ को छोड़कर कहीं मत जा। कल तिल के पत्ते लाकर तेरे केश साफ़ कर दूँगी। तेरे शरीर में मैल भी जम गयी है। इंगुदी तेल में थोड़ा-सा जौ पीसकर उबटन बनाऊँगी और तुझे खुद नहवाऊँगी। हाय, सोने-जैसा चेहरा कैसा हो गया है ! यह तू बार-बार पीठ क्यों खुजला रहा है बेटा, वहाँ भी मैल जम गयी होगी।"

"नहीं माँ, वह तो पाप का फल है। मैंने पाप किया था, उसी का दण्ड भोग रहा हूँ। यहाँ बड़ी सनसनाहट मालूम होती है।"

"पाप ? तू क्या पाप करेगा ? पाप तो मन में होता है। तेरा मन तो शुद्ध निर्मल है। उसमें पाप कहाँ आ सकता है ?"

"पाप मन में होता है, माँ ? आश्चर्य है ! मैंने तो कभी मन की बात ही नहीं सोची। अच्छा माँ, मन क्या प्राणवायु से अधिक शक्तिशाली होता है ?"

"देख बेटा, इसी शरीर में अन्न का बना अंश भी है, प्राण भी है, मन भी है, विज्ञान भी है, आत्मा भी है। इनमें सत्य सभी हैं पर उत्तरोत्तर बलवान हैं। मैंने सुना है कि भृगु ने अपने पिता वरुण से परम सत्य के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया। वरुण ने उन्हें तपःसाधना द्वारा स्वयं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया। उन्होंने केवल इतना निर्देश-भर दिया कि परम सत्य अथवा ब्रह्म एक ही होना चाहिए : 'जिसमें समस्त पदार्थ-जगत् का उद्भव हो, जिसमें समस्त पदार्थ-जगत् की स्थिति हो।' तपःसाधन करने के बाद भृगु ने लौटकर पिता से कहा कि अन्न को परम सत्य माना जा सकता है। पिता को इससे सन्तोष न हुआ और पुनः तप करने को कहा। भृगु ने फिर आकर कहा कि 'प्राण को परम सत्य माना जा सकता है।' और शेष कई बार उन्होंने ऐसे ही उत्तर दिये। पिता को भृगु के इन उत्तरों से, कि प्राण मन और बुद्धि परम सत्य माने जा सकते हैं, सन्तोष न हुआ। अन्त में, भृगु ने यह उत्तर दिया कि 'आनन्दमय आत्मानुभूति को समस्त जगत् का उद्गम माना जा सकता है।' यह ज्ञान रहस्यरूप से सदा 'भार्गवी-विद्या' के नाम से प्रसिद्ध है तथा यह 'परम स्वर्ग' में भी प्रतिष्ठित है।"

"नया सुन रहा हूँ, माँ ! ज़रा और खोलके समझाओ ना !"

"अब यह सब तो तू मुझसे न पूछ। अभी तेरे पिताजी के पास ले चलूँगी, उनसे जो पूछना हो पूछ लेना। मुझे यह बता कि किसने तुझे बताया कि तूने पाप किया है ?"

"शुभा ने !"

"क्यों, क्या बात हुई कि शुभा ने तुझे बता दिया कि तू पाप कर रहा है ?"

"नहीं माँ, शुभा ने तो सिर्फ़ इतना कहा था कि तुम जो कह रहे हो वैसा सोचना भी पाप है। पर मुझसे ग़लती हो गयी और पाप लग गया !"

"मुझसे सब बता सकता है, बेटा ? क्या सोचना पाप है ?"

"हाँ माँ, सब बता देता हूँ।"

फिर ऋषिकुमार ने सारी कथा कह सुनायी। माँ के वली-कुचित चेहरे पर प्रसन्नता की लहरें खेल गयीं। सब सुन लेने के बाद बोलीं, "मेरे भोले लाल, शुभा ने भी ठीक कहा था, तूने भी ठीक कहा था। पर यह जो सनसनाहट है, वह पाप के कारण नहीं है, मन के कोने में छिपी हुई किसी दुर्दम अभिलाष-भावना की देन है। इसे तो शुभा ही ठीक कर सकती है। पर तू यह बात कभी न सोच कि तूने पाप किया और उसका दण्ड भोग रहा है। नहीं, इसमें पाप की कोई बात नहीं है। तू समझ नहीं रहा है कि तेरे मन में कहीं बहुत गहराई में शुभा को पाने की अभिलाषा है। वही सनसनाहट के रूप में अनुभूत हो रही है। यह ठीक हो जायेगा !"

"ठीक हो जायेगा, माँ ? कैसे ?"

"बताऊँगी। पहले तो शुभा को खोजना पड़ेगा।"

"वह कहाँ मिलेगी, माँ ? वह तो दिव्यलोक-निवासिनी है।"

"मिलेगी, चिन्ता न कर। चल, तुझे तेरे पिताजी के पास ले चलूँ।"

पाँच

"देख बेटा, तुझे महान् तत्त्वज्ञानी औषस्ति ऋषि के पास ले जा रही हूँ। इन्होंने सृष्टि के रहस्य को समझा है, अपने पूर्वज महान् उषस्त के चिन्तन-मनन का परिष्कार किया है और याज्ञवल्क्य के अध्यात्म-ज्ञान को तप और स्वाध्याय के द्वारा और भी उज्ज्वल बना दिया है। तेरी शंकाओं का वे ही समाधान करेंगे। अभी मैंने उन्हीं को तेरा पिता कहा है। उनके पास विनम्र होकर जाना, भूमि पर सिर रखकर प्रणाम करना और जब तक वे बैठने को न कहें, तब तक हाथ जोड़-कर खड़े रहना। मेरी बात समझ रहा है न ?"

"समझता हूँ, माँ ! पर ऐसा क्यों करना होगा ? महाभागा शुभा ने भी मुझे स्वप्न में समझाया था कि वृद्ध जन का सम्मान करना चाहिए। पर सम्मान इसी

तरह क्यों किया जाये, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। बहुत छुटपन में मैंने देखा था कि मेरे पिता के पास दूर-दूर से ब्रह्मचारी आते थे; वे हाथ में कुछ-न-कुछ समिधा लेकर आते थे और पिताजी को प्रणाम करके तब तक खड़े रहते थे जब तक वे उन्हें बैठने को नहीं कहते थे। मेरी समझ में यह सब नहीं आता।"

"समझ जायेगा बेटा, यह शिष्ट जनों का आचार है। यदि तुम वृद्ध जन के पास जाओ तो प्रणिपात करो और उनकी आज्ञा पाये बिना मत बैठो। यदि कोई वृद्ध तुम्हारे पास आयें तो उठकर उन्हें प्रणाम करो और फिर आसन दो। मनु ने बताया है कि जब कोई वृद्ध जन तरुण के सामने आता है तो तरुण का प्राण ऊपर उठने लगता है। तरुण जब उठकर अभिवादन करता है तो फिर प्राण यथा-स्थान लौट आता है। हर शिष्ट आचरण का कोई-न-कोई कारण तो होता ही है। उनका पालन अवश्य करना चाहिए।"

"करूँगा, माँ!"

"और देख, उन्हें क्या कहकर सम्बोधित करेगा?"

"'पिताजी' कहूँगा।"

"नहीं, अभी तू ज्ञान की इच्छा से जा रहा है, 'भगवन्' या 'भगवः' कहना। तत्त्वज्ञानी आचार्य को जिज्ञासु जन ऐसा ही कहकर सम्बोधित करते हैं।"

"ऐसा ही करूँगा।"

"और देख, तेरे पिताजी के पास जैसे जिज्ञासु ब्रह्मचारी हाथ में समिधा लेकर आया करते थे वैसे ही तू भी हाथ में समिधा ले ले। समिधा यज्ञ का उप-करण है। उसे हाथ में लेकर जाने का अर्थ है कि अभी यज्ञ पूरा नहीं हुआ। ब्रह्मचारी कुछ और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आया है। वह जिज्ञासु है। समझ रहा है?"

"हाँ माँ, समिधा लेकर चलूँगा।"

"मैं उनसे तेरे बारे में पहले से ही थोड़ा बता आती हूँ। उन्हें तुझे उपदेश देने में आसानी होगी।"

माताजी थोड़ी देर में लौट आयीं और रैक्व से चलने को कहा और वृद्ध ऋषि के पास उन्हें पहुँचाकर लौट आयीं।

मृगचर्म पर आसीन शुभ्रकेश ऋषि औषस्ति ने मन्द स्मित के साथ रैक्व की ओर देखा। उनका अभिवादन स्वीकार करके पास ही पड़े एक कुशासन पर बैठ जाने का इंगित किया। उन्हें देखकर रैक्व के मन में सहज श्रद्धा का भाव आया। वे हाथ जोड़कर खड़े ही रह गये। दुबारा आसन ग्रहण करने का निर्देश पाकर वे कुछ अभिभूत-से आसन पर बैठ गये, पर उनकी वाणी रुद्ध ही रही।

औषस्ति ने ही पहल की—"अच्छा सौम्य, तू उद्गीथ के विचक्षण व्याख्याता ऋषि रिक्व का पुत्र है न?"

"हाँ भगवन्!"

"तेरी माताजी ने मुझे बताया है कि तूने कठोर तप किया है और अब कुछ

शंकाओं के समाधान के लिए मेरे पास आया है। तो बता न सौम्य, क्या शंकाएँ हैं तेरी ?"

रैक्व ने कहा, "भगवन्, मैंने बहुत विचार के बाद सत्य पाया है कि वायु ही सबसे प्रबल तत्त्व है। वह ब्रह्माण्ड में वायु के रूप में और पिण्ड में प्राण के रूप में क्रियाशील है। ब्रह्माण्ड के चार देवता—अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल—वायु के अधीन हैं और पिण्ड के चार इन्द्रिय—वाणी, चक्षु, श्रोतृ और मन—प्राण के अधीन हैं। मैंने प्राणायाम की साधना की है। मैं अनुभव से जानता हूँ कि वायु सबसे प्रबल तत्त्व है। पर महाभागा शुभा ने पूछा था कि वायु क्या वही वस्तु है जिसे महर्षि याज्ञवल्क्य और राजर्षि जनक 'आत्मा' कहते हैं, तो मैं कुछ उत्तर नहीं दे सका। भगवन्, यह आत्मा क्या चीज़ है ?

"फिर भगवन्, मैं मन के बारे में भी जानना चाहता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि मन, प्राण से भी अधिक सूक्ष्म है, स्वप्न में वही देखनेवाला होता है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मन का क्या स्वरूप है और स्वप्न का क्या रहस्य है!"

"साधु वत्स, तूने अपना विश्वास और अपनी शंका दोनों को बहुत स्पष्ट रूप से कह दिया है। तूने बहुत तपस्या की है, पर तपस्या का एक बहुत आवश्यक अंग है सत्संग। उसी की कमी तुझमें जान पड़ती है। जो जिस बात को जानता है उससे पूछते रहने से अपनी एकान्त-चिन्तन की त्रुटियाँ दूर होती रहती हैं। पूछते रहना चाहिए। तू जो सोच रहा है, वह नयी बात नहीं है, ग़लत भी नहीं है। पर तूने अपनी जानकारी को अन्य जानकारों से पूछकर संशोधित नहीं किया।"

"पूछना क्या इतना आवश्यक है, भगवन् ?"

"देख सौम्य! जैसे कोई गन्धार देश के किसी व्यक्ति को आँखें बाँधकर निर्जन स्थान में लाकर छोड़ दे, वह जैसे सब दिशाओं को शोर मचाकर गुँजा देता है, और चिल्लाता है कि आँखें बाँधकर मुझे पकड़ लाये, आँखें बाँधे ही छोड़ दिया; और फिर जैसे कोई बन्धन को खोलकर उसे कहे, अमुक दिशा में गन्धार देश है, उधर चला जा, तो वह बुद्धिमान् गाँव-गाँव पूछता हुआ गन्धार देश को पहुँच जाता है; ठीक इसी तरह, आचार्य को, गुरु को, पाकर यह भटकता हुआ पुरुष अपने 'सत्' रूप को पाने के लिए चल देता है। इस संसार में बँधे रहने की अवधि तो उतनी ही है जितनी देर तक कोई रास्ते पर डालनेवाला जानकार आँखों पर बँधी पट्टी खोल नहीं देता। उसके बाद तो 'सत्' की प्राप्ति हो ही जाती है।"

"समझ रहा हूँ, भगवन्।"

"तो सौम्य, तू सत्संग कर। कुछ दिन जानकार लोगों के बीच घूमकर अपने परखे हुए सत्य को फिर से जाँच ले।"

"जानकार लोगों की बात की भी जाँच करनी होगी, भगवन् ?"

"हाँ! तू आत्मा के बारे में जानना चाहता है न ?"

"हाँ भगवन्!"

"बहुत पुरानी बात है। एक बार प्रजापति ने घोषणा की थी कि हृदयाकाश

में जिस 'आत्मा' का निवास है वह पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम और सत्य-संकल्प है— उसी की खोज करनी चाहिए, उसी को जानना चाहिए। जो उस 'आत्मा' को ढूँढ़कर जान लेता है, वह सब लोकों को और सब कामनाओं को पा लेता है।

"प्रजापति की यह घोषणा देव तथा असुर दोनों के कानों में पड़ी। उन्होंने मन-ही-मन कहा, चलो, उस आत्मा का पता चलायें, जिसे पा जाने से सब लोकों और सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। देवों में से 'इन्द्र' और असुरों में से 'विरोचन' इसी की खोज में निकल पड़े। वे दोनों हाथों में समिधा लेकर, एक-दूसरे के बिना जाने प्रजापति के पास आ पहुँचे। उन्होंने प्रजापति के आश्रम में जाकर बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया।"

"बत्तीस वर्ष !"

"हाँ सौम्य, सबसे श्रेष्ठ ज्ञान पाने के लिए यह कोई बड़ी अवधि नहीं है।"

"फिर क्या हुआ ?"

"फिर प्रजापति ने उनसे पूछा, किस इच्छा से तुम आश्रम में आये हो ? उन्होंने कहा, भगवन् ! आपकी घोषणा चारों तरफ़ गूँज रही थी कि 'आत्मा' पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम और सत्य-संकल्प है—उसी को खोजना चाहिए, उसी को जानना चाहिए; जो उस 'आत्मा' को ढूँढ़कर जान लेता है वह सब लोकों को और सब कामनाओं को पा लेता है—हम उसी 'आत्मा' की खोज में आपके आश्रम में आये हैं।"

"यह तो अद्भुत है। प्रजापति ने उन्हें क्या समझाया, भगवन् ?"

"प्रजापति ने उन दोनों से कहा, यह जो आँख में पुरुष दीखता है, यह 'आत्मा' है। फिर कहा, यही 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। उन दोनों ने पूछा, 'भगवन् ! यह जो जल में दीखता है, जो दर्पण में दीखता है—यह कौन-सा आत्मा है ?' प्रजापति ने उत्तर दिया, 'इनमें भी वही आत्मा दीख पड़ता है जो आँख में दिखायी देता है।' फिर प्रजापति ने उन दोनों से कहा, 'पानी के बर्तन में तुम दोनों अपने को देखो, और फिर 'आत्मा' के विषय में जो कुछ समझ न पड़े, वह मुझसे पूछो।' उन्होंने पानी के बर्तन में देखा। प्रजापति ने पूछा, 'क्या दीखता है ?' उन्होंने कहा, 'भगवन् ! हमें अपना पूर्ण रूप दीख रहा है, लोम से नख तक, अपना प्रतिरूप, अपनी छाया।' प्रजापति ने उन दोनों से फिर कहा, 'सुन्दर अलंकार और वस्त्र धारण करके, साफ़-सुथरे होकर, पानी के बर्तन में देखो।' उन दोनों ने सुन्दर अलंकार और सुन्दर वस्त्र धारण किये, अपने को साफ़-सुथरा किया, और पानी के बर्तन में देखने लगे। प्रजापति ने उनसे पूछा, 'क्या दीखता है ?' उन्होंने कहा, 'भगवन् ! जैसे हम सुन्दर अलंकार, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए हैं, साफ़-सुथरे हैं, इसी प्रकार हम दोनों के प्रतिबिम्ब अलंकारवाले, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और साफ़-सुथरे हैं।' प्रजापति ने कहा, ''जाग्रतावस्था' में जिसे तुम देखते हो, यह 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है !' वे दोनों यह सुनकर शान्त-हृदय

होकर चल दिये।"

"फिर क्या हुआ, भगवन्?"

"विरोचन तो सन्तुष्ट होकर चले गये। उन्होंने शरीर को ही आत्मा मान लिया। यह ग़लत नहीं था, पर अधूरा अवश्य था। पर इन्द्र ने सोचा कि शरीर तो नष्ट हो जाता है, पर आत्मा अविनश्वर है। वे फिर प्रजापति के पास लौट आये। कई बार उन्हें नयी-नयी बातें बतायी गयीं। उन्हें बताया गया कि स्वप्न में जो देखता है, वह आत्मा है। फिर जो सुषुप्ति में विद्यमान रहता है वह आत्मा है। पर इन्द्र बार-बार यह सोचकर लौट आते थे कि प्रजापति ने अभी पूरी बात नहीं बतायी। इसीलिए अन्त में वे सत्य को जान सके।"

"क्या जाना, भगवन्?"

"प्रजापति ने बताया था कि देखो इन्द्र! यह शरीर तो मरणधर्मा है, मृत्यु से ग्रसा हुआ है। यह मरणधर्मा शरीर उस अमृत-रूप अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है, उसके रहने का स्थान है। आत्मा स्वभाव से अशरीर है, परन्तु जब तक इस शरीर के साथ अपने को एक समझकर रहता है, तब तक उसे भी सुख-दुःख लगा ही रहता है; क्योंकि सुख-दुःख तो शरीर का धर्म ही है। जब तक शरीर के साथ यह अपनी एकता बनाये रखेगा, सुख-दुःख से नहीं छूट सकेगा। वायु, अभ्र, विद्युत्, गर्जना—ये भी तो अशरीर ही हैं, कहाँ है इनका शरीर? जिस प्रकार ये 'आकाश' में रहते हैं, पर शरीर न होने के कारण दीखते नहीं; हाँ, अपने दृश्य-रूप में तब प्रकट होते हैं जब परम-ज्योति 'सूर्य' से इनका सम्पर्क होता है; सूर्य की गर्मी पाकर वायु अपने असली रूप को धारण कर बहने लगता है; सूर्य की गर्मी से ही अभ्र प्रकट होते हैं, विद्युत् चमकती है, गर्जना प्रकट होती है; इसी प्रकार आत्मा भी अशरीर है, वह 'शरीर' में रहता है; परन्तु जब उसका भी 'परम ज्योति' ब्रह्म के साथ सम्पर्क हो जाता है, तब वह भी अपने असली रूप को धारण कर लेता है।"

"असली रूप का क्या तात्पर्य है, भगवन्?"

"जब मनुष्य इस अवस्था में पहुँच जाता है—शरीर में रहता हुआ भी अपने को अशरीरी अनुभव करने लगता है—तब वह खाता हुआ, खेलता हुआ, रमता हुआ, सैर करता हुआ, इस प्रकार विचरता है जैसे यह शरीर, ये बन्धु-बान्धव, ये आस-पास के लोग उसे कुछ याद ही नहीं। वह संसार के जो काम करता है, ऐसे करता है जैसे शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। परम ज्योति के सम्पर्क में आने के कारण वह अपने को शरीर से अलग देख लेता है। वह ऐसा स्पष्ट देख लेता है कि जैसे रथ के साथ घोड़ा जुता होता है वैसे ही उसका प्राण, उसका आत्मा इस शरीर-रूपी रथ के साथ जुता हुआ है; वह स्वयं शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्मा का कोई मूल-गत सम्बन्ध है। आकाश में जहाँ भी आँख जड़ी हुई है, वहीं 'चाक्षुष पुरुष', वह आत्मा, बैठा है और इस विशाल जगत् को मानो झरोखों में बैठा झाँक रहा है। आँख क्या है? यह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसी के देखने का साधन है—जो देख रहा है, वही 'आत्मा' है। नासिका गन्ध ग्रहण करने के

लिए है—यह साधन है; जो गन्ध ग्रहण करता है, वही आत्मा है। कान सुनने के लिए है, यह साधन है; जो सुनता है, वही 'आत्मा' है।"

"और मन क्या है, भगवन् ?"

"मन आत्मा का दैव-चक्षु है, दिव्य नेत्र है। इससे यह आगे-पीछे, भूत-भविष्यत् सब देखता है। इसी दिव्य-चक्षु द्वारा मन में ही रमण करता है, परन्तु यह भी आत्मा का साधन है; जो मन के द्वारा मनन करता है वही 'आत्मा' है। जो देवगण इस संसार के साथ अधिक सम्पर्क न रखकर ब्रह्म-लोक में विचरण करते हैं, ब्रह्म-ध्यान में लीन रहते हैं, वे इसी 'आत्मा' की उपासना किया करते हैं, इसीलिए सब लोक और सब कामनाएँ उनके वश में रहती हैं। जो उस आत्मा को ढूँढ़कर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।"

"भगवन्, यह सब क्या सुन रहा हूँ! मैंने पहले तत्त्वज्ञानियों से न पूछकर बहुत बड़ी भूल की है।"

"हाँ वत्स, मैं चाहूँगा कि तू तत्त्वज्ञानियों से मिलकर अपनी जानकारी में संशोधन कर। देख वत्स, सत्य एक और अखण्ड है। इसके एक भी पहलू को सही-सही पकड़ लेने पर बाकी सब साफ़ हो जाते हैं। कुछ दिन सत्संग करके मेरे पास आ जाना।"

"कृतार्थ हुआ भगवन्! एक प्रश्न और···"

परन्तु वृद्ध औषस्ति इतना ही कहकर फिर ध्यानस्थ हो गये। रैक्व इस बीच तीन बार पीठ खुजला चुके थे।

रैक्व थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे कि ऋषि फिर उन्हें कुछ बतायेंगे, पर ऋषि का ध्यान नहीं टूटा। देर तक प्रतीक्षा करके अधीर होकर वे उठने को हुए। इसी समय औषस्ति ने आँखें खोलीं और उन्हें सम्बोधित किया, "रैक्व!"

"हाँ, भगवन्!"

"तुमने वायु को परम शक्तिशाली तत्त्व समझा है न?"

"समझा था भगवन्, अब कुछ और समझने का प्रयत्न करूँगा।"

"बहुत ग़लत नहीं समझा था, वत्स! वैदिक ऋचा के द्रष्टा ऋषि ने भी कभी ऐसा अनुभव किया था—'नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' (हे वायु, तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।) परन्तु उनके समझने में और तुम्हारे समझने में थोड़ा अन्तर है। 'ब्रह्म' तो समझते हो न?"

"नहीं, भगवन्।"

"तुमने जैसे अपने सीमित चिन्तन से यह अनुभव किया है कि पिण्ड में जो प्राण है वही ब्रह्माण्ड में वायु है—दोनों वास्तव में एक ही तत्त्व हैं, उसी प्रकार, सौम्य, पुराण-ऋषियों ने अनुभव किया था कि पिण्ड में जो आत्मा है वही ब्रह्माण्ड में ब्रह्म है—सदा विद्यमान अखण्ड चैतन्य-स्वरूप, अनाविल आनन्द-रूप। एक शब्द में, बेटा, सच्चिदानन्द। इसीलिए ब्रह्म और आत्मा अभिन्न तत्त्व है। मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने वायु को ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा था। अर्थात् सत्ता की सदा विद्यमानता,

चैतन्य की शाश्वत लीला आदि आनन्द की अनवरत अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष रूप वायु है। वैदिक विचारक एकैक-तत्त्ववादी थे। वे जिस समय जिस देवता की स्तुति कर रहे होते थे उस समय उसी को एकमात्र परम शक्ति के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। कभी वे सूर्य को, कभी अग्नि को, कभी अन्य देवता को परम शक्ति का प्रत्यक्ष विग्रह मानकर उसी परम शक्ति की बात कहते थे जिसका एक रूप वह ध्यानस्थ देवता होता था। वायु भी उसी का रूप है, उसके माध्यम से वह परम-शक्ति को अनुभव करने का प्रयत्न करते थे। तुम शायद ऐसा नहीं करते। मेरा अनुमान ठीक है, सौम्य ?"

"लगता है कि आपने ठीक ही अनुमान किया है। मैं जब वायु को शक्तिशाली तत्त्व मानता हूँ तो वायु को ही सब-कुछ मानता हूँ। उसके माध्यम से और किसी शक्ति को पकड़ने का प्रयास नहीं करता !"

"यह दोष है, वत्स।"

"मुझे फिर क्या करना चाहिए, भगवन् ?"

"तप और स्वाध्याय से, मनन और निदिध्यासन से, ध्यान और समाधि से वह परम तत्त्व अनुभव का विषय बनता है। परन्तु यह अच्छी तरह जान लो वत्स, कि सत्संग और सदाचार से, स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य से ही यह मनुष्य का शरीर, इसके भीतर देखनेवाला अन्तःकरण वह पवित्र अधिष्ठान बनता है जिसमें आत्मानुभूति स्थिर और अचंचल होकर निवास करती है। सत्यवचन रथीतर सत्य को ही परम तप मानते थे, तपोनिष्ठ पौरुषष्ठि तपस्या और ब्रह्मचर्य को ही परम सद्गुण मानते थे और नाक मौद्गल्य स्वाध्याय को ही सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार करते थे। वेदों के परम रहस्यज्ञ बादरायण व्यास पर-दुःख को दूर करने के सच्चे प्रयास को ही धर्म का मूल मानते थे। सत्य बड़ा गुण है, स्वाध्याय और सत्संग परम तप है, और पर-दुःख-कातरता सबसे बड़ा मानवीय गुण है। सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने-आपको दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं है। मेरी बातें समझ रहे हो, सौम्य ?"

"समझ रहा हूँ, भगवन् ?"

"तूने एकान्त-वास करके बहुत तप किया है न, वत्स ?"

"किया है, भगवन् !"

"एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा ! देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुःख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है, वत्स ? क्या समझते हो, कर सकता है ?"

"नहीं कर सकता, भगवन् !"

"साधु वत्स, सज्जनों का संग, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, सत्य पर दृढ़ आस्था

और दुःखी जनों की सेवा ही परम धर्म है। समझ रहे हो ?"

"समझ रहा हूँ, भगवन् !"

"देखो, पूर्ण मनुष्य बनो। चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमें पहले तीन साधन हैं, अन्तिम साध्य है। पहले तीन में धर्म सबसे बड़ा है। उसके अनुकूल रहकर अर्थ का उपार्जन करना चाहिए। अर्थ प्रधान नहीं है— धर्म का अविरोधी रहकर ही पुरुषार्थ है। धर्म के विरुद्ध जाने पर त्याज्य है। इसी प्रकार, सौम्य, काम धर्म और अर्थ का अविरोधी रहकर ही पुरुषार्थ कहलाता है। धर्म और अर्थ के विरुद्ध जाने पर वह आचरणीय नहीं रहता। समझ रहे हो, वत्स ?"

"पूरी तरह नहीं समझ रहा हूँ, भगवन् !"

"अपनी माताजी से पूछना।"

"पूछूँगा भगवन् !"

"अच्छा सौम्य, तूने ब्रह्मचर्य-वास कर लिया है। विधिपूर्वक नहीं हो सका, पर उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। अब गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने का समय आ गया है।"

"नहीं समझा, भगवन् !"

"कैसे समझेगा, वत्स ? तूने गृहस्थ जीवन का सुख देखा ही नहीं। जानता है सौम्य, पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए कुलीन जन विवाह किया करते हैं। विवाह के माध्यम से ही पुरुष और स्त्री पूर्णता प्राप्त करते हैं, संसार के सबसे बड़े लक्ष्य प्रेम को प्राप्त करते हैं।"

"नहीं समझा, भगवन् !"

"यह भी माताजी से पूछ लेना। अब तुम जा सकते हो। मेरी बातों पर मनन करने के बाद फिर आना। यदि कोई सन्देह रह गया हो तो उसका निराकरण कर लेना। जाओ बेटा, 'तेजस्विनावधीतमस्तु !' हमने अब तक जो पढ़ाया, तुमने जो पढ़ा, वह तेजस्वी हो !"

छह

रैक्व थके हुए, हारे हुए-से माताजी के पास चले। यह शरीर नाशमान् है, प्राण विनश्वर साधनमात्र है, मन भी नष्ट हो जानेवाला साधन है, अविनश्वर है केवल आत्मा। पिण्ड में जो आत्मा है वही ब्रह्माण्ड-व्यापी ब्रह्म है। उनके मन में बड़ी उथल-पुथल थी। माताजी से विवाह का अर्थ पूछना है, वृद्ध ऋषि कहते हैं कि

विवाह मनुष्य को पूर्ण बनाता है। क्या रहस्य है इन बातों का ? उनकी तपस्या अधूरी है, क्योंकि सत्संग नहीं किया। बात ठीक लगी। अगर महाभागा शुभा न मिल गयी होती तो उनका ज्ञान बढ़ नहीं पाता। महाभागा शुभा ! चम्पक पुष्प का-सा रंग है, मृगछौने की-सी आँखें, अमृत की-सी वाणी है। यह सब भी क्या विनश्वर तत्त्व हैं ? जिन आँखों को देखकर उन्हें भ्रम हुआ था कि मृग की आँखें किसी प्रकार चिपका दी गयी हैं वह भी विनश्वर साधन-मात्र है ? होगा, पर उसे भुलाया जा सकता है ? विनश्वर वस्तुएँ इतनी मोहक कैसे होती हैं ? शुभा का सौन्दर्य सत्य है, अविस्मरणीय है, मोहन है। विनश्वर होने से कोई चीज़ असत्य क्यों होगी ? ऋषि औषस्ति कहते हैं कि विरोचन ने शरीर को ही आत्मा मान लिया था, यह बात बिल्कुल असत्य नहीं है, अधूरा सत्य है। क्या दूसरा अर्थ यह है कि शरीर भी सत्य है ? माताजी से पूछना होगा। शरीर का ध्यान आते ही शुभा का मोहन दिव्य रूप ध्यान में आ जाता था। रूप अधूरा सत्य है। पूरा सत्य क्या है ? शायद आत्मा, मन और प्राण के साथ वह पूरा सत्य है। शुभा के दिव्य रूप में भी आत्मा है, उसकी मृग-जैसी आँखें उस आत्मा के साधन-रूप में ही सत्य हैं। सत्संग करना चाहिए। सत्संग तो शुभा के साथ ही हो सकता है या फिर माताजी के साथ।

रैक्व सारी बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहते थे। माताजी के पास पहुँचने के पहले कहीं एकान्त में बैठकर सब बातों पर विचार कर लेना उन्हें ठीक जान पड़ा। वे नदी-तट की ओर बढ़ गये। अपने ही में खोये हुए वे आगे बढ़ते गये। रास्ते में उन्हें रुक जाना पड़ा।

एक स्त्री अपने छोटे-से दुर्बल बच्चे को गोद में लिये बैठी हुई थी। उसके शरीर को ढंकनेवाला गन्दा वस्त्र तार-तार हो गया था। आँखें गड्ढों-जैसी हो गयी थीं। बाल बुरी तरह उलझे हुए थे। जान पड़ता था वह कई दिनों से भूखी थी। गोद में पड़ा हुआ नंगा बच्चा कंकालमात्र रह गया था। उसमें प्राणों का स्पन्दन समाप्त-प्राय था। रैक्व उसे देखकर ठिठक गये। यह कौन है ? स्त्री उन्हें देखकर रास्ते से हटने का प्रयास करने लगी। जान पड़ा, उसे हटने में कठिनाई हो रही है। रैक्व ने उसे ध्यान से देखा। निश्चय ही वह स्त्री-पदार्थ थी ! रैक्व ने उसके कष्ट का अनुभव करके कहा, "रुको भवति, मैं इधर से घूमकर चला जाऊँगा। पर तुम हो कौन ?"

स्त्री ने बड़ी ही करुण दृष्टि से उनकी ओर देखा। बोली, "ब्रह्मचारी, मैं एक दुखिया स्त्री हूँ। यह मेरा बच्चा है। कई दिनों से मुझे भी आहार नहीं मिला है, यह बच्चा भी निराहार है। अब तो यह दम भी तोड़ रहा है। मुझमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गयी है कि नदी में से दो बूँद पानी लाकर इसके मुँह में दूँ। हे भगवान !" इस कातर-करुण वाणी से रैक्व को कष्ट हुआ। बोले, "मैं अभी दौड़-कर नदी से पानी लाता हूँ"—और बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये वह दौड़ पड़े। नदी से पत्तों के दोनों में पानी लाकर उन्होंने बच्चे के मुँह में डाला। बच्चा

कुछ सचेत हुआ। उसकी माँ ने बड़े आयास से उसे खींचकर छाती से लगा लिया। उसकी गड्ढे-जैसी आँखों से आँसू झरने लगे। रैक्व की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें।

थोड़ा सोचकर उन्होंने कहा, "मैं तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ। पर मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि कैसे तुम्हारी सहायता करूँ। तुम क्या मेरी माताजी के पास चल सकती हो? वे बहुत दयालु हैं, वे तुम्हारा कष्ट दूर करने का उपाय भी बता सकती हैं। मैं तुम्हें सहारा देकर वहाँ तक ले चल सकता हूँ। बहुत दूर नहीं है।" स्त्री ने विश्वास के साथ कहा, "चलूँगी ब्रह्मचारी, तुम आगे-आगे चलो, मैं पीछे-पीछे आ जाऊँगी। पर मैं किसान की स्त्री हूँ, भीख नहीं माँग सकती। कुछ काम-काज करके मज़दूरी कर सकती हूँ। तुम्हारी माताजी कोई काम देंगी तो भगवान उनका भला करेंगे।"

रैक्व धीरे-धीरे आगे चले, वह स्त्री अपने बच्चे को लेकर बड़े कष्ट से उनके पीछे-पीछे चली। माताजी की कुटिया पास ही थी। रैक्व ने थोड़ा आगे बढ़कर पुकारा—"माँ, इधर देखो, यह दुखिया बहुत कष्ट में है। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि कैसे इसका कष्ट दूर करूँ।" माताजी बाहर आयीं। उस दुखिया स्त्री को देखकर उन्होंने सहानुभूति-सने स्वर में कहा, "हे भगवान्, यह तो बहुत कष्ट में है! क्या हुआ है बेटी? इस बच्चे का पिता कहाँ है? जल्दी बता, तुझे क्या कष्ट है?"

स्त्री बहुत थक गयी थी। बोलने में भी उसे कष्ट हो रहा था। इशारे से ही उसने बताया कि वह भूख और प्यास से व्याकुल है। माताजी ने बड़ी तत्परता से घर से कुछ अन्न और जल लाकर उस स्त्री को दिया और दोने में थोड़ा शहद लेकर बच्चे को चटाने को कहा। रैक्व चुपचाप खड़े देखते रहे। अन्न और जल पाकर वह स्त्री कुछ स्वस्थ हुई। माताजी ने प्यार से पूछा, "बता बेटी, तू कहाँ से आयी है? इस बच्चे के पिता से क्या तेरी खटपट हो गयी है? अकेली क्यों घूम रही है?"

रैक्व प्रत्येक प्रश्न को ध्यान से सुनते रहे। स्त्री ने दीर्घ निःश्वास लिया। बोली, "भाग्यहीन हूँ माताजी, मेरा विवाह एक ग़रीब किसान से हुआ था। विवाह के कई साल बीत जाने पर भी कोई बच्चा नहीं हुआ। जब अनेक पूजा, मनौतियों के बाद यह बच्चा पैदा हुआ तो इसका बाप ही मर गया। मैं अनाथ हो गयी।"

रैक्व को एकाएक याद आया कि ऋषि औषस्ति ने कहा था कि विवाह से स्त्री और पुरुष पूर्ण मनुष्य बनते हैं। तो, यह स्त्री पूर्ण मनुष्य बन चुकी है। पूर्ण बनने पर इसकी ऐसी दुर्दशा क्यों है?

माताजी का चेहरा म्लान हो गया था—"कैसे मर गया, बेटा? हाय-हाय, तू सचमुच अनाथ हो गयी!"

स्त्री ने सहानुभूति की वाणी सुनी तो और भी बिफर पड़ी—"क्या बताऊँ माताजी, दीन-दुखियों का पूछनेवाला कोई नहीं है। इस बच्चे का पिता राजा

जानश्रुति के घर पर काम करता था। उनका हल भी जोतता था और उनकी गाड़ी भी चलाता था। एक दिन राजकुमारी कहीं जा रही थी। वही गाड़ी चला रहा था। उस दिन बड़े ज़ोर की आँधी आयी, पानी भी खूब बरसा। गाड़ी में जुते बैल भाग गये। उसी तूफ़ान में वह भी मर गया। राजा के आदमियों ने मुझे उसके मरने की सूचना भी नहीं दी। गाँव के लोगों से मालूम हुआ कि राजकुमारी तो बच गयी, मगर इस बच्चे का बाप मर गया। पता नहीं, उन लोगों ने उसका शव कहाँ फेंक दिया। समाचार पाकर मैं वहाँ गयी तो उस शव का कहीं पता नहीं लगा। गाड़ी वहाँ पड़ी थी पर सुना कि उसके नीचे कोई साधु बैठता था जो अब उसे छोड़कर कहीं चला गया है। मैं तो दुर्भाग्य का शिकार हो ही गयी। राजकुमारी के जीवित लौट आने पर राज्य में बहुत खुशियाँ मनायी गयीं, पर इस दुखिया की याद भी किसी को नहीं आयी। बच्चे का दुःख नहीं देखा गया। भीख माँग नहीं सकती। इस छोटे बच्चे को देखकर कोई काम भी नहीं देता। क्या करूँ, यह तो अब शायद ही बचे। रास्ते में यह ब्रह्मचारी मिले। इन्होंने ही दो बूँद पानी देकर बच्चे को कुछ देर और बचा लिया है। माताजी, मैं पैरों पड़ती हूँ, मुझे कुछ काम दें। मैं आपका ऋण कभी नहीं चुका सकूँगी। सेवा करूँगी और जैसे भी हो, इस बच्चे को पाल-पोसकर बड़ा करूँगी, भगवान् आपका भला करेंगे।"

वह दुखिया स्त्री धरती पर सिर रखकर गिड़गिड़ाने लगी। रैक्व का मन क्षोभ से भर गया। यह तो उन्हीं की कहानी सुना रही है।

माताजी ने एक बार रैक्व की ओर देखा। शायद उनके चेहरे पर पड़ी प्रतिक्रिया की रेखाओं को पढ़ लेना चाहती थीं।

माताजी ने उस स्त्री को आश्वासन दिया। उससे कहा कि उनके यहाँ कोई काम तो नहीं है क्योंकि यह स्वयं-दास तपस्वियों का आश्रम है, पर वह तब तक वहीं रहे जब तक उसके लिए कोई कामकाज की व्यवस्था नहीं हो जाती। माताजी ने उस स्त्री और उसके बच्चे के लिए व्यवस्था की और फिर जड़वत् स्तब्ध खड़े रैक्व के पास आयीं।

रैक्व को उस प्रकार खड़ा देख उनका हृदय स्नेह से भर आया। बोलीं, "क्या सोच रहा है बेटा, इतना उदास क्यों है?" रैक्व क्षुब्ध जान पड़े। बोले, "माँ, लगता है यह वही रथ-चालक है जो शुभा को लेकर उस दिन चला था। हाय, बिचारा मर ही गया। पर उसके मरने से किसी और पर विपत्ति पड़ेगी, यह तो मुझे उस समय सूझा ही नहीं। पर शुभा तो जानती होगी, उसे भी इसका कुछ ध्यान नहीं रहा। अच्छा माँ, राजा जानश्रुति तो बड़ा जिज्ञासु माना जाता है, उसे इस दुखिया की कोई परवा ही नहीं। तत्त्वज्ञान के पीछे जो व्यक्ति पागल है, उसे इतना ध्यान तो रखना ही चाहिए।"

माताजी ने दीर्घ निःश्वास लिया—"बेटा, तू नहीं जानता, संसार में कितना दुःख-दैन्य है! पर छोड़ इन बातों को। यह बता कि तेरी पिताजी से क्या बात हुई?"

"माँ, पिताजी ने मेरी तपस्या की एक बड़ी त्रुटि समझा दी है। मैंने सत्संग नहीं किया। सोच रहा था सत्संग के लिए शुभा को खोजूँ, पर शुभा भी अज्ञानी ही जान पड़ती है। इस दुखिया की बात भी वह नहीं सोच सकी।"

"सो तो है।"

"पर सत्संग के लिए शुभा को खोजना ही पड़ेगा। फिर तुम भी तो हो!"

माताजी के चेहरे पर हल्की मुस्कान आ गयी।

"तो सत्संग का एक साथी शुभा होगी, दूसरा तुम्हारी माँ होगी। और कोई तीसरा भी सोच सकता है, बेटा?"

"मैं तो सोच नहीं पा रहा हूँ, माँ! और किसी को मैं जानता ही नहीं। लेकिन पिताजी ने बताया है कि तपस्या की कसौटी तो समाज है। इसका क्या मतलब हुआ, माँ?"

"मान ले बेटा, तू किसी जंगल में अकेला तप कर रहा है, तू सत्यवादी है। अब इस बात की परीक्षा कैसे होगी कि तू सचमुच सत्यवादी है। जब दस मनुष्यों के सम्पर्क में आयेगा, कहीं तेरे स्वार्थ पर चोट पहुँचेगी उस समय अपना मतलब साधने के लिए झूठ नहीं बोलेगा, किसी बात को छिपाने का प्रयत्न नहीं करेगा, तभी न मालूम हो सकेगा कि तू सत्य पर दृढ़ है? अकेले-अकेले तो हर आदमी सत्यवादी और धर्मनिष्ठ होने का दावा कर सकता है। दस जनों के सम्पर्क में आने से ही न उसकी निष्ठा की परीक्षा होगी? समझ रहा है न, बेटा?"

"तो माँ, यह जो परम तत्त्व के बारे में तत्त्वजिज्ञासुओं में चर्चा होती है वह धर्म या सत्य नहीं है?"

"देख बेटा, तू किस तत्त्व को सबसे बड़ा, प्रबल या एकमात्र तत्त्व मान रहा है, यह धर्म का निर्णायक नहीं है। धर्म कुछ कर्त्तव्यों और आचरणों से प्रकट होता है। सुना है बेटा, आजकल कुछ तत्त्वज्ञानी यह भी कहने लगे हैं कि ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता माने बिना भी धर्म का आचरण किया जा सकता है। जो अपने-आपकी सुख-सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए अपना प्राण तक त्याग सकता है, वही धार्मिक है। वह परम या चरम तत्त्व के बारे में क्या मानता है, यह बड़ी बात नहीं। बड़ी बात है कि वह कैसा आचरण करता है, औरों के साथ कैसा व्यवहार करता है, उनके लिए कितना त्याग कर सकता है; यही तय करेगा कि वह धर्म-परायण है या नहीं।"

"तो माँ, यह परम तत्त्व की खोज बेकार है?"

"बेकार तो नहीं है बेटा, कई बार यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या कर्त्तव्य है और क्या कर्त्तव्य नहीं है। उस समय यदि परम तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट रहे तो उसी की अपेक्षा में निर्णय करना आसान होता है।"

"समझ में नहीं आ रहा है, माँ!"

"देख, धर्म कुछ मूल्यों से बनता है और मूल्यों का निर्णय परम तत्त्व की

अपेक्षा में ही होता है।"

रैक्व चिन्ता में पड़ गये। उन्हें माँ की बातें पहेली-जैसी लगीं। थोड़ी देर चिन्तित मुद्रा में खड़े ही रह गये।

माताजी भी थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ी रहीं। ऐसा जान पड़ा, वे कुछ पुरानी स्मृतियों में खो गयी हैं। थोड़ा रुककर उन्होंने इस प्रकार कहा जैसे प्रत्येक वाक्य को तौल-तौलकर जाँच कर रही हों—"बेटा, आजकल लोग मूल तत्त्व की खोज में पागल-से हो रहे हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे जान पड़ते हैं कि शरीर, प्राण, मन, बुद्धि—सभी नष्ट हो जानेवाले तत्त्व हैं। सच्चा तत्त्व, जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसके बल पर सब-कुछ जी रहा है और अन्त में सबको जिसमें लीन हो जाना है वह ब्रह्म है, वही शरीर में आत्मा है। उसे देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। इसी को एक शब्द में 'तज्जलान' कहा जाता है। मेरी समझ में यह सब नहीं आता। आ भी नहीं सकता। मेरे लिए इनकी एक ही उपयोगिता है कि ऐसा करना चाहिए जिससे केवल नाशमान् पदार्थ ही जीवन का लक्ष्य नहीं बन जायें। पर मैं उन नाशमान् कहे जानेवाले पदार्थों की उपेक्षा की बात नहीं सोच पाती। आखिर मनुष्य के आचरण उसके संकल्प से ही स्थिर होते हैं। संकल्प तो मन में ही होगा। मन की हम कैसे उपेक्षा कर सकते हैं? पुराने ऋषियों ने कहा था कि यह मनुष्य काममय है, कामनाओं से भरा हुआ है। वह जैसी कामना करता है वैसा ही उसका संकल्प होगा; जैसे उसके संकल्प होंगे वैसा ही वह कर्म करेगा और जैसे उसके कर्म होंगे वैसा ही वह फल प्राप्त करेगा। यह कामना और संकल्प तो मन में ही पैदा होंगे। कर्म तो इन्द्रियों द्वारा ही निष्पन्न होगा। हों नाशमान् पर ये प्राण, मन, इन्द्रिय, शरीर—ये ही तो हमारे साधन हैं। इनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है। पुराण-ऋषियों की यह बात मुझे बहुत पसन्द आती है कि 'कामना-रूपी नदी पुण्य और पाप के दो किनारों के बीच प्रवाहित होती है, अपने संकल्प या दृढ़ निश्चय के द्वारा हमें इसे पुण्य के अनुकूल करना होता है।' इसलिए मन की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।"

"पाप और पुण्य कैसे समझ में आयेंगे, माँ!"

"हाँ बेटा, तूने ठीक प्रश्न किया है। बादरायण व्यास ने कहा है कि जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, वह पाप-कार्य है। पर जिससे किसी का दुःख दूर हो, उसका इहलोक और परलोक सुधर जाये, रोगी निरोग हो जाये, दुखिया सुखी हो जाये, भूखा अन्न पाये, प्यासा जल पाये, कमज़ोर लोग आश्वासन पायें, वे सब पुण्य हैं; क्योंकि इनसे अन्तःकरण में विराजमान परम देवता प्रसन्न होते हैं।"

"समझ रहा हूँ माँ, इस दुखिया का दुःख दूर करना पुण्य है। यह कर्त्तव्य है। इसकी ओर ध्यान न देकर राजा जानश्रुति ने पाप किया है।"

"सो तो है।"

"अच्छा माँ, इस स्त्री को मैं क्या कहूँ ?"

"देख बेटा, अपने से छोटी स्त्रियों को बेटी कहा जाता है, समान अवस्था की स्त्रियों को बहिन कहा जाता है और बड़ी उमर की स्त्रियों को माँ कहा जाता है। इसे तू दीदी कहा कर। मैंने उसे बेटी कहा, वह तेरी बहिन हुई, बड़ी बहिन को दीदी कहा जाता है। समझा ?"

"शुभा को क्या कहूँगा, माँ ?"

"मुझे तनिक समझ लेने दे। बाद में बता दूँगी कि तू उसे क्या कहकर पुकारेगा।"

"अच्छा माँ, सभी स्त्रियों को पारिवारिक सम्बन्धों में ही क्यों पुकारा जाता है ?"

"अपने भले के लिए। पारिवारिक सम्बन्ध, चाहे वे वास्तविक हों या कल्पित, मनुष्य के अवचेतन को पवित्र और निर्मल बनाते हैं। जिस दिन लोग इस बात को भूल जायेंगे, उस दिन समाज उच्छिन्न हो जायेगा।"

"नहीं समझ सका, माँ !"

"समझेगा। शुभा शायद समझा सकेगी।"

"नहीं समझा सकेगी माँ, उसने इतना बड़ा पाप किया है।"

"तो पहले उसे समझाना पड़ेगा कि उसने पाप किया है और जब उससे वह मुक्त हो जायेगी तो वह तुझे समझायेगी कि पारिवारिक सम्बन्ध, भले ही वे काल्पनिक हों, कितने पवित्र होते हैं !"

"मैं शुभा को खोजने जाऊँ, माँ ?"

"तू उसे कैसे खोजेगा ? वह राजकुमारी है, उसके पास सभी थोड़े ही पहुँच सकते हैं ?"

"फिर मैं कैसे समझाऊँगा कि उसने पाप किया है ?"

"सोचना पड़ेगा। अभी तो चल, तुझे अच्छी तरह स्नान करा दूँ। मैंने नापित बुलवाया है, वह तेरा चेहरा खिला देगा।"

"अच्छा माँ, अगर तुम मेरी दाढ़ी और केश की सफ़ाई कर दो तो शुभा मुझे पहचान लेगी ?"

"कैसे कहूँ ? शायद पहचान ले, शायद न पहचाने।"

"तो फिर रहने दो माँ, शुभा ने अगर नहीं पहचाना तो न मैं उसे इस दुखिया दीदी के बारे में कुछ बता पाऊँगा, न कोई सत्संग ही कर सकूँगा।"

माताजी के अधरों पर हल्की मुस्कान थी। वे बोलीं, "तो शुभा का पहचानना अधिक आवश्यक है। तू जैसा कहेगा वैसा ही होगा। लेकिन एक बार अच्छी तरह बालों को धो देने में तो कोई हर्ज नहीं है। चल, ज़रा तिल के पत्तों के झाग का गुण तो देख ले।"

रैक्व छोटे बच्चे की तरह माँ के निर्देश पर तिल के पत्तों के झाग का गुण देखने चले।

सात

जाबाला दिन-पर-दिन सूखती गयी। आचार्य औदुम्बरायण की दुश्चिन्ताओं का अन्त नहीं था। राजा जानश्रुति कल्पना-विहारी जीव थे। तत्त्वज्ञान के पीछे वे पागल थे। संसार का मूल तत्त्व क्या है, अगर वह ब्रह्म है तो निमित्त कारण है या उपादान कारण है? वह कौन-सी चीज़ है जिसमें समस्त चराचर जगत् उत्पन्न होता है, जीवित रहता है और फिर सबको अपने-आपमें समेट लेता है? मृत्यु के बाद आत्मा नाम की कोई चीज़ बनी रहती है या सब-कुछ खत्म हो जाता है; जागरण, स्वप्न और निद्रा से भिन्न कोई चतुर्थ अवस्था है या नहीं?—इन्हीं बातों की उधेड़बुन में वे लगे रहते थे। जब कभी किसी तत्त्वज्ञानी से उनका साक्षात्कार हो जाता था तो घण्टों बैठकर इन बातों पर विचार करते थे और बाद में अपनी प्यारी बिटिया से उनकी चर्चा करते थे। जाबाला उनके विचारों को सदा उत्साह-पूर्वक सुनती और अपनी शंकाएँ बताती। पर जब से वह अस्वस्थ रहने लगी थी, उनके तत्त्वचिन्तन में भारी बाधा आ पड़ी। आचार्य औदुम्बरायण उनके पुरोहित भी थे और परिवार के संरक्षक भी। वे बार-बार उनसे चिरौरी करते कि वे जाबाला का कोई उपचार सुझायें। आचार्य भी कम परेशान नहीं थे। जाबाला के लिए वे माता, पिता, गुरु, सब थे। वैद्यों और ओझा लोगों से उपचार पूछते, जड़ी-बूटियाँ ले आते, मन्त्र-जप करते और अनेक प्रकार के टोटकों का भी प्रयोग करते। कठिनाई यह थी कि जाबाला स्वयं इन बातों को अनावश्यक समझती थी। वह बराबर यही कहती कि वह बिल्कुल ठीक है। उसके लिए आचार्य को या पिताजी को परेशान होने की ज़रूरत नहीं है।

लेकिन परेशान वह स्वयं थी। जब तक वह जानती थी कि तरुण तापस आस-पास ही कहीं है, वह उस टूटी गाड़ी की छाया में बैठा पीठ खुजलाया करता है और समाधि लगाये बैठा रहता है, तब तक उसे आशा थी कि एक बार उससे मिलेगी। देखेगी कि महाभागा शुभा को देखकर उसके चेहरे पर क्या भाव आते हैं। पर उसे कोई युक्ति नहीं सूझती थी कि कैसे उससे मिले। वह आचार्य से अपनी आकांक्षा प्रकट करती तो यह बहुत कठिन नहीं होता, पर कैसे कहे? कोई अज्ञात भावना उसका कण्ठ-रोध कर देती थी। हर बार वह मन मसोसकर रह जाती। सोचती, मिलना तो एकान्त में ही ठीक होगा। वह भोला मृग-छौना न जाने उसे देखकर क्या कर बैठे? उसका मन कहता कि वह दुनिया की रीति-नीति से अन-भिज्ञ तापस शायद अपने गुरु को देखकर उसके चरणों पर सिर धर दे, शायद अपनी प्रिया को देखकर लिपट ही जाये। शायद अपने सर्वज्ञ तत्त्वज्ञानी को पाकर अनगढ़ प्रश्नों की बौछार ही शुरू कर दे, शायद साम-गान के समान पवित्र शुभा-स्तुति से उसे अभिभूत ही कर डाले। बिचारा बड़ा ही भोला है, उसे उचित-अनुचित का ज्ञान भी तो नहीं है। बुद्धिमान् है। स्वयं-परीक्षित सत्य में विश्वास रखनेवाला है,

श्रद्धावान् है, पर संसार से एकदम अपरिचित है। क्या ठिकाना, कैसा व्यवहार करे। भले मानस ने स्त्री-पदार्थ देखा ही नहीं। जिज्ञासु ऐसे कि यही परीक्षा करने लगे कि अभागिनी जाबाला की आँखें किसी मृग की आँखों को चिपकाकर तो नहीं बनायी गयी हैं; स्वयं परीक्षा के ऐसे धनी कि स्वयं हाथ से मसलकर ही केशों की कोमलता का अन्दाज़ लगाने लगे! भोलेपन की हद है!

मगर अब पता नहीं, कहाँ चल पड़े हैं। गये हैं आत्मा की खोज करने! बुरी घड़ी में मैंने पूछ दिया था कि तुम जिसे प्राण कहते हो वह वही चीज़ तो नहीं है जिसे याज्ञवल्क्य आत्मा कहते हैं। वह तो कहो कि मैंने अपना नाम नहीं बताया, नहीं तो जैसे शुभा-शुभा की रट लगाये हैं वैसे ही जाबाला-जाबाला की रट लगाते। लोगों से कहते कि आप कैसे जानेंगे, जाबाला से तो आप मिले नहीं। फिर मैं मुँह दिखाने लायक़ नहीं रहती।

तत्त्वज्ञान की चर्चा अब जाबाला को अच्छी नहीं लगती। यह क्या चीज़ है जिसने तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा को एकदम उड़ा दिया है? जाबाला समझ नहीं पाती।

बार-बार अपने को प्रिया-रूप में सोचने में उसे एक अपूर्व गुदगुदी अनुभव होती। फिर थोड़ी हँसी भी आती। वह तो एकदम जंगल का जीव है। उसे क्या मालूम कि प्रिया किस चिड़िया का नाम है। पर वह बार-बार इसी रूप में अपने को क्यों सोचती है? उसे ऐसा नहीं सोचना चाहिए। उड़ता पंछी कहाँ से आया, कहाँ गया! उसके बारे में सोचते रहना क्या उचित है? मगर मन मानता नहीं। जो कुछ उसने सुना है उससे लगता है कि शुभा उसके हृदय में बैठ गयी है, उसका नाम वह श्रद्धा से लेता है, गुरु-रूप में लेता है। यह क्या प्रिया के बारे में सोचना है? पर और हो भी क्या सकता है यह प्रेम के सिवा? जाबाला व्याकुल हो जाती है। उससे एक बार, सिर्फ़ एक बार, मिलने का अवसर किसी प्रकार मिल पाता! नहीं मिला, अब तो मिलेगा भी नहीं। हाय, किसे वह अपनी मनोव्यथा बताये! जो सुनेगा वह हँसी उड़ायेगा। नहीं, उसकी बात सोचना उचित नहीं है। जाबाला बार-बार निश्चय करती कि अब उसके बारे में नहीं सोचेगी, नहीं सोचती। पर यह निश्चय बहुत क्षणिक होता। खाते समय, सोते समय, काम-काज करते समय वह यही सोचने लगती कि वह तापस इस समय क्या कर रहा होगा।

जाबाला को अब कुछ भी अच्छा नहीं लगा। कहीं कुछ हो गया है, कहीं कुछ खो गया है!

आचार्य औदुम्बरायण चिन्तित थे। एक दिन उन्हें पता चला कि किसी दूर गाँव में कोई सिद्ध महात्मा आये हैं, उनके आशीर्वाद से अनेक दुःखी लोग अपनी कठिनाइयों से मुक्त हो चुके हैं। वे उनकी खोज में गये। मिलकर आचार्य को बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। वे बहुत उदास लौटे। जाबाला जानती थी कि वे उसके लिए बहुत चिन्तित हैं, पर उनकी आज की उदासी कुछ और तरह की थी। जाबाला पहलेवाली उदासी और इस नयी उदासी का अन्तर नहीं समझ सकी। उसने

अप्रसन्नता प्रकट करते हुए पूछा कि वे उसके लिए इतना क्यों परेशान हो रहे हैं, उसे हुआ क्या है, ठीक ही तो है ! आचार्य अन्य दिनों की भाँति हँसकर उत्तर न दे सके। वे और भी गम्भीर हो गये। जाबाला को यह विचित्र लगा। वह उनकी ओर अभियोग-भरी कातर दृष्टि से देखने लगी। आचार्य कुछ अधिक ही गम्भीर लगे। वे अत्यन्त क्लान्त-श्रान्त की भाँति बिना कहे ही एक आसन पर बैठ गये। जाबाला कुछ समझ नहीं सकी कि आज आचार्य इतने उदास क्यों हैं ? इतने उदास तो वे कभी नहीं होते। देर तक दोनों चुप रहे। आचार्य ने ही मौन भंग किया। बोले, "बेटी, तू ठीक समझ रही है, मैं तेरे स्वास्थ्य के बारे में बहुत चिन्तित हूँ। पर आज की चिन्ता कुछ और के लिए है। जनपद में एक महात्मा के आने का समाचार मिला था। प्रजा को उनकी चमत्कारी शक्तियों पर बड़ी आस्था है। वे जब प्रसन्न चित्त से आशीर्वाद देते हैं तो लोगों के सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं, ऐसा मैंने सुना था। सोचा, तेरे लिए आशीर्वाद माँग लूँ। पर मेरा जाना बुरा हुआ। मैं भविष्य की चिन्ता से आतंकित होकर लौटा हूँ।"

जाबाला का मन सनाका खा गया। कैसे अनिष्ट की चिन्ता से आचार्य व्याकुल हैं ? क्या तरुण तापस के किसी अनिष्ट की आशंका है ? वह प्रश्न-भरी आँखों से आचार्य को एकटक देखती रह गयी।

आचार्य औदुम्बरायण ने फिर थोड़ी देर चुप रहकर आकाश की ओर देखा। ऐसा लगा, जैसे ऊपर से किसी अदृश्य विपत्ति के अचानक आ गिरने की आशंका से द्युलोक को चीरकर उस पार देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। शंकित जाबाला ने पूछा, "क्या हुआ तात, स्पष्ट बताइए न ! मैं बहुत आकुल हो रही हूँ।"

आचार्य ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "नहीं, तुझे बहुत आकुल नहीं होना है। बता रहा हूँ।"

"हाँ तात, सब बताइए।"

"क्या बताऊँ बेटी, पहले तो उस महात्मा के प्रति अश्रद्धा हुई। मैंने सुना कि वे यज्ञ के विरोधी हैं, ब्राह्मणों के विरोधी हैं, देवताओं के विरोधी हैं, यहाँ तक कि एकान्त के तप और मनन के भी विरोधी हैं। ऐसे आदमी के पास जाकर क्या मिलेगा ? पर जब पहुँच ही गया, तो एक बार मिल लेने से क्या हर्ज है, ऐसा सोचकर चला गया।"

"तो आप उनसे मिले ?"

"मिला न ! तभी तो चिन्तित हो गया हूँ।"

"क्या कहा उन्होंने ?"

"क्या कहा, वह तो बाद में बताऊँगा। पहले उन्हीं के बारे में सुन। महात्मा प्रायः निर्वस्त्र थे। वे बहुत वृद्ध तो नहीं थे, केश उनके अभी काले थे, पर उनमें एक विचित्र प्रकार का तेज था। ऐसा लगता था किसी बिल के द्वार पर मणिधर सर्प ने अपनी मणि उतार कर रख दी है। शरीर उनका काला था, नाक चिपटी, कान बड़े-बड़े चौड़े और ललाट सपाट। उनके निकट जो स्त्री-पुरुष बैठे थे वे प्रायः

छोटी जाति के लोग थे, पर उनके चेहरों पर श्रद्धा की चमक थी। महात्मा सामने आग की धूनी जलाये बैठे थे, उनका सारा शरीर इसी धूनी की भस्म से पुता हुआ था। पास में एक ताँबे का चिमटा था और एक मिट्टी का टोंटीदार पात्र भी, जिसमें वे जल रखते होंगे। मुझे देखते ही उन्होंने पूछा, 'ब्राह्मण हो ? यज्ञ-याग का अनुष्ठान करते हो ?' मैंने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। फिर बोले, 'कैसे आये हो ?' मैंने अनिच्छापूर्वक कहा कि मेरी बेटी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, आपके आशीर्वाद के लिए आया हूँ। वे ठठाकर हँसे—'यज्ञ-याग से कुछ लाभ नहीं हुआ?' मुझे बुरा लगा। पर चुप रहा। गृहस्थ को साधु के विचारों की नहीं, उसके आशीर्वाद की आकांक्षा रहती है। सो, मैं चुप बैठा यही सोच रहा था कि अब उठ पड़ूँगा। मुझे आश्चर्य तब हुआ जब मैंने अचानक सुना कि वे कह रहे हैं—'उठना मत। मेरी बात तुम्हें अच्छी नहीं लगी, पर मैं बेटी का दुःख दूर करने का उपाय सोच रहा हूँ।' फिर उन्होंने बहुत-से प्रश्न किये। कब से कष्ट है ? क्या कष्ट है ? क्या-क्या उपचार हुए हैं ? आदि-आदि। मैंने भी वर्षावाले दिन की और उसके बाद की घटनाओं को सही-सही बता दिया।"

"फिर क्या हुआ ?"

"वे आँखें मूँदकर सुनते रहे। सब सुनने के बाद उन्होंने मेरी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। समझ नहीं सका कि उसमें क्रोध का भाव था या कुतूहल का। फिर एकाएक गरजकर बोले, 'तुम क्या राजा जानश्रुति हो ? उसी की कन्या तो उस दिन वर्षा और आँधी में फँसी थी !' मैंने विनीत-भाव से कहा कि मैं राजा जानश्रुति का पुरोहित हूँ। जिस लड़की के स्वास्थ्य के बारे में आपका आशीर्वाद पाने आया हूँ उसके जनक तो राजा जानश्रुति हैं, पर वह मेरी भी बेटी है। आप यही समझें कि वह मेरी ही बेटी है। मैंने ठीक कहा न, बेटी ?"

जाबाला ने साश्रु नयनों से आचार्य को देखा। बोली, "आपने ठीक ही कहा, तात ! बिल्कुल सही। मेरे लिए और कौन इतनी चिन्ता कर सकता है ? पर फिर कहती हूँ, तात, आप व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं। मैं तो आप ही के आशीर्वाद से ठीक हो रही हूँ।"

आचार्य ने स्नेह से जाबाला के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "परेशान होने की क्या बात है, बेटी ? महात्माओं के आशीर्वाद से तो मंगल ही होता है। अगर मैं वहाँ न गया होता तो इसका एक पक्ष प्रकट ही नहीं हो पाता।"

"सो क्या, तात ?"

"बताता हूँ। महात्मा ने पहले जो थोड़ा रोष प्रकट किया था, वह ठण्डा हुआ। बोले, 'आप ठीक कहते हैं, परन्तु तब तक यह झूठ ही रहेगा जब तक आप केवल जानश्रुति की बेटी को ही बेटी समझें और प्रजा की बहू-बेटियों को भी उसी प्रकार बेटी न समझें। आप राजा जानश्रुति के पुरोहित हैं। 'प्रजा' शब्द का अर्थ ही सन्तान है। राजा के लिए प्रजा की सारी बेटियाँ उसकी अपनी बेटी हैं। सबका समान ध्यान रखना चाहिए। मुझे दुःख है कि राजा जानश्रुति और

उनके पुरोहित इस ओर से बिल्कुल अनवहित हैं।' मैंने विनीत-भाव से पूछा कि क्या वे ऐसा कुछ जानते हैं जिससे राजा या उनके पुरोहित का प्रमाद प्रकट होता हो ? महात्मा ने कहा, 'अभी बताता हूँ। पहले तुम्हारी बेटी का उपचार बता दूँ।' "

"विचित्र लग रहा है, तात ! क्या उपचार उन्होंने बताया ?"

"उन्होंने बताया कि 'तुम्हारी बेटी को कोई मानसिक कष्ट है। उसके मन की बात समझने का प्रयास करो।' फिर थोड़ा सोचकर बोले, 'उसके मनोविनोद के लिए और मनोदेवता की आराधना के लिए कोहलीयों के नृत्य-नाट्य की व्यवस्था करो। कोहलीयों ने मन के देवता को पहचाना है, वे नाना कौशल से मनोजन्मा विकारों का शमन करते हैं। पहले तुम्हारे ऋषि लोग इन बातों को महत्त्व नहीं देते थे। अब तो वे भी नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ और नाट्य को पाँचवाँ वेद मानने लगे हैं। लेकिन एक बात का ध्यान रखना। नृत्य का और नाट्य का उद्देश्य चैतन्य को जाग्रत करना है। आजकल बहुत-से वृत्ति-जीवी उनसे जड़ मनोविकारों को जगाने का काम लेने लगे हैं। कोहलीयों में यह दोष नहीं है।' "

"यह भी विचित्र है ! फिर क्या कहा ?"

"फिर बोले, 'एक आध्यात्मिक अपराध भी हुआ है। उसका परिणाम बुरा होगा।' "

"आध्यात्मिक अपराध ! आध्यात्मिक अपराध तो पाप होता है न, तात ?"

"पाप ही समझो। महात्मा ने 'आध्यात्मिक अपराध' ही कहा था।"

"क्या अपराध बताया, तात ?"

"वह गाड़ीवान मर गया। उसकी पत्नी और नन्हा-सा बच्चा अनाथ हो गये। भूख-प्यास से व्याकुल, शोक से आर्त्त होकर वह न जाने कहाँ भटक रही है। महात्मा ने बताया कि 'जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियाँ भूख-प्यास से व्याकुल होती हैं उसका सत्यानाश हो जाता है—और राजा नरक का अधिकारी होता है। राजा जानश्रुति के राज्य में एक नहीं अनेक स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, भूख से, प्यास से, रोग से व्याकुल हैं। जाकर जनपद में प्रत्यक्ष देख आओ !' इतना कहकर महात्मा एकदम चुप हो गये।"

"भयंकर बात है ! आपने क्या जनपद के लोगों को देखा, तात ?"

"देखा। महात्मा ठीक कह रहे हैं। राजा जानश्रुति ब्रह्मतत्त्व को जानने के लिए व्याकुल हैं, उधर प्रजा में त्राहि-त्राहि मची हुई है। मैं तो कर्त्तव्य-मूढ़ हो गया हूँ, बेटी ! पाप तो हो ही रहा है !"

"नहीं तात, अपनी इस बेटी के रहते आपको कर्त्तव्यमूढ़ नहीं होना पड़ेगा। मैं जनपद में घूमूँगी, आपको साथ लेकर। जब तक प्रजा भूखी है, जाबाला को शान्ति नहीं मिलेगी। इसमें बहुत सोचना नहीं है। पर उस स्त्री को और उसके बच्चे को कैसे खोजा जाये ? सारे पाप के मूल में तो मैं ही हूँ। हे भगवान् ! यह सीधी-सी बात मुझे पहले क्यों नहीं सूझी ?"

"नहीं, अभी तुझे जनपद में घूमने को मैं नहीं कहूँगा। राजा से बात करके मैं अन्न-वितरण का कार्य शुरू कर देता हूँ। लेकिन केवल अन्न-वितरण से तो काम नहीं चलेगा। फिर सारी प्रजा को भिक्षा पर आश्रित भी तो नहीं बनाया जा सकता। उन्हें काम देना होगा। यह राजा की सहायता के बिना कैसे होगा ?"

"तो मैं अभी निष्क्रिय बैठी रहूँ ?"

"मैं लौटकर फिर महात्मा के पास गया था। पर वे उस स्त्री को और उसके बच्चे को खोजने निकल पड़े हैं। जाते समय कह गये हैं कि दुखियों का दुःख दूर करना ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है, यही तप है, यही मोक्ष है !"

"यह बात जँच रही है। मेरा मनोविनोद अब कोहलीयों के नृत्य से नहीं होगा, इसी साधना से होगा। तातपाद बिल्कुल चिन्ता न करें। यदि कहीं कोई दुर्बलता मुझमें है तो इसी से दूर होगी। उठिए तात, अब अधिक विलम्ब करने से पाप का बोझ और बढ़ जायेगा।"

"आवेश में जो कार्य किया जाता है, क्षण-स्थायी होता है।"

"मैं आवेश में नहीं कह रही हूँ तात, कर्त्तव्य-बुद्धि से कह रही हूँ। आप स्वयं देख आये हैं कि लोग कितने दुःखी हैं, फिर मेरा घर में बैठे रहना क्या उचित होगा ? बहुत दिनों से सुनती आ रही हूँ कि आत्मा अजर है, अमर है, उसका अधिष्ठान यह शरीर विनाशमान है। यह क्या बात की बात है ? मेरा अन्तरतर आज चिल्लाकर कह रहा है कि शरीर, मन, प्राण, सभी विनश्वर साधन तभी सार्थक होंगे जब उन्हें दुखियों का दुःख दूर करने में लगा दिया जायेगा। कुछ अन्यथा कह रही हूँ, तात ?"

"नहीं बेटी, तू बिल्कुल ठीक कह रही है। पर विधाता ने मनुष्य को शरीर, मन, प्राण के अतिरिक्त बुद्धि भी दी है। देवकी-पुत्र कृष्ण ने कहा है कि सेवा भी समझ-बूझकर करनी चाहिए— बुद्धावनवेष्टव्या ! थोड़ा समझना तो पड़ेगा ही। तात्कालिक उपाय तो कल से शुरू कर दिये जायेंगे। तू तब तक स्वस्थ हो जा ! स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ चित्त का निवास होता है। स्वस्थ चित्त में ही सात्त्विक संकल्प पुष्ट होता है।"

"मुझे कुछ भी तो नहीं हुआ है, तात ! आपने मुझे वीर-बाला बनने की शिक्षा दी है, वह कब काम आयेगी !"

"समय नहीं हुआ है। तुझे कुछ मानसिक चिन्ता है। इसीलिए तेरा खाना, पीना, सोना सब विघ्नित है। तू सूखती जा रही है। कितनी क्षीण हो गयी है ! मैं जानता हूँ, तू वीर-बाला है। जानती है, प्रातृद ने अपने पिता से वीर शब्द की क्या व्याख्या की थी ? उन्होंने बताया था कि 'वीर' शब्द के 'वी' अक्षर का अर्थ है विष्ट अर्थात् अन्न; और 'र' अक्षर का अर्थ है रमण—प्राण। अन्न में ही सब प्राणी प्रविष्ट हैं और प्राण में ही सब रमण करते हैं। जो इन दोनों का रहस्य जानता है, इनका सामंजस्य कर सकता है, उसी को वीर कहते हैं, वह सबका आश्रय हो जाता है। तू इस रहस्य को भूल गयी है। प्राण और अन्न का सामंजस्य नहीं कर

पा रही है। यह तुझे सबका आश्रय बनाने में बाधक हो रहा है। देख बेटा, अन्न और प्राण के सामंजस्य को तो मन ही भिन्न-भिन्न कर सकता है। महात्मा ने भी बताया है कि तुझे मानसिक कष्ट है। बता न बेटा, तुझे क्या मानसिक कष्ट है?"

जाबाला ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसके कपोल-मण्डल पर लालिमा की तरंग खेल गयी। आँखें अनायास नीची हो गयीं। क्या बतावे? कुछ बताने योग्य भी तो हो। वृद्ध आचार्य की अनुभवी आँखों से किशोरी के पाण्डुर कपोलों पर अचानक खेल जानेवाली यह लालिमा छिप नहीं सकी। वे असमंजस में पड़ गये।

आठ

रैक्व ने अपनी नयी दीदी से जनपद के बारे में अनेकविध जानकारी प्राप्त की। पिछले दो वर्षों से वर्षा न होने से लोग भूख-प्यास, रोग-शोक से त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। राजा की ओर से कोई खोज-खबर नहीं ली गयी है। कितने ही लोग—स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध—भूख से तड़प-तड़पकर मर गये हैं। उस दिन जो भारी वर्षा हुई, उससे आगे आनेवाले दिनों में कदाचित् अच्छी खेती हो सकेगी और लोगों को कुछ-न-कुछ खाने को अन्न और पीने को पानी मिलेगा, पर इस समय तो लोग व्याकुल हैं। जब आशा का कुछ वातावरण बना, उसी समय दीदी पर कुछ ऐसा आ पड़ा कि वह और भी संकट-ग्रस्त हो गयी और गाँव छोड़ने को बाध्य हुई। इस समय कौन किसकी सहायता कर सकता है? रैक्व को गहरी व्यथा हुई। यह सब क्या है? क्या इस संकट से उबरने का कोई मार्ग है? कौन इस विषम परिस्थिति में मार्ग-दर्शन कर सकता है? उसके मन में रह-रहकर शुभा की दिव्य मूर्त्ति आ जाती। वही ठीक उपाय बता सकती है। वह परम ज्ञानी है, धर्म का रहस्य समझती है, उचित-अनुचित का विवेक रखती है। शुभा ही बता सकती है कि इस समय क्या करना चाहिए। उसकी वाणी में अमृत है। आँखों में शामक तेज है, मुख पर दैवी कान्ति है। कितनी मनोज्ञ है शुभा, कितनी बुद्धिमती! इस समय वह मिल जाती तो कितना अच्छा होता! मगर यह पाप भी तो उसी से हुआ है। रैक्व का मन थोड़ी देर के लिए क्षोभ से व्याकुल हुआ। फिर समाधान भी मिल गया। जैसे मुझे इस घटना के पाप-पक्ष का भान नहीं हुआ, उसी प्रकार शुभा को भी भान न होने की सम्भावना भी तो है। बताना चाहिए। अवश्य शुभा को बताना ही होगा। वे व्याकुल भाव से माताजी के पास गये।

माताजी से अपनी व्याकुलता बताकर बोले, "माँ, मैं जानना चाहता हूँ। शुभा से मिलकर यह सब बताऊँगा और पूछूँगा कि क्या करना चाहिए। उसे पाप से बचाना भी तो है। शायद मेरी तरह शुभा को भी इस घटना के इस दारुण पक्ष की जानकारी न हो। क्या कहती हो माँ, इन दुखियों का दुःख दूर करने में मैं क्या कर सकता हूँ ?"

"कुछ करना तो अवश्य चाहिए, बेटा ! पर तू तो दुनिया का कुछ भी नहीं जानता। शुभा राजा की बेटी है। वह अवश्य कुछ उपाय कर सकती है, पर तू उससे मिलेगा कहाँ ?"

"क्यों, गाड़ी के पास। दीदी कह रही है, वह गाड़ी वहीं पड़ी है।"

माताजी को हँसी आ गयी। बोलीं, "तू समझता है कि शुभा गाड़ी के पास ही चक्कर काटती होगी ! नहीं रे, राजकुमारियाँ ऐसे जहाँ-तहाँ नहीं मिलतीं। उस दिन तो कुछ संयोग ऐसा था कि वहाँ मिल गयी। प्रतिदिन ऐसा संयोग थोड़े ही आता है। तू तो उस गाड़ी के नीचे कई दिन रहा, कितनी बार तुझे वहाँ शुभा के दर्शन हुए ?"

रैक्व म्लान हो गये। माताजी की बात ठीक लगती है। पर गाड़ी को कैसे छोड़ा जा सकता है ? उनके हताश चेहरे को देखकर माताजी ने कहा, "मान ले, शुभा नहीं मिलती, तो इन दुखियों के बारे में कुछ नहीं करेगा ?"

"करूँगा माँ, अवश्य करूँगा। तुम जैसा कहोगी वैसा करूँगा। बताओ न, क्या करूँ ! प्राणायाम से कुछ सधनेवाला है ? सधे तो प्रयत्न करूँ। पिताजी तो कहते हैं, प्राण भी विनश्वर हैं।"

"मैं भी तेरे साथ चलूँगी। राजा जानश्रुति से भी मिलूँगी। परन्तु तू अपनी गुरुभक्ति ज़रा मन में ही रख। सबसे अपने गुरु, महाभागा शुभा का गुण-गान न करते फिरना। मैं जैसा कहूँगी, वैसा ही करने का वचन दे। तेरे साथ चलूँगी। बोल, मैं जैसा कहूँगी वैसा ही करेगा न ?"

"हाँ माँ, वैसा ही करूँगा।"

"प्राणायाम भी अपनी जगह पर ठीक है। पर तू इस घटना को खण्डदृष्टि से न देख। यह विशाल मानवता का प्रश्न है। तेरे पिताजी इसे वैश्वानर की उपासना कहते हैं।"

"वश्वानर क्या है, माताजी ?"

"वैश्वानर ? सम्पूर्ण विश्व का रूप ही नर-रूप में आराध्य है। खण्डदृष्टि से नहीं, पूर्ण दृष्टि से देखना ही वैश्वानर की उपासना है। पर चल, उन्हीं से पूछ ले। उनकी आज्ञा तो लेनी ही पड़ेगी। उनकी आज्ञा के बिना मैं तेरे साथ कैसे चल सकती हूँ !"

माताजी रैक्व को साथ लेकर ऋषि के पास पहुँचीं। वे उस समय प्रसन्न मुद्रा में थे। रैक्व को देखकर अतीव प्रसन्न-भाव से बोले, "कैसा लग रहा है, सौम्य ? माताजी के आश्रय में प्रसन्न तो है ? चिन्तन-मनन के कार्य में कोई व्याघात तो

नहीं आया ?''

रैक्व ने माताजी की ओर देखा। माताजी समझ गयीं कि अभी से वचनपालन होने लगा है। मन्दस्मित के साथ उन्होंने उत्तर दिया—"और क्या चाहिए, इस वयस्क बच्चे को माँ चाहिए थी, और आपको पुत्र चाहिए था। संयोग से दोनों का मनोरथ पूरा हुआ। भगवान् का अनुग्रह है !''

औपस्ति ऋषि प्रीत हुए। फिर माताजी ने वे सब बातें बतायीं जिनके कारण रैक्व ने जानपद जनों की सेवा का संकल्प किया है और यह भी बताया कि आपकी अनुमति हो तो मैं भी इसके साथ जाना चाहती हूँ। फिर यह अनुरोध भी किया कि जाने के पूर्व वे दोनों वैश्वानर-साधना का रहस्य जानने की आकांक्षा से उनके पास आये हैं।

ऋषि और भी प्रीत जान पड़े। बोले, "साधु वत्स, तुम्हारा संकल्प महान् है। तुम अपनी माताजी के साथ अवश्य जाओ। सौम्य, राग-द्वेष और तृष्णा-लोभ से परे पहुँचे हुए द्वैपायन व्यास ने कहा है कि लोक-ताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुष की परमाराधना है। यही वैश्वानर-उपासना भी है। मैं स्वयं तुम्हें वैश्वानर-साधना के बारे में बताने की सोच रहा था। अब तुम्हारे मन में यदि जिज्ञासा उठी है तो उत्तम अवसर भी मिल गया। पुत्र, जिज्ञासु को ही रहस्य समझाना चाहिए। वही चरितार्थ होता है। तुम सुनने के लिए उत्सुक हो न, वत्स ?''

रैक्व ने विनीत-भाव से कहा, "अवश्य सुनना चाहता हूँ।''

"तो सावधान होकर सुनो ! पहले मैं वह प्राचीन कथा सुनाता हूँ जो गुरुमुख से मैंने सुनी थी। फिर मैं तुम्हें अपने चिन्तन-मनन से प्राप्त विचारों को भी सुनाऊँगा। सुनो :

"उपमन्यु का वंशज प्राचीनशाल, पुलुष का वंशज सत्ययज्ञ, भल्लव का वंशज इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष्य का वंशज जन, अश्वतराश्व का वंशज बुडिल—ये पाँचों बड़ी-बड़ी शालाओं के स्वामी थे, वेदों के महान् पण्डित भी थे। एक बार ये इकट्ठे हुए और विचार करने लगे कि 'आत्मा' क्या है, 'ब्रह्म' क्या है ?

"वे इस निश्चय पर पहुँचे कि अरुण का वंशज उद्दालक आजकल 'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में लगा हुआ है, चलो, उसके पास चलें। वे उसके पास पहुँचे।

"उन्हें आया देखकर उद्दालक ने सोचा, ये महाशाल, महाश्रोत्रिय मुझसे ब्रह्म-ज्ञान विषयक प्रश्न करेंगे, मैं इनकी सब बातों का उत्तर न दे सकूँगा; किसी अन्य गुरु के पास उन्हें ब्रह्म-ज्ञान के लिए भेज दूँ।

"फिर उसने कहा, 'हे महानुभाव ! केकय देश का राजा अश्वपति आजकल 'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में लगा हुआ है। चलो, हम सब मिलकर उसी के पास चलें।' फिर वे सब उसके पास गये।

"जब वे उसके पास पहुँचे, तो राजा ने उनका अलग-अलग सम्मान करवाया और अगले दिन प्रातःकाल उठकर उनके पास पहुँचा और बोला, 'महानुभावो,

आपके शुभागमन से मैं धन्य हुआ। आप कैसे पधारे ? मेरे जनपद में कोई चोर नहीं है, कोई कृपण नहीं हैं, कोई मद्यप नहीं है, कोई अनाहिताग्नि नहीं है, कोई अविद्वान् नहीं है, कोई व्यभिचारी नहीं है—फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है ? हे महानुभावो ! फिर भी हो सकता है कि मेरे अनजाने में कहीं कुछ दोष रह गया हो। आप कृपापूर्वक मुझे त्रुटियों को बतावें। मैं हाल में ही एक यज्ञ करनेवाला हूँ, जितना-जितना एक-एक ऋत्त्विक् को धन दूँगा, उतना-उतना आपको भी दूँगा। आप मेरे यहाँ ही निवास करें !'

"उन्होंने कहा, 'राजन्, हम त्रुटि बताने नहीं आये हैं। मनुष्य जिस प्रयोजन से घूम रहा हो, जिस बात की खोज में हो, उसे वही कहना चाहिए। सुना है, आप आजकल 'वैश्वानर-आत्मा' पर विशेष मनन कर रहे हैं, आप हमें इसी का उपदेश दें।'

" राजा ने कहा, 'प्रातःकाल मैं इस बात का उत्तर दूँगा।' अगले दिन प्रातः-काल हाथ में समिधा लेकर वे राजा के पास पहुँचे। वैसे तो, शिष्य का उपनयन करके उसे दीक्षा भी दी जाती है, परन्तु राजा इन महात्माओं के विनय भाव को देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उनका बिना उपनयन किये ही उन्हें उपदेश देना स्वीकार किया।

" राजा ने पहले उपमन्यु के वंशज प्राचीनशाल से पूछा, 'आप किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करते हैं ?' उसने उत्तर दिया, 'हे राजन् ! मैं तो 'द्यु-लोक' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा, 'ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके विशाल रूपों में जो तेजोमय रूप है, आप उसकी उपासना करते हैं। आप वैश्वानर के सुतेजा रूप की आराधना करते हैं, इसलिए आपके घर में 'सुत' है, 'प्रसुत' है, 'आसुत' है, अर्थात् घर में सोम-रस की धाराएँ 'सुत' हो रही हैं, बह रही हैं। तभी परमेश्वर के आशीर्वाद से आपको भोजन मिलता है, प्रिय वस्तु दृष्टिगोचर होती है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के तेजोमय रूप की उपासना करता है, उसे उनके आशीर्वाद से भर-पेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्मतेज दीख पड़ता है। यह तेजोमय द्यु-लोक, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे आप खोज रहे हैं, 'मूर्धा' है, एक अंश है। आपका मूर्धा गिर जाता, अगर ब्रह्म के पूर्ण-रूप को जानने के लिए मेरे पास न आते।'

"फिर पुलुष के वंशज सत्ययज्ञ को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, 'हे प्राचीन-योग्य ! आप किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करते हैं ?' उसने उत्तर दिया, 'हे राजन् ! मैं तो 'आदित्य' को—इस सूर्य को—आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा, 'ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके अनेक रूपों में जो विश्व-रूप है, उसकी आप उपासना करते हैं। इसलिए आपके कुल में विश्व-रूप दिखायी देते हैं। वैश्वानर के ही आशीर्वाद से आपके यहाँ रथ चलते हैं, दासियाँ हैं, हार हैं, भर-पेट भोजन है,

सुहावने दृश्य हैं—यही सब तो विश्व-रूप है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के विश्व-रूप की उपासना करता है, उसे उसके आशीर्वाद से भर-पेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह विश्व-रूप आदित्य 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे आप खोज रहे हैं, 'चक्षु' है, एक अंश है। आप अन्धे हो जाते, अगर ब्रह्म के पूर्ण-रूप को जानने के लिए मेरे पास न आते।'

"फिर भल्लव के वंशज इन्द्रद्युम्न को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, 'वैयाघ्रपद्य ! आप किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करते हैं ?' उसने उत्तर दिया, 'राजन् ! मैं तो 'वायु' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा, 'ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्णरूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'पृथक्-वर्त्मा'—भिन्न-भिन्न भागों में बहने-वाला उसका रूप—है, उसकी उपासना करते हैं। वैश्वानर के अनुग्रह से आपके पास नाना भेंटें आती हैं, और नाना रथश्रेणियाँ पीछे-पीछे चलती हैं। उन्हीं के अनुग्रह से आप अन्न प्राप्त करते हैं, प्रिय-जनों को देखते हैं। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के नाना मार्गों में जानेवाले रूपों की उपासना करता है, उसे उनके आशीर्वाद से भर-पेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह पृथक्-पृथक् भागों में बहनेवाला वायु 'वैश्वानर-आत्मा' का 'प्राण' है। आपका प्राण निकल जाता, अगर आप ब्रह्म के पूर्ण-रूप को जानने के लिए मेरे पास न आते।'

"फिर शर्कराक्ष्य के वंशज जन को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, 'आप किसे 'आत्मा' समझ उसकी उपासना करते हैं ?' उसने उत्तर दिया, 'हे राजन् ! मैं तो 'आकाश' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'बहुल'—अनन्त—रूप है, उसकी आप उपासना करते हैं। इसी कारण आपके पास बहुल प्रजा तथा धन है। उन्हीं के अनुग्रह से आप अन्न प्राप्त करते हैं, प्रिय जनों को देखते हैं। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के बहुल-रूप की उपासना करता है, उसे उनके प्रसाद से भर-पेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह अनन्त आकाश 'वैश्वानर-आत्मा' का मध्य-भाग है, धड़ है। आपका धड़ नष्ट हो जाता, अगर आप ब्रह्म के पूर्ण-रूप को जानने के लिए मेरे पास न आते।'

"फिर अश्वतराश्व के वंशज बुडिल को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, 'वैयाघ्रपद्य ! आप किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करते हैं ?' उसने उत्तर दिया, 'हे राजन्, मैं तो 'जल' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा, 'ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'रयि' —सम्पत्ति, ऐश्वर्य —रूप है, उसकी आप उपासना करते हैं। इसी कारण आप रयिमान् तथा पुष्टिवान् हैं। भगवान् वैश्वानर के अनुग्रह से मनुष्य अन्न खाता है, प्रिय देखता है। जो इस प्रकार

'वैश्वानर-आत्मा' के रयि-रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु के प्रसाद से अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुल में ब्रह्म-वर्चस्व दीख पड़ता है। यह रयि-रूप जल 'वैश्वानर-आत्मा' का बस्ति-प्रदेश—मूत्राशय—है। आपका बस्ति-प्रदेश नष्ट हो जाता, अगर आप ब्रह्म के पूर्ण-रूप को जानने के लिए मेरे पास न आते।'

"फिर, अरुण के वंशज उद्दालक को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, 'हे गौतम! आप किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करते हैं?' उसने उत्तर दिया, 'राजन! मैं तो पृथिवी को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा, 'ठीक है। 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'प्रतिष्ठा'—सबको सम्भालनेवाला—रूप है, उसकी आप उपासना करते हैं। इसी कारण आप प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। उन्हीं के अनुग्रह से मनुष्य अन्न खाता है, प्रिय देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के प्रतिष्ठा, अर्थात् स्थिरता के रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु-प्रसाद से अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुल में ब्रह्म-वर्चस्व दीख पड़ता है। यह पृथिवी की प्रतिष्ठा, 'वैश्वानर-आत्मा' के पाँव हैं। आपके पाँव सूख जाते, अगर आप ब्रह्म को जानने के लिए मेरे पास न आते।'

"इतना कह चुकने के बाद अश्वपति कैकय ने उन सब उपासकों को सम्बोधित करके कहा, 'आप लोग 'वैश्वानर-आत्मा' को भिन्न-भिन्न तौर से जानते रहे, उसके पृथक्-पृथक् रूप की उपासना करते रहे, और अन्न खाकर जैसी तृप्ति होती है वैसी तप्ति का जीवन व्यतीत करते रहे। आप लोग प्रादेश-मात्र 'वैश्वानर-आत्मा' की एक-एक अंश में उपासना करते रहे हैं। जो यह समझकर उपासना करता है कि वह एक प्रदेश में ही नहीं है, अपितु सर्वत्र विद्यमान है, वह सब लोकों में, सब भूतों में, सब आत्माओं में विद्यमान है, वैसी तृप्ति का अनुभव करता है जैसी बुभुक्षित व्यक्ति अन्न खाकर अनुभव करता है।···

" 'उस सर्वत्र विद्यमान 'वैश्वानर-आत्मा' का विराट् रूप देखो। तेजोमय द्युलोक उसका मूर्धा है, विश्वरूप-आदित्य उसका चक्षु है, पृथग्वर्त्मा वायु उसका प्राण है, अनन्त आकाश उसका धड़ है, ऐश्वर्य-रूप जल उसका बस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसके पाँव हैं, यज्ञ की वेदी उसकी छाती है, यज्ञ की कुशा उसके रोम हैं, गार्हपत्याग्नि उसका हृदय है, अन्वाहार्यपचनाग्नि उसका मन है। आहवनीयाग्नि उसका मुख है।' "

कथा समाप्त करके ऋषि ने रैक्व की ओर देखा। बोले, "इस कथा का अर्थ जो मेरी समझ में आया है वह यह है सौम्य, कि समूचा विश्व एक पुरुषोत्तम का रूप है। यह जड़ धरित्री, सप्राण वनस्पति, जीवन्त जन्तु और बुद्धिमान् मनुष्य उस एक की ही विभिन्न अभिव्यक्ति हैं—तुम भी, प्राण भी, आकाश भी, सूर्य भी, चन्द्र भी। जो ऐसा समझकर सेवा में प्रवृत्त होता है उसमें 'अहंकार' नहीं होता। अहंकार सेवा की महिमा को ही कम नहीं करता, वह सेवा को सेवा ही नहीं रहने

देता। अच्छा सौम्य, तुमने वायु के स्तर पर निखिलात्मा वैश्वानर को पकड़ने का प्रयत्न किया था न ? तुमने बताया था न, कि वायु ही पिण्ड में प्राण है ?"

"हाँ भगवान्, ऐसा ही सोचा था।"

"कोई दोष नहीं है। सभी उस महासत्य के ही विभिन्न पक्ष हैं, किसी एक को कसकर पकड़ने से भी सत्य के द्वार तक पहुँचा जा सकता है। मुझे लगता है कि हर आदमी के लिए सत्य का रास्ता अलग-अलग होता है। आवश्यक नहीं कि सब एक ही मार्ग से चलकर परम तत्त्व तक पहुँचें। सच्चाई से अगर अपने स्वभाव के अनु-रूप चलो तो किसी पक्ष को पकड़कर सत्य तक पहुँच सकते हो। वायु का चुनना तो केवल तुम्हारे विशिष्ट स्व-भाव का सूचक-मात्र है। समझ रहे हो, वत्स !"

"समझ रहा हूँ, भगवन् ! आपने मेरे स्व-भाव को कैसा पहचाना है, यह जानना चाहता हूँ।"

"हाँ वत्स, वह भी पहचानने का प्रयत्न कर रहा हूँ। पर मेरा तो अनुमान मात्र ही होगा। तुम्हें स्वयं अपने-आपको पहचानना होगा। स्व-भाव को तो स्वयं ही ढूँढ़ना पड़ता है।"

"आपका क्या अनुमान है, भगवन् ?"

"मेरा अनुमान है कि तुम्हारा झुकाव प्राण-तत्त्व की ओर है, और तुम ब्रह्म के प्रिय रूप को अपनाने में समर्थ हो। महाज्ञानी याज्ञवल्क्य ने प्राण की उपासना करने-वाले को 'प्रिय ब्रह्म' का अधिकारी बताया था।"

"समझ नहीं पाया, भगवन् !"

"पुरानी बात है, सौम्य ! विदेहराज बड़े जिज्ञासु थे, उन्हें भिन्न-भिन्न आचार्यों ने ब्रह्म को भिन्न-भिन्न रूपों में बताया था। किसी ने वाणी को, किसी ने प्राण को, किसी ने मन को, किसी ने कान को, किसी ने हृदय को ब्रह्म-रूप में पहचानने को कहा था। याज्ञवल्क्य ने इनका अर्थ, इनकी सीमाएँ और इनका लक्ष्य बताया था। वे भिन्न-भिन्न सुनायी देने पर भी वस्तुतः ब्रह्म के किसी एक पक्ष की ओर इंगित करते हैं।"

"थोड़ा और स्पष्ट करें, भगवन् !"

"सबकी व्याख्या तो कभी और सुनना। 'प्रिय ब्रह्म' वाली बात तुम्हारे काम की है। उसे ही सुना देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से प्रत्येक के बारे में पूछा —प्राण के बारे में भी। उन्होंने बताया :

" 'राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिए।' राजा ने कहा, 'उदंक शौल्वायन ने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'प्राण ही ब्रह्म' है।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे, वैसे ही शौल्वायन ने आपको प्राण के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो प्राणवान् नहीं है उसका संसार में क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'प्राण-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आपको कुछ बताया ?' राजा ने कहा, 'इनके विषय में तो कुछ नहीं बताया।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तब तो

उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया— ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया— इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया।' राजा ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्म का उपदेश दीजिए।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'पिण्ड में 'प्राण' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्माण्ड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, उसमें स्थान किये बैठा है। पिण्ड के 'प्राण' में भी वही सिमटा बैठा है, ब्रह्माण्ड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'प्रिय-रूप' है— इसी रूप में उपासना करनी चाहिए। 'प्रिय-रूप ब्रह्म' जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'प्राण' में जाकर बैठा हुआ है।' राजा ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! 'प्रियता' प्राण से ही तो प्रकट होती है—तभी तो कहते हैं 'प्राण-प्रिये' ! —इसलिए प्राण ही प्रियता है। प्राण के प्रेम के कारण ही तो याज्ञिक, जो व्यक्ति यज्ञ के योग्य नहीं, उसे भी यज्ञ करा देते हैं; जो दान देने योग्य नहीं उससे भी दान ले लेते हैं। प्राण के प्रेम के कारण ही जहाँ जाते हैं वहीं यह भय भी बना ही रहता है कि कहीं कोई मार न डाले।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे सम्राट् ! प्राण ही परम ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ प्राण द्वारा 'प्रिय ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ प्राण नहीं छोड़ता, सब प्राण उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है।' यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, 'मैं आपके इस उपदेश के लिए एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूँ।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना, तब तक उससे कोई भेंट न लेना।' "

"इससे समझ सकते हो, सौम्य, कि तुम्हारा झुकाव प्रिय-ब्रह्म की ओर ही हो सकता है। प्राण के सूत्र को पकड़कर तुम परम सत्य को प्रिय-रूप में पा सकते हो और प्रिय-रूप का किंचित् साक्षात्कार भी तुम्हें ब्रह्म तक, महासत्य तक पहुँचा सकता है।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् तुम्हारा स्व-भाव प्रेम है। उसी के माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो।"

रैक्व विस्मय-विमूढ़ !

माताजी ने प्रसंग समाप्त किया—"तो मुझे आज्ञा है ?"

"अवश्य। पर जाने से पहले अपनी सान्ध्य प्रार्थनावाला गान सुना जाओ।"

माताजी ने थोड़ा इतस्ततः करने के बाद गान सुनाने की स्वीकृति दे दी। माताजी ने कोमल मृदु कण्ठ से जो गाया, उसका भाव था—'हे प्रेमामृत-सिन्धु दीनबन्धु, जो तुम्हारे प्रेम से वंचित हैं उन पर कृपा करो। उन्हें प्रेम-अमृत के सीकरों से सिंचित करो, वंचित न रहने दो, न रहने दो। हे हृदय-बन्धु करुणामृत-सिन्धु पूषन्, जो अन्न से, जल से, स्वास्थ्य से वंचित हैं, उन्हें अपनी करुणा-राशि

के कणों से सिंचित करो, वंचित न रहने दो, न रहने दो। हे प्रेम-रूप वैश्वानर, जो अहंकार से, मोह से, लोभ से जर्जर हैं, उन्हें अपने स्नेह-सुधा-समुद्र की वर्षा से उज्ज्वलित करो, वंचित न रहने दो, न रहने दो। हे अदभ्रज्योति बन्धु, जो संकोच से, ग्लानि से, लज्जा से दबे हुए हैं, उन पर अपनी प्रकाश-राशि के कण बरसाकर तेजस्वी बनाओ, वंचित न रहने दो, न रहने दो! प्रकाश दो पूषन्, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, असत्य से सत्य की ओर ले चलो, वंचित न रहने दो, न रहने दो!'

कोमल मृदु कण्ठ से निकली हुई संगीत-धारा से सारा दिङ्मण्डल विद्ध हो गया। रैक्व अननुभूत आनन्द से जड़ीभूत हो गये। औषस्ति की आँखों से अविरल अश्रुधारा झरने लगी।

संगीत की मादकता देर तक व्याप्त रही। रैक्व की संज्ञा जब लौटी तो वे माँ के चरणों में लोट पड़े—माँ, साक्षात् वाग्देवता माँ! माँ!

नो

रैक्व ने माताजी के साथ गाँव-गाँव घूमकर वहाँ की दशा देखी। वे एक-एक चीज़ में रुचि दिखाते थे। हल क्यों चलाया जाता है, अन्न कैसे उत्पन्न होता है, सिंचाई कैसे की जाती है, बैल क्या खाते हैं, गाय कैसे पाली जाती है—सभी बातों में वे जानकारी प्राप्त करने में उत्सुकता दिखाते। बीमार बच्चे, रोग-ग्रस्त स्त्रियाँ, कंकाल-शेष पुरुष उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को उकसाते। क्यों ऐसा होता है, कैसे उनकी सहायता की जा सकती है, अन्न कहाँ से मिल सकता है, दवा कहाँ मिलती है, आदि बातें वे माताजी से पूछते। माताजी उन्हें सब बातें समझातीं; जहाँ रैक्व उत्तेजित हो जाते वहाँ भी वे शान्त ही रहतीं। जनपद में माताजी को लोग आशा की मूर्त्ति समझते और देवी की तरह पूजते थे। स्त्रियाँ अपनी विपत्ति की बातें रो-रोकर सुनातीं; वे धैर्य के साथ सुनतीं, प्यार से बातें करतीं और दुःखी बच्चों के सिर पर हाथ फेरकर शीघ्र रोगमुक्त होने का आशीर्वाद देतीं। रैक्व चुपचाप यह दृश्य देखा करते। उन्हें अनुभव होता कि सहानुभूति भी एक बड़ा औषध है!

रैक्व माताजी के धैर्य और शान्त भाव से अभिभूत हो जाते। बिना किसी उपदेश के ही लोक-व्यवहार की सैकड़ों बातें वे रैक्व के मन में बैठा देतीं। रैक्व देख रहे थे, समझ रहे थे, सीख रहे थे। कई दिनों तक अक्लान्त-भाव से दोनों गाँव-गाँव घूमते रहे। आध्यात्मिक तत्त्वों के बारे में माताजी ने कोई चर्चा नहीं की। केवल दुःख, केवल अभाव, केवल रोग, केवल अन्न, उनकी बातचीत के विषय

बने रहे। रैक्व ने आश्चर्य से देखा कि माताजी सर्वत्र शान्त बनी हुई हैं। चेहरे पर वही शान्ति, वही करुणा, वही अनुद्वेग ! रंच-मात्र भी विकार नहीं। वे सोचते, कैसे यह सम्भव है ? उन्हें याद आता कि ऋषि औषस्ति ने उन्हें बताया था कि जो आत्मा को पा लेता है उसे शोक नहीं होता, उद्वेग नहीं होता, मोह नहीं होता—वह सब पा लेता है। निस्सन्देह माताजी ने आत्मा को पा लिया है। इतने दारुण दुःख को देखकर भी इसीलिए अविचलित हैं। तीसरे दिन माताजी ने एक तालाब के किनारे विश्राम किया। स्नान करके उन्होंने प्रार्थना की और रैक्व से कहा कि बेटा, तू भी परमात्मा से प्रार्थना कर, कि इन दुर्गत जनों की वे रक्षा करें। रैक्व ने कहा कि वे प्रार्थना नहीं जानते। प्राणायाम और ध्यान जानते हैं। माताजी ने आज्ञा दी कि वैसा ही कर, जिससे तेरा अन्तरतर शान्त होवे; केवल यह मत भुला देना कि इसका एक उद्देश्य है—दीन-दुखियों को दुःखमुक्त करना। परमात्मा उसी से प्रसन्न होंगे। रैक्व ने आज्ञाकारी बालक के समान आज्ञा पाते ही समाधि की स्थिति प्राप्त करने का प्रयास किया।

समाधि ठीक से नहीं सधी। वे थोड़ी ही देर में उद्विग्न की भाँति उठ गये। बोले, "माँ, आज समाधि नहीं लग पा रही है। आँखों के सामने केवल भूखे-नंगे बच्चे और कातर दृष्टिवाली माताएँ ही दिख रही हैं। ऐसा क्यों हो रहा है, माँ ?"

"अच्छा ही है, बेटा ! इससे तेरी समाधि भले ही विघ्नित हो, इन बालकों और माताओं का कल्याण ही होगा।"

"होगा माँ ? कैसे ?"

"अकेले में आत्माराम या प्राणाराम होना भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इन दुखियों के प्रति तेरी दृष्टि गयी है तो अन्तरतर के देवता की भी दृष्टि जायेगी। जो कुछ देखा जाता है वह वही तो देखता है, बेटा !"

"वही कौन, माँ ?"

"वही अग-जग-व्यापी परमात्मा, जो वैश्वानर है। पिताजी ने बताया था न, बेटा, भूल गया ?"

"भूल ही गया था माँ, ऐसी बातें याद नहीं रहतीं।"

"याद करने से थोड़े ही होता है, मन रमना चाहिए। तेरा मन इन बातों में अभी रम नहीं पा रहा है।"

रैक्व उदास हो गये। माताजी ने कुछ कहा नहीं, धीरे-धीरे गुनगुनाकर गाने लगीं :

हे प्रभो, स्नेह दो, स्नेह दो !
सारा संसार तुम्हारे स्नेह का भिखारी है।
प्रभो, जो तुम्हें नहीं देख पा रहे हैं उन्हें दृष्टि दो !
नहीं समझ पा रहे हैं उन्हें बुद्धि दो !
नहीं पा रहे हैं उन्हें प्रेम दो !
प्रभो ! स्नेह दो, स्नेह दो !

रैक्व मुग्ध होकर सुनते रहे। गाना समाप्त होते ही बोले, "यह भाषा मेरी समझ में आती है। मगर माँ! मैं वंचित हूँ, दृष्टि नहीं है, बुद्धि नहीं है, प्रेम नहीं है! मेरा क्या होगा, माँ?"

माताजी ने स्नेह से रैक्व के सिर को बार-बार सहलाया—"पा तो रहा है, बेटा! ऐसी कातर वाणी तो उनके अनुग्रह के बिना नहीं निकलती। तू बड़भागी है, तू पा रहा है। उनके राज्य में निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं बेटा, तुझे वे देख रहे हैं, दे रहे हैं।"

रैक्व को जैसे दिव्य ज्योति दिख गयी। वे शान्त प्रसन्नभाव से बोले, "पा रहा हूँ माँ, पा रहा हूँ।"

"देख बेटा, जहाँ दुःख है, अभाव है, वहाँ प्रभु प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। वह अन्धकार में प्रकाश बिखेरते हैं, आँधी-तूफ़ान के भीतर शान्त प्रसन्नभाव से विराजमान रहते हैं, परम प्रेमिक हैं बेटा। तू उन्हें अवश्य पायेगा। चल, अब वहीं खोजें।"

माँ और बेटा आगे बढ़े।

कुछ दूर जाने पर एक बड़े पाकड़ के पेड़ के नीचे उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा। बहुत-से बच्चे एक प्रौढ़ व्यक्ति पर टूट पड़े हैं। प्रौढ़ व्यक्ति गुस्से में डाँट रहा है, धमका रहा है, मारने को कह रहा है, बच्चे और भी ज़ोर से हँसते हैं, और भी तेज़ आक्रमण करते हैं। सब हँसी से लोट-पोट हो रहे हैं। प्रौढ़ व्यक्ति मारे क्रोध के चिल्ला रहा है—"गुस्सा कराओगे तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा। ऐसी मार मारूँगा कि जान भी नहीं पाओगे, हाँ!" लेकिन लड़के उसी तरह टूट रहे हैं, उठा हाथ देखते हैं तो भाग जाते हैं, फिर मौका पाते ही कोई पीठ पर, कोई कन्धे पर, कोई बाँह पर चढ़ जाता है। माताजी चुपचाप खड़ी हो गयीं और देखने लगीं। प्रौढ़ व्यक्ति बोला, "अच्छा, अब ज़रा और मोटे हो जाओ तो चढ़ाई करना। यह देखो, मेरे पास क्या है?"

बच्चे शान्त हो गये। सबके चेहरे हँसी से खिले हुए थे। एक ने बढ़कर पूछा, "क्या है, मामा?"

"मधु है रे, बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी है तब मिला है।"

"कैसी लड़ाई, मामा?"

"अब तुम लोगों को क्या बताऊँ बच्चो, ग्यारह भालू टूट पड़े थे।"

बच्चों ने कहा, "बताओ न, क्या हुआ?"

"अरे ग्यारह नहीं, बारह थे। उनमें एक बड़ा था, सबका मामा। बाकी सब छोटे-छोटे। बड़ावाला मधुमक्खी के छत्ते को झपट लेना चाहता था। मधुमक्खियाँ उस पर झपटीं। उसने अपने बड़े-बड़े बालों को कम्बल की तरह बनाकर ओढ़ लिया। अब सारी मक्खियाँ उसके बालों में जूँ-जूँ करती उलझ गयीं। छटपटाकर सबकी सब मर गयीं। फिर तो मौका देखते ही मैं छत्ता लेकर पेड़ से कूद गया। फिर ग्यारह भालू के पिल्ले मेरे ऊपर झपटे। मैं लाठी भाँजने लगा। किसी का

दाँत टूटा, किसी की टाँग गयी, किसी की पसली बरामद हुई। सब भागे। अब मामा राम लपके। मैंने भी दे मारा डण्डा। जबड़ा ही तोड़ दिया। फिर झपटे तो एक ही लाठी में चारों खाने चित्त। मैं भी ऐसी फुर्ती से भागा कि यहीं आकर दम लिया।"

एक लड़के ने हँसते हुए कहा, "गप्प मार रहे हो मामा, बारह भालू टूट पड़ते तो तुम बचते ?"

मामा ने कुछ देर सोचके कहा, "अच्छा, पाँच थे। अब ज्यादा बोलेगा तो पिट जायेगा।"

कई लड़के चिल्लाये—"पाँच भी नहीं होंगे।"

"अच्छा ले, चार थे !"

"चार होते तो तुम्हें चबा गये होते।"

"चार होते तो चबा जाते ? ले, तीन थे।"

"क्या बात करते हो मामा, तीन से तुम लड़ लेते ?"

"अच्छा एक। अब चुप रह, नहीं मामा का गुस्सा तो जानता है न, ऐसी पिटाई करूँगा, ऐसी पिटाई करूँगा, कि न मैं जानूँ, न तुम जानो।"

"रहने भी दो, मामा ! हम बारह बच्चे चढ़ पड़ें तो तुम भाग खड़े होगे और गप्प मारते हो बारह भालू से लड़ने का !"

"चुप रह, नहीं तो मामा से बुरा कोई नहीं होगा। पहले यह शहद का शरबत पी लो। फिर चढ़के देखो, मामा एक-एक की टाँग तोड़ देता है कि नहीं। लेते जाओ।"

बच्चे हँसने लगे।

मामाजी ने एक मिट्टी के घड़े में मधु का शरबत बना रखा था। मिट्टी के सकोरों में ढाल-ढालकर सबको देने लगे। कहते जाते, "पहले पीके तगड़े बनो, फिर मामा से लड़ना। अबकी बार वो मार मारूँगा, वो मार मारूँगा कि बस !" लड़के खिलखिलाकर हँसते और अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाते। एक बच्चा मुट्ठी में कुछ लिये ही शरबत लेने पहुँचा। मामा ने डाँटा—"खाया नहीं रे !" लड़का बोला, "अच्छा नहीं लगता मामा, बरगद के फल खाये नहीं जाते।" मामा ने बड़ी मुलायम आवाज़ में कहा, "नहीं अच्छे लगते ? अच्छा, आज खा ले। कल गूलर ले आऊँगा। खा ले बेटा। मामा से लड़ेगा कैसे ?" उन्होंने आँखें पोंछ लीं।

माताजी की ओर किसी का ध्यान नहीं था। वे ही आगे बढ़ीं। रैक्व पीछे-पीछे।

माताजी को देखकर सब लड़के खड़े हो गये। तब मामा ने उनकी ओर दृष्टि फिरायी। अपरिचित व्यक्ति यह लीला देख रहा था, यह जानकर उन्हें थोड़ी झेंप हुई, फिर प्रणाम करके बच्चों को डाँटा—"क्या देख रहे हो, प्रणाम करो !" सब बच्चों ने प्रणाम किया। माताजी ने पूछा, "आप क्या इसी गाँव के रहने-

वाले हैं ?"

"गाँव तो, माताजी, मेरा कोई और था, अब इसी गाँव में रहता हूँ। मेरी बहिन इस गाँव में ब्याही थी। माँ-बाप के मर जाने से अनाथ होकर बहिन के पास आ गया। अब तो वह भी नहीं है। मगर मैं गाँव-भर का मामा होकर यहीं बस गया हूँ। विधाता ने अपना कोई नहीं छोड़ा तो सारा गाँव ही अपना हो गया। अब बच्चों का भी मामा हूँ, जवानों का भी, बहुओं का भी मामा हूँ, सासों का भी। मामा हो गया हूँ, पर कहाँ निभा पा रहा हूँ !"

"निभा तो रहे हैं। मैंने आपका प्रेमपूर्ण प्रयत्न देखा है। आप इनके मामा होने योग्य ही हैं।"

"क्या करूँ, माताजी, देखा नहीं जाता। परसों छह कोस दूर के एक तालाब से करवक लता का एक बोझा ले आया था। कल वही उबालकर गाँववालों ने पेट भरा है, पर बच्चों का काम तो नहीं चलता। बहुत खोज-खाज करके आज एक मधु का छत्ता ले आ सका हूँ। देखिए, कितने खुश हैं ! कुछ बरगद के गोदे (फल) भी ले आया था। बिचारे खा नहीं सकते, पर और है ही क्या ? गायों को घास भी तो नहीं मिल रही। अब पानी बरसा है तो सब लोग खेत जोतने गये हैं। पेट में अन्न नहीं, बैलों में दम नहीं, क्या जोतेंगे ! वह तो कहिए कि एक महात्माजी आये थे, किसी दानी से कहकर उन्होंने कुछ महुआ भिजवा दिया है। वही खाकर हल जोत रहे हैं।"

"महात्मा जी कहाँ रहते हैं ?"

"पता नहीं माताजी, राजा पर इतना ग़ुस्सा किया कि कहा कि इसके राज्य में पैर ही नहीं रखूँगा। अब यह तो अपने-अपने कर्म का फल है माताजी, राजा क्या कर सकता है !"

"राजा को कुछ करना तो चाहिए।"

"महात्माजी तो नाराज़ होकर चले गये हैं, पर कह गये हैं कि कई गाड़ी महुआ भिजवायेंगे। देखें, कब भेजते हैं।"

बच्चों को मामा के और अपने बीच इतना व्यवधान अच्छा नहीं लग रहा था। एक छोटे बच्चे ने मामा का हाथ पकड़कर कहा, "मामा चलो, अब भेड़ियावाली लड़ाई की बात बताओ।"

माताजी की ओर देखकर मामा ने हँसकर कहा, "झूठी कहानियाँ गढ़-गढ़कर इनको भुलाता रहा हूँ। ये भी जानते हैं कि झूठ है, मैं भी जानता हूँ कि झूठ है। पर थोड़े झूठ से इनके चेहरों पर थोड़ी देर के लिए चमक आ जाती है। पता नहीं, भगवान् माफ़ करेंगे या नहीं। पर मुझे कोई ग्लानि नहीं है। अच्छा माताजी, क्षमा करें। ये बड़े शैतान हैं, मामा पर इन्हीं का पूरा अधिकार होना चाहिए।"

माताजी ने कहा, "आप पर इनका ही अधिकार रहे। जाइए। आप सच्ची तपस्या कर रहे हैं।"

वे प्रणाम करके अपनी बाल-सेना के साथ चले गये।

माताजी ने उदास रैक्व की ओर देखा।

"बेटा रैक्व !"

"माँ !"

"क्या सोच रहे हो, बेटा ? यह आदमी कैसा लगा ?"

"मामा के बारे में पूछती हो, माँ ?"

"हाँ, यही मामा, सबका मामा !"

"अद्भुत है माँ, मैं भी कुछ ऐसा कर सकता तो धन्य होता, माँ !"

"हो सकता है, करना पड़े। हो सकता है, दूर से गाड़ी पर लादकर महुआ ले आना पड़े, गूलर ले आना पड़े, करबक साग का गट्ठर ले आना पड़े—कर सकोगे ?"

"हाँ माँ, आज्ञा दो तो अभी कर सकता हूँ।"

"अभी और देखते चलो। शायद कुछ और प्रेरणा मिले।"

"माँ, मैं तो यह सब देखकर क्लान्त अनुभव करता हूँ। कुछ बताओ माँ, क्या करूँ ?"

"यह मामा क्लान्त नहीं हुआ है। तुम क्यों क्लान्त अनुभव करते हो ?"

"कुछ न कर सकने से, माँ !"

"साधु वत्स, तुम्हारे ऊपर परमात्मा का अनुग्रह बरसने लगा है।"

"बरसने लगा है, माँ ?"

"देखो बेटा, इस आदमी में मुझे परम पिता परमेश्वर की ज्योति दिखायी देती है।"

"मगर यह झूठ क्यों बोलता है, माँ ?"

"यह झूठ नहीं बोल रहा है। परम वैश्वानर का इंगित समझ रहा है। परमात्मा ने भी तो हमारी प्रसन्नता के लिए माया का यह झूठा संसार रच रखा है।"

"हाँ, माँ !"

"परमात्मा की ज्योति इसी प्रकार दिखायी दे जाती है, बेटा !"

"मुझे एक बात सूझ रही है, माँ !"

"क्या, बेटा ?"

"मैं जो गाड़ी के नीचे बैठकर तप कर रहा था, वह झूठा तप था। सही तपस्या गाड़ी चलाकर की जा सकती है।"

"साधु, वत्स !"

"माँ, सोचता हूँ कि उस टूटी गाड़ी को ठीक करके स्वयं खींचकर उसे चलाऊँ और जहाँ से जो कुछ भी पा सकूँ, इनके पास पहुँचा दूँ।"

"साधु, वत्स ! यह विचार ठीक है, पर अकेले तुम कितना ले आ सकते हो ? मैं सोचती हूँ कि कुछ और लोग भी तुम्हारे साथ हों तो अच्छा होगा।"

"और लोग कहाँ मिलेंगे, माँ ? तुम्हारा बेटा अकेला जितना कर सकेगा,

करेगा।"

"रुको, तुम्हारी माँ भी तो कुछ कर सकती है।"

"माँ को कुछ नहीं करना होगा। माँ सिर्फ़ रास्ता सुझायेगी।"

"नहीं बेटा, माँ को भगवान् बैठने नहीं देंगे। तुम मुझे थोड़ा सोचने दो।"

"अच्छा माँ, सोचकर बताओ।"

थोड़ी देर तक दोनों चुपचाप चलते रहे। थोड़ी देर बाद माताजी ने कहा, "रैक्व बेटा !"

"हाँ माँ।"

"देख रहे हो न, कि मृत्यु सबको निगलने के लिए मुँह बाये खड़ी है, और फिर भी लोग जीना चाहते हैं ? सब मर जा सकता है, पर जीने की इच्छा नहीं मरती।"

"हाँ माँ, लोग मरना नहीं चाहते, जीना चाहते हैं। सब जीना चाहते हैं।"

"यही क्या वह चीज़ नहीं है जो विनाशमान पदार्थों के बीच अविनश्वर है ?—विनश्यत्स्वविनश्यन्तम् ? दुर्वार जिजीविषा ! जीते रहने की इच्छा !"

"हाँ माँ।"

"मुझे लगता है बेटा, जिसे लोग 'आत्मा' कहते हैं वह इसी जिजीविषा के भीतर कुछ होना चाहिए। वे जो बच्चे हैं, किसी की टाँग सूख गयी है, किसी का पेट फूल गया है, किसी की आँख सूज गयी है—ये जी जायें तो इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी और उद्यमी बनने की सम्भावना है। सम्भावना की बात कर रही हूँ। अगर यह सम्भावना नहीं होती तो शायद जिजीविषा भी नहीं होती। आत्मा उन्हीं अज्ञात-अपरिचित-अननुध्यात सम्भावनाओं का द्वार है। मैं अपनी बात ठीक से कह रही हूँ, बेटा ? शायद नहीं।"

"इतना समझ रहा हूँ कि सम्भावना है, और इसीलिए जिजीविषा भी है। पर 'आत्मा' नहीं समझ रहा हूँ।"

माताजी चुपचाप चलती रहीं। फिर उन्होंने शान्त-कोमल कण्ठ से कहा, "रैक्व बेटा, जीने की इच्छा सबमें है। कुछ में जिलाने की इच्छा भी तो है—जैसे मामा में !"

"है, माँ !"

"ऐसा नहीं लगता कि जिसमें जिलाने की इच्छा है वह जीने की इच्छा का रहस्य जान गया है ?"

"हो सकता है, माँ !"

"हो नहीं सकता रे, है। नहीं तो मामा कैसे हँसते-हँसते इतनी तकलीफ झेल लेता है ?"

" 'है' कहना ही ठीक लगता है, माँ !"

"देख रे, सृष्टि चलती रहेगी। जो लोग अलग बैठकर इसे बन्द कर देने का सपना देखते हैं वे भोले हैं। जिजीविषा है तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनन्त सम्भावनाएँ भी रहेंगी। सब चलता रहेगा। यही प्रकृति है। इसे सुनियन्त्रित रूप

से चलाने का प्रयास शुभ है। वही संस्कृति है। प्रकृति को सुनियन्त्रित रूप में चलाने का नाम ही संस्कृति है।"

"हाँ, माँ!"

"इसीलिए ऋषि लोग स्नातक को उपदेश देते हैं कि सन्तान-परम्परा को नष्ट न होने देना—'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।' प्रकृति को मानकर ही संस्कृति की ओर जाया जा सकता है, अस्वीकार करके चलना तो विकृति ही होगा।"

"ऐसा ही लगता है, माँ!"

देर तक दोनों चुप रहे। थोड़ी देर बाद रैक्व ने पूछा, "माँ, यह मामा आत्मज्ञ है?"

"अवश्य होना चाहिए।"

फिर देर तक दोनों चुपचाप चलते रहे। रैक्व के मन में उथल-पुथल हो रही थी। माताजी यथापूर्व शान्त थीं। रैक्व ने पूछा, "माँ, तुम क्या मेरी ही बात नहीं कह रही हो?"

"तेरी बात क्या, बेटा?"

"यही, जीवन तो प्राण ही है न?"

"हाँ, उसे बचाये रखने की इच्छा जिजीविषा है, और अनन्त सम्भावनाओं की ओर उन्मुख करना उस जिजीविषा का उद्देश्य जान पड़ता है। प्राण ही आत्मा नहीं है, प्राण के बचाये रखने की इच्छा का उद्देश्य हो तो हो भी सकता है। पर बेटा, प्राण को आत्मा तो नहीं माना जा सकता।"

"अच्छा माँ, राजा में जिलाने की इच्छा क्यों नहीं जागी? वह क्या आत्मज्ञ नहीं है?"

"कैसे कहूँ बेटा, मिलकर उसके भीतर की परम ज्योति को जगाने की कोशिश करूँगी। तू कहीं रुक जा···मैं अकेली जाना चाहती हूँ।"

"शुभा भी तो मिलेगी, माँ!"

"हो सकता है। मगर तू अभी यहीं कहीं रुक जा। राजा का गाँव नज़दीक आ गया है।"

"माँ, मेरी गाड़ी भी तो यहीं कहीं होगी। क्यों न उसे मैं तब तक ठीक कर लूँ?"

"गाड़ी तेरी कैसे है रे? वह तो शुभा की है।"

"शुभा की है? हाँ, है तो। मगर लगता है माँ, कि जो वस्तु शुभा की है वह मेरी भी है।"

माताजी को हँसी आ गयी।

"ऐसा तूने कैसे मान लिया? शुभा राजा की बेटी है, वह यों ही अपनी चीज़ें तुझे क्यों लेने देगी? उसका तू क्या है?"

"मेरी गुरु है, माँ!"

"और मैं क्या हूँ?"

"तुम माँ भी हो, और गुरु भी हो।"

"जानता है बेटा, गुरु कौन होता है ?"

"जो ज्ञान दे।"

"ठीक है, पर वास्तव में गुरु वह है जिसके सामने जाने पर तेरे व्यक्तित्व का सर्वोत्तम पक्ष उजागर हो, जो तेरे भीतर सोये देवत्व को जगा दे। शुभा ऐसी ही गुरु है ?"

रैक्व ने कुछ देर सोचा, फिर अपने-आपसे बोले, 'तो मैं शुभा को गुरु नहीं कह सकता।' फिर माँ की ओर उन्मुख हुए—"माँ, गुरु तुम हो, शुभा के सामने मैं अपने को अल्पज्ञ और हीन समझने लगा था। वह मेरी गुरु नहीं हो सकती। मगर ज्ञानी वह अवश्य है, माँ! उसकी सब बातें ठीक थीं।"

माताजी फिर हँसने लगीं।

"मिलेगी तो उसे डाँटूँगी कि तूने मेरे हीरे के समान लड़के में हीन भावना क्यों पैदा की ?"

रैक्व ने कातर-भाव से कहा, "नहीं माँ, डाँटना मत। उस बिचारी का क्या दोष था ? दोष तो मेरे भीतर था। डाँटना मत माँ, मैं अब उसके सामने अपने को हीन नहीं मानूँगा। तुमसे मिलने के पहले मैं औरों को ही हीन समझता था। सिर्फ़ शुभा के सामने मैं झुका था। दोष तो मेरा ही था।"

"दोनों ही दोष हैं बेटा, अपने को हीन समझना भी दोष है, और दूसरों को हीन समझना भी दोष है। अच्छा, मेरे सामने तू अपने को क्या समझता है ?"

"अनन्त सम्भावनाओं का भाण्डार।"

"तू माँ को खुश करना जानता है! क्यों रे, अगर शुभा कहे कि वह तेरे साथ रहकर तेरी बुद्धि की परीक्षा करेगी, तो उससे क्या कहना चाहिए मुझे ?"

"मेरे पास अगर वह बुद्धि की परीक्षा लेने आयेगी तो उसे गाड़ी खींचकर दीन-दुखियों तक खाद्य पहुँचाने को कहूँगा। इसी में उसकी बुद्धि की परीक्षा हो जायेगी। माँ, जो दीन-दुखियों की सेवा नहीं कर सकता, वह क्या बुद्धि की परीक्षा करेगा! मैं अब थोड़ा-थोड़ा रहस्य समझने लगा हूँ। कोरी वाग्वितण्डा ज्ञान नहीं है।"

"उसने जो दोष किया है, उसे भूल गया ?"

"इसके लिए जो उचित समझो सो कहना। समझा देने से वह समझ जायेगी, माँ! काठ की थोड़े ही बनी है!"

"देखूँगी कि समझती है या नहीं। हो सकता है कि काठ की न बनी हो।"

"नहीं माँ, वह निश्चित रूप से समझदार है।"

दस

राजा जानश्रुति को आचार्य औदुम्बरायण ने जब सारी बातें बतायीं तो वे जैसे सोते से अकचकाकर जागे—"मुझे प्रजा के कष्ट की बात तो किसी ने नहीं बतायी। राज-कर्मचारी क्या सो रहे थे ? अन्न उगाहने के समय क्या उन्होंने यह नहीं देखा कि अकाल पड़ा हुआ है ? क्या उनका कर्त्तव्य नहीं था कि वे मुझे सूचना देते ? राजा तो कर्मचारियों की आँख से ही देखता है। इतना बड़ा अनर्थ हो गया और उन्होंने कुछ बताया ही नहीं !"

आचार्य ने कहा, "महाराज, दोष तुम्हारा भी है और मेरा भी। राजा जब तक स्वयं जागरूक न हो तो राज-कर्मचारी शिथिल हो जाते हैं, मुस्तैदी से काम नहीं करते। राजा को चिन्ता में न डालने की आड़ में वे स्वयं निश्चिन्त हो जाते हैं। राजकर्मचारियों की निरन्तर कसते रहना पड़ता है। वह हमने नहीं किया। दोष हमारा भी है, मैं कहूँ कि दोष हमारा ही है !"

राजा मर्माहत हुए। बोले, "अब क्या किया जाये, आचार्य ? पाप तो हो ही गया है।"

आचार्य ने कहा, "राजन्, मैंने इस समस्या पर बहुत सोचा है। अकाल-ग्रस्त लोगों की सहायता करना बहुत आवश्यक है। बेटी जाबाला तो गाँवों में घूम-घूमकर अकाल के पीड़ितों को स्वयं देखना चाहती है और यथोचित सेवा करना चाहती है। वह व्याकुल है, पर उसका स्वास्थ्य एकदम ठीक नहीं है। अगर वह बाहर घूमने निकल पड़ेगी तो निश्चय ही उसका रहा-सहा स्वास्थ्य भी जाता रहेगा। मैंने उसे किसी प्रकार रोक लिया है, पर अधिक समय तक वह रुक नहीं सकती। जब तक उसे पूरा विश्वास नहीं हो जाता कि राज्य की ओर से प्रजा की सहायता का ठीक-ठीक आयोजन कर दिया गया है, तब तक उसे रोकना कठिन होगा। आप तो जानते ही हैं कि वह साधारण लड़की नहीं है। जहाँ कुछ करना आवश्यक है वहाँ वह करके ही रहेगी। पर महाराज, मैं बहुत चिन्तित हूँ कि दुर्बल शरीर लेकर वह कुछ साहसिक क़दम उठा लेगी, तो उसे बचाना कठिन होगा।

"आचार्य, वही तो मेरा प्राण है। अगर उसे कुछ हो गया तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। अगर किसी प्रकार जीवित रह भी गया तो प्रजा की कुछ भी सहायता नहीं कर सकूँगा। मेरी पहली आवश्यकता है उसको स्वस्थ और प्रसन्न करना। इसके बिना मैं पंगु हूँ, अकर्मा हूँ।"

"जानता हूँ राजन्, बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। इसलिए मैंने एक मध्यम मार्ग सोचा है। अनुमति हो तो निवेदन करूँ !"

"अवश्य आचार्य, मेरी बेटी को बचाकर आप मुझे बचायेंगे, और मुझे बचाकर सारी प्रजा को बचायेंगे। आप निस्संकोच अपना प्रस्ताव रखें।"

"महाराज, कठिन समस्या यह है कि घर में कोई प्रौढ़ा महिला नहीं है।

दासियों ने ओझा बुलाने को कहा था, सो मैंने किया। वह जो संकुला बुढ़िया है, जाबाला को बहुत स्नेह करती है; पर है अटट गँवार। कुछ कहने का उसे साहस नहीं होता। एक दिन उसने डरते-डरते कहा कि बिटिया को गन्धर्व का आवेश है, देख नहीं रहे हैं कि वह भीतर-ही-भीतर उसका खून चूस रहा है। गन्धर्व-पूजन कराइए। मैंने उसकी बात नहीं मानी। आज वह फिर कहने लगी कि गन्धर्व-पूजन कराइए। उधर सिद्ध ने कहा था कि कोहलीय लोगों का नृत्य-नाटक कराइए। उससे मनोविकार दूर होते हैं। बुढ़िया ने भी कहा कि कोहलीय लोग गन्धर्व-पूजन की विधि जानते हैं। दोनों बातों को मिलाकर मुझे ऐसा लगा कि दोनों एक ही बात अपने-अपने ढंग से कह रहे हैं। मैं इन बातों को मानता तो नहीं, पर बिटिया का कल्याण हो, तो मैं अपनी मान्यता पर अड़ा नहीं रहूँगा। अभी मुझे सूझा कि यह अनुष्ठान और एक दृष्टि से भी उत्तम होगा।"

"सो क्या ?"

"राजन्, साधारण जनता में कोहलीयों के नृत्य-नाटक का बड़ा आकर्षण है। इस आयोजन में सहस्रों की संख्या में दूर-दूर से लोग आयेंगे। आयोजन के अन्त में यदि यह घोषणा कर दी जाये कि राजा के भाण्डार से सभी दीन-दुखियों को अन्न और औषधि तत्काल दिये जायेंगे तो अनायास यह बात गाँव-गाँव में फैल जायेगी और हम अपना अन्न का भाण्डार खोल देंगे। बहुतों की कठिनाई दूर हो जायेगी! इस प्रस्ताव से बिटिया को भी मानसिक शान्ति मिलेगी। क्यों महाराज, आपको मेरा प्रस्ताव ठीक लग रहा है ?"

"स्वीकार है आचार्य, पर इतना और सोचना होगा कि भाण्डार के अन्न से सारी आवश्यकता पूरी हो सकेगी या नहीं। भाण्डार की तो एक सीमा है !"

"सोचा है महाराज, भगवान् के अनुग्रह से पानी तो बरस गया है। सहायता-कार्य थोड़े दिनों के लिए आवश्यक होगा। पर इस विषय में जानकार लोगों की सलाह लेकर कुछ और उपाय भी सोचे जायेंगे। अभी तो यह घोषणा हो जानी चाहिए। इससे प्रजा में साहस का संचार होगा। परमेश्वर की दया से हमारी प्रजा में अब भी यह सुबुद्धि है कि वह भिक्षा के अन्न पर आस्था नहीं रखती। उसे भिक्षा-जीवी बनने भी नहीं देना चाहिए। कुछ काम कराके ही उन्हें अन्न देना चाहिए। आपके सचिव लोग इस सम्बन्ध में अच्छी सलाह दे सकते हैं। मैं तो कोहलीयों के गन्धर्व-पूजन का आयोजन और उस सम्बन्ध में तत्काल घोषणा की ही बात कह रहा हूँ। घोषणा को कार्यान्वित करने में जानकार लोग ही ठीक-ठीक सलाह दे सकते हैं।"

राजा ने दोनों प्रस्ताव मान लिये। सचिवों को तुरन्त आयोजन का आदेश दे दिया गया। जाबाला को भी बता दिया गया। कोहलीयों के अनुष्ठान की तैयारी शुरू हो गयी। जाबाला आश्वस्त हुई, लेकिन उसने अपने पिता और आचार्य को इस बात पर राज़ी कर लिया कि रंगभूमि के निर्माण के समय से ही सहायता-कार्य शुरू कर दिया जाए। अकाल-ग्रस्त क्षेत्रों से सैकड़ों आदमी रंगभूमि के निर्माण के

लिए बुलाये गये। काम तेज़ी से हुआ। लोगों में आयोजन के प्रति उत्साह देखा गया। जो बहुत दुर्बल और रुग्ण थे, उन्हें भी कुछ-न-कुछ काम दिया गया। आयोजन का आरम्भ बड़े उत्साह से हुआ।

राजा और आचार्य ने सचिवों से मन्त्रणा करके आगामी सहायता-कार्य की रूपरेखा बनाने का प्रयत्न किया। एक दिन इस सम्बन्ध में मन्त्रणा चल रही थी। राजा व्यस्त थे। ऐसे ही समय दौवारिक ने आकर निवेदन किया—"प्रभो, जैमिनीय-गोत्रोद्भवा और महर्षि औषस्ति की पत्नी ब्रह्मवादिनी भगवती ऋतम्भरा पधारी हैं, उन्होंने अनुकूल अवसर पर महाराज से मिलने की इच्छा व्यक्त की है।"

राजा एकदम उठकर खड़े हो गये—"क्या कहा, भगवती ऋतम्भरा स्वयं इस अभाजन को कृतार्थ करने को पधारी हैं! तुरन्त ले आओ!" फिर आचार्य की ओर देखकर कहा, "आचार्यपाद स्वयं जाकर उन्हें ससम्मान ले आयें।"

आचार्य ने राजा का अनुमोदन किया—"जा रहा हूँ महाराज, आज सविता देवता प्रसन्न जान पड़ते हैं। विद्या और तपस्या की साक्षात् मूर्त्ति ब्रह्मवादिनी भगवती ऋतम्भरा का आगमन परम मंगल का सूचक है।"

आचार्य औदुम्बरायण भगवती ऋतम्भरा को लेकर उपस्थित हुए। राजा इतने गद्गद हुए कि उनके मुँह से वाणी नहीं निकली। परम आदर के साथ प्रणिपात करके वे अभिभूत-से खड़े रह गये। सारी सभा प्रत्युत्थान और प्रणिपात करके राजा की भाँति ही चुपचाप खड़ी रही। भगवती ने शान्त-मृदु कण्ठ से कहा, "कल्याण हो राजन्! आसन ग्रहण करें। मैं एक आवश्यक सूचना देने के लिए आयी हूँ। बहुत समय नहीं लूँगी। आसन ग्रहण करें।"

राजा ने भक्ति और श्रद्धा के साथ फिर अभिवादन किया—"भगवती जब तक आसन नहीं ग्रहण करतीं, तब तक मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ!"

फिर चन्दन-काष्ठ की एक चौकी पर कुशासन बिछाकर भगवती के बैठने की व्यवस्था हुई। उनके आसन ग्रहण कर लेने के बाद राजा, आचार्य और अन्य सभासदों ने आसन ग्रहण किया। भगवती ने एक बार सभी ओर दृष्टि फिरायी, फिर राजा की ओर उन्मुख होकर कहा, "क्षमा करें, राजन्! राजकार्य में विघ्न उपस्थित करना अनुचित है। पर मैं थोड़ी देर के लिए एकान्त में ही बात करना चाहती हूँ। अधिक समय नहीं लूँगी।"

राजा ने सबकी ओर देखा। इंगित समझकर लोग उठ गये। आचार्य भी जाने को उद्यत हुए, पर भगवती ने ही उनको रोक लिया। वे द्वार पर ही आचार्य का परिचय पा गयी थीं। इसलिए उनसे कहा, "आचार्यपाद की उपस्थिति से मेरे कार्य में सहायता ही मिलेगी। आप रुक जायें।" आचार्य औदुम्बरायण राजा की अनुमति लेकर रुक गये।

भगवती ऋतम्भरा ने कहा, "कल्याण हो राजन्, बहुत दुःख देखकर आ रही हूँ। प्रजा को अपार कष्ट है। आप आत्मतत्त्व के जिज्ञासु हैं। आपसे यह आशा करती हूँ कि प्रजा का कष्ट दूर करने का कुछ उपाय करेंगे। आप समर्थ हैं, इन

दुखियों का दुःख दूर करने का निमित्त बनें। राजन्, मनुष्य निमित्त ही बन सकता है। मैं केवल इतना ही निवेदन करने आयी हूँ।"

राजा ने विनीत-भाव से कहा, "आज्ञा शिरोधार्य है! भगवती, यथासाध्य प्रयत्न कर रहा हूँ। असावधानी के कारण विलम्ब हुआ। बहुत दुष्कृत हो गया है। अब आपके आशीर्वाद से मेरे प्रयत्न दृढ़ और सफल होंगे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं।"

फिर राजा के इंगित पर आचार्य औदुम्बरायण ने सारी बातें बतायीं। भगवती सुनकर प्रसन्न हुईं। बोलीं, "महाराज, मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है।" यह कहकर वे उठने लगीं।

आचार्य ने तभी हाथ जोड़कर निवेदन किया—"क्षण-भर रुकें, भगवती! एक हमारी विपदा की कथा भी सुन लें।"

माताजी ने उनकी ओर आश्चर्य से देखा—"आपकी विपदा क्या है आचार्य, कहिए, मैं अवश्य सुनूँगी।"

आचार्य औदुम्बरायण ने जाबाला की अस्वस्थता और उसके लिए अब तक किये गये उपचारों की बात बतायी। यह भी बताया कि इस समय कोहलीयों द्वारा गन्धर्व-पूजन का जो आयोजन किया जा रहा है, वह जाबाला के नैरुज्य के लिए ही किया जा रहा है। राजा जानश्रुति ने अत्यन्त कातर-भाव से इतना और जोड़ दिया कि वे कन्या के लिए उनका आशीर्वाद भी चाहते हैं। उनके समान ब्रह्म-वादिनी के आशीर्वाद से लड़की अवश्य स्वस्थ हो जायेगी। माताजी को इस बात से चिन्ता हुई कि जाबाला इतनी अस्वस्थ हो गयी है कि लोग अनुमान कर रहे हैं कि उस पर किसी गन्धर्व का ऐसा आवेश हुआ है कि वह भीतर-ही-भीतर उसका रक्त चूस रहा है। वे जाबाला से मिलना अवश्य चाहती थीं, पर ऐसी आशंका उन्हें नहीं थी कि वह रुग्ण हो गयी है। पहले जो कुतूहल था वह उत्कट आशंका में बदल गया। चिन्तित-भाव से बोलीं, "मैं उसे देखूँगी, महाराज!"

राजा जानश्रुति को ऐसा लगा, जैसे अथाह जल में डूबते हुए को सहारा मिल गया हो। गद्गद होकर भगवती को भीतर ले गये। आचार्य भी साथ थे।

जाबाला ने जब सुना कि स्वयं भगवती ऋतम्भरा आयी हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने ऋषि औषस्ति और उनकी सहधर्मिणी भगवती ऋतम्भरा के बारे में बहुत सुन रखा था। उसने कभी सोचा भी नहीं था कि घर-बैठे उनके दर्शन हो जायेंगे। उसने अपना भाग्य सराहा। यद्यपि वह दुर्बल थी, पर समाचार सुनते ही वह एकाएक उठ गयी और आकर भगवती के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। भगवती ने उसे सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया और स्नेहपूर्वक उसके सिर पर हाथ फेरा। जाबाला कृतकृत्य हो गयी।

आसन ग्रहण करने के बाद भगवती ने राजा और आचार्य से कहा कि आप लोग जिस महत्त्वपूर्ण मन्त्रणा में लगे थे, उसे ही पूरा करें। मैं बिटिया से थोड़ी देर अकेले में बात करूँगी।

दोनों चले गये। जाने के पहले आचार्य ने जाबाला को बुलाकर कहा, "बेटी, भगवती अभी ही बहुत चलकर यहाँ आयी हैं, अभी तक हम उनके अर्घ्यपाद्य की व्यवस्था भी नहीं कर पाये हैं। आते ही अपनी विपदा की बात ही शुरू कर दी है। हम राज-सेवकों को समझाने जा रहे हैं। भगवती की अभ्यर्थना में कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिए। तू अस्वस्थ है, पर यथाशक्ति कुछ उठा न रखना। हम तो भगवती की आज्ञा से जा रहे हैं।"

जाबाला ने कहा, "तात, मैं इतनी अस्वस्थ नहीं हूँ कि भगवती की सेवा न कर सकूँ। भगवती तो अकारण स्नेही हैं, आप चिन्ता न करें।"

जाबाला ने भगवती के मना करते रहने पर भी बड़े-से ताम्र-पात्र में जल ले आकर भक्तिभाव से भगवती ऋतम्भरा के चरण धोये। उसने देर तक उनका मृदु संवाहन किया और फिर आँचल से पोंछ दिया। भगवती की आँखों में पानी भर आया —"बेटी, परमात्मा तेरा कल्याण करें। तू मुझे अनावश्यक मान दे रही है। आ, इधर आ, तू मेरे पास बैठ। सुना है, तू बचपन से ही मातृहीन है। आ बेटी, तू मुझे अपनी माँ समझ और बता कि तुझे क्या कष्ट है ?" स्नेह से माता ने उसे अपनी बगल में बैठाया।

जाबाला की आँखों से जलधारा फूट पड़ी। रुद्ध-कण्ठ से उसने कहा, "भगवती, आप माँ से बड़ी हैं, आज मैं कृतार्थ हुई।"

"नहीं बेटी, माँ से बड़ी कोई नहीं होती। तू मुझे माँ ही समझ। मुझे भगवती कहकर अनुचित और असत्य सम्भाषण न कर। मुझे माँ कहकर बोल, मुझे माँ कहकर पुकार ! कह तो भला !"

आदर और भक्ति से विजड़ित कण्ठ से जाबाला ने कहा, "माँ !"

भगवती ने हँसते हुए कहा, "नहीं हुआ, तेरा स्वर सहज नहीं है। इसमें आदर और श्रद्धा अधिक है, ममता कम है। तू मुझे ब्रह्मवादिनी समझकर आदर दे रही है। जानती है बेटा, एक मातृ-पितृ-हीन किशोर मुझे रास्ते में मिल गया। बड़ा ही भोला। वन में रहकर तप करता रहा। उसे पता नहीं था कि पुरुष और स्त्री में क्या भेद है। बिचारे ने कभी किसी स्त्री को देखा ही नहीं था। उसने जीवन में पहली बार एक लड़की को देखा था। उसी ने उसे बताया कि स्त्री पदार्थ क्या होता है। दूसरी स्त्री मैं मिल गयी। कहने लगा, 'आपको क्या कहकर सम्बोधित करूँ ?' मैंने कहा, 'तेरी उमर के लड़के मेरी उमर की स्त्री को माँ कहकर पुकारते हैं।' उसने मान लिया। जब वह माँ कहकर पुकारता है तो हिया जुड़ा जाता है। अपने पेट का जाया भी उस सहज-भाव से माँ नहीं कहता होगा। हिया जुड़ा जाता है बिटिया, इतना बड़ा हो गया है, पर छोटे शिशु की तरह आज्ञा मानकर चलता है। भगवान् ने मुझे कोई सन्तति नहीं दी, पर जीवन-भर ब्रह्मवादियों के साथ आत्मतत्त्व की चर्चा करने के बाद भी मेरी यह लालसा नहीं गयी कि कोई माँ कह-कर पुकारे। उसे भेजकर भगवान् ने मेरी यह लालसा पूरी कर दी है। स्त्री माँ बनकर ही चरितार्थ होती है, बेटी ! तू भी उसी की तरह मुझे माँ कहकर पुकारेगी

तो मुझे अपार सुख मिलेगा। मगर तू अभी उसके समान सहज नहीं हो पा रही है।"

जाबाला की आँखें आश्चर्य से टँग गयीं। यह तो उसी तरुण तापस की बात है। क्या वह भगवती के पास पहुँच गया है? वैसा तो कोई दूसरा नहीं हो सकता, एकमेवाद्वितीयम् तो उसी को कहा जा सकता है। उसने आग्रहपूर्वक पूछा, "क्या नाम है उसका, माँ?" इस बार स्वर में कुछ अधिक सहजता आ गयी थी।

"नाम? रिक्व मुनि का पुत्र है, इसलिए लोग उसे रैक्व कहते हैं। वह अपना नाम रैक्व ही बताता है। बिचारे को लोक-व्यवहार का ज्ञान ही नहीं था।"

नाम और गुण सुनकर जाबाला को झटका लगा। यह तो उसी का नाम है। वह चकित-सी, भ्रमित-सी भगवती ऋतम्भरा का मुँह देखती रह गयी। एकदम चुप रहना ठीक नहीं लगा, इसलिए केवल कुछ कहने के लिए ही उसने कहा, "ऐसे लोगों पर मुझे बड़ी दया आती है, माँ! बिचारे के न पिता, न माता, न भाई, न बहिन। माता, भाई या बहिन तो मेरे भी नहीं हैं, पर मैं उसकी तुलना में कितनी भाग्यवती हूँ, पिता हैं, तातपाद के समान स्नेही गुरु हैं, घर-द्वार है। उस बिचारे के तो कोई नहीं है, सब प्रकार से वंचित है!"

माता ने कहा, "तेरा मन कोमल है, तेरे हृदय में सौभाग्य-वंचितों के प्रति सहानुभूति है, यह देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। बेटी, तेरे पिता के राज्य में ऐसे सैकड़ों सौभाग्य-वंचित हैं। सबके प्रति तेरे हृदय में सहानुभूति होनी चाहिए।"

जाबाला को दूसरी ओर से धक्का लगा—"सुना है, माँ! आप मुझे कुछ रास्ता सुझायें। कैसे उनकी सेवा करूँ?"

"उसी के लिए तो आयी हूँ। तेरा सहयोग मिलेगा तो दीन-दुखियों के लिए कुछ किया जा सकेगा। रैक्व भी कुछ करने को व्याकुल है। यहाँ से लौटकर जाऊँगी तो वह भी यही पूछेगा कि 'माँ, दुखियों की सेवा करने का रास्ता बताओ।' कुछ तो करना ही पड़ेगा, बेटी! लोग जब भूख-प्यास से व्याकुल हों, तो उनके लिए सोचते रहने का समय तो मिलता नहीं। राजा और आचार्यपाद भी कुछ करने जा रहे हैं। तू थोड़ा स्वस्थ हो ले, तो जा। करने को तो बहुत पड़ा है।"

"हाँ माँ, मुझे भी कुछ रास्ता बताओ। रैक्व को तो आप बहुत प्यार करती हैं, उसे तो रास्ता सुझायेंगी न? वही मुझे भी सुझायें। अच्छा माँ, रैक्व तो बहुत भाग्यवान् जान पड़ता है, उसे आप-जैसी महीयसी माता का प्यार मिला है।"

"रैक्व को प्यार करती हूँ—रैक्व के लिए नहीं, अपने लिए, बेटी!"

"अपने लिए?"

"हाँ बेटी, अपने लिए।"

"आपको क्या कमी है कि आप अपने लिए, रैक्व को और मुझे इतना प्यार करेंगी?"

"सुन बेटी, एक पुरानी बात तुझे बता रही हूँ। यह कथा मैंने महान् ब्रह्मवादी

ऋषि से सुनी है। सुनेगी ?"

"सुनूँगी, माँ !"

"तो सुन ! कथा यों है : याज्ञवल्क्य जब अपने आश्रम को छोड़कर जाने लगे, तो उन्होंने अपनी मित्रवत् पत्नी मैत्रेयी से कहा, 'देखो, मैं इसी गृहस्थाश्रम में पड़े रहना नहीं चाहता, मैं ऊपर उठना चाहता हूँ। आओ, तुम्हारा कात्यायनी के साथ निपटारा करा दूँ।'

"मैत्रेयी ने कहा, 'भगवन् ! अगर यह सारी पृथ्वी वित्त से पूर्ण होकर मेरी हो जाये, तो क्या मैं उससे अमर हो जाऊँगी ?' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नहीं, उस अवस्था में, जैसे साधन-सम्पन्न व्यक्ति चैन से जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे तुम्हारा जीवन होगा, धन-धान्य से अमरता पाने की तो आशा नहीं हो सकती।'

"मैत्रेयी ने कहा, 'जिससे मैं अमर न हो सकूँ, उसे लेकर मैं क्या करूँ ? भगवन् ! अमर होने का जो रहस्य आप जानते हैं, मुझे तो उसी का उपदेश दीजिए।'

"याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तू तो मेरी प्रिय है, और बड़ा प्रिय वचन बोल रही है। आ, बैठ, मैं तुझे सब खोलकर समझाता हूँ; ज्यों-ज्यों मैं बोलता जाऊँ, मेरी बात ध्यान देकर सुनती जाना।'

"फिर उन्होंने कहना शुरू किया, 'पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिए पति प्रिय होता है; पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने आत्मा की कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है; पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिए पुत्र प्रिय होते हैं; वित्त की कामना के लिए वित्त प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिए वित्त प्रिय होता है; ब्रह्मशक्ति की कामना के लिए ब्रह्म प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिए ब्रह्म प्रिय होता है; क्षात्र शक्ति की कामना के लिए क्षत्र प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिए क्षत्र प्रिय होता है; लोकों की कामना के लिए लोक प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिए लोक प्रिय होते हैं; देवों की कामना के लिए देव प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिए देव प्रिय होते हैं; भूतों की कामना के लिए भूत प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिए भूत प्रिय होते हैं; इस सब-कुछ की कामना के लिए सब-कुछ प्रिय नही होता, अपने आत्मा की कामना के लिए यह सब-कुछ प्रिय होता है। जिस आत्मा के लिए यह सब-कुछ प्रिय होता है, वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है—उसी को देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का ध्यान कर ! मैत्रेयी ! आत्मा के ही देखने से, सुनने से, समझने से और जानने से सब गाँठें खुल जाती हैं।' "

"यह तो बड़ी विचित्र बात है ! सब-कुछ स्वार्थ के लिए ही है ?"

"नहीं बेटी, इस कथन का अर्थ लोगों ने अपने-अपने ढंग से कर लिया है। मेरे पति महर्षि औपरितपाद ने इसका जो भाव मुझे बताया है, वही मुझे प्रिय

लगता है। सारे कथन का अर्थ मैत्रेयी के प्रश्न के उत्तर में समझना चाहिए। है न, बेटी ?"

"हाँ, माँ, सो तो है ही। महर्षि क्या कहते हैं ?"

"देख बेटी, मैत्रेयी का प्रश्न था कि धन-धान्य से अमरता मिल सकती है या नहीं ? जिस चीज़ से मैं अमर न होऊँ, उसे लेकर क्या करूँगी ! यही था न प्रश्न ?"

"हाँ, उनका प्रश्न तो यही था।"

"याज्ञवल्क्य ने साफ़ कहा कि धन-धान्य से अमरता नहीं मिलेगी। तो फिर कैसे मिलेगी ? अपनी ओर देखने से; धन-धान्य ही को सब-कुछ मान लेने से नहीं। यही कहा था न ?"

"ऐसा ही लगता है।"

"लगता है नहीं, यही ठीक है। कोई भी वस्तु या प्राणी इसलिए प्रिय नहीं है कि वह अपने-आपमें प्रियता रखता है; वस्तुतः सचराचर रूपराशि भगवन्त अर्थात् परम वैश्वानर, रूप-रूप में अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं। हर मनुष्य में वे अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं। वे ही आत्मा रूप में हर व्यक्ति में विराज़मान हैं। प्रत्येक का अपना अलग स्व-भाव है। उसी अलग स्व-भाव से वे मनुष्य में प्रियता उत्पन्न करते हैं। हर आदमी का अपना-अपना भाव-स्वभाव अलग है। पर है सभी परम वैश्वानर की अभिव्यक्ति। तू जिसे प्रिय समझती है, वह तेरे स्व-भाव की प्रवृत्ति है। मैं जिसे प्रिय समझती हूँ वह मेरे स्व-भाव का झुकाव है।"

"स्व-भाव ?"

"हाँ, स्व-भाव। अब संसार-चक्र में पड़े मनुष्य नाना कारणों से 'स्व-भाव' को या तो पहचान ही नहीं पाते, या पहचानकर भी उपेक्षा कर देते हैं।"

"यह तो विषम संकट है।"

"सो तो है। इतना बड़ा संकट भी नहीं है। केवल यह बोध बना रहना चाहिए कि मैं जिसे प्रिय दृष्टि से देख रहा हूँ वह उसके कारण नहीं, बल्कि अपने अन्तरतर के देवता के कारण। वह देवता ही स्व-भाव का प्रेरक है। स्व-भाव की उपेक्षा से उसी का अपमान होता है। धन हमको प्रिय है, इसलिए धन ही सबकुछ है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। जो ऐसा समझेगा वह अन्तरतर के देवता की उपेक्षा करेगा। दृष्टि बदलने की ज़रूरत है। उसी को याज्ञवल्क्य ने ज़ोर देकर समझाना चाहा था।"

"तो माँ, किसी का प्रिय लगना अन्तरतर के देवता का इशारा होता है ?"

"वह अन्तरतर का देवता अनन्त सम्भावनाओं का द्वार है। दृष्टि सदा उसी पर निबद्ध रहनी चाहिए; बाहर दिखायी देनेवाले पर नहीं।"

"इसके लिए क्या करना चाहिए, माँ ?"

"मुझे तो लगता है बेटी, कि परमपिता का निरन्तर ध्यान और उन्हीं से प्रार्थना करते रहना चाहिए। उनका अनुग्रह हो जाता है तो यह सहज ही मिल

जाता है।"

"सहज ही मिल जाता है!"

"हाँ बेटी, मुझे ऐसा ही लगता है। देख न, रास्ते में एक व्यक्ति मिला था—बिल्कुल अनपढ़, गँवार। उसके कोई अपना नहीं है। गाँव-भर का मामा है। क्या ममता दी हैं भगवान् ने उसे! बच्चों को किसी तरह जिलाये रखने और प्रसन्न रखने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करके साग-पात जुटाता है। कहता है, उसका 'अपना' कहा जाने लायक कोई नहीं है इसलिए सब उसके हो गये हैं। दूर-दूर से साग-पात का गट्ठर ढोकर लाता है, बरगद और गूलर के फल ले आता है, अपने-आपको संकट में डालकर मधु लाता है, बच्चों को खिलाता है, उनके साथ खेलता है। विचित्र-विचित्र कहानियाँ गढ़कर सुनाता है और सदा प्रसन्न रहता है। कहता है, झूठी कहानियों से बच्चों का मन बहलाता हूँ, इससे भगवान् खुश हों या न हों, मैं खुश हूँ!"

"अच्छा!"

"हाँ बेटी, कहाँ से इतनी शक्ति पाता है? कहाँ से अपने स्व-भाव पर इतनी आस्था बटोर पाता है? भगवान् का अनुग्रह न कहूँ तो इसे क्या कहूँ? यह स्वार्थ है? इससे बड़ा परमार्थ और क्या हो सकता है? निश्चय ही परमात्मा का अनुग्रह उसे मिला है!"

"माँ, सुनकर मुझे रोमांच हो रहा है!"

"हो रहा है? परमात्मा का अनुग्रह है रे! जब उसने कहा कि उसका कोई अपना नहीं है इसलिए सब अपने हो गये हैं तो मेरे शरीर में भी रोमांच हो आया था। मुझे धक्का भी लगा था। मैं ऐसा ही क्यों नहीं सोच पाती? सब अपने हैं—कितनी बड़ी बात है! लेकिन यही बात मेरे मन में तो कभी नहीं आयी। वह क्या मुझसे अधिक तत्त्वज्ञानी नहीं है? सबको इतने प्यार से अपना लेना क्या सामान्य बात है? मैंने भी उसी रास्ते जाने का संकल्प किया है। पर कठिन साधना जान पड़ती है। किसी की पूरी माँ बनने की लालसा मेरे मन में ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। बनी हुई थी, कहना चाहिए। रैक्व-जैसा बेटा पाकर वह साध पूरी हुई है। तू भी मुझे माँ ही मान ले। कोई पूज्य सम्बोधन नहीं, सिर्फ़ माँ!"

"रैक्व आपका बेटा है, माँ?"

"अब तो पूरी तरह हो गया है। जंननी तो उसकी कोई और थी, वह उसे जन्म देकर छोड़कर चली गयी। चली क्या यों ही गयी होगी बेटी, अपार आशंका और भय लेकर गयी होगी। नवीन प्राण को उत्पन्न करने का आनन्द और उसे पाल-पोसकर बड़ा न कर पाने की भयंकर पीड़ा का द्वन्द्व लेकर गयी होगी। स्त्री के हृदय में भगवान् ने न जाने क्यों इतनी ममता दे रखी है। नया प्राण देने और उसे पाल-पोसकर पूर्ण मनुष्य बनाने की दुर्वार लालसा क्या यों ही दे दी गयी है? निश्चय ही यह परम पिता का अनिवार्य इंगित है। बेटी, मैं जननी नहीं बन सकी, पर अब माँ बनने की लालसा पूरी हुई। बड़ा हो गया है, पर है अभी शिशु ही—

एकदम अबोध शिशु !"

"अच्छा माँ, यह वही रैक्व हैं जो पहले कभी एक टूटी गाड़ी के नीचे बैठे पीठ खुजलाया करते थे ?"

"बिल्कुल वही, बेटी ! बड़ा हो गया है पर उसे अपने अन्तर की धड़कनों को ठीक-ठीक पहचानने की समझ नहीं है। कोई शुभा नाम की लड़की अचानक मिल गयी थी अचेतावस्था में। भोलेराम ने उसे देव-लोक का मनुष्य समझा। बड़ी सेवा की, तब उसे होश आया। फिर उससे कहा कि मेरी पीठ पर बैठ जाओ, तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देता हूँ। लड़की भला कैसे स्वीकार करती ? मगर भोलेराम पीठ फैलाये उसके बैठने की प्रतीक्षा करते रहे। जब उसने डाँट दिया तो हटे, पर पीठ में सनसनाहट अभी भी बनी रहती है। मनोभव देवता की माया भी विचित्र है। मन में आ जाते हैं, पर पकड़ में नहीं आते। अब हालत यह है कि शुभा को सबसे बड़ा ज्ञानी मानते हैं। पहले तो कहते थे कि वह उनकी गुरु है। अब कहते हैं—'नहीं माँ, गुरु तो तुम हो, मगर शुभा अवश्य तत्त्वज्ञानी है !' अब बता, ऐसे वयस्क शिशु को क्या कहा जाये ?"

जाबाला अब सहज हो गयी। बोली, "आपके पास जाके कुछ सुधर गये होंगे, यहाँ तो लोग कहते थे कि बड़ा उद्दण्ड है, सबको शूद्र कहता है। आचार्यपाद से भी अशिष्ट व्यवहार किया। गुरुभक्त ऐसे कि सबसे कहा करते थे, आप कैसे जानेंगे, शुभा से तो आपकी भेंट हुई नहीं ! तातपाद को तो अल्पज्ञ भी कह दिया था। पर अब आपके स्नेह से कुछ सुधरे जान पड़ते हैं।"

"ऐसा ? उसने आचार्य के साथ अशिष्ट व्यवहार किया था ? मैं उसे डाँटूँगी।"

"डाँटना मत माँ, उस बिचारे का क्या दोष है ? उसने लोक-व्यवहार जाना नहीं था। समझा देना, समझदार अवश्य है, मैंने उसे जो कुछ समझाया था, वह समझ गया था। डाँटना मत, भोला है न ?"

"तूने ? तूने उसे कब समझाया ?"

जाबाला जो बात दीर्घकाल से छिपाती आ रही थी, उसके इस तरह अचानक खुल जाने से उसका चेहरा लज्जा से लाल हो गया। परम ब्रह्मवादिनी भगवती ऋतम्भरा के मुख पर उल्लास-चंचल भाव थिरक उठे। वे एकटक उस मनोहर मुख की शोभा निहारती रहीं। जाबाला की आँखें झुक गयीं। फिर धीरे-धीरे बोली, "मुझे ही तो वह शुभा कहता है, माँ !"

"तुझे ! यह तो विचित्र बात है। मेरे मन में यह बात आयी अवश्य थी, पर पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पायी थी। तो उसकी शुभा तू ही है ? सचमुच तू शुभा है, कल्याणमयी !"

जाबाला की आँखें झुकी ही रहीं। माता ने उसके सिर पर स्नेह से हाथ फेरा। बोली, "शुभा ! बेटी !"

जाबाला की आँखें अश्रुपूर्ण, वाणी रुद्ध। बड़े आयास से बोली, "माँ ! ..."

भगवती ऋतम्भरा ने प्रसंग बदलने का प्रयत्न किया।

"अपनी ही बात कहती रह गयी बेटी, तेरे बारे में तो कुछ जाना ही नहीं। बता, तू क्यों इतनी क्षीण-दुर्बल होती जा रही है? अपना कष्ट तो बता। मैं तुझे स्वस्थ और प्रसन्न देखना चाहती हूँ। मेरे बेटे की गुरु स्वस्थ रहे, इसमें अब मेरा स्वार्थ भी जुड़ गया है। बता, तुझे क्या कष्ट है?"

"नहीं माँ···!"

"नहीं क्या रे!"

"उस भले वयस्क शिशु ने नासमझी में कह दिया, उसे ही आप भी मान रही हैं।"

"यह तो मैंने ऐसे ही कह दिया। छोड़ इस बात को। अपना कष्ट बता।"

"माँ, वह कहाँ है? उसे एक बार देखना चाहती हूँ।"

"वाह, वह तो तुझे ही खोज रहा है। कहता है, गाड़ी के पास रहूँगा तो शुभा मिल जायेगी। भोलेराम का विश्वास है कि शुभा उस गाड़ी के पास ही कहीं चक्कर काट रही है। गये होंगे, गाड़ी के पास ही। पर जानती है? अब, वह गाड़ी पर सागपात लादकर गाँव के दीन-दुखियों की सेवा करना चाहता है। कहता है, सच्चा आत्मज्ञान यही है। तू अगर दिख गयी तो तुझे भी गाड़ी में जोत देगा। अभी उससे मिलना ठीक नहीं होगा। इस समय गाड़ी ठीक कर रहा होगा।"

"माँ···!"

"हाँ रे, मैंने कहा कि गाड़ी तेरी नहीं, शुभा की है। इस पर जानती है, उसने क्या कहा? कहता है, माँ, मुझे लगता है कि जो चीज़ शुभा की है वह मेरी भी है!"

"माँ···!"

"अच्छा, छोड़ इस बात को। तू अपना कष्ट बता!"

जाबाला की आँखों से आँसू झरने लगे—"माँ, कोई भी कष्ट नहीं है, उसे देखने की इच्छा ही एक कष्ट है!"

माताजी स्नेहाश्रुपूरित नेत्रों से जाबाला को देखती रह गयीं। थोड़ा सम्हलकर उसने रुक-रुककर कहा, "मुझसे बड़ा अपराध भी हो गया है। मैं पाप-भावना का शिकार भी हो गयी हूँ। गाड़ीवान मर गया, उसके परिवारवालों की किसी ने खोज-खबर भी नहीं ली। पिताजी बेटी के सकुशल लौट आने की खुशी में ऐसे मगन हुए कि उस बिचारे की पत्नी और बच्चे की सुध ही न रही। बड़ा पाप हो गया है, माँ! मेरा प्रायश्चित्त क्या होगा?"

"तेरे पिता के भूल जाने का कारण तो तेरा सकुशल लौट आना हुआ, पर तू क्यों भूल गयी, बेटी?"

"बुद्धि मारी गयी थी, माँ! दिन-रात उस भोलेराम की बात ही सोचती रह गयी, और कुछ की सुध ही नहीं रही।"

"सुध ही नहीं रही?"

"हाँ माँ, बड़ा पाप हो गया। सुना है, उसकी विधवा अपने बच्चे को लेकर कहीं चली गयी है। बड़ा अनर्थ हो गया, माँ!"

"सो तो हो ही गया।"

"वह शल्य भी मन के भीतर गहराई में धँस गया है। न जाने बिचारी कहाँ है! उसका शाप भी तो मुझ पर पड़ेगा। क्या करूँ, माँ?"

"भगवान् वैश्वानर कल्याण करेंगे। तू उसकी चिन्ता छोड़, वह मिल जायेगी।"

"कैसे मिलेगी, माँ? मिलेगी तो उससे क्षमा माँगूँगी और यथाशक्ति उसका कष्ट कम करने का प्रयत्न करूँगी। पर वह कैसे मिलेगी?"

"अपराध तेरा ही नहीं है, उस रैक्व का भी है जिसने तेरे मन को ऐसा मोहग्रस्त किया कि तू कर्त्तव्य भी भूल गयी।"

"नहीं माँ, उस बिचारे का क्या दोष! अपराध मुझसे ही हुआ है।"

"पर प्रायश्चित्त उसे भी करना चाहिए। किसी की बुद्धि भ्रष्ट कर देना क्या उचित है?"

जाबाला के चेहरे पर और भी लालिमा प्रकट हुई। अपने-आपसे ही बोली, 'दोष तो मेरा ही है, मैं उसकी चिन्ता में खो जाऊँ तो वह क्यों दोषी होगा?' थोड़ी देर तक उसके मनोभावों का उतार-चढ़ाव ध्यान से देखती हुई भगवती ऋतम्भरा शान्त बैठी रहीं। फिर बोलीं, "उसने खोज लिया है बेटी, उसने तेरी ओर से प्रायश्चित्त कर लिया है।"

"कर लिया है, माँ? हे भगवान्!"

ग्यारह

माताजी के चले जाने के बाद रैक्व वहीं रुक गये। वह समझते थे कि माताजी जल्दी ही लौट आयेंगी। माताजी ऐसा ही कह भी गयी थीं। बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद भी वे नहीं लौटीं तो उन्हें चिन्ता होने लगी। राजा अच्छा आदमी नहीं जान पड़ता। इतने लोग कष्ट में हैं और उसे कुछ पता ही नहीं। माताजी से मिलेगा भी या नहीं, कौन जाने। फिर यह भी हो सकता है कि वे शुभा से मिलने चली गयी हों। कैसी लगेगी उन्हें शुभा! उसकी एक आदत बहुत खराब है, बात करते-करते कह देती है, 'तुम कहीं दूर छिप जाओ', और फिर चुपचाप खिसक जाती है। माताजी को कहीं छिप जाने को कहेगी और फिर गायब हो जायेगी।

मुझे तो अल्पज्ञ समझती है, अल्पज्ञ तो मैं था भी, पर माताजी को भी अगर ऐसा ही समझा तो मैं उसे कभी क्षमा नहीं करूँगा। पर वह क्षमा माँगने आती भी तो नहीं। मगर नहीं, ऐसा वह नहीं करेगी। समझदार तो है। ज्ञानी भी है, बात ठीक कहती है। उसकी बात न मानने से ही तो मेरी पीठ में खुजली हो गयी। उस समय रैक्व की पीठ की सनसनाहट बढ़ गयी। बार-बार हाथ पीठ पर जाने लगा। शुभा को उचित-अनुचित का विवेक अवश्य है। कहीं माताजी से मेरी शिकायत न कर दे। कहेगी, रैक्व गँवार है, उचित-अनुचित नहीं जानता। कह सकती है। उसे अपने को विवेकशील समझने का गर्व है। तो ठीक है, पर दूसरों की चुगली करना कौन-सा विवेक है! माताजी क्यों नहीं आ रही हैं? क्या कुछ कह तो नहीं दिया? मगर माताजी उसकी बात क्यों सुनने लगीं? मगर नहीं कहेगी। बहुत मधुर बोलती है। उसके मुँह से कटु बात कैसे निकलेगी! फिर माताजी को देर क्यों हो रही है? पता नहीं, कहाँ चली गयीं। राजा से ब्रह्म-तत्त्व के बारे में बात तो नहीं करने लगीं! राजा कहता होगा, सब नाशमान् है, केवल आत्मा ही अविनश्वर है? माताजी उसे अवश्य डाँटेंगी। बड़ा ज्ञानी बनता है, प्रजा के कष्ट का कोई ध्यान ही नहीं! हुँ, सच्चा ज्ञान तो वैश्वानर की आराधना है, समस्त विश्व में व्याप्त परम पुरुष की सेवा। राजा अज्ञानी है!

रैक्व ऐसे ही विचारों में उलझे हुए थे कि एक व्यक्ति उनके निकट आकर बोला, "प्रणाम स्वीकार करें, ब्रह्मचारीजी!"

रैक्व ने आँख उठाकर देखा—मामा! आश्चर्य से चकित होकर पूछा, "मामा, आप यहाँ कहाँ?"

मामा ने अपना प्रश्न किया—"माताजी कहाँ हैं?"

रैक्व ने कहा कि माताजी राजा से मिलने गयी हैं। प्रयत्न कर रही हैं कि दीन-दुखियों के कल्याण के लिए राजा कुछ करे।

मामा ने प्रसन्नता प्रकट की।

"अच्छा ब्रह्मचारिन्, आपकी माताजी क्या परम ब्रह्मवादिनी भगवती ऋतम्भरा हैं?"

"मेरी माँ हैं।"

"कल बड़ा प्रमाद हो गया। पहचाना नहीं। बच्चों को छू देतीं तो वे नीरोग हो जाते।"

"माताजी कह रही थीं कि सबसे बड़ी तपस्या मामा ही कर रहा है—और सब तप बेकार है।"

"नहीं ब्रह्मचारी, मैं अज्ञानी माया के चक्कर में पड़ा हूँ। मैं तपस्या क्या जानूँ! पर कल सचमुच प्रमाद हो गया। भगवती माँ का आशीर्वाद बच्चों को नहीं दिला सका। बाद में लोगों से उनका नाम मालूम हुआ तो पछताकर रह गया।"

"मामा, तुमने यह तो बताया ही नहीं कि इधर कैसे आये। क्या कुछ फल-

फूल संग्रह करोगे ? देखो, मुझे भी बताओ तो मैं भी तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूँ। मैं गट्ठर भी ढो सकता हूँ। माताजी की आज्ञा लेकर तुम्हारे साथ चल सकता हूँ।"

मामा ठठाकर हँसा—"राम-राम ब्रह्मचारीजी, क्या कह रहे हैं आप ! बोझा ढोना आपका काम है ? इसके लिए तो विधाता ने हम लोगों को बना ही रखा है। आप वेद-शास्त्र का अध्ययन करेंगे, तप करेंगे, धर्म का उपदेश देंगे, तभी तो हम पामर जनों का कल्याण होगा।"

रैक्व आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगे। मामा ने कहा, "आप पूछ रहे थे न, कि मैं इधर कैसे आया। राजा ने घोषणा की है कि कोहलीयों का गन्धर्व-पूजन नाटक होगा। उसके लिए जो लोग रंगभूमि का निर्माण करेंगे उन्हें अन्न दिया जायेगा। सुनते ही चल पड़ा। सेर-भर अन्न मिल जाये तो बच्चों को खिलाऊँगा। बिचारों ने बहुत दिनों से अन्न का मुह भी नहीं देखा।"

"गन्धर्व-पूजन क्या होता है ?"

"आप नहीं जानते ? कैसे जानेंगे ? आप तो वन में तप करते हैं। राजा की लड़की बीमार है। लोग कहते हैं कि उस पर गन्धर्व का आवेश है। भीतर-ही-भीतर वह उसका रक्त चूस रहा है। बिचारी एकदम ठठरी हो गयी है। उसी की शान्ति के लिए यह आयोजन है।"

"राजा की बेटी बीमार है ? शुभा बीमार है ? क्या हुआ है उसे ?"

"बताया न कि गन्धर्व रक्त चूस रहा है। थोड़ी दूर पर आप एक टूटी गाड़ी देखेंगे। वहीं राजकुमारी कभी गयी थी। गन्धर्व वहीं उसके शरीर में घुस गया !"

"कहाँ है वह गाड़ी ? मुझे दिखा दो !"

"अरे महाराज, आप वहाँ क्या करने जायेंगे। सुना है, एक तपस्वी उसके नीचे बैठकर तप करता था। गन्धर्व ने उसे धर दबोचा। वह पागल होकर कहीं चला गया।"

"पागल होकर ?"

"हाँ महाराज, लोग वहाँ जाने में डरते हैं। मैं तो जाता हूँ। मुझे क्या पागल बनायेगा ! मैं तो पहले से ही पागल हूँ। मैंने वहाँ कोई गन्धर्व नहीं देखा। मेरे पास आयेगा तो वह भी पागल हो जायेगा।"

मामा हँसने लगा। फिर बोला, "राजकुमारी का तो वह खून ही चूस रहा है। कुछ लोग तो कहते हैं कि राजकुमारी भी पागल हो गयी है !"

रैक्व के चेहरे पर परेशानी के भाव दिखे। मामा ने समझा कि इस समाचार से वह दुःखी हुए हैं। बोला, "कोई चिन्ता की बात नहीं है महाराज, कोहलीय लोग गन्धर्व-शान्ति के बहुत उत्तम उपाय जानते हैं। धर्मात्मा होते हैं, महाराज !"

"कोहलीय लोग क्या करते हैं ?"

"नाटक करते हैं, महाराज ! आजकल गाँवों में नाटक-नाच करनेवाले भ्रष्ट हो गये हैं। कोहलीय वैसे नहीं हैं। वे कैशिकी वृत्ति को नहीं मानते, इसलिए उनकी

पवित्रता बनी हुई है।"

"कैशिकी वृत्ति ?"

"हाँ महाराज ! कोहल मुनि भरत मुनि के प्रधान शिष्य थे। उन्हीं का सम्प्रदाय कोहलीय सम्प्रदाय कहा जाता है। ये लोग मानते हैं कि भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल भारती वृत्ति का प्रवर्त्तन किया था, जिसमें शब्दों के द्वारा ही भाव प्रकट करने पर ज़ोर दिया जाता है। और दो वृत्तियाँ भी वे लोग मानते हैं, लेकिन चौथी वृत्ति कैशिकी को वे लोग नहीं मानते।"

"कैशिकी वृत्ति क्या होती है ?"

"ऐसा होता है, महाराज, कि मनुष्य ही देवता या गन्धर्व का रूप धारण करके रंग-भूमि पर उतरता है। इसमें अप्सराओं की भी भूमिका होती है। कोहलीय लोग कहते हैं कि अप्सराओं की भूमिका बालकों या किशोरों से करायी जानी चाहिए, स्त्रियों से नहीं। परन्तु जो लोग कैशिकी वृत्ति को मानते हैं, वे अप्सराओं और देवियों की भूमिका में स्त्रियों से अभिनय कराते हैं। वे लोग कहते हैं कि स्त्रियों का अभिनय स्त्रियाँ ही करें, यही स्वाभाविक है, परन्तु कोहलीय लोग लड़कों को ही स्त्री की भूमिका में उतारते हैं। उनका कहना है कि रंग-भूमि में स्त्रियों के अभिनय करने से अधर्म की वृद्धि होती है और धर्म का ह्रास होता है।"

"यह बात कुछ समझ में नहीं आयी।"

"कैसे समझेंगे, महाराज ! आप लोग तो वीतराग हैं। जब स्त्रियाँ सज-धज कर रंगभूमि पर उतरती हैं तो साधारण पुरुषों में उनके प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। फिर स्त्री-पुरुष का मिलन होता है और बच्चे पैदा होते हैं जो वर्णसंकर होते हैं। उनसे समाज नष्ट होता है। स्त्री और पुरुष का मिलन होगा तो बच्चे तो पैदा होंगे ही।"

"बच्चे पैदा होंगे, कैसे ?"

"स्त्री-पुरुष के मिलन से बच्चे तो पैदा होंगे ही, महाराज ! यही तो प्रकृति का नियम है। इसीलिए तो ऋषियों ने विवाह के नियम चलाये हैं। विवाह से जो बच्चे पैदा होते हैं वे धर्मसंगत होते हैं, उनसे समाज को बल मिलता है। और जो बच्चे बिना विवाह के उत्पन्न होते हैं, वे वर्णसंकर होते हैं और अधार्मिक होते हैं। कोहलीय लोग मानते हैं कि समाज की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि स्त्रियों की भूमिका में स्त्रियाँ न उतारी जायें, बालकों से ही काम चला लिया जाये। इन बालकों को वे लोग बहुत शिक्षा देते हैं। उन्हें भ्रूंकुश कहा जाता है।"

"भ्रूंकुश का क्या मतलब ?"

"अब सारी बातें तो मैं भी नहीं बता सकता, गँवार आदमी हूँ। मगर एक बार मैंने एक भ्रूंकुश से पूछा था कि तुम लोगों को ऐसा नाम क्यों दिया गया।"

"क्या बताया उसने ?"

"उसने बताया कि स्त्रियों में भ्रू-विलास, भ्रू-वर्जना और आँखों का अभिनय सहज और स्वाभाविक होता है। उनकी आँखों की बनावट ही कुछ ऐसी होती है।

पुरुष वैसा नहीं कर पाता। बहुत शिक्षा लेने के बाद पुरुषों में आँखों और भ्रूओं के अभिनय की योग्यता आती है। इन लोगों को भ्रूओं का अभिनय बड़े परिश्रम से सीखना पड़ता है। इसीलिए उनको भ्रुंकुश कहते हैं। बिना मेहनत किये कोई कला नहीं आती है, महाराज !"

"तो ये लोग स्त्रियों का-सा अभिनय कर लेते हैं ? आश्चर्य है !"

"कर तो लेते ही हैं महाराज, पर उनकी वाणी उतनी मीठी नहीं होती। भारती वृत्ति में तो वाणी का ही महत्त्व है।"

"तुम ठीक कह रहे हो, मामा ! माताजी का गाना सुना है ?"

"नहीं, महाराज !"

"तो तुम क्या समझोगे कि वाणी की मिठास क्या होती है ?"

"ऐसा भाग्य कहाँ है, महाराज, कि माताजी का गाना सुन सकूँ !"

"शुभा को बोलते सुना है ?"

"उनका तो नाम भी नहीं सुना, महाराज !"

"तो तुम कैसे जानोगे कि वाणी की मिठास क्या चीज़ होती है ? मैंने सुना है, मैं जानता हूँ।"

"सो तो है ही।"

"अच्छा मामा, तुम अभी बता रहे थे कि ऋषि लोगों ने विवाह के नियम चलाये हैं। मुझे बताओ कि विवाह क्या होता है !"

मामा ने आश्चर्य से ब्रह्मचारी की ओर देखा। यह ब्रह्मचारी क्या यह भी नहीं जानता कि विवाह क्या होता है। बोला, "विवाह नहीं जानते, महाराज ? आश्चर्य है। विवाह स्त्री के साथ पुरुष का होता है। दोनों देवताओं की साक्षी रख कर, अग्नि की प्रदक्षिणा करके यह शपथ लेते हैं कि जीवन-भर एक-दूसरे के साथ रहेंगे। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।"

"एक हो जाते हैं ?"

"हाँ महाराज, विवाह के बिना स्त्री भी आधी ही रहती है और पुरुष भी आधा ही रहता है। विवाह से मिलकर वे दोनों पूरे मनुष्य बनते हैं।"

"पूरे मनुष्य बनते हैं ?"

"हाँ, महाराज !"

"तुमने विवाह किया है ?"

"मेरे जैसे को कौन अपनी लड़की देगा ? जिसके पास घर नहीं, भूमि नहीं, माता नहीं, पिता नहीं, उसे क्यों कोई लड़की देगा ?"

"जिसके पास घर, भूमि आदि नहीं होता, उसका विवाह नहीं होता ?"

"प्रायः नहीं होता, महाराज। मगर मैं तो विवाह न होने से निश्चिन्त ही हो गया हूँ। विवाह होता तो बच्चे होते, उनकी चिन्ता में दिन-रात परेशान रहना पड़ता, किसी और की सेवा करने का समय ही नहीं मिलता। अब भगवान् ने मुझे सब ओर से मुक्ति दे दी है, इसलिए निश्चिन्त होकर सेवा करता हूँ।"

"तो विवाह एक झंझट है ?"

"झंझट भी है, महाराज, पर इसके बिना चलता भी तो नहीं।"

"नहीं चलता ?"

"कहाँ चलता है, महाराज ? आपके समान तपस्वी ब्रह्मचारी कितने हैं ?"

रैक्व समझने की कोशिश करने लगे। मामा की बातें उन्हें विचित्र लगीं। विवाह के लिए घर और भूमि का होना आवश्यक है। जिसके पास यह सब नहीं है, उसे कोई पिता अपनी लड़की नहीं देता !

"अच्छा, पिता के दिये बिना कोई लड़की विवाह नहीं कर सकती ?"

"राजा लोगों में तो सुना है, महाराज, कि गन्धर्व-विवाह भी होता है, पर हम ग़रीबों में वर और कन्या के माँ-बाप ही विवाह का निश्चय कर देते हैं।"

"गन्धर्व-विवाह ? वह क्या होता है ?"

"लो महाराज, आपको तो दुनिया का कुछ पता ही नहीं है। जब लड़का भी सयाना हो और लड़की भी सयानी हो, और दोनों में प्रेम हो जाये, तो वे माता-पिता की अनुमति मिले बिना भी विवाह कर लेते हैं, इसी को गन्धर्व-विवाह कहते हैं।"

"उस समय क्या दोनों में गन्धर्व का आवेश हो जाता है ?"

मामा ठठाकर हँसा—"क्या कहते हो ब्रह्मचारीजी, गन्धर्व का आवेश क्यों होगा ! यह तो प्रेम से हुए विवाह का नाम है।"

रैक्व सोचने लगे। मामा ने कुतूहल के साथ उनकी ओर देखा, फिर बोला, "अब आज्ञा दें महाराज, कुछ कामकाज कर आऊँ।"

रैक्व खोये रहे, मामा चला गया। मामा ने बताया था कि लोग कह रहे हैं कि गाड़ी के पास कोई गन्धर्व है, उसने उसके नीचे बैठकर तप करनेवाले तपस्वी को पागल बना दिया है। पागल अर्थात् विक्षिप्त ! मैं क्या विक्षिप्त हो गया हूँ ? फिर लोग कहते हैं कि राजकुमारी भी पागल हो गयी है। गन्धर्व उसके शरीर में घुसकर उसका रक्त चूस रहा है। यह राजकुमारी क्या शुभा ही है ? लोगों ने कैसे जाना कि गन्धर्व यह सब कर रहा है ? किसी ने देखा है ? मामा को तो नहीं दिखा। मैंने भी नहीं देखा। लोग बिना परीक्षा किये ऐसी बात क्यों कहते हैं ? सब शूद्र हैं क्या ? माताजी से पूछना होगा। पर वे तो लौटी ही नहीं। कहाँ रह गयीं। अगर यहाँ से उठ गया तो फिर मुझे खोजेंगी। नहीं मिलूँगा तो दुःखी होंगी। पर गाड़ी के पास स्वयं चलकर देख लेना अच्छा होता कि वहाँ सचमुच कोई गन्धर्व है क्या ? उन्होंने बेचैनी का अनुभव किया। थोड़ा उठकर टहल लेने में क्या हानि है ? उतनी ही दूर तक चलना चाहिए जहाँ से यह स्थान दिखता रहे। माताजी कहीं इसी बीच आ गयीं तो उन्हें देख सकूँ, इसका ध्यान रखना होगा। मामा बता गया है कि गाड़ी कहीं पास ही है। जिधर बताया है उसी ओर चलना चाहिए।

रैक्व उधर ही चलने लगे। गाड़ी बुरी तरह खींच रही है। दुर्वार आकर्षण

है उसका। थोड़ा और, थोड़ा और। नहीं, अब और आगे बढ़ने पर माताजी नहीं दिखायी देंगी। यहीं रुक जाना चाहिए। मगर गाड़ी है कि खींच ही लेना चाहती है। ऐसा तो नहीं होना चाहिए। गाड़ी तो जड़ है। उसमें प्राण भी नहीं है, मन भी नहीं है, वह कैसे खींच सकती है। मैं ही विक्षिप्त हो गया हूँ। अवश्य कोई लोकोत्तर शक्ति वहाँ कुछ काम कर रही है। गन्धर्व क्या उसी का नाम है! आश्चर्य है!

रैक्व ने दृढ़ता से अपने पैर रोक लिये। सन्ध्या होने को आयी। अब माताजी अवश्य आयेंगी। वहीं लौट चलना ठीक होगा। लौटना चाहिए। रैक्व लौट पड़े।

पीछे से आवाज़ आयी—"भैया, तुम इधर कहाँ भटक रहे हो?" रैक्व ने चौंककर पीछे देखा, दीदी है।

"दीदी तुम? यहाँ कैसे आयीं?"

"नहीं रहा गया, भैया! इस बच्चे का पिता पुकार रहा है। यहीं फिर आ गयी। स्वप्न में कहा है, इस गाड़ी के पास दीप जलाओ, मैं अन्धकार में भटक रहा हूँ। सो, दीप जला के आ रही हूँ।"

"अन्धकार में भटक रहे हैं?"

"सपना दिया है, भैया! तीन दिन दीप जलाऊँगी। आज दूसरा दिन है। एक सन्ध्या को और दीप जलाकर आश्रम में लौट जाने का विचार था। माताजी से उनके उद्धार का कुछ उपाय पूछना होगा।"

दीदी रोने लगी। रैक्व की समझ में नहीं आया कि क्या कहें। दीदी ने ही पूछा, "तुम इधर कहाँ आ भटके भैया, माताजी कहाँ हैं?"

रैक्व ने बताया कि वे राजा के यहाँ गयी हैं, अभी लौटकर आयेंगी। दीदी ने कहा, "अच्छा, यही बात है। राजा ने आज रंग-भूमि बनवाने के लिए बहुत लोगों को काम दिया है। बड़ी उदारता से अन्न बाँटा जा रहा है। मैं भी गयी थी। काम तो थोड़ा ही किया। यहाँ आना था। मगर मजूरी मुझे पूरी मिली। सेर-भर अन्न और दो भेली गुड़। कल फिर जाऊँगी। माताजी ने ही राजा को यह सब करने को कहा होगा। नहीं तो राजा यह सब क्यों करता? माताजी अगर मिल गयीं तो इनके बारे में पूछकर जान लूँगी कि इनकी शान्ति के लिए क्या करूँ। कुछ और काम मिल गया तो दो-चार दिन की व्यवस्था हो ही जायेगी। इनके लिए कुछ दान-पुन्न भी तो नहीं कर सकी, भैया!"

दीदी फिर रोने लगी। गोद का बच्चा भी व्याकुल होकर रोने लगा। रैक्व कर्तव्य-मूढ़!

कुछ देर बाद दीदी का रोना बन्द हुआ। उसने कहा, "उधर मत जाना, भैया! लोग कहते हैं उधर कोई गन्धर्व है, राजा की लड़की को तंग कर रहा है। तुम्हें भी उधर नहीं जाना चाहिए।"

"तुम तो गयी थीं। तुम्हें क्या कोई गन्धर्व मिला था?"

"मुझे क्यों मिलेगा, भैया! गन्धर्व तो कुँवारी लड़कियों को लगता है। तुम

भी कुँवारे हो, उधर मत जाओ।"

"राजा की लड़की कुँवारी है ?"

"कुँवारी न होती तो गन्धर्व क्यों उसे तंग करता ?"

"तुम कुँवारी नहीं हो, दीदी ?"

"भैया, तुम्हारी बातें सुनकर तो हँसी आती है।"

"हँसी आती है ? क्यों ?"

"हँसी नहीं आयेगी ? बच्चा-बच्चा जिस बात को जानता है, वह भी तुम नहीं जानते। मेरा ब्याह हुआ है, बच्चा साथ में देख रहे हो, फिर भी पूछते हो कि तुम कुँवारी नहीं हो, दीदी ?"

"दीदी, मैं बहुत अल्पज्ञ हूँ। हूँ न ?"

"नहीं भैया, तुम वेदशास्त्र पढ़ते हो, तुम कैसे अल्पज्ञ हो ? तप करना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, यह सब तो बहुत बड़ी बात है; पर तुम सांसारिक प्रपंचों में पड़े नहीं, इसलिए छोटे-मोटे प्रपंचों को नहीं जानते। इनका न जानना ही अच्छा है !"

"अच्छा दीदी, राजा की लड़की कुँवारी क्यों है ?"

"थोड़े दिनों तक तो सभी कुँवारे रहते हैं। विवाह तो बाद में होता है। तुम भी तो कुँवारे हो। राजा अपनी लड़की के लिए कोई सुन्दर-सा लड़का खोजेगा, तुम्हारी तरह का कुँवारा, तब न विवाह होगा !"

"मेरी तरह का ?"

"हाँ, सुन्दर होगा, किशोर होगा, बुद्धिमान होगा, कुँवारा होगा। तुम्हारी ही तरह का तो होगा।"

"नहीं दीदी, मेरा विवाह नहीं हो सकेगा। मामा कहता था कि जिसके घर-द्वार नहीं होता, धन-सम्पत्ति नहीं होती, भाई-बहिन नहीं होते, माँ-बाप नहीं होते, उसका विवाह नहीं होता।"

"पागल हुए हो भैया, तुम्हारी माँ हैं, पिताजी हैं, मैं बहिन भी जुट गयी हूँ, इतना सुन्दर रूप है, ऐसा मोहन स्वभाव है, तुम्हें क्या कमी है ! धन-सम्पत्ति तो छोटे लोगों में देखी जाती है; ब्राह्मण लोगों में तो विद्या और ज्ञान देखा जाता है। पागल की तरह बात न करो। मेरे भैया-जैसा लड़का तो तीन भुवन में खोजे भी किसी को नहीं मिलेगा।"

"मैं पागल हो गया हूँ, दीदी ?"

"कौन कहता है कि तुम पागल हो गये हो ?"

"अभी तो तुमने कहा !"

"मैंने जो कहा उसका यह अर्थ थोड़े ही है ! मैं तो कह रही थी कि तुम अपने भोलेपन में जो बात कह रहे हो वह पागलों-जैसो है। राम-राम, मैं अपने भैया को पागल समझूँगी, मेरी जीभ नहीं जल जायेगी ऐसा कहने पर ! मैं क्या जानती नहीं कि मेरा भैया भोलानाथ है !"

"भोलानाथ ?"

"हाँ भोलानाथ, दुनियादारी से एकदम अनभिज्ञ !"

रैक्व सोचने लगे ।

दीदी को लगा कि उसने भैया का मन दुखा दिया है । उसे कष्ट हुआ । बोली, "बुरा मान गये, भैया ! गँवार हूँ, कुछ अन्यथा कह दिया हो तो बुरा न मानना ।"

"बुरा ? बुरा क्यों मानूँगा ! मैं तो सोच रहा था कि दीदी कितना जानती है ! शुभा भी बहुत जानती है !"

"शुभा कौन है ?"

"वही राजा की लड़की, जिसकी वह गाड़ी है। उसने बड़ा पाप किया है, तुम्हारी कोई खोज-खबर ही नहीं ली ।"

"पहले मेरे मन में भी क्रोध था, पर अब नहीं है। उस बिचारी पर गन्धर्व का आवेश हो गया, सब बातें भूल गयीं । मैंने कोई बड़ा पाप किया होगा जिसका फल मुझे भोगना पड़ा । जब से सुना है कि राजकुमारी पर गन्धर्व आ गया है तब से मन दुःखी हो गया है । तुम नहीं जानते भैया, गन्धर्व हमेशा सुन्दर और सुशीला कुमारियों को ही तंग करते हैं । बिचारी अकारण कष्ट पा रही है । वह बहुत सुन्दर और सुशील होगी, तभी यह विपदा उस पर आयी है ।"

"वह ठीक हो जायेगी न, दीदी ?"

"लो भला, इतनी पूजा हो रही है, ठीक तो हो ही जायेगी । पूजा पाने के लिए ही तो गन्धर्व का उत्पात होता है ।"

इसी समय माताजी आ गयीं । वह निश्चित स्थान पर रैक्व को न पाकर इधर-उधर खोजने लगीं । उनकी दृष्टि रैक्व पर पड़ी । उन्होंने देखा कि वे किसी स्त्री से बात कर रहे हैं । उन्हें दूर से ही पुकारा—"रैक्व, बेटा !"

रैक्व एकदम अकचकाकर पीछे की ओर फिरे । देखा, माताजी पुकार रही हैं। दोनों माताजी के पास गये । दीदी ने चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया । माताजी आश्चर्य और प्रसन्नता से बोलीं, "तू कहाँ से आ गयी ? आश्रम अच्छा नहीं लगा ?"

दीदी ने रो-रोकर बताया कि उसने कैसा स्वप्न देखा । वह विचलित हो गयी और दीप-दान के लिए यहाँ चली आयी । वह तीन दिन तक सन्ध्या को दीप देने का संकल्प करके आयी है, पर मन में बड़ी उथल-पुथल है । उसे सूझ नहीं रहा कि अपने पति की सद्‌गति के लिए क्या करे । उसने माताजी से गिड़गिड़ाकर कहा कि कोई उपाय बतायें जिससे उसके पति का उद्धार हो । वे अन्धकार में भटक रहे हैं।

माताजी सोच में पड़ गयीं । बोलीं, "बेटी, कुछ करना तो आवश्यक है । अभी रात में तो श्राद्धकर्म होता नहीं, प्रातःकाल कुछ किया जायेगा । अभी तो चल, कहीं थोड़ा विश्राम किया जाये ।"

रैक्व ने उल्लसित होकर कहा, "माँ, गाड़ी यहीं पास में ही है, वहीं विश्राम

किया जाये। वहाँ पानी भी है और कुछ फल-मूल भी मिल जायेंगे। चलो माँ, चलें।"

माताजी के अधरों पर हल्की हँसी दिखायी दी। रैक्व की दीदी से बोलीं, "चल बेटी, इसे गाड़ी बहुत प्रिय है!"

दीदी ने कहा, "मुझे भी प्रिय हो गयी है माँ, मैं आज उसे पकड़कर बहुत रोयी हूँ।"

माताजी का चेहरा म्लान हो गया, "तेरी व्यथा मैं समझ सकती हूँ। तुम दोनों को अलग-अलग कारणों से गाड़ी प्रिय है। दोनों भाई-बहिन को जो वस्तु प्रिय हो, वह मेरी भी प्रिय है। चलो!"

रैक्व ने बड़े उत्साह से माताजी को गाड़ी दिखायी। माताजी और दीदी के लिए पानी और फल जुटाने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि अपने घर में आये अतिथियों का सत्कार कर रहे हों। माताजी को रैक्व का उत्साह देखकर आश्चर्य हो रहा था। गाड़ी के साथ लड़के ने कितनी आत्मीयता स्थापित कर ली है!

थोड़ा विश्राम करने के बाद माताजी ने रैक्व की ओर देखा। बोलीं, "रैक्व, बेटा!"

"हाँ, माँ!"

"अकेले आश्रम जा सकोगे?"

"जा सकूँगा, माँ!"

"तो कल प्रातः चले जाना। कल आषाढ़ी पूर्णिमा है। कल मुझे वहाँ रहना चाहिए था, पर तुम्हारी दीदी का काम बहुत आवश्यक है। मैं परसों पहुँच सकूँगी।"

"मुझे वहाँ जाकर क्या करना होगा, माँ?"

"कल गुरु-पूर्णिमा है बेटा, तुम्हारे पिताजी के अनेक शिष्य उनकी पूजा करने आयेंगे। सबका ध्यान रखना होगा। उन्हें कोई असुविधा नहीं होनी चाहिए। सब आशा करेंगे कि मैं भी वहाँ उपस्थित रहूँ, पर तेरी दीदी के मन को शान्त किये बिना मैं नहीं जा सकती। जो लोग आवें उनसे यह बात समझाकर कहना होगा। यह सब कर सकेगा न, बेटा?"

"कर लूँगा, माँ!"

"और देख! इसके बाद श्रावण का महीना आयेगा। श्रावणी पूर्णिमा के उपाकर्म के लिए अभी से तैयारी करनी होगी। बहुत-से लोग आश्रम में टिक जाते हैं। उनके साथ सत्संग का भी अच्छा अवसर मिलेगा।"

"हाँ, माँ!"

"देख, तूने कई शास्त्र अभी पढ़े नहीं, फिर जो पढ़ा था वह फिर से तैयार कर लेना होगा। इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। क्यों?"

"हाँ माँ, किन्तु···"

"किन्तु नहीं, बेटा ! तुझे आपद्ग्रस्त लोगों की सेवा करनी है। बिना अध्ययन किये नहीं कर सकेगा। शास्त्र बताते हैं कि किस परिस्थिति में क्या करना चाहिए। शास्त्र-विधि से किया हुआ काम ठीक होता है।"

"हाँ माँ, किन्तु···"

"और किन्तु क्या, बेटा?"

"मैं जानना चाहता था कि राजा से आपकी क्या बात हुई?"

"राजा सहायता का आयोजन तत्परता के साथ कर रहा है। तू इधर से अभी निश्चिन्त हो सकता है।"

"और माँ···"

"हाँ, शुभा भी मिली थी। ठीक है।"

"माँ, शुभा बीमार है?"

"थी, अब ठीक हो जायेगी। तू मन लगाकर शास्त्र-चिन्ता कर। तू मेरा बेटा है न?"

"हाँ, माँ।"

"मैं जैसा कहूँ, वैसा करेगा न?"

"अवश्य, माँ!"

"मैं राजा से मिली थी। उनके पुरोहित आचार्य औदुम्बरायण से मिली थी। दोनों भले आदमी हैं। आचार्य औदुम्बरायण तो तुझसे मिल भी चुके हैं।"

"मिल चुके हैं?"

"हाँ बेटा, तूने उन्हें पहचाना नहीं था। उनका उचित सम्मान नहीं किया था। किया था, बेटा?"

"माँ, जब मैं इस गाड़ी के नीचे ध्यान कर रहा था तो वे आये थे। मैंने उनका उचित सम्मान नहीं किया होगा। मुझे मालूम नहीं था, माँ! बड़ा दुष्कृत हो गया। शुभा ने सपने में उनका सम्मान करने को कहा। मैंने उन्हीं से पूछा कि आपका सम्मान कैसे करूँ। उन्होंने कुछ बताया ही नहीं। वह तो जब तुमने बताया कि प्रत्युत्थान और अभिवादन कैसे किया जाता है, तो बात समझ में आयी। बड़ा दुष्कृत हुआ यह, माँ!"

"नहीं, दुष्कृत नहीं हुआ। आचार्य ने भी बुरा नहीं माना। जानता है, क्यों?"

"क्यों माँ, बुरे को बुरा तो मानना ही चाहिए।"

"नहीं, तेरा चित्त शुद्ध है, निर्मल है, इसलिए बुरा नहीं माना। पर तुझे बड़ों के सम्मान का ध्यान रखना चाहिए।"

"हाँ, माँ!"

"आश्रम में बहुत ज्ञानी, वृद्ध और तपस्वी लोग आयेंगे। उनका सम्मान कर सकेगा न?"

"अवश्य करूँगा, माँ! तुमने जितना और जैसा समझाया है उतना और वैसा

अवश्य करूँगा।"

"और···"

"बताओ, माँ!"

"देख बेटा, सब लोग आशा करते हैं कि मेरा बेटा शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञानी होगा। तत्त्वज्ञानी तू है, पर शास्त्रज्ञ भी होना चाहिए। वेदों का ठीक से अध्ययन करना होगा, सभी शास्त्रों का मनन करना होगा। यथा-अवसर प्रायश्चित्तपूर्वक तेरे संस्कार करने होंगे, तब तू सच्चा ज्ञानी और समाज-सेवक होगा।"

"प्रायश्चित्त क्यों, माँ?"

"समय पर तेरे संस्कार नहीं हुए, इसलिए।"

"कौन-से शास्त्र पढ़ने होंगे, माँ?"

"तेरे पिताजी बतायेंगे।"

"तुम नहीं बताओगी, माँ?"

"मैंने तेरे पिताजी से बात कर ली है, वे तेरी परीक्षा करने के बाद समझेंगे कि तुझे किन शास्त्रों में रुचि है। समझा, बेटा?"

"पिताजी के पास जाना होगा। वे परीक्षा लेकर बतायेंगे कि क्या अध्ययन करूँ। यही न?"

"हाँ, यही। मेरी अनुपस्थिति में अतिथियों की ठीक से अभ्यर्थना करनी होगी।"

"थोड़ी त्रुटि हो जा सकती है, माँ! सब बातें मैं जानता-समझता नहीं।"

"कोई चिन्ता नहीं। रास्ता ही रास्ता बता देता है, बेटा, कुछ करते-करते ही सही ढंग सीखा जा सकता है।"

"करूँगा, माँ!"

बारह

रंग-मंच का निर्माण बड़े आडम्बर के साथ हुआ। हज़ारों कर्मकर उसमें लगाये गये। उन दिनों रंगमंच का निर्माण बड़ी सावधानी के साथ किया जाता था। भूमि-निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण-गुल्मादि को साफ़ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था

और प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था; बेर की छाल से बनता था या मूँज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मज़बूत रस्सी भी काम में लायी जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाये तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई से टूट जाये तो राज-कोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है। हाथ-भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्त्व का समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई काषाय वस्त्रधारी, हीन-वपु या विकलांग पुरुष मण्डप-स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक गया या काँप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भावाजोखी का डर लगा रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित्त और ब्राह्मण-भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र-कर्म, खम्भे गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्त्वपूर्ण क्यों था। उसकी ज़रा-सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती थी। नाटक की सफलता का दारोमदार सूत्रधार पर रहता था।

रंगमंच का निर्माण सकुशल हो गया। कहीं किसी प्रकार की अशुभ सूचना नहीं मिली। राजा जानश्रुति स्वयं यजमान के रूप में पूजन-विधि सम्पन्न कर रहे थे। जिस दिन नाटक आरम्भ होनेवाला था उस दिन जाबाला को कुसुम्भी रंग का वस्त्र पहनाया गया। एक भरत-पुत्र ने ही उससे अशोक-वृक्ष का पूजन कराया। ऐसा माना जाता था कि गन्धर्वों का सबसे प्रिय वृक्ष अशोक है। यह वैदिक क्रिया नहीं थी, इसलिए आचार्य औदुम्बरायण उससे अलग ही रहे। परन्तु राजा जान-श्रुति आरम्भ से अन्त तक इस अशोक-पूजन में उपस्थित रहे। जाबाला को यह सब पसन्द नहीं था, पर उसने कोई विरोध भी नहीं किया। यथा-निर्देश वह सारे कर्म शान्त चित्त से करती गयी। धूप, दीप, नैवेद्य, माला, उपलेपन आदि से अशोक-तरु का पूजन हुआ। भरत-पुत्र ने प्रत्येक क्रिया में अत्यन्त सावधानी और गौरव के साथ निर्देश दिया। पूजा-समाप्ति के पूर्व उन्होंने अत्यन्त गम्भीर वाणी में निर्देश दिया—"शुभे, अपने मनोवांछित वर का ध्यान करें और भृंगार का जल अशोक के मूल में धीरे-धीरे डाल दें।" धीरे-धीरे, अभिलषित वर का ध्यान करते-करते क्षण-भर के लिए जाबाला का मुख-मण्डल आरक्त हो उठा। यह भी कोई बात हुई? परन्तु 'शुभा' सम्बोधन बिजली की भाँति हृदय में कौंध गया। अनायास

वह तरुण तापस उसके मन में आ गया जिसके बारे में वह इतना सोच रही है। वही क्या अभिलषित वर है ? वह रैक्व के ध्यान में डूब गयी। वह भूल ही गयी कि पूजा-वेदी पर बैठी हुई है। ध्यान-भंग होने के कोई लक्षण नहीं दिखे। भरत-पुत्र ने फिर शान्त स्वर में कहा, "शुभे, कल्याण हो, भृंगार का जल अशोक-मूल में डाल दीजिए।" फिर एक झटका लगा—'शुभे !'

उसने उठकर भृंगार का पूरा जल एक साथ ही अशोक-तरु के मूल में उँड़ेल दिया। उसके चेहरे पर स्पष्ट रूप से भरत-पुत्र की अवज्ञा के भाव थे। इस निर्देश से उसे रोष हुआ था, पर सहज आभिजात्यवश वह खुलकर प्रतिवाद नहीं कर सकी थी। सारे भृंगार का जल एक साथ उँड़ेलकर मानो उसने अपने मन के रोष को मुखर कर दिया। भरत-पुत्र अनुभवी था। उसने इस प्रकार का प्रतिवाद बहुत देखा था। प्रायः लड़कियाँ इस निर्देश का पालन यथावत् नहीं करना चाहती थीं। उनकी प्रतिक्रियाओं से भरत-पुत्र उनकी मानसिक स्थिति का अनुमान किया करते थे। राजकुमारी जाबाला ने अपना रोष प्रकट करके सोचा था कि भरत-पुत्र इससे चिन्तित होगा और कदाचित् फिर से भृंगार के जल को धीरे-धीरे अशोक-मूल में डालने का अनुरोध करेगा। कहेगा, 'शुभे, धीरे-धीरे, मनोवांछित वर का ध्यान करते हुए।' और अबकी बार वह भृंगार उसके मुँह पर दे मारेगी ! परन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं। यह केवल भरत-पुत्रों का विनोद था। वे वस्तुतः आराधिका के चढ़ते-उतरते भावों को पढ़ा करते थे। अनुभवी भरत-पुत्र उसी प्रकार की शान्त-गम्भीर वाणी से राजा से बोला, "कल्याण हो महाराज, मंगल-कार्य बहुत शीघ्र ही होगा। देवगण प्रसन्न हैं, भगवान् कुसुमसायक प्रीत हैं।"

अन्तिम वाक्य से जाबाला और भी क्षुब्ध हुई। बिना कुछ कहे झम्म से उठी और भीतर चली गयी। भरत-पुत्र के गम्भीर चेहरे पर उत्फुल्लता की लहर दौड़ गयी। पूजा दीर्घ-दीर्घायित शंख-ध्वनि के साथ समाप्त हुई।

माताजी की सलाह मानकर राजा ने जाबाला की मौसी को बुलवाया था। वे वात-रोग से पीड़ित थीं। स्वयं तो नहीं आ सकीं, पर अपनी बड़ी लड़की अरुन्धती को भेज दिया। अरुन्धती जाबाला की प्रायः समवयस्का ही थी। उसे विधाता ने बड़ी-बड़ी चपल आँखें दी थीं। बहुत दिन पहले उसने जाबाला को देखा था। तब से दोनों में अन्तर आ गया था। दोनों बड़ी हो गयी थीं, पर अरुन्धती में चपलता ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी, जबकि जाबाला गम्भीर हो गयी थी। पूजा-समाप्ति का शंख उधर बजा, इधर अरुन्धती का प्रवेश हुआ। मन-ही-मन भरत-पुत्र को कोसती हुई क्षुब्ध जाबाला को अरुन्धती मिल गयी। उसे अपार आनन्द हुआ। चेहरे पर झूलते हुए क्षोभ के भाव तिरोहित हो गये। उसने उल्लास के साथ अरुन्धती को हृदय से लगा लिया। पर अरुन्धती की दृष्टि से उसका क्षोभ-भाव छिप नहीं सका। दोनों बहिनें घर में जा बैठीं। अरुन्धती ने उसके कुसुम्भी वस्त्रों को देखकर कहा, "ऐसा लगता है दीदी, तुम विवाह-वेदी से उठकर आ रही हो, मगर गुस्सा क्यों हो गयी थीं ? कितना सुन्दर लगता है तुम्हारा गुस्से से लाल

चेहरा ! लगता है, अभी से मान का अभ्यास करने लगी हो !"

जाबाला ने डाँटते हुए कहा, "चुप भी रह। अभी चली आ रही है, एक बार पूछा भी नहीं कि दीदी मर रही है कि जी रही है, और शुरू कर दी ठठोली।"

"दीदी जी रही है और युग-युग जियेगी। जब से सुना कि दीदी अस्वस्थ है, सोच-सोचकर मैं ही मरती रही। अब आ गयी हूँ, उस मुए गन्धर्व को सिर के बल नचा नहीं दिया तो कहना। हाँ !"

"अरु, तू इतनी सयानी हो गयी और अभी तक तेरी बकवास की आदत नहीं गयी।"

"कैसे जायेगी ? सोचके आयी थी कि दीदी खाट पर पड़ी होगी। आकर देखती हूँ दुलहिन बनी बैठी है। इस मुए गन्धर्व को वहीं पहचान लिया था। माँ तो वात-रोग से खाट पर पड़ी हैं। मगर पहचान उन्होंने भी लिया होगा। कहने लगीं, 'अरु बेटी, तू ही जा, वहाँ तेरी ही आवश्यकता है। बिचारी जाबाला अकेली पड़ गयी है। उसके मन की बात तू ही निकाल सकती है।' अब बताओ, बकवास न करूँ तो क्या मुए गन्धर्व की आरती उतारूँ !"

"चुप रह। धीरे-धीरे बोल। मुझसे लड़ने आयी है ?"

"अच्छा दीदी, तुम पूजा पर से उठकर आयीं तो तुम्हारा चेहरा तमतमाया हुआ नहीं था ? था न ?"

"था तो।"

"वही पहले बताओ। क्या हो गया था पूजा के समय ?"

"मुझे पता होता कि तू अभी आनेवाली है तो तुझे ही पूजा पर बैठा देती। वहाँ तुझे मालूम हो जाता कि क्या हुआ था।"

जाबाला के चेहरे पर फिर हल्का-सा रोष उभर आया। अरुन्धती ने उस भाव को पढ़ लिया।

"अशोक-पूजन हो रहा था न, दीदी ? ये कोहलीये भरत-पुत्र बड़े पाजी होते हैं। माँ-बाप तो भक्ति-श्रद्धा से उन्हें बुलाते हैं और ये लड़कियों को परेशान करते हैं। कहते हैं, 'मनोवांछित वर का ध्यान करो।' फिर कहते हैं, 'जिधर वह रहता है उस ओर मुँह करके ध्यान करो !' फिर कहते हैं, 'अशोक-मूल में पानी डालते-डालते ध्यान करो।' लड़की को हैरान कर देते हैं। मेरी बुआ के लिए ऐसा ही नाटक कराया था। उसने सारा भृंगार उसी पर उलट दिया था। तुमसे भी यही सब करवाया होगा !"

"इतना तो नहीं, पर ध्यान करने को कहा अवश्य था। मुझे तो लगा था कि यह उनके पूजा-विधान का अंग था। पर क्रोध मुझे भी हुआ था। भरी सभा में ऐसा करने को कहना औद्धत्य तो है ही।"

"एकान्त में ध्यान करने को कहे, कोई बात भी हुई ! मुझसे कहता तो मैं सोच ही नहीं पाती। तुमने क्या ध्यान किया, दीदी ?"

"अब चुप भी रहती है कि···"

"बता दो, चुप हो जाऊँगी।"

"यदि मैं कहूँ कि तेरा ही ध्यान करने लगी थी तो···"

"हाय रे, मैं तो समझती थी कि मेरी पण्डिता दीदी निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने लगी होगी, मगर वह तो यदि-तदि की भाषा सीख गयी है।"

"अब चल, हाथ-मुँह तो धो ले। तू तो मेरे ही पीछे पड़ गयी।"

"लो, इतनी दूर से तुम्हारे पीछे पड़ने के लिए ही तो आयी हूँ।"

जाबाला को अच्छा लग रहा था और संकट में पड़ी होने का भास भी हो रहा था। उसने अरु को झकझोरकर उठाया—"चल, बड़ी पीछे पड़नेवाली आयी है। मैं तेरे पीछे पड़ूँगी, उठ भी।"

अरुन्धती खिलखिलाकर हँस पड़ी—"लो, उठती हूँ, देखती हूँ, कब तक भागती हो। मैं जब तक तुम्हारा मन नहीं चूस लूँगी तब तक वह गन्धर्व तुम्हारा खून चूसना नहीं बन्द करेगा।"

जाबाला ने प्यार से झिड़की दी—"बहुत बोलना सीख गयी है। मैं तुमसे नहीं बोलूँगी।"

"तो मैं उलटे-पाँव लौट जाती हूँ। तुम अकेले में ध्यान करती रहो।"

"नहीं अरु, लौट क्यों जायेगी! अपनी दीदी को इस दशा में छोड़कर चली जायेगी?"

"तो मेरा क्या दोष है? तुम नहीं बोलोगी तो मैं यहाँ क्या करूँगी!"

"कौन कहता है कि नहीं बोलूँगी!"

"अभी तो कहा।"

"अरे, वह तो तुझे धमका रही थी। मुझसे यह सब न पूछा कर। मेरा मन उदास हो जाता है।"

"उदासी दूर करने तो आयी हूँ। अच्छा, अब नहीं पूछूँगी। जितना कहोगी उतना ही सुनूँगी।"

"मेरी प्यारी अरु, मुझसे अप्रसन्न न हो। मैं दुःखी हूँ।"

अरुन्धती को लगा कि अपनी वाचालता से उसने जाबाला का दिल दुखा दिया है। वह प्यार से गले लिपट गयी—"तुम दुःखी क्यों होगी, दीदी? मैं दुःख बँटाने के लिए ही तो आयी हूँ।"

इसी समय राजा जानश्रुति 'अरु बेटी!' पुकारते हुए आ गये। अरुन्धती ने प्रणाम किया। उसका सिर सहलाते हुए बोले, "आ गयी बेटी, देख, तेरी दीदी की क्या दशा हो गयी है!"

"अब तो मैं आ गयी न, बाबा, दीदी दो दिनों में चंगी हो जायेगी।"

"हाँ बेटी, इसे चंगी कर दे। अकेली-अकेली और भी घुलती जाती है।"

"सब ठीक हो जायेगा। माँ भी थोड़े दिनों में आ जायेंगी।"

"उनका स्वास्थ्य अब कैसा है?"

"ठीक हो रही हैं। वात का कष्ट है न! थोड़ा समय लेगा।"

"भगवान् उन्हें जल्दी स्वस्थ करें।"

"दीदी का स्वास्थ्य ठीक हो जाये तो सुनते ही स्वस्थ हो जायेंगी।"

सायंकाल आडम्बर के साथ गन्धर्व-पूजन नाटक का अभिनय शुरू हुआ। पहले रंग-पूजा हुई। सूत्रधार ने ही बता दिया कि पुराकाल में जब नाटक का अभिनय किया गया था तो दैत्यों ने बड़ा उपद्रव किया था। उसी के शमन के लिए रंग-पूजन का विधान है। नगाड़ा बजाकर रंग-पूजा की घोषणा हुई। फिर गायक और वादकों ने आसन ग्रहण किया। मृदंग, वीणा, वेणु आदि वाद्यों के साथ रंगभूमि में अप्सरा-वेशधारी एक कमनीय-कान्ति भ्रंकुश के नृत्य-लोल नूपुरों की झंकार से नाटक की उत्थापना का अभिनय किया गया। फिर सूत्रधार का प्रवेश हुआ। उसकी एक ओर गड़ुए में पानी लिये भृंगार-धर आया, दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर कर देने-वाली पताका लिये जर्जर-धर। इन दो परिपार्श्वकों के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ़ा। ये पाँच पग साधारण पग नहीं थे। प्रत्येक पग पर गौरवपूर्ण भंगिमा में अभिनय था। फिर सूत्रधार ने बिल्कुल वैदिक विधि से भृंगार से जल लेकर आचमन-प्रोक्षण आदि पवित्र करनेवाली क्रियाओं का अभिनय किया। सबसे गरिमा भरा अभिनय था जर्जर (पताका) का उत्तोलन। इन्द्र देवता इस क्रिया से प्रसन्न हुए। दर्शक-दीर्घिका से अक्षत-पुष्पों की वर्षा हुई। फिर सूत्रधार ने दाहिने पैर के अभिनय से शिव की और बायें पैर के अभिनय से विष्णु की वन्दना की। पहला पद पुरुष का और दूसरा स्त्री का माना जाता था। एक तीसरा पद नपुंसक माना जाता था। इसमें दाहिने पैर की नाभि तक उत्क्षिप्त करके स्थिर मुद्रा में रखा जाता था। सूत्रधार ने इस नपुंसक पद के अभिनय से ब्रह्मा की वन्दना की। यह शायद तत्काल प्रचलित ब्रह्म के स्वरूप का नाटकीय उपस्थापन था। ब्रह्मवादी लोग मानते थे कि ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष है और फिर भी सबसे ऊपर वास्तविक सत्य है। चार रंगों के फूलों से जर्जर की पूजा। और फिर सभी वाद्ययन्त्रों की पूजा हुई। इसके बाद सूत्रधार ने राजा के कल्याण की प्रार्थना की, राजकुमारी के अचल सौभाग्य-प्राप्ति की शुभकामना की और फिर बड़े गुरु-गम्भीर भाव से नान्दी पाठ का आयोजन किया गया। प्रत्येक पद-संचार में गौरव-भाव था। यह नाटक मनोरंजन की अपेक्षा पूजन अधिक था— प्रत्येक क्रिया में पूजा का भाव।

जाबाला और अरुन्धती महिलाओं की दीर्घिका में सबसे आगे थीं। बेंत की बनी एक झीनी तिरस्करिणी (पर्दा) महिलाओं की दीर्घिका को अलग कर रही थी। वे बाहर के दृश्य देख सकती थीं, पर बाहर बैठे लोग उन्हें नहीं देख सकते थे।

नाटक का कथानक बहुत जाना हुआ ही था, पर उसका अभिनय करना कठिन था क्योंकि भावों के उतार-चढ़ाव का सात्त्विक अभिनय निपुण कलाकारों को भी कठिनाई में डाल सकने योग्य था। कथानक यह था कि ऋषिकुमार ऋष्यशृंग मातृ-पितृहीन होकर तप करने लगा। उसने अपने जीवन में किसी स्त्री को देखा ही नहीं था। उसका चित्त सहज ब्रह्मचर्य से आलोकित था। देवराज इन्द्र को भय

हुआ कि वह तपोबल से इन्द्र का सिंहासन प्राप्त कर लेगा। उन्होंने गन्धर्वराज को ऋषिकुमार का तपोभंग करने का आदेश दिया। गन्धर्वराज ने अपने प्रमुख सेनानायक पुष्पधन्वा कामदेव को अप्सराओं की एक टुकड़ी के साथ ऋषिकुमार का तपोभंग करने के लिए नियुक्त किया। कामदेव ने फूलों का धनुष और फूलों का ही बाण लेकर ऋषिकुमार ऋष्यशृंग पर आक्रमण किया।

यहाँ तक अभिनय अधिकतर वेशभूषा का ही था। अप्सरा-रूप में सजे भ्रूकुश दिव्य आभरणों से रंगभूमि को आलोकित कर रहे थे।

आगे का प्रसंग इस प्रकार था—

ऋषिकुमार ने एक साथ इतनी सुन्दर अप्सराओं को देखकर समझा कि ये दिव्य लोक के देवता हैं। सम्भ्रम-पूर्वक उठकर उसने वैदिक मन्त्रों से उनकी अभ्यर्थना की। उसके ललाट पर भक्ति की प्रदीप्त रेखा उभर आयी, आँखों में अपार औत्सुक्य लहरा उठा। उसकी पिंगल जटाएँ भावोद्रेक से काँप उठीं। दोनों हाथ जोड़कर उसने वन्दना की—"आज सविता देवता प्रसन्न हैं, उषःलोक धरित्री पर उतर आया है, हे दिव्य ज्योतिर्गण, मेरा विनीत नमस्कार लें!"

ऋषिकुमार की बड़ी-बड़ी निर्मल आँखों में अपार विस्मय और श्रद्धा के भाव थे। अरुन्धती उसके भोलेपन पर हँसने का उपयुक्त अवसर मान रही थी। इसी बीच उसने जावाला को देखा—आँखों से अविरल अश्रुधार बह रही थी, वह दबाने का प्रयत्न करके भी अपना आर्त्त क्रन्दन दबा नहीं पा रही थी। अरुन्धती ने चिन्तित स्वर में पूछा, "दीदी, क्या हो गया तुम्हें! दीदी, दीदी!" जावाला और भी फूट पड़ी। अरुन्धती हैरान! यह क्या हुआ, जहाँ ऋषिकुमार की मूर्खता पर हँसना चाहिए वहाँ दीदी रोने लगी। वह कुछ नहीं समझ पायी।

परन्तु उसी समय अप्सराएँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। उन्होंने ऋषिकुमार को घेरकर मनोहर लास्य नृत्य किया। उनकी आँखें निरन्तर कटाक्ष-बाणों की वर्षा कर रही थीं। ऋषिकुमार भौचक्का देख रहा था। एक अप्सरा ने फूल से ऋषि के ललाट पर आघात किया। ऋषिकुमार ने चकित मृगशावक की भाँति उसकी ओर अपनी निर्मल आँखें फेरीं। इसी समय सेनानायक ने अमोघ पुष्प-बाणों को प्रत्यंचा पर चढ़ाने का अभिनय किया। उसकी उन्मत्त चारिकाओं से रंगभूमि हिल उठी। अप्सराएँ इंगित समझकर, यह सोचकर कि बाण को ठीक लक्ष्य पर गिरने में कोई रुकावट न हो, लोलायित गति से दूर हट गयीं। ऋषिकुमार कुछ भी न समझकर भौचक्का खड़ा-का-खड़ा रह गया। इसी समय एक अप्सरा सुव्रता दौड़ती हुई ऋषिकुमार के पीछे आकर खड़ी हो गयी। फूलों का बाण खींचा जा चुका था। सुव्रता ने चिल्लाकर कहा, "कुसुम-सायक, अपना बाण समेटो। ऐसे पवित्र-हृदय बालक पर तुम्हारे बाणों को नहीं गिरना चाहिए। रुको, रुको, महान् अनर्थ हो जायेगा। ऐसे पवित्र ऋषिकुमार पर बाण फेंकोगे तो द्यावा-पृथिवी डोल जायेगी, सूर्य का प्रभामण्डल विवर्ण हो जायेगा। हाय प्रभो, इस पवित्र तरुण तापस को पापिनियों के माया-जाल से बचाओ!"

अप्सराएँ और भी ज़ोर से खिलखिला उठीं। फूलों का वाण छूट चुका था। सुव्रता ने पीछे से ऋषिकुमार को ढक लिया। फूलों का वाण उसकी छाती में लगा। कुछ छिटकी पपड़ियाँ ऋषिकुमार की पिंगल जटाओं पर पड़ीं।

दर्शक-मण्डली 'साधु-साधु' की ध्वनि से जिस समय रंगमंच को हिला रही थी, उसी समय जाबाला ज़ोर से रो पड़ी। अरुन्धती की गोद में निढाल पड़ी वह देर तक सुबकती रही। अरुन्धती बुरी तरह मर्माहत थी—"दीदी, चलो, यह नाटक तुम्हें कष्ट दे रहा है!"

जाबाला ने इशारे से कहा—'नहीं।' अरुन्धती की चपल वाचालता बर्फ-सी जम गयी।

लेकिन नाटक चलता रहा।

ऋषिकुमार ने सुव्रता को देखकर उल्लसित होकर स्तुति की। प्रथम नारी-दर्शन से चकित नयन अब भी उसी मुद्रा में थे—"आज सविता प्रसन्नोदय हैं। आहा, कैसी आनन्द-लहरी तुम्हारी दिव्य काया से फूट रही है! दिव्य प्राणी! तुम्हारा स्पर्श कितना मीठा है, तुम्हारी वाणी कितनी मनोहर है, दिव्य-आनन्द की स्रोतस्विनी, मेरा प्रणाम स्वीकार करो!" सुव्रता ने ऋषि के चरणों को अपने काले मसृण केशों से पोंछ दिया। उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी—"हाय, ऋषि-कुमार, तुम्हारे मुँह से कैसी वाणी निकल रही है! ऐसी सत्य वाणी आज तक नहीं सुनी। चाटूक्तियाँ बहुत सुनी हैं। पर ऐसा सच्चा मोहन-स्तव तो मेरे अन्तर्यामी ने कभी नहीं सुना। आज मेरा नारी-शरीर धन्य हुआ! मगर उधर मत देखो। हे ज्वलन्त अग्नि, इन पापीयसी स्त्रियों की विषाक्त दृष्टि की छवि तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं मरकर भस्म बनकर तुम्हारे ऊपर छा जाऊँगी, पर पापिनियों के कटाक्ष की हवि तुम पर नहीं पड़ने दूँगी। प्रभो, मैं धन्य हुई।"

दृश्य बदला। जाबाला की आँखों की झड़ी वैसी ही बनी रही। अरुन्धती का चिन्ता-कातर मुख यथापूर्व!

नये दृश्य में गन्धर्वराज के सामने बन्दिनी विद्रोहिणी सुव्रता लायी गयी। गन्धर्वराज क्रोध से तिलमिला रहे थे—"तू दिव्यलोक में रहने योग्य नहीं। तुझे दण्ड मिलेगा।"

"सब दण्ड स्वीकार है, प्रभो!"

"तुझे मर्त्यलोक में मानवी होकर जाना पड़ेगा।"

"जाऊँगी, प्रभो!"

इसी समय कामदेव उपस्थित हुए—"दोष मेरा है प्रभो, मुझसे ही वाण चूक गया। इसे क्षमा किया जाये।"

गन्धर्वराज असमंजस में पड़ गये—"मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती।"

"तो प्रभो, स्वर्गलोक ही वंचित होगा, मर्त्यलोक धन्य हो जायेगा।"

"मर्त्यलोक में तो इसे जाना ही पड़ेगा। पर मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ, यदि यह अशोक-पूजन करके यह अभिलाषा प्रकट करे कि इसे मर्त्यलोक

से मुक्ति मिले।"

फिर अशोक-पूजन का अभिनय हुआ। एक अप्सरा ने ही प्रफुल्ल अशोक-वृक्ष का अभिनय किया। उसका सारा शरीर लहरदार हरे रंग की साड़ी से आवृत था। बीच-बीच में कन्धे पर से ही खिले हुए लाल-लाल पुष्प-स्तवक उस शोभा को सौ गुना बढ़ा रहे थे। अप्सरा एक पैर पर प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़ी थी। और दोनों हाथों द्वारा सुकुमार भाव से विलुलित वायु से लहराते रहने का अभिनय कर रही थीं। पूजा की सारी विधि वही थी जिससे प्रातःकाल जाबाला द्वारा पूजन कराया गया था। भरत-पुत्र ने पूजा के अन्त में कहा, "अपनी अभिलाषा का ध्यान करो। तुम्हें प्रत्यक्ष फल मिलेगा।"

सुव्रता ध्यान-मग्न हुई। रंगमंच के एक किनारे ऋषिकुमार की शान्त मूर्त्ति कुछ खोजती हुई-सी आविर्भूत हुई। सुव्रता झटके से उठी और ऋषिकुमार के चरणों पर लोट गयी।

सूत्रधार ने भरत-वाक्य पढ़ा—"पृथ्वी शस्य से समृद्ध हो, राजा में प्रजा के प्रति कल्याण-बुद्धि उदित हो, सारी कुमारियाँ अभिलषित वर प्राप्त करें, किशोरों में प्रिया के प्रति अनुराग बढ़े और समस्त प्रजा सुखी हो!"

नाटक समाप्त हुआ। जाबाला भी उत्फुल्ल मुद्रा में उठकर बैठ गयी। दर्शक-मण्डली के साधुवाद से रंग-स्थल गूँज उठा। अरुन्धती ने जाबाला से पूछा, "दीदी, अब कैसा लग रहा है?"

जाबाला ने हँसते हुए कहा, "ठीक तो हूँ।"

जाबाला उठी तो ऐसा लगा कि वेदना की प्रत्यक्ष मूर्त्ति ही सायास उठ पड़ी हो। अरुन्धती के चेहरे पर अब भी चिन्ता की भारी छाया विद्यमान थी।

चलते-चलते जाबाला ने कहा, "अरु, सुव्रता धन्य है! स्वर्गलोक को छोड़कर मर्त्यलोक का वरण क्या कोई हँसी-खेल है?"

अरुन्धती ने बालसुलभ चपलता से पूछा, "दीदी, कामदेव का बाण क्या अकेले सुव्रता को ही लगा?"

जाबाला ने दीर्घ निःश्वास लिया—"कैसे कहूँ!"

अरुन्धती ने फिर कहा, "फूलों की कुछ पपड़ियाँ तो ऋषिकुमार के सिर पर भी गिरीं।"

अबकी बार जाबाला हँसी—"उसका भी सिर फिर गया होगा, अरु!"

तेरह

रैक्व जिसे 'दीदी' कहते थे, वह अपना नाम उजुआ बताती थी। यह संस्कृत-शब्द 'ऋजुका' का प्राकृत रूप था। माताजी ने उसके संस्कृत-रूप 'ऋजुका' को ही अपना लिया था। आचार्य औदुम्बरायण को उन्होंने 'ऋजुका' नाम ही बताया। आचार्य ने दूसरे दिन उससे पति के निमित्त विधिवत् श्राद्ध-कार्य कराया। माताजी दूसरे ही दिन आश्रम चली गयीं। ऋजुका वहीं रुक गयी; क्योंकि राजकुमारी जाबाला ने उससे मिलने की इच्छा प्रकट की थी। आचार्य औदुम्बरायण ने उसे साल-भर तक प्रति त्रयोदशी को उसी स्थान पर दीप जलाने का निर्देश दिया और राजा से उसे कुछ काम देने का अनुरोध किया। गन्धर्व-पूजन के बाद जाबाला ने ऋजुका को बुलवाया। ऋजुका अपने नन्हे-से बच्चे को गोद में दबाये डरी-डरी-सी जाबाला के पास गयी। जिस समय वह जाबाला के पास ले जायी गयी, उस समय अरुन्धती के सिवा वहाँ और कोई दूसरा नहीं था। जाबाला ने ऋजुका को आदर के साथ एक आसन पर बैठने को कहा, पर वह आसन पर बैठने का साहस नहीं कर सकी, हाथ जोड़कर भूमि पर ही बैठ गयी।

जाबाला ने अत्यन्त व्यथित स्वर में उससे कहा, "बहिन, मुझे क्षमा करना! मेरे कारण तेरा सौभाग्य ही नष्ट हो गया। उसके बाद भी बहुत दिनों तक तेरी खोज-खबर नहीं ले सकी। मुझसे भारी अपराध हो गया।"

ऋजुका फूट-फूटकर रो पड़ी—"अपने ही किये का फल भोग रही हूँ दीदी रानी, तुम्हारा इसमें क्या दोष है! जैसा किया है वैसा भोग भोग रही हूँ। दुखियारी हूँ दीदी रानी, पर मैं तुम्हें क्यों दोष दूँ? यह बच्चा उनकी धरोहर है, नहीं तो अब तक मेरे भी प्राण निकल गये होते। इसी को पाल-पोसकर बड़ा कर सकूँ तो समझूँगी, उनका ऋण चुका सकी। पर यह भी भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकेगा।"

"बहिन, मैं तेरी खोज में थी। मैं सोच नहीं पाती थी कि तुझे कहाँ खोजूँ। वह तो परम ब्रह्मवादिनी भगवती ऋतम्भरा न मिल गयी होतीं तो मैं तेरा कुछ पता भी नहीं पाती। तू उनके पास कैसे पहुँची बहिन?"

"आप किनकी बात कह रही हैं दीदी रानी, मैं समझ नहीं पा रही हूँ।"

"भगवती ऋतम्भरा ने ही तो आचार्यपाद से कहकर तेरे पति का श्राद्ध कराया। उन्हीं की कृपा से तो मैं तुझे पा सकी हूँ।"

"अच्छा, आप माताजी की बात कह रही हैं?"

"हाँ-हाँ, माताजी।"

"साक्षात् भगवती का रूप हैं माताजी। इतना प्यार मेरे-जैसे अभाजन के प्रति! ऐसा तो कहीं देखा-सुना नहीं, दीदी रानी!"

"हाँ, उनके पास तो बड़े-बड़े ब्रह्मवादी ऋषि भी पहुँचने में हिचकते हैं, तू कैसे

पहुँच गयी ?"

जाबाला ने दोनों हाथ जोड़कर ऊपर आसमान की ओर किये। अत्यन्त गद्गद-भाव से कहा, "वे जब दुःख देते हैं तो उस दुःख के भीतर अपनी अपार करुणा भी भेज देते हैं। उन्हीं का अनुग्रह था दीदी रानी, नहीं तो कहाँ साक्षात् भगवती-रूपा माताजी और कहाँ मैं भाग्य-वंचिता !"

"वही तो पूछ रही हूँ कि कैसे वहाँ पहुँची ?"

"मैं कैसे पहुँचती दीदी रानी, भैया ले गये। रास्ते में भूख-प्यास से अवश होकर पड़ी थी। इतनी भी शक्ति नहीं थी कि उठकर नदी तक जाऊँ और एक चुल्लू पानी इस बच्चे के मुँह में डाल सकूँ। यह तो मर ही गया होता अगर भगवान् ने उन्हें भेज नहीं दिया होता। बेचारे दौड़कर नदी से पानी ले आये, फिर बच्चे के मुँह में डालकर इसे बचा लिया। भगवान् उन्हें सुखी रखें। बड़े दयालु हैं। और क्या बताऊँ दीदी रानी, भोले तो ऐसे कि कुछ पूछो नहीं। वही तो माताजी के पास ले गये मुझे।"

"तू 'भैया' किसे कहती है ऋजुका ?"

"बड़े ज्ञानी हैं दीदी रानी, माताजी उन्हें रैक्व बेटा कहती हैं। सुनके हँसोगी, उन्होंने माताजी से लुभावने भोलेपन से पूछा, 'माँ, यह भी स्त्री-पदार्थ है न ? इसे मैं क्या कहकर पुकारूँ ?' माताजी ने उन्हें समझाकर कहा कि समान अवस्था की लड़कियों को बहिन माना जाता है। ज़रा बड़ी हों तो दीदी कहा जाता है। फिर तो उन्होंने मुझे 'दीदी' कहना शुरू किया। कितना मीठा बोलते हैं ! जब दीदी कहते हैं तो हिया जुड़ा जाता है। क्या कोई सहोदर भाई भी इतने प्यार से दीदी कहता होगा ? इस घोर विपत्ति के समय भगवान् ने ऐसा भाई दे दिया। कैसे कहूँ कि उनकी अपार करुणा बरस नहीं रही है !"

"तो रैक्व तुझे दीदी कहते हैं ? मैं भी तुझे दीदी ही कहूँगी।"

"आप ? मैं अभागिन इतना गौरव नहीं सम्हाल पाऊँगी, दीदी रानी ! भैया तो बमभोलानाथ हैं, वे कहते हैं तो आप कैसे कहेंगी ? आप स्वामिनी हैं, मैं नगण्य दासी !"

"जानती है, भगवती ऋतम्भरा को मैं माँ कहती हूँ। तू तो वैसे ही मेरी दीदी है।"

ऋजुका की आँखों में जल-कण छलछला आये।

जाबाला ने फिर पूछा, "अच्छा दीदी, तेरे भैया क्या ध्यान करते रहते हैं ? मैंने सुना है कि वे बड़ा तप किया करते हैं।"

"ध्यान करते तो मैंने कभी नहीं देखा, दीदी रानी ! माताजी से एक दिन कह रहे थे कि माँ, अब समाधि सिद्ध नहीं होती। ध्यान करता हूँ तो शुभा ही सामने आ जाती है !"

"अच्छा, तुझे बताया कभी कि यह शुभा कौन है ?"

"नहीं दीदी, मैंने पूछा था तो कहा था, 'तू कैसे जानेगी ! माताजी ने कहा है

है कि शुभा के बारे में किसी को कुछ न बताया करो। सो मैं तुम्हें कुछ नहीं बताऊँगा।' "

"माताजी ने मना कर दिया है ?"

"यही कह रहे थे। मगर शुभा को वह बहुत भक्ति से याद करते थे। उनको तो कुछ दुनिया का पता ही नहीं है, मगर मैं समझती हूँ और शायद माताजी भी समझती हैं कि वे उससे बहुत प्यार करते हैं।"

"माताजी ने तुझे कुछ बताया था क्या ?"

"नहीं दीदी रानी, तुम्हें मेरे भैया का भोलापन जानकर हँसी आयेगी। जब माताजी से पूछ रहे थे कि मुझे क्या कहकर पुकारें और माताजी बता रही थीं कि समान उमर की लड़कियों को बहिन माना जाता है और अगर कुछ बड़ी हुईं तो उन्हें दीदी कहा जाता है, तो भैया ने पूछा कि 'शुभा को क्या कहकर पुकारूँगा, माँ ?' माताजी के अधरों पर हँसी की हलकी रेखा दीखी, बोलीं, 'सोचकर बताऊँगी।' इस पर से मैंने अनुमान किया कि माताजी को लग रहा है कि शुभा से उनका कुछ ऐसा सम्बन्ध होने की सम्भावना है जिससे उसे बहिन नहीं बताया जा सकता। यही बात हो सकती है न, दीदी रानी ?"

"शायद तेरा अनुमान ठीक ही हो।"

"उस गाड़ी से भी उनका बड़ा प्रेम है। माताजी कहती थीं कि कभी इस गाड़ी के नीचे बैठकर तप किया करते थे।"

"अच्छा !"

"हाँ, दीदी रानी ! और जगत् के प्रपंच से तो एकदम अपरिचित हैं। जिस दिन माताजी यहाँ आयी थीं, उस दिन अकेले गाड़ी के पास ही उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कोई गाँव का किसान मिल गया होगा। उसका विवाह नहीं हुआ था। उसने उनसे कह दिया कि जिसके माँ-बाप नहीं, धन-सम्पत्ति नहीं, भाई-बहिन नहीं, उसको कोई बाप अपनी लड़की नहीं देता, उसका विवाह नहीं होता।"

"यह तो ठीक ही उसने कहा था। तुम्हारे भैया ने क्या कहा ?"

"भैया क्या कहते ! वह बिचारा तो अपनी बात कह गया था। मगर थोड़ी देर बाद जब मैं मिली तो भैया कह रहे थे कि 'दीदी, मेरा विवाह नहीं होगा।' मैंने पूछा, 'क्यों ?' बोले, 'मामा कहता था कि जिसके माँ-बाप नहीं होते, धन-सम्पत्ति नहीं होती, उसका विवाह नहीं होता।' फिर बोले, 'अच्छा दीदी, लड़के का विवाह क्या लड़की से ही होता है ? अब बताओ, इस बमभोलानाथ को क्या बताऊँ !"

अभी तक अरुन्धती चुपचाप सुन रही थी। अब हँसी रोक नहीं सकी। बोली, "दीदी, यह उस नाटक के ऋषिकुमार-जैसा ही कोई बागड़बिल्ला लगता है। पूछता है कि लड़के का विवाह लड़की से ही होता है न !" अरुन्धती देर तक हँसती रही। हँसी ऋजुका को भी आयी, पर जाबाला का चेहरा एकदम गम्भीर हो गया। अरुन्धती उसकी गम्भीरता देखकर चुप हो गयी।

जाबाला ने गम्भीरता के साथ कहा, "दीदी, तेरे भैया देवता जान पड़ते हैं।"

अरुन्धती को विस्मय हुआ—दीदी क्या कह रही है ? उस दिन ऐसा दृश्य देखकर रोने ही लगी थी। आज कह रही है कि यह ऋजुका का भैया देवता जान पड़ता है ! दीदी को हो क्या गया है ? जहाँ हँसना चाहिए, वहाँ रोने लगती है, गम्भीर हो जाती है। क्या बात है ! उसने निश्चय किया कि अब दीदी के चेहरे के भावों को समझने की कोशिश करेगी। थोड़ा सहज होकर बोली, "दीदी, देवता इतने भोले तो नहीं होते होंगे ?"

जाबाला ने उसी गम्भीरता के साथ कहा, "हाँ अरु, शायद ऋजुका का भैया देवता से भी बढ़कर है। ऐसा निश्छल-निष्पाप चरित्र उस दिन नाटक में देखा था, आज ऋजुका दीदी से सुन रही हूँ। तू क्या नहीं समझ पाती कि ऐसा सहज मनुष्य दुर्लभ है !"

अरुन्धती ने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से अपनी दीदी को देखा। जाबाला शान्त, मौन ! अरुन्धती चकित !

ऋजुका ही ने मौन भंग किया—"ठीक कहती हो दीदी रानी, वह देवता से भी बढ़कर हैं। कौन दीन-दुखियों के बारे में सोचता है ? जब गाँववालों के दुःख की बात सुनी तो माताजी के साथ गाँव-गाँव घूमे। मुझसे कह रहे थे कि दीदी, जब लोग इतना कष्ट पा रहे हों उस समय तप करना वैश्वानर भगवान् को धोखा देना है ! कौन इतनी बड़ी बात कह सकता है, दीदी रानी !"

"वैश्वानर भगवान् को धोखा देना ?"

"ऐसा ही कुछ कह रहे थे, मैं गँवार क्या समझूँ ! इतना ही समझ पायी कि कोई बड़ी बात कह रहे हैं। कौन ऋषि कह सकता है दीदी रानी, कि गाड़ी के नीचे बैठना तप नहीं है, गाड़ी खींचकर लोगों को कुछ खाद्य पहुँचाना ठीक तपस्या है।"

"अब क्या कर रहे हैं तेरे भैया ?"

"माताजी ने उनसे और शास्त्र पढ़ने को कहा है। पढ़ रहे होंगे। मैं तो समझती थी कि बहुत ज्ञानी हैं, पर माताजी ने जब कहा कि और पढ़ो तो कुछ सोचके ही कहा होगा। बड़े उत्साह से गये। जाते समय मुझसे कह गये कि 'दीदी, पढ़-लिखकर समझदार बनकर लौटूँगा।' मैंने कहा कि 'कौन कहता है कि तुम समझदार नहीं हो', तो निश्छल-भाव से बोले, 'शुभा के समान समझदार बनकर लौटूँगा। वह बहुत जानती है। उसे धर्म-अधर्म का पूरा ज्ञान है, मुझे तो अल्पज्ञ समझती है। पढ़कर लौटूँगा तो वह देखेगी कि मैं भी उसी के समान समझदार हो गया हूँ। हो जाऊँगा न दीदी ?' "

"तुमने क्या कहा ?"

"मुझे तो हँसी आ गयी। मैंने कहा, शुभा को तो मैं नहीं ज़ानती पर इतना मैं अभी से कह सकती हूँ कि वह मेरे भैया के पासंग में भी नहीं आ सकती।"

"बिल्कुल ठीक कहा।"

"यह तुम कहती हो दीदी रानी, मेरे भैया तो एकदम रुआँसे हो गये। कहने लगे—'ऐसा न कहो दीदी, तुमने शुभा को देखा कहाँ? वह द्युलोक की दिव्य किरण के समान पवित्र है, उषा के समान कान्तिमती है, साक्षात् वाग्देवता के समान बुद्धिमती है।"

"रहने दे ऋतुका दीदी, तेरे भैया की शुभा-स्तुति सुनकर क्या करूँगी! इतना अवश्य लगता है कि शुभा सचमुच भाग्यवती है जो ऐसे पवित्र हृदय में निवास कर रही है!"

"इसमें क्या सन्देह है, दीदी रानी!"

अरुन्धती को जाबाला की बातों में विशेष प्रकार की रुचि उत्पन्न हुई। सिर्फ़ छेड़ने के उद्देश्य से ही उसने हँसते-हँसते कहा, "भाग्यवती कहती हो दीदी, कहीं मिल गयीं तो गाड़ी में ही जोत देगा!"

जाबाला ने जैसे दूर की किसी वस्तु पर नज़र गड़ा दी—"यदि वह जुतने को इनकार कर दे तो जानती है, मैं उसे क्या कहूँगी? कहूँगी—भाग्यहीना, अविवेकिनी!"

अरुन्धती, दीदी की ओर एकदम देखती रह गयी।

जाबाला ने ऋतुका से कहा, "आचार्य तातपाद ने तुझे गाड़ी के पास प्रति त्रयोदशी को दीप जलाने को कहा है न, दीदी!"

"कहा है।"

"तू प्रति त्रयोदशी को दीप जलाने आया करेगी न?"

"आऊँगी, दीदी रानी!"

"तेरा घर यहाँ से कितनी दूर है?"

"घर अब कहाँ रहा, दीदी रानी? यहाँ से चौदह कोस मेरा गाँव है, पर घर तो अब नहीं रहा।"

"सुन दीदी, मैं तुझे कुछ काम दूँगी। करेगी?"

"लो दीदी रानी! मैं तुम्हारी दासी हूँ, काम नहीं दोगी तो खाऊँगी क्या? इस बच्चे को भी तो पाल-पोसकर बड़ा करना है। यह तो उनकी थाती है। काम नहीं करूँगी तो इसे पालूँगी कैसे?"

"बच्चे की चिन्ता न कर। मैं पालूँगी। मगर तेरे लिए एक काम देना चाहती हूँ। वह जो गाड़ी है न, जहाँ तुझे दीप जलाने को कहा है, वहीं तेरे लिए घर बनवा देती हूँ। तेरा काम है उसे खूब साफ़-सुथरा रखना। वहाँ त्रयोदशी को दीप जलाना तेरा काम है। उसके लिए तुझे सब सामग्री भिजवा दूँगी। मेरा भी एक काम कर दिया कर। उसके पास जो टीला है वहाँ मेरी ओर से प्रति सन्ध्या को धूप-दीप-नैवेद्य से परम वैश्वानर देवता की अर्चना करना, मेरी ओर से। बीच-बीच में मैं भी आऊँगी। तुझे जितनी गायें कहे, भेज दूँगी। और किसी दासी को साथ रखना चाहे तो रख ले। तेरा यह भी काम होगा कि उधर पहुँचनेवाले साधु-सन्तों, स्नातक-ब्रह्मचारियों को गोदुग्ध देकर उनका आशीर्वाद लेना। देख, कर

सकेगी न ?"

"कर सकूँगी, दीदी रानी, पर विधि-विधान तो जानती नहीं।"

"तेरे भीतर जो श्रद्धा होगी वही विधि-विधान होगी।"

"सो तो होगी।"

"और हाँ, अपने भैया के समान ही पवित्र शरीर और मन से यह सब करना होगा।"

"करूँगी, दीदी रानी !"

"प्रमाद तो नहीं करेगी न ?"

"प्रमाद क्यों करूँगी भला ! यह तो मेरे मन का काम होगा।"

"और देख, बीच-बीच में तेरा काम देखती रहूँगी। तुझे जो आवश्यकता हो, यहाँ से ले लेना।"

"बहुत अच्छा, दीदी रानी !"

अरुन्धती अब तक चुप रही। जब ऋजुका उठने लगी तो उसने मन्दस्मित के साथ कहा, "ऋजुका दीदी, तूने मुझसे तो पूछा ही नहीं कि मैं भी कुछ पूजा करना चाहती हूँ या नहीं !"

ऋजुका बैठ गयी—"क्षमा करो, दीदी रानी, भूल हो गयी।"

अरुन्धती ने भक्ति-भावित मुद्रा में कहा, "देख, मेरी ओर से भी दो फूल नित्य चढ़ा देना।"

"किसके लिए, दीदी रानी ?"

"मेरी इस दीदी के मंगल के लिए।"

"सो तो समझ गयी। पर किस देवता के निमित्त ?"

"देवता के लिए तू पूजा चढ़ायेगी ही। सब कर लेने के बाद देवता से भी जो बढ़कर हो, उसके लिए एक चढ़ा देना। और दूसरा···"

जाबाला एकदम भड़क उठी—"चुप रह अरु, तुझे सब समय शरारत ही सूझती है।"

ऋजुका हँसती हुई चली गयी।

ऋजुका के चले जाने के बाद अरुन्धती ने रोनी सूरत बना ली—"तुम तो हर बात में मुझे डाँट देती हो।"

"तू बात ही ऐसी करती है !"

"मैंने पूरी बात कही कहाँ ? आधी बात सुनकर ही डाँट-फटकार शुरू कर दी। आधी बात सुनकर ही अप्रसन्न हुआ जाता है ? मेरी मन की मन में ही रह गयी।"

"अच्छा कह, मैं सुन लेती हूँ।"

"तुम्हारे सुनने से क्या होगा ! अब मैं नहीं कहती।"

जाबाला को लगा कि उसने पूरी बात सुने बिना ही अपनी प्यारी बहिन का दिल दुखा दिया। उसे प्यार से पुचकारते हुए कहा, "भूल हो गयी अरु, तू पूरी

बात कह दे। मैंने तेरी बात को परिहास समझ लिया था। कह दे मेरी प्यारी बहिन।"

अरुन्धती उसी प्रकार कृत्रिम उदासी का बाना धारण किये रही। जाबाला और भी आग्रह करने लगी। उसे गले लगा लिया। फिर मनुहार करती हुई बोली, "बुरा मान गयी, अरु, दीदी की डाँट का बुरा मान गयी? छुटपन से तुझे डाँटती आ रही हूँ, आदत पड़ गयी है। अब नहीं डाँटूँगी—तू पूरी बात कह दे।"

अरुन्धती ने मान तोड़ने की मुद्रा में कहा, "नहीं डाँटोगी न?"

जाबाला ने मनुहार करने की मुद्रा में ही कहा, "बिल्कुल नहीं।"

अरुन्धती ने कहा, "मैं एक फूल उसकी पूजा के लिए चढ़ाने को कह रही थी जो देवता से भी बढ़कर हो। कहा था न?" जाबाला को फिर उसमें शरारत की गन्ध मिली पर कुछ बोली नहीं। उसने पूरी बात सुनने के लिए उत्कण्ठा दिखायी। अरुन्धती ने गम्भीर मुद्रा धारण की, मानो कोई महत्त्वपूर्ण बात कहने जा रही हो—"दूसरा फूल दिव्य लोक की पवित्र किरण के निमित्त···।"

जाबाला ने फिर बीच में ही झटका दिया—"जाने भी दे, मैं तेरी सब दुष्ट बुद्धि पहले ही समझ गयी थी।"

"समझ गयी, दीदी? अब समझा भी दो।"

"तेरे दोनों कान पकड़कर खींचूँगी, तब तेरी समझ में आयेगा।"

"ठीक कहती हो, दीदी, अब इन्हीं कानों का दोष है, सुनते हैं कुछ, समझते हैं कुछ! ···अच्छा दीदी, सिर्फ़ इतना बता दो कि मैंने जो समझा है वह ठीक है?"

"क्या समझा है तूने?"

"अभी तो कह रही थीं कि मेरी सारी दुष्ट बुद्धि समझ गयी हो।"

"तुझसे पार पाना कठिन है।"

"इतना कठिन भी नहीं है। हाँ या ना कह दो, तुरन्त पार पा जाओगी।"

"देख अरु, तू मुझे प्यार करती है न?"

अरुन्धती की आँखों में अपार चुहल लहराती दिख रही थी। बोली, "मैं अपनी दीदी को इतना प्यार करती हूँ, इतना प्यार करती हूँ जितना कोई देवताओं से बढ़कर मनुष्य भी किसी पवित्र दिव्य ज्योति की किरण को नहीं कर सकता।"

"छि: अरु, इतनी ढिठाई अच्छी नहीं।"

"तुम्हारी नादान बहिन हूँ, दीदी, इतना ही बता दो कि कितनी ढिठाई अच्छी है।"

जाबाला झटके से उठकर बाहर चली गयी। उसका चेहरा लाल था। क्रोध की लालिमा तो वह नहीं थी। अरुन्धती अपराधिनी की भाँति जड़ हो गयी। ढिठाई उसने की है, जितनी दूर तक उसे बढ़ना चाहिए था उससे कहीं अधिक बढ़ गयी है। हाय, दीदी से कैसे क्षमा माँगे? वह देर तक वहीं स्तब्ध की भाँति बैठी रह गयी। जब उठी तो आकाश में घुमड़े बादल बरसने की तैयारी में लगे थे। मगर दीदी गयी कहाँ? उसने एक-एक घर खोज डाला। दीदी का कहीं पता नहीं। उसका

हृदय बुरी तरह धड़कने लगा। हाय-हाय, घर छोड़कर कहाँ चली गयी। भयंकर वज्र-निनाद के साथ बिजली कड़की और ऐसा लगा कि आसमान फटकर धरती पर गिरने को है। धारासार वर्षा शुरू हुई। अरुन्धती भय के मारे सुन्न-सी हो गयी। उसने चिल्लाकर दासियों को बुलाया। दीदी कहाँ चली गयी ?

वृद्धा दासी ने इधर-उधर देखा। फिर घर के पीछे के उद्यान में झाँककर देखा। वह एक कुंज था, छोटा-सा। उसके भीतर एक स्थाण्डिल पीठिका पर एक बड़ी-सी बाँस की छतरी थी। जाबाला वहीं ध्यान-मग्न बैठी थी, प्रस्तर-प्रतिमा की तरह। अरुन्धती दौड़कर वहाँ जाने को हुई, तभी वृद्धा दासी ने रोका—"नहीं बेटी, वहाँ मत जाओ। पानी बरसने पर तुम्हारी दीदी वहीं बैठती हैं। अपने पास किसी को आने नहीं देतीं। इस समय जाओगी तो बुरा मानेंगी। पानी बरसना बन्द हो जायेगा तो आ जायेंगी। अभी उन्हें वहीं छोड़ दो।"

अरुन्धती रुक गयी। दीदी को वह अधिक अप्रसन्न नहीं करेगी। वह घर के कोने में खड़ी-खड़ी दीदी की निर्वात-निष्कम्प दीपशिखा-सी ज्योतिर्मयी मूर्त्ति को एकटक निहारती रही। चिन्तातुर हृदय गम्भीर हो गया था, पर चुहल अब भी कहीं विद्यमान थी। उसने दीदी को दिव्यलोक की पवित्र किरण के समान ही देखा। उसके सहज-चंचल चित्त में एक अननुभूत आनन्द की रेखा विद्युत्-तरंग की तरह चमक उठी—कैसा आश्चर्य है, एक तरफ़ समाधि सिद्ध ही नहीं हो पाती क्योंकि शुभा आकर खड़ी हो जाती है, दूसरी तरफ़ समाधि टूटने का नाम ही नहीं लेती ! यहाँ कोई खड़ा नहीं हो रहा है ? कौन वतायेगा ?

जाबाला शान्त-निःस्पन्द !

उस दिन भी भयंकर वर्षा हुई थी। धरती और आसमान पानी की मोटी धाराओं से जुड़ गये थे। पर उस दिन हवा का वेग तेज़ था, आज नहीं है। पर्जन्य देवता आज चंचल नहीं है। लहाछेह वर्षा हो रही है। उस दिन पर्जन्य देवता ने उस भोले ऋषिकुमार को लाकर एकदम निकट खड़ा कर दिया था। हाय, कितनी मोहक थीं उसकी प्रथम रमणी-दर्शन से मुग्ध आँखें। उसने इन केशों को हाथ से छूकर, हल्का-सा मसलकर समझना चाहा था कि ये कितने मुलायम हैं ! जाबाला उस दिन चूक गयी। सुव्रता की भाँति उसने भी अगर केशों से उसके चरण पोंछ दिये होते तो ये केश सार्थक हो जाते। समय पर वह चूक जाती है। आज फिर मेघ उमड़-घुमड़कर बरस रहे हैं। जाबाला को ऋग्वेद की वर्षा-स्तुति याद आयी। एक अज्ञात ऋषि ने पर्जन्य की स्तुति की थी। आज वह प्रत्यक्ष है। जाबाला उस स्तुति के एक-एक पद में नया अर्थ पा रही है, बिल्कुल नया अर्थ। ऋषि ने कभी गाया था :

"इन वाणियों के द्वारा उस महान् पर्जन्य (मेघदेवता) का आह्वान करो, प्रणति और स्तुति से प्रसादन करो जो अवढरदानी हैं, जो गर्जनकारी वृषभ के समान हैं, जो वनस्पतियों में बीजारोपण करते हैं।

"वह वृक्षों का ताड़न करते हैं, राक्षसों का वध करते हैं, समस्त जगत् उनके

महान् अस्त्र से भयभीत होता है। जब पर्जन्य दुष्टों पर गरजते हुए प्रहार करते हैं, पाप-शून्य पुरुष भी उस महान् के सामने से भागते हैं।

"अपने अश्वों पर कशाघात करते हुए महारथी की भाँति वह अपने वर्षा-दूतों का प्रदर्शन करते हैं। जब पर्जन्य आकाश को मेघाच्छन्न करके गर्जन करते हैं तो ऐसा मालूम होता है जैसे दूर से सिंह-निनाद सुनायी पड़ रहा हो।

"पवन प्रसरित होता है, विद्युत् गिरती है, औषधियाँ अंकुरित होती हैं, स्वर्ग उमड़ पड़ता है। पर्जन्य जब-जब पृथ्वी में बीजारोपण करते हैं तो सारे जगत् में प्रकृति का जन्म होता है।

"जिसके व्रत से पृथ्वी नत होती है, खुर वाले प्राणी उत्साहित होते हैं, औषधियाँ विविध रूप धारण करती हैं, वही पर्जन्य हमें परम कल्याण वितरण करें।"

पर्जन्य देवता गर्जनकारी वृषभ के समान आकाश में अखाड़ रहे हैं। पृथ्वी सचमुच नत है, उसके अंग-अंग में रस भीन रहा है। वनराजि रोमांच की भाँति उद्गत हैं। वे सींच रहे हैं, पृथ्वी कृतार्थ है। अचानक पर्जन्य देवता जाबाला की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं, उपस्थित होते हैं ऋषिकुमार रैक्व ! पृथ्वी विलुप्त हो जाती है, आविर्भूत होती है स्वयं जाबाला की अपनी मूर्त्ति ! मेघ बरस रहे हैं, धरती भीग रही है। उसकी नस-नस में प्राणों का उल्लास मुखरित हो रहा है।

जाबाला को झटका लगा। अरुन्धती जान गयी है। उसकी तीक्ष्ण दृष्टि ने अन्तरतर को छेद डाला है। बड़ी चपला है। सब ओर फैला देगी बात। लेकिन उससे छिपाया ही क्या जाये ? उसने सत्य को ही तो टटोल-टटोलकर ढूँढ़ा है। उससे कुछ छिपाना व्यर्थ है। पर कैसी लज्जा की बात है !

अरुन्धती उसकी ओर एकदम देख रही है, दीदी का क्रोध शान्त हो रहा है। उसने सचमुच ढिठाई की है। एकदम उतावलेपन का परिचय दिया है उसने !

वर्षा शान्त हुई। जाबाला ने आँख खोली। आकाश अब भी बहुत साफ़ नहीं है।

अरुन्धती ने देखा कि दीदी का ध्यान टूटा है। एक क्षण का विलम्ब न करके वह दौड़कर दीदी से लिपट गयी----"चूक हो गयी दीदी, क्षमा कर दो ! इस नादान बहिन की बातों का बुरा न मानो। क्षमा कर दो, क्षमा कर दो !" जाबाला ने आवेश में आकर उसे और भी कसके भुजपाशों में बाँध लिया !

"तेरा अनुमान सत्य है, अरु !"

"सत्य है दीदी ?"

"हाँ रे, सत्य है।"

उल्लास-चंचल अरुन्धती ने देर तक दीदी को जकड़ रखा।

बादल छँट गये। आसमान साफ़ हो गया।

दोनों बहिनें प्रसन्न-वदन।

जाबाला ने कहा, "तू कवि जान पड़ती है, अरु।"

"कवि ! मैंने क्या गड़बड़ कर दिया कि मुझे कवि कहती हो ?"

"गड़बड़ तो कर ही दिया ! जानती है, अनादि काल से तितली फूल के इर्द-गिर्द चक्कर काट रही है, लता वृक्ष को आच्छादित करके उल्लसित हो रही हैं, बिजली मेघ के साथ आँख-मिचौनी खेल रही है, कुमुदिनी चन्द्रमा की प्रतीक्षा में व्याकुल है। किसी ने तो इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया, किसी ने इसका रहस्य समझने का दावा नहीं किया, सब-कुछ तो चुपचाप अपनी-अपनी गति से चल रहा था। कहाँ जाने एक कवि आ गया। उसने चिल्लाकर कहा, 'मुझे मालूम है, मैं इस गुप-चुप चल रही प्रेम-वार्त्ता को पहचान गया हूँ। सुनो संसार के स्त्री-पुरुषो, मैं आँखों की भाषा जानता हूँ, मैं भुजाओं की भाषा जानता हूँ, मैं लुका-चोरी की भाषा जानता हूँ, मैं सब जान गया हूँ !' उसी दिन तो सारा प्रकृति-व्यापार गड़-बड़ा गया, अरु ! तू कवि है ! मगर देख, कवि ने सबको पुकारकर कह दिया था, पर तू मेरी प्यारी बहिन, इतना चिल्लाके न कह। तू इसे चुपचाप अपने ही पास रख। तू कवि से बड़ी हो जा !"

"एक है देवता से भी बड़ा। उसी के उत्पात से तुम्हारी यह दशा हो गयी है। अब कवि से बड़ी होने जा रही हूँ मैं ! भगवान् ही मालिक है !"

"अरु, मेरी प्यारी बहिन !"

"तुम अधिक चाटुकारी मत करो, दीदी ! तुम्हारी आज्ञा से बाहर थोड़े ही हूँ !"

"हाँ अरु, इस बात को अपने ही तक सीमित रख। दीदी की मूर्खता का प्रचार मत करना। हाँ भला !"

"बिल्कुल ! मगर एक मेरी भी।"

"कह, क्या कहती है ?"

"यही कि पूरा सुनना चाहती हूँ।"

"पूरा ही जान गयी है। मेरे मुख से सुनना चाहती है तो सुना देती हूँ।"

जाबाला ने पूरी कहानी सुना दी। अरुन्धती की चपल जिह्वा एकदम बन्द हो गयी। उसने अपने अश्रु-पूरित नयन जाबाला के चेहरे पर गड़ा दिये।

चौदह

माताजी ने लौटते ही रैक्व का विधिवत् उपनयन कराया। कई दिनों तक यज्ञ-याग चलते रहे। सामगान से आश्रम मुखरित हो गया। अनेक ऋषि सपरिवार पधारे।

रैक्व को नया संसार ही मिल गया। वेद-शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों का सत्संग तो हुआ ही, उनके परिवारों की महिलाओं, बालक-बालिकाओं के परिचय से उनकी जानकारी की दुनिया बहुत विस्तृत हुई। वे लोक और शास्त्र दोनों के समझने का अवसर पा सके। उन दिनों वैदिक अध्ययन की धूम थी। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के अतिरिक्त चौथा अथर्ववेद भी अध्ययन के आधारभूत ग्रन्थ माने जाते थे। फिर वेदों का वेद समझा जानेवाला इतिहास-पुराण वैदिक ज्ञान की कुंजी माना जाता था। जो इतिहास-पुराण नहीं जानता था, उसे 'अल्पश्रुत' माना जाता था और ऐसा विश्वास किया जाता था कि ऐसे अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद डरते रहते हैं कि यह हमारे ऊपर ही प्रहार कर बैठेगा! महर्षि औषस्ति ने बहुश्रुत विद्वानों से कहकर रैक्व की पूर्ण शिक्षा की व्यवस्था की थी। बीच-बीच में वे दूसरे आश्रमों में अध्ययन के लिए भेजे जाते थे। विभिन्न गुरुओं के आश्रम में पढ़ते समय उन्हें कठिन शारीरिक परिश्रम करना पड़ता। धीरे-धीरे पित्र्य-शास्त्र, गणित, विज्ञान, दैव विद्या, निधिशास्त्र, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), निरुक्त, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या (ललित कला ?) आदि विविध शास्त्रों के ज्ञाता हुए। उन्हें माताजी की विशेष प्रेरणा से धनुर्वेद का भी अभ्यास कराया गया। एक वर्ष में ही उनका कायाकल्प हो गया। वे बहुत-कुछ जान सके, सीख सके, अनुभव कर सके। उन्हें सही अर्थों में द्विजत्व प्राप्त हुआ—एक दूसरा ही जन्म। रैक्व ने पढ़ने में, सत्संग करने में, कुछ भी उठा नहीं रखा। दिन-रात एक करके तत्काल प्रचलित सभी शास्त्रों का निपुण अध्ययन किया। जिस दिन माताजी लौटकर आयी थीं, उस दिन निस्संकोच होकर उन्होंने शुभा के बारे में प्रश्न किया था। अब उनमें वह असंकोच भाव नहीं रहा। परन्तु माताजी की एक बात वे कभी नहीं भूल सके। माताजी ने कहा था—'बेटा रैक्व, जिसे तू शुभा कहता है, उसका नाम जाबाला है। वह महादानी और महाजिज्ञासु राजा जानश्रुति की एकमात्र कन्या है—विदुषी, बुद्धिमती और सुशीला। उसने मुझसे कहा है कि वह तुझे देखने को व्याकुल है। पर जब तक तुम उसी के समान शास्त्रज्ञ, विद्वान् और शीलवान नहीं बन जाते तब तक वह तुमसे कैसे मिल सकती है? बेटा, तुम निश्चित रूप से बुद्धिमान् हो, तपस्या और ब्रह्मचर्य का पालन कर चुके हो, स्वयं-परीक्षित सत्य पर आस्था रखते हो, और सबसे बढ़कर, तुम मेरे पुत्र हो। तुम्हें पूर्ण रूप से शास्त्रज्ञ बनना है, उसके बाद सभी बातों की शास्त्रीय विधि से परीक्षा करने के बाद तुम्हारे अन्तर्यामी वैश्वानर जैसा कहें, वैसा ही करो। यह कभी मत भूलना कि ऐसा तप वास्तविक तप नहीं है जिसमें समस्त प्राणियों के सुख-दुःख से अलग रहकर केवल अपने-आप की मुक्ति का ही सपना देखा जाता है। सारा चराचर जगत् उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है जिसका एक अंश तुम्हारे अन्तरतर में प्रकाशित हो रहा है। सत्य से च्युत न होना, धर्म से च्युत न होना, निखिल चराचररूप परम वैश्वानर को न भूलना।'

बात रैक्व को लग गयी थी। माताजी के कहने का अर्थ उन्हें धीरे-धीरे स्पष्ट

होने लगा। जैसे-जैसे वे शास्त्र-ज्ञान अर्जित करते गये, वैसे-वैसे उन्हें माताजी की वाणी का अर्थ समझ में आने लगा। उन्हें शुभा अर्थात् जाबाला के योग्य बनना है। उन्होंने अपने को योग्य बनाने में कुछ भी उठा नहीं रखा।

यद्यपि उन्होंने शास्त्राभ्यास को ही सदा ध्यान में रखा, पर प्रच्छन्न रूप से इसे प्रेरणा देनेवाली शक्ति शुभा ही थी। बीच-बीच में उनकी पीठ की सनसनाहट असह्य हो जाती। कठिनाई यह हो गयी थी कि अब वे निस्संकोच होकर माताजी से शुभा के बारे में कुछ पूछ भी नहीं पाते थे, मुँह से बात ही नहीं निकल पाती थी। कहीं से अज्ञात मनोभाव अचानक प्रकट होकर उन्हें रोक देते थे।

माताजी उनसे शास्त्राभ्यास के अतिरिक्त कुछ बात ही नहीं करती थीं। उनका मन शुभा की बात सुनने के लिए व्याकुल रहता था, पर माताजी उस सम्बन्ध में एकदम मौन हो गयी थीं। पहला साल बीतते ही पूरे एक वर्ष तक उन्हें दूर-दूर के विभिन्न आश्रमों में जाने का आदेश दिया गया। माताजी से अलग रह-कर दूर-दूर तक ऋषियों के आश्रमों में भ्रमण करना पहले तो उन्हें कष्टकर लगा, पर बाद में अच्छा लगने लगा। इस बीच में स्वयं सोचने-समझने का अवसर भी पा सके। उनका पुराना मत फिर से नयी ज्योति से उद्भासित हो उठा। वे फिर प्राण की महिमा की ओर लौटने लगे। पिता औषस्ति के अभिभूत कर देनेवाले ब्रह्मवाद का प्रभाव क्षीण होने लगा। वे नाना सत्संगों में इस विषय पर विचार करते और मन में कोई पूर्वग्रह न रखकर सत्य के अन्वेषण का प्रयत्न करते। इन यात्राओं में उनका साथ कुशल विवेचक ऋषिकुमार आश्वलायन से हो गया। दोनों में गाढ़ी मित्रता हो गयी। ऋषियों की दुनिया में उन दिनों जितनी भी बातें मान्य थीं, उन सब पर दोनों में वाद होता। कई बार वे उत्तेजित होकर बहस करते, पर अन्त में फिर यथापूर्व मैत्री लौट आती।

एक दिन आश्वलायन ने झल्लाकर कहा, "रैक्व, तुमने पहले जो प्राण की उपासना शुरू की थी उसे छोड़कर मूर्खता की है। तुमने मुझे बताया था कि प्राण की उपासना द्वारा एक दिन तुम समस्त विश्व को वश में कर सकते हो। मैं उससे प्रभावित हुआ था। तुम जानते ही हो मेरे कुल में यज्ञ-याग का ही महत्त्व है। हमारे घर में निरन्तर सामगान होता रहता है। परन्तु तुमसे मिलने के बाद मैंने प्राणोपासना को ही विशेष रूप से जीवन का लक्ष्य बनाया था। अब देखता हूँ कि तुम्हीं भटक गये हो। क्या बात हुई कि तुम लक्ष्य से हट गये? मैं तो कभी उस पर जम ही नहीं पाया। पर मुझे अपनी दुर्बलता का ज्ञान है, तुम क्यों अटक गये?"

रैक्व को झटका लगा। वे सोचने लगे कि क्या मैं लक्ष्य से सचमुच हट गया हूँ। उदास-भाव से बोले, "मित्र, लक्ष्य ही शायद हट गया है। मैं प्राणायाम साधने में असफल हो जाता हूँ। ध्यान में जो मेरे सामने आता है वह वायु या प्राण नहीं, कुछ और है।"

"वह क्या वस्तु है, मित्र, बता सकते हो?"

"नहीं बता सकता, माताजी की कठोर आज्ञा है कि यह बात किसी को मत

बताना।"

"विषम संकट है। पर मत बताओ, मैं समझ गया हूँ।"

"क्या समझ गये ? कैसे समझ गये ?"

"मैं भुक्तभोगी हूँ, मित्र !"

"भुक्तभोगी हो ? क्या मतलब ?"

"मतलब यह है कि तुम्हारे ध्यान में पहले कोई लक्ष्य नहीं था। ध्यान प्रिय वस्तु का किया जाता है। पहले तुम्हारे सामने कोई प्रिय नहीं था। अब तुम किसी को प्रिय समझ रहे हो। सारे चिन्तन-मनन को, क्रिया-कर्म को, एक ओर ठेलकर वही प्रिय-रूप तुम्हारे मन में आ जाता है। यही बात है न, मित्र ?"

"हाँ, है तो यही बात, पर तुमने जाना कैसे ?"

"बताया न, भोग चुका हूँ।"

"तो तुम्हारा भी ध्यान···"

"बात पुरानी हो चुकी है। मैं तो तुम्हारी बात जानना चाहता हूँ।"

"हूँ !"

"देखो मित्र, मैंने सुना है कि कविराज अजातशत्रु ने गार्ग्य को बताया था कि ब्रह्म के दो रूप हैं, मूर्त्त और अमूर्त्त। अमूर्त्त तो वायु और अन्तरिक्ष हैं, और मूर्त्त है यह सारा प्रपंच जो आँखों को दिखायी देता है।"

"तो ?"

"अब ध्यान में ब्रह्म का रूप तो देखना ही होगा। नहीं तो ध्यान किसका करोगे ? और जो दिखायी देगा वह मूर्त्त-रूप ही हो सकता है।"

"अजातशत्रु ने कैसा रूप बताया था ?"'

"यही तो मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ। अजातशत्रु ने कहा था कि समाधि-अवस्था में उपासक को ब्रह्म का जो रूप दीख पड़ता है, वह ऐसा है, जैसे केसर के रंग से रँगा महा-वस्त्र हो, पाण्डु-वर्ण की ऊन हो, वीरबहूटी की लालिमा की तरह, अग्नि की ज्वाला की तरह, श्वेत पुण्डरीक की तरह, एक बार की चमकी विद्युत् की लपट की तरह ! जो इस रहस्य को जानता है उसकी शोभा विद्युत् के एक सकृत् प्रकाश की भाँति हो जाती है, बस, इसके आगे ब्रह्म के विषय में 'नेति-नेति' का ही आदेश है। इससे बढ़कर अन्य कुछ है ही नहीं। प्राणों को मनुष्य सब-कुछ समझता है, इन्हें सत्य मानता है। अगर प्राण सत्य है, तो वह प्राणों का प्राण है, सत्यों का सत्य है, उसका नाम है 'सत्यस्य सत्यम्'।"

"यह तो मूर्त्त रूप ही हुआ ?"

"सो तो हुआ ही। पर मुझे तो यह पहेली-जैसा ही लगता है। उन्होंने कई सुन्दर-सुन्दर रंग और ज्योतिवाली वस्तुएँ बता दीं और फिर कह दिया कि और आगे कुछ न पूछना चाहिए। उन्हें 'ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं' कहने में सब समाधान मिल गया।"

"यह तो वैश्वानर-रूप के विपरीत हो गया, हुआ न ?"

"सो तो है ही। मैं दूसरी बात सोच रहा था।"

"तुम क्या सोच रहे थे ?"

"मैं यह सोच रहा था कि जब ब्रह्म-साक्षात्कार किसी रूप का आधार लिये बिना नहीं हो सकता, तो क्यों न उसी रूप को आधार बनाया जाये जो प्रिय हो ?"

"मैं तो ऐसा समझता था कि प्रिय के रूप का ध्यान समाधि में बाधक होता है···तुम तो उसी से आरम्भ करने को कह रहे हो !"

"कह नहीं रहा हूँ, अभी सोच रहा हूँ।"

"मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही कहता है, वैसा ही करता भी है।"

"तो यही मान लो कि मैं ऐसा करने को कह रहा हूँ।"

"तो तुम्हारे कहने का अर्थ यह हुआ कि अपने प्रिय का ध्यान ब्रह्म-रूप में करना चाहिए ?"

"ब्रह्म-साक्षात्कार की पहली सीढ़ी प्रिय का ध्यान होना चाहिए। ठीक से समझ लो, पहली सीढ़ी है यह। यह लक्ष्य नहीं है। इसको आधार बनाकर परम वैश्वानर तक पहुँचना होगा। परम वैश्वानर समझ गये न ? रूप-रूप में रूपायित एकमात्र सत्ता !"

"अगर ऐसा हो सके तो उत्तम हो। पर मेरा अनुभव है कि शुभा का ध्यान करता हूँ तो मन, वचन, कर्म—सब वहीं अवरुद्ध हो जाते हैं।"

"तो तुम्हारी प्रिय शुभा है। नाम ही जिसका शुभा है, वह अवरोध का कारण नहीं बन सकती।"

रैक्व को लगा कि शुभा का नाम लेने से माताजी की अवज्ञा हो गयी। उन्हें अनुताप हुआ। बोले, "शुभा तो मैं कहता हूँ। उसका नाम कुछ और है। पर मित्र, अब कुछ न पूछना उसके बारे में। मुझसे माताजी की अवज्ञा मत करा देना।"

आश्वलायन को हँसी आ गयी—"मैंने कहाँ पूछा, मेरे भोले मित्र, यह तो तुम स्वयं कह गये !"

"बड़ा अविनय हो गया मित्र, माताजी सुनेंगी तो क्या कहेंगी ?"

"कुछ नहीं कहेंगी, मित्र, इतना समझ लेंगी कि आश्वलायन तुम्हारा सच्चा मित्र है।"

"जान जायेंगी ? बुरा तो नहीं मानेंगी ?"

"नहीं। माताएँ जानती हैं कि युवक मित्र आपस में ऐसी बातें कर लेते हैं।"

"कैसी बातें ?"

"यही, अपनी उन प्रियाओं की, जो उनका मन मोहे रहती हैं।"

"मेरा मन मोह-ग्रस्त है न, मित्र ?"

"बुरा क्या है ? हमारे मन में जो प्रेम अकस्मात् उदय हो जाता है और सारे जगत् को मधुमय बना देता है, वह उपेक्षणीय थोड़े ही है ! तुम उसमें परम वैश्वानर का इंगित नहीं समझ पाते ?"

"नहीं समझ पाता। यही तो मेरा दोष है।"

"दोष नहीं है, यह मोह है !"

"यह मोह कैसे दूर होगा ?"

"परम वैश्वानर की कृपा से। तुम क्यों परेशान हो रहे हो ?"

"परेशान हो जाता हूँ मित्र, होना नहीं चाहिए।"

"मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है। ऐसा भोला स्वभाव है तुम्हारा ! सुनो, तुमने मधुविद्या का उपदेश कहीं नहीं पाया ?"

"मधुविद्या क्या ?"

"याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को इस विद्या का उपदेश दिया था। वे तो कह गये हैं कि उपदेश और भी पुराना है। आथर्वण दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों को यह उपदेश दिया था।"

"दध्यङ् तो दधीचि का ही नाम है।"

"एक ही नाम है। दध्यङ् कहो या दधीचि कहो। इतिहास-पुराण में जिन्हें दधीचि कहा जाता है वही वेदों में दध्यङ् नाम से प्रसिद्ध हैं।"

"मधुविद्या का सार बता सकते हो, मित्र ?"

"बताता हूँ। आथर्वण दध्यङ् ने कहा था कि यह भूमि, यह जल, यह अग्नि, यह वायु, यह आकाश, यह सूर्य, ये दिशाएँ, यह चन्द्रमा, ये तड़तड़ाते मेघ—सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय हैं और सब प्राणी इन्हें भी मधु-समान प्रिय हैं क्योंकि उनमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष व्याप्त है वही इस पिण्ड में आत्मा-रूप में विद्यमान है। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही सब-कुछ है; नहीं तो ये पदार्थ सबको प्रिय नहीं होते और न सभी प्राणी इन पदार्थों को प्रिय होते।"

"अद्भुत है !"

"इतना ही नहीं मित्र, यह जो मनुष्य-भाव है, प्रेम है, मैत्री है, चाह है, अभिलाषा है, तड़प है, व्याकुलता है —यह मनुष्य-भाव भी सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है। इस मानुष-भाव में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह समष्टिरूप ब्रह्माण्ड का आत्मा है; भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जो तेजोमय पुरुष है वह व्यष्टि-पिण्ड का आत्मा है। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही सब-कुछ है।"

"वाह, यही तो परम वैश्वानर का रूप है !"

"तो मेरे मित्र, जो मानुष-भाव सबसे अधिक मधुर है वहीं से शुरू करने में क्या कठिनाई है ? शुभा भी तो परम वैश्वानर के ही तेजोमय अमृतमय रूप का आश्रय है। निस्सन्देह वह तुम्हारा अपना, नितान्त निजी सत्य है, पर उसी रूप को पकड़कर उस परम वैश्वानर को पकड़ो जो सबका सत्य है, सत्य का सत्य है।"

रैक्व को पीठ में बड़े जोर की सनसनाहट महसूस हुई। उनके हाथ पीठ पर पहुँच गये। चेहरा एकदम विवर्ण हो गया।

आश्वलायन को लगा कि उन्होंने कोई चोट पहुँचानेवाली बात कह दी। बोले, "कष्ट हुआ मित्र, तुम्हें कष्ट पहुँचा ? छोड़ो, अब कोई ऐसी बात नहीं करूँगा।"

"कहो मित्र, तुम्हारी बातों से जो कष्ट हो रहा है वह भी मधुर लग रहा है।"

"नहीं, मैंने कहीं तुम्हारी दुखती नस को छू दिया है। देखो, मैंने अनेक ज्ञानी ब्रह्मवादी ऋषियों को सुना है कि ब्रह्म सत्यों का सत्य है। यह बात पहले मेरी समझ में नहीं आती थी। तुम्हारी तरह ही भोग-भोगकर मैंने अपने ढंग से इसका अर्थ समझ लिया है। सुनोगे ?"

"सुनूँगा बन्धु, तुम्हारी बातों से मुझे अपनी सोची-समझी बातों को नया आलोक मिल रहा है।"

"थोड़ा रुको मित्र, मुझे अपनी बात कह लेने दो।"

"सुन तो रहा हूँ।"

"पता नहीं, सुन रहे हो कि गुन रहे हो। तुम्हारी-जैसी स्थिति में जब मैं था तब सुनता कम था, गुनता अधिक था।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि मेरी बात सुनते-सुनते तुम कब शुभा की बात गुनने लगोगे, यह एकमात्र तुम्हारे अन्तर्यामी ही जान सकेंगे।"

"नहीं, तुम कहो, मैं सुन रहा हूँ। गुनूँगा तो अन्तर्यामी ही नहीं, अन्तरंग बन्धु भी सुन लेगा।"

"तो, बात यह है मित्र, कि मैं भी किसी प्रिया के लिए व्याकुल हुआ था और सोचने लगा था कि पितृ-पितामहों द्वारा अत्यन्त समादृत ब्रह्मचर्य-मार्ग से विचलित हो रहा हूँ, लेकिन मेरे अन्तर्यामी कहते थे कि तेरा व्यक्ति-सत्य यही है। मैं समझता हूँ कि हर व्यक्ति का अपना एक सत्य होता है। तुम्हारा भी है। है न ?"

"शायद !"

"शायद नहीं, निश्चित रूप से है।"

"फिर ?"

"अब यह सत्य अगर विश्वव्यापी सत्य के साथ एकमेक नहीं हो जाता, तो तुम्हारा मार्ग रुद्ध करेगा। तुम वहीं आकर खो जाओगे। मैं ठीक कहता हूँ न ?"

"पूरी बात कह लो तो बताऊँगा।"

"बात अधूरी कहाँ है ? हर व्यक्ति का अपना सत्य जब तक परम वैश्वानर को समर्पित नहीं हो जाता, तब तक अधूरा रहता है, अवरोध उपस्थित करता है, अनन्त सम्भावनाओं के द्वार को बन्द कर देता है।"

"यह बात समझ में आती है।"

"आती है न ! अब यह बात भी समझ में आ जायेगी कि पुराण-ऋषियों ने क्यों कहा है कि परम वैश्वानर सब सत्यों का सत्य है, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है। तुम्हारा व्यक्तिगत प्रेम परम वैश्वानर के प्रेम की पहली सीढ़ी है। न वह उपेक्षणीय है, न लक्ष्य है। वह भगवान् की भेजी हुई एक ज्योति-किरण है जिससे अनन्त सम्भावनाओं के द्वार तक मार्ग साफ़ दिखायी दे जाता है। ऐसा ही समझकर अब मैं निश्चिन्त हो गया हूँ।"

आश्चर्य-चकित होकर रैक्व ने अपने मित्र को देखा। क्या अद्भुत बात कही

है ! शुभा के प्रति जो आकर्षण है, उसे देखने के लिए हृदय में जो भयंकर आँधी बह रही है, वह परम वैश्वानर के प्रेम की सीढ़ी है, भगवान् की भेजी हुई ज्योति-किरण !

वे चलना भूल गये। रुककर ध्यान से आश्वलायन की ओर अर्थभरी दृष्टि से देखने लगे। बोले, "अद्भुत सुन रहा हूँ बन्धु, तुम महाज्ञानी हो; अब तक मैंने तुम्हारा गौरव नहीं समझा था। व्यर्थ ही तुमसे झगड़ता रहा। परम वैश्वानर भगवान् की ऐसी अद्भुत व्याख्या मैंने नहीं सुनी। तुम परीक्षित सत्य कह रहे हो, इसीलिए वह इतना मनोज्ञ होकर प्रकट हुआ है। मैं धन्य हुआ, बन्धु ! धन्य हुआ !"

आश्वलायन हँसने लगे। बोले, "तुम्हारे इसी भोलेपन पर मैं मुग्ध हूँ। तुम झगड़ते हो तो मुझे सच्चा आनन्द मिलता है। अब देखता हूँ, तुम झगड़ना बन्द कर रहे हो। नहीं बन्धु, तुम्हारे जैसा मित्र दुर्लभ है। झगड़ा छोड़ दोगे तो मैं तुम्हारा साथ भी छोड़ दूँगा। इतना बड़ा दण्ड सहन नहीं कर सकूँगा।"

"छोड़कर चले जाओगे ? तुम्हारे ज्ञान की प्रशंसा कर दी तो इससे कोई अपराध हो गया ? अभी तुम्हारे अज्ञान की प्रशंसा तो शेष ही है। पहले उसे सुन लो, फिर यह निश्चित करना कि तुम्हारा मित्र सचमुच ऐसा भोला है कि नहीं कि मुग्ध हुआ जा सके !"

"सुनाओ, मेरे अज्ञान की ही स्तुति करो। दूसरों का अज्ञान देखना सचमुच भोलापन नहीं है। सुनाओ, सुनाओ !"

"सच कहता हूँ मित्र, तुम्हारी बात से मुझे बहुत बल मिला है। पर तुम जो बात नहीं जानते, उसे बता देना आवश्यक लग रहा है। कहूँ ?"

"कहा न कि सुनाओ ! कहोगे नहीं तो सुनाओगे कैसे ?"

"अच्छा, तुम मेरी कठिनाई नहीं जानते। तुम किस प्रकार अपनी प्रिया को माध्यम बनाकर परम वैश्वानर तक पहुँचने का मार्ग देख सके हो ? वैसा क्या सभी कर सकते हैं ?"

"क्यों नहीं कर सकते ?"

"देखो, तुम तर्क का रास्ता अपनाना चाहते हो, मैं अनुभव की बात कहना चाहता हूँ।"

"कहो भी तो।"

"देखो, मैं शुभा को किसी परम या चरम सत्य का माध्यम नहीं बना सकता। तुमने उस मोहन रूप को देखा ही नहीं। तुम कैसे मेरी बात समझ सकते हो ? देखो मेरे ज्ञानी मित्र, मेरे ध्यान का एकमात्र लक्ष्य वही हो जाती है। उसके उस मोहन रूप के परे मैं कुछ भी नहीं देख पाता। नहीं देख पाऊँगा, यह पक्का है !"

आश्वलायन को हँसी आ गयी—"मेरा अज्ञान तो तुमने खूब पकड़ा है मित्र ! कैसे कहूँ कि मैंने शुभा का मोहन रूप देखा है; यह भी कैसे कहूँ कि तुम उसके परे कुछ देख पाओगे या नहीं। अज्ञान तो है ही। पर इस अज्ञान को दूर करने का

एक ही रास्ता रह जाता है।"

"क्या ?"

"यही कि एक बार मुझे दिखा दो।"

"तुम देखोगे उसे ? मुझसे तो वह मिलेगी ही नहीं, तुम्हें कैसे मिल जायेगी ? तुम उसके समान ज्ञानी हो ? उसके समान पण्डित हो ? उसके समान शीलव्रती हो ? तुम भला उसे कैसे देख सकते हो ? चुप भी रहो !"

"चुप तो नहीं रहूँगा। शुभा से कहूँगा कि मेरे मित्र रैक्व ने मुझे 'महाज्ञानी' माना है। फिर कैसे नहीं मिलेगी !"

रैक्व ऐसा हँसे मानो कोई अत्यन्त मूर्खतापूर्ण बात सुन ली हो।

"बताया न कि तुम्हारा अज्ञान प्रशंसनीय है। मुझे तो वह अल्पज्ञ समझती है। मेरा नाम लेकर कहोगे तो वह तुम्हें भी मूर्ख ही समझेगी। अल्पज्ञता का दोष दूर करने के लिए ही तो मैं शास्त्रों का अध्ययन कर रहा हूँ। वह दिव्यलोक की किरण के समान पवित्र है, पद्म-लक्ष्मी के समान कमनीय है। तुम उससे मिल नहीं सकते। वह तुम्हें मूर्ख समझेगी। उसे साक्षात् वाग्देवता समझना।"

"तो तुम्हारी प्रिया तुम्हें मूर्ख समझती है ? शायद ठीक ही समझती है।"

"तुम भी मुझे मूर्ख समझते हो ? तुम कैसे मुझे मूर्ख समझ सकते हो ? शुभा की बात और है, वह जो कुछ कहती है वह प्रत्यक्ष-सा दिखायी देता है, वह दिव्य नारी है, ज्योति-रेखा से बनी। तुम कैसे उसका अनुकरण कर सकते हो ?"

"नहीं कर सकता भाई ! अब शान्त हो जाओ। तुम्हारी शुभा से मिलने का दुष्प्रयास नहीं करूँगा। पर वह तुम्हें मूर्ख समझेगी तो प्रेम का यह व्यापार आगे नहीं बढ़ सकेगा।"

"तुम क्या समझोगे कि उसका ऐसा समझना कितना मनोहारी है !"

"कहा तो कि नहीं समझ सकूँगा। तुम धन्य, तुम्हारी मूर्खता धन्य, तुम्हें मूर्ख समझनेवाली धन्य और इस विचित्र प्रेम को न समझनेवाला मेरा अज्ञान भी धन्य ! लो, अब तो क्रोध नहीं करोगे न !"

"नहीं, नहीं, क्रोध क्यों करूँगा ! तुम अपनी गलती समझ गये, बात आयी-गयी हो गयी !"

"अच्छा मित्र, तुमने कितनी बार उसे देखा ?"

"केवल एक बार। अब अधिक न पूछो।"

"केवल एक बार ? चलो, यह भी अच्छा है। दो बार देखा होता तो मुझे मार ही डालते।"

"नहीं देख पाया मित्र। एक बड़ा कष्ट है।"

रैक्व का मुख विवर्ण हो गया। आश्वलायन ने उनकी ओर ध्यान से देखा। उनकी आँखें डबडबा आयी थीं। बोले, "क्या कष्ट है मित्र, मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूँ ?"

"शायद नहीं।"

"सहायता न भी कर सकूँ तो भी सुनना चाहूँगा। जानते हो, अपने अन्तर की व्यथा बन्धुजन से कहने से वह हल्की हो जाती है। तुम अपना कष्ट बताओ।"

"माताजी की कठोर आज्ञा है कि शुभा के बारे में किसी से कुछ न कहा करो। वे कुछ बतातीं नहीं, मेरा मन दुःख से टूटता जा रहा है, क्या करूँ?"

"भोलेराम, शुभा से तुम एक ही बार मिले हो। उसके बारे में तुम जानते ही क्या हो जो बताओगे! अपनी व्यथा बताओ।"

"यह भी ठीक ही कह रहे हो। मैं जानता ही क्या हूँ! पर जानना चाहता हूँ, यही तो कष्ट है।"

"तो तुम्हारा यह मित्र किसी काम आने योग्य नहीं दिखता?"

"अच्छा, एक बात बता सकते हो?"

"पूछो, जानता हूँगा तो अवश्य बता दूँगा।"

"यह गन्धर्व-पीड़ा क्या है? दीदी कह रही थी कि कुमारी और सुशीला लड़कियों को ही गन्धर्व सताता है। शुभा का तो वह रक्त ही चूस रहा है।"

"यह बात है? मेरे प्यारे मित्र, निरुक्तशास्त्र पढ़ा है कि नहीं?"

"क्यों नहीं पढ़ा! जो चाहो पूछ लो, तुमसे कुछ अधिक ही जानता हूँ।"

"अभी पता चल जायेगा कि अधिक जानते हो या कम।"

रैक्व वाद के लिए प्रस्तुत हो गये। बोले, "जिस शब्द की निरुक्ति चाहो बता सकता हूँ। पूछो!"

"अच्छी बात है। यह बताओ कि वाचक्नु कपिशों और गान्धारों के उच्चारण के बारे में क्या बताते हैं?"

"पहले यह बताओ कि तुम निरुक्त के बारे में प्रश्न करना चाहते हो या शिक्षा के बारे में? यह प्रश्न शिक्षा का है।"

रैक्व ने पूरे शास्त्रार्थी पण्डित की मुद्रा धारण कर ली। ऐसा लगा कि वे भूल गये कि थोड़ी देर पहले क्या प्रसंग चल रहा था। वे अखाड़े में उतरनेवाले मल्ल की भाँति प्रतिद्वन्द्वी को देखने लगे। आश्वलायन को हँसी आ रही थी, पर उन्होंने अपने मित्र के इस भाव-परिवर्त्तन का पूरा आनन्द लेने के लिए कृत्रिम रोष के साथ उत्तर दिया—"जो पूछ रहा हूँ, वह बताओ। किस शास्त्र से इस प्रश्न का सम्बन्ध है, यह बाद में बताऊँगा।"

"तुमने बात निरुक्त की चलायी थी, प्रश्न शिक्षा के बारे में कर रहे हो। यह उचित नहीं है।"

"तो तुम मानते हो कि शिक्षाशास्त्र के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकोगे?"

"क्यों नहीं दे सकूँगा! पर तुम्हें विवेक के साथ शास्त्र-चर्चा करनी चाहिए।"

"अच्छा, शिक्षा की दृष्टि से ही उत्तर दो।"

"वाचक्नु का मत है कि कपिश-गन्धार के लोग कोमल वर्णों के स्थान पर परुष वर्णों का प्रयोग करते हैं। वे 'गगनम्' को 'ककनम्' कहते हैं।"

"साधु मित्र, तुमने ठीक उत्तर दिया। अब बताओ कि वे लोग 'गन्धर्व' शब्द

का कैसा उच्चारण करेंगे ?"

"'गन्धर्व' को वे लोग 'कन्दर्प' कहेंगे।"

"साधु बन्धु ! पर वाचक्नु लोग कुछ अपवाद भी बताते हैं !"

"बताते हैं, क्वचित्-कदाचित् मध्यवर्त्ती कोमल महाप्राण वर्ग को कोमल अल्पप्राण ही रहने देते हैं। जैसे गन्ध को वे लोग 'कन्द' कहते हैं।"

"अब मित्र, शास्त्रार्थ में तुम जीत गये। यह मुद्रा हटाओ, तुम सचमुच जानते हो---मुझसे थोड़ा कम।"

"कम कैसे ?"

"यही कि तुम यह नहीं सोच सकते कि 'गन्धर्व' और 'कन्दर्प' वस्तुतः एक ही शब्द के दो उच्चारण हैं। अब समझ गये न ? गन्धर्व एक देवजाति है, उसी का प्रधान सेनानायक कन्दर्प है। कन्दर्प समझ रहे हो ?"

"कन्दर्प ? निघण्टु में जिसे कुसुमसायक, कामदेव, पुष्पधन्वा आदि कहा जाता है !"

"बिल्कुल ठीक। प्रेमपरवश युवतियों और युवकों को यही कन्दर्प देवता---चाहो तो गन्धर्व भी कह सकते हो—फूलों के बाण से वेधा करता है। तुम्हें भी वेधा है और तुम्हारी शुभा को भी—यही गन्धर्व-पीड़ा है। चाहो तो कपिश-गान्धारों की भाँति कन्दर्प-पीड़ा भी कह सकते हो।"

"मुझे किसी ने फूलों के बाण से नहीं वेधा।"

"वेधा है। वह बाण तुम्हारी पीठ में लगा है। जितनी बार तुम शुभा का नाम लेते हो, उतनी बार तुम्हारा हाथ पीठ के उस आघात को सहलाता है। बिचारी शुभा को उसने छाती में वेधा होगा। तभी उसका रक्त क्षीण हो रहा है। समझ रहे हो ?"

"नहीं।"

"नहीं। यह चोट दिखायी नहीं देती, इसकी पीड़ा बड़ी मीठी होती है ! तुम्हारी पीड़ा मीठी लगती है न ?"

"लगती है।"

"तो फिर निश्चित समझो कि वह फूलों के बाण की चोट है। जान पड़ता है, अहेरी ने भागते समय तुम्हारे ऊपर चोट की थी !"

"बिल्कुल नहीं।"

"बिल्कुल !" आश्वलायन ज़ोर से हँसे—"तुम हो बौड़म !"

"क्या मतलब ?"

"क्या बताऊँ तुम्हें ! घर लौटो। माताजी से आज्ञा लेकर विवाह करो। गन्धर्व शान्त हो जायेगा।"

"विवाह !"

"हाँ, देखो, विवाह भी साम-गान है, ऐसा पुराणऋषियों ने कहा है।"

"विवाह साम-गान है ? यह कैसे हो सकता है ?"

"तुमने वामदेव्य साम कभी गाये जाते सुना है ?"

"सुना क्या, गा सकता हूँ। उसके पाँचों अंग—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन—भलीभाँति गाकर दिखा सकता हूँ। वामदेव्य साम तो मेरे पिता रिक्व ऋषि का प्रिय साम था। तब मैं समझता नहीं था।"

"यह तो बहुत अच्छी बात है। प्रजापति ने देवताओं के स्वामी इन्द्र को वामदेव्य साम का रहस्य समझाया था। उन्होंने कहा था, 'विवाह में जो आपसी बातचीत होती है वही हिंकार है; सबको सूचित करना प्रस्ताव है; पति-पत्नी का साथ शयन उद्गीथ है, अलग-अलग शयन प्रतिहार है, प्रेमपूर्वक जीवन बिताना निधन है (निधन अर्थात् व्रत-समाप्ति)। इस प्रकार स्त्री और पुरुष के प्रेमी-युगल के रूप में वामदेव्य साम पिरोया हुआ है। यही पंचविध वामदेव्य साम है। जो व्यक्ति प्रेमी-युगल में इस प्रकार वामदेव्य साम को जान लेता है, पुत्र-पौत्र-समन्वित हो पूर्णायु प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्त्ति पाकर महान् होता है। कोई स्त्री यदि प्रेमपूर्वक निकट आती है तो उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। विवाह-सूत्र में आबद्ध होकर पवित्र दाम्पत्य व्रत का निर्वाह करना चाहिए। यह मत भूलना कि यह व्रत है! यह व्रत है!"

"रूपक जान पड़ता है, मित्र!"

"तो क्या हुआ!"

"तुमने विवाह किया है क्या ?"

"नहीं मित्र, चाहता तो हूँ, पर अभी तो इस साम का हिंकार ही नहीं शुरू हुआ।"

"मेरा भी नहीं हुआ।"

"तुम्हारा हो चुका है!"

"हो चुका है ?"

"हाँ, हो चुका है। अब तुम मेरे साथ माताजी के पास चलो।"

"तुम्हारे साथ ?"

"हाँ, मेरे साथ।"

"तुम क्या माताजी से कहोगे कि मैंने तुमसे शुभा के बारे में बात की है ?"

"शायद कहना पड़े।"

"नहीं मेरे प्यारे मित्र, माताजी बहुत रुष्ट हो जायेंगी।"

"तो नहीं कहूँगा। पर माताजी यदि स्वयं कहें तो ?"

"तो तुम बाद में माताजी से मिलना। मेरे साथ नहीं।"

"तुम समझते हो कि तुम्हारे साथ जाऊँगा तो माताजी तुम्हें छोड़कर मुझे ही विवाह के लिए तैयार करायेंगी ?"

"नहीं मित्र, मेरा विवाह नहीं हो सकता।"

"क्यों ?"

"मामा ने बताया था।"

"मामा कौन ?"

"मामा बड़ा तपस्वी है। मैं उसी के साथ तो सेवा-कार्य करूँगा।"

"वह कौन-सा कार्य है ?"

"तुमने मामा को देखा ही नहीं तो कैसे जानोगे कि सेवा-कार्य क्या होता है ? माताजी से पूछ लेना।"

"मामा क्या कहता था ?"

"हाँ, याद आया, शुभा के पिता ने कोहलीयों का गन्धर्व-पूजन नाटक कराया था। मामा कहता था, उससे शुभा की गन्धर्व-बाधा दूर हो जायेगी। अब तक तो दूर भी हो गयी होगी। पर कोई बताये भी तो !"

"तुम क्या राजा जानश्रुति की कन्या जाबाला को शुभा कहते हो ?"

रैक्व रहस्य-उद्घाटन से चकित हो उठे। जैसे किसी ने चोरी करते पकड़ लिया हो। वे कातर-भाव से आश्वलायन की ओर देखने लगे।

"तुम कैसे जान गये ?"

"उसी की गन्धर्व-शान्ति के लिए तो बड़े समारोह के साथ कोहलीयों का नाटक खेला गया था।"

रैक्व के सिवा कोई भी दूसरा व्यक्ति होता तो आश्वलायन के चेहरे की कालिमा अवश्य देख लेता। पर रैक्व अपने ही पकड़े जाने से म्लान हो गये थे। मित्र के चेहरे का विकार देख ही नहीं सके।

महर्षि औषस्ति के आश्रम में पहुँचने पर रैक्व सीधे माताजी के पास गये। आश्वलायन ने दूसरे दिन उनके दर्शन करने का निश्चय किया।

एक विशाल न्यग्रोध की छाया में वे देर तक चुपचाप बैठ रहे। फिर झोले में से भूर्जपत्र का एक टुकड़ा निकाला। गेरू की स्याही से आचार्य औदुम्बरायण के नाम एक पत्र लिखा। फिर किसी परिचित ब्रह्मचारी के हाथ पत्र यथास्थान पहुँचवा देने की व्यवस्था करने के लिए उठ पड़े। पत्र में लिखा था :

परम श्रद्धास्पदेषु आचार्यतातपादेषु,

साष्टांग प्रणतिपूर्वक विनीत शिष्य आश्वलायन निवेदन करता है कि राजकुमारी जाबाला के शुभ विवाह के सम्बन्ध में आप अपनी दुविधा का परित्याग कर दें। आपका आदेश मानकर मैंने जाबाला के पाणिग्रहण की स्वीकृति दे दी थी। आपने मुझे संकोच के साथ सूचना दी थी कि जाबाला अभी विवाह के लिए तैयार नहीं हो रही है। आपने अधिक कुछ नहीं बताया। आज मुझे जाबाला के योग्य, उसका मनोऽनुकूल वर मिल गया है। वह सब प्रकार से जाबाला के योग्य है। वह भगवती ऋतम्भरा का अंगीकृत पुत्र रैक्व है। मैं अपनी स्वीकृति से आपके मानसिक द्वन्द्व का कारण बना था। उस स्वीकृति को लौटाकर मैं स्वयं बहुत सुखी हूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उससे जाबाला सुखी होगी। जो कुछ अविनय हुआ हो, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

इसे मेरा अन्तिम निश्चय मानें ! अनुगत आश्वलायन का विनीत प्रणाम स्वीकार हो ।

पन्द्रह

रैक्व का चेहरा मुरझाया हुआ था । उन्होंने माताजी को साष्टांग प्रणाम किया । माताजी ने बड़े प्यार से उन्हें उठाया और मस्तक सूँघ लिया । उल्लसित स्वर में बोलीं, "बेटा, मैं आज बहुत प्रसन्न हूँ । मैंने तेरी विद्वत्ता की प्रशंसा कई लोगों से सुनी है । तूने अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया है । आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ । अब चल, तुझे तेरे पिताजी के पास ले चलूँ, तुझे देखकर वे बहुत प्रसन्न होंगे । चल, मुँह-हाथ धो ले । उनके पास जाने का यही उपयुक्त अवसर है ।"

लेकिन रैक्व जड़वत् खड़े रहे । उनका सुन्दर मुख राहु-ग्रस्त चन्द्रमा की भाँति विवर्ण हो गया था । माताजी ने प्रसन्नता के आवेश में उधर ध्यान ही नहीं दिया था । अब उनका ध्यान उधर गया--"क्यों बेटा, इतना मुरझा क्यों गया है ? कोई कष्ट है क्या ?"

रैक्व के मुँह से आवाज़ ही नहीं निकली । माताजी ने व्याकुल होकर उनके सिर पर हाथ फेरा--"क्यों बेटा, क्या बात है, बता भी तो !"

रैक्व ने उदास-भाव से कहा, "माँ, बड़ा अपराध हो गया !"

"क्यों, क्या हुआ ?"

"मैंने कुछ बताया नहीं माँ, आश्वलायन शुभा के बारे में स्वयं ही जान गया !"

"तूने कुछ बताया नहीं तो कैसे जान गया ?"

फिर रैक्व ने निश्छल-भाव से आश्वलायन से हुई अपनी पूरी बात माताजी को ज्यों-की-त्यों सुना दी । पुत्र के इस सहज व्यवहार से माताजी प्रसन्न हुईं । उनके मुख पर हल्की-सी हँसी की किरण भी खेल गयी । पुत्र के भोलेपन का आनन्द लेते हुए उन्होंने कहा, "तूने तो सब कह ही दिया ! लेकिन चल, इसमें अपराध की कोई बात नहीं है । आश्वलायन तेरा सच्चा मित्र जान पड़ता है ।"

"हाँ माँ, बहुत अच्छा मित्र है । कभी-कभी थोड़ा झगड़ा भी करता है !"

"वह तुझे प्यार करता है । मित्रों में कभी-कभी झगड़ा तो होता ही रहता है । उसकी चिन्ता न कर । सच्चे मित्र से अपने मन की बात कहना कोई अपराध थोड़े ही है !"

"नहीं है माँ ? वह भी कहता था कि माताजी इस बात का बुरा नहीं मानेंगी।"

"नहीं मानूँगी। पर और किसी से भी ऐसी बातें नहीं करना ! समझ गया ?"

"समझ गया, माँ !"

"अब थोड़ा हाथ-मुँह धो ले। फिर पिताजी के पास तुझे ले चलूँगी। तुझे भूख तो लगी होगी। पिताजी को प्रणाम किये बिना कुछ खा भी तो नहीं सकता। चल बेटा, विलम्ब मत कर।"

रैक्व स्नान करके तैयार हो गये। माताजी महर्षि औषस्ति के पास उन्हें पहुँचाकर लौट आयीं। रैक्व ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। महर्षि औषस्ति ने बड़े प्यार से उनका मस्तक स्पर्श किया और परम वैश्वानर भगवान् की कृपा प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया। रैक्व ने आज पहली बार महर्षि के आशीर्वाद प्राप्त होने से कृतार्थता का अनुभव किया। इसके पूर्व अभिभूत हो जाते थे, पर यह अनुभव नहीं करते थे कि कृतार्थ हुए। महर्षि औषस्ति ने बड़े स्नेह से पूछा, "वत्स, मैंने तुम्हारी कुशाग्र बुद्धि और शास्त्रीय मीमांसा की ग्राहिका शक्ति के बारे में बहुत सुना है। तुमने जिन शास्त्रों का अध्ययन किया है, उनके उद्देश्य को ठीक से समझा है न, वत्स ?"

रैक्व क्या उत्तर दें, यह निश्चित न कर सके। बोले, "तातपाद के प्रश्न का क्या उत्तर दूँ, यह सोच नहीं पा रहा हूँ। जो कुछ पढ़ा है, उसका अर्थ समझने का प्रयत्न किया है, पर उद्देश्य क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं बता सकता। मैं सब-कुछ पढ़ने के बाद भी यह नहीं समझ पाया कि जो सबसे बड़ा तत्त्व प्राण है, उसकी उपेक्षा क्यों की जाती है ? तातपाद मेरा अविनय क्षमा करें ! मैं शायद पूर्वग्रह से ग्रसित हूँ। मैंने लोगों को भूखों मरते देखा है, बच्चों को दाने-दाने के लिए तरसते देखा है। प्राण की रक्षा को मैं सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझता हूँ। जो प्राण की उपेक्षा करता है, वह परम वैश्वानर की उपासना का अधिकारी नहीं हो सकता। भगवन्, शास्त्रों का अध्ययन-मनन करने के बाद भी मैं प्राणतत्त्व की महिमा नहीं भूल पाता हूँ।"

महर्षि औषस्ति के मुख-मण्डल पर आनन्द की लहर दौड़ गयी। बोले, "यह तो कोई नयी बात नहीं कर रहा है, बेटा ! सचराचर विश्व-रूप भगवन्त के उपासक महर्षि सनत्कुमार के पास समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके जब देवर्षि नारद ने जाकर कहा कि 'भगवन्, मैं मन्त्रविद् हो गया हूँ पर आत्मविद् नहीं हुआ,' तो जानते हो, उन्हें क्या उत्तर मिला था ?"

"क्या उत्तर मिला था, भगवन् ?"

"कहा था, 'ये ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि जो कुछ तुमने पढ़ा है, वह 'नाम'-ज्ञान है। आत्मविद् बनने के लिए नाम-ज्ञान तो सीढ़ी का पहला पाया है। तू नाम की उपासना कर—नाम से, अर्थात् शब्द-ज्ञान से शुरू कर, परन्तु यहीं तक रुक मत जा।' "

"नाम से आगे क्या बताया था, महर्षि ने ?"

"ऋषि ने कहा था, ' 'वाणी' नाम से बड़ी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि सभी विद्याओं को वाणी ही जतलाती है, परन्तु इनसे अधिक बातों को भी वह बताती है। द्यु, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंस्र जन्तु, कीट, पतंग, चींटी—इन सबका ज्ञान भी वाणी द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु, सहृदय-असहृदय—इन सबका ज्ञान भी वाणी ही देती है। 'नाम' से बढ़कर 'वाणी' है, 'नाम' का ज्ञान अपने तक रहता है, वाणी द्वारा ज्ञान दूसरे तक पहुँचता है। इसलिए, हे नारद ! वाणी की उपासना कर। पर यहीं तक आकर रुक न जा।' "

"क्या इससे आगे भी कुछ बताया था ?"

"हाँ। ऋषि ने कहा, ' 'मन' वाणी से बड़ा है। दो आँवले, दो बेर या दो बहेड़े बन्द मुट्ठी में अनुभव किये जाते हैं। यह मन की ही तो करामात है, और फिर मनुष्य पहले मन में ही तो सोचता है कि मन्त्र पढ़ूँ या कर्म करूँ—जब मन में सोचता है, तब मन्त्र पढ़ने लगता है, कर्म करने लगता है। पुत्र, पशु आदि की मन में इच्छा करता है तो इन्हें पा लेता है, इस लोक तथा परलोक की इच्छा करता है, तो इन्हें पा लेता है। मन, वाणी तथा नाम इन दोनों से बड़ा है। तू मन की उपासना कर। पर यहीं तक रुक न जा।' "

"यह तो मेरी समझ में आ रहा है। पर आगे क्या बताया था ?"

"उन्होंने धीरे-धीरे बताया कि 'मन से भी प्रबल संकल्प है।' फिर चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, तेज, आकाश, स्मृति और आशा को उत्तरोत्तर प्रबल बताते हुए अन्त में कहा था—' 'प्राण' इन सबसे से बड़ा है।' "

"प्राण को सबसे बड़ा कहा था, भगवन् ?"

"हाँ बेटा, ऋषि ने कहा था, 'प्राण' आशा से बड़ा है। आशा भी तो प्राण के लिए ही होती है। जिस प्रकार अरे चक्र की नाभि में अर्पित होते हैं, इसी प्रकार 'नाम' से लेकर 'आशा' तक सब अरे प्राण-रूपी चक्र में समर्पित हैं। सब-कुछ प्राण के सहारे चल रहा है, प्राण को लक्ष्य में रखकर चल रहा है; प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण भगिनी है, प्राण आचार्य है, प्राण ब्राह्मण है।

"अगर कोई जीवित पिता को, भाई को, बहिन को, आचार्य को, ब्राह्मण को कुछ अनुचित-सा कह भी दे तो लोग कहते हैं, धिक्कार है तुझे ! तू पितृहा है, मातृहा, भ्रातृहा, स्वसृहा, आचार्यहा, ब्राह्मणहा है। परन्तु अगर प्राण निकलने के बाद इन्हें शरीर-सहित कोई अग्नि में भस्म कर दे, और शूल से उलट-पुलट करे, तो कोई नहीं कहता कि तू पितृहा, मातृहा, भ्रातृहा, आचार्यहा, ब्राह्मणहा है।

"प्राण ही तो यह सब-कुछ है। जो इस प्रकार देखता है, इस प्रकार मानता है, इस प्रकार जानता है, 'नाम' से प्रारम्भ कर जो 'प्राण' तक पहुँच जाता है, उसे 'अतिवादी' कहते हैं। वह आगे-ही-आगे बढ़ रहा है, कहीं अटकता नहीं। जहाँ पहुँचता है, उससे आगे की बात करने लगता है। अगर ऐसे व्यक्ति को कोई कहे कि तू तो 'अतिवादी' है, बहुत बातें करता है, बकवादी है, तो उसे यही उत्तर देना

चाहिए कि मैं आगे-ही-आगे बढ़ना चाहता हूँ---इस दृष्टि से 'अतिवादी' हूँ, इस बात को छिपाता नहीं हूँ, हाँ, बकवादी होने के कारण 'अतिवादी' नहीं हूँ।"

"अद्भुत है, भगवन् !"

"हाँ, प्राण-ब्रह्म की उपासना का अर्थ है, निरन्तर आगे बढ़ते रहना ! किसी भी बात को अन्तिम सत्य न समझकर और भी, और भी आगे बढ़ने की ओर धावमान गति !"

रैक्व चकित दृष्टि से महर्षि को देखने लगे---क्या निरन्तर आगे बढ़ने की प्रक्रिया ही प्राणोपासना है !

"भगवन्, मैंने पिण्ड में प्राण और ब्रह्माण्ड में वायु को चरम सत्य मानकर क्या कोई भूल की है ?"

"थोड़ी-सी।"

"ज़रा समझाकर कहें, तात !"

महर्षि औषस्ति थोड़ा रुके। फिर धीरे-से बोले, "तुझे स्मरण है वत्स, कि नारद ने क्या पूछा था ? नारद ने कहा था कि 'भगवन्, मैं मन्त्रविद् हो गया हूँ, आत्मविद् नहीं हो पाया हूँ।' महर्षि सनत्कुमार उन्हें आत्मविद् बनाने की दिशा में ले जा रहे हैं। आत्मविद् वह है जो कहीं किसी बात पर अटकता नहीं, निरन्तर आगे की ओर बढ़ता जाता है---और भी आगे। तू अपनी मान्यता को वैसा ही मानता है पुत्र ? तू प्राण-तत्त्व को कोई स्थिर और अन्तिम लक्ष्य मानकर रुक तो नहीं जाता ?"

"रुक जाता हूँ, तात।"

"देख बेटा, जिसे तू ब्रह्माण्ड में वायु और पिण्ड में प्राण कहता है, वह गति-मात्र है; वह रुकना नहीं चाहता। तू क्यों रुक जाता है ?"

"रुक जाता हूँ, भगवन् ! क्यों रुक जाता हूँ, यह नहीं जानता।"

"साधु वत्स, तू सत्य कह रहा है। सत्य की अपेक्षा में ही सब-कुछ बना हुआ है। सत्य न हो तो सब बेकार है।"

"तो भगवन्, सत्य प्राण से भी बड़ा हुआ ?"

"नहीं समझा, बेटा ? प्राण इसलिए बड़ा है कि वह सत्य है। पर तुझे नारद और सनत्कुमार की पूरी बात सुननी चाहिए।"

"सुन रहा हूँ, तात !"

"भीतर की ओर देख। सनत्कुमार ने कहा था कि सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। जिसे ज्ञान नहीं होगा वह सत्य को कैसे पा सकता है ! उन्होंने ठीक कहा न ?"

"हाँ, भगवन् !"

"और बेटा, ज्ञानमनन के बिना नहीं हो सकता, मनन श्रद्धा के बिना असम्भव है, श्रद्धा निष्ठा के बिना बनी नहीं रह सकती और निष्ठा केवल सोचते रहनेवाले के बस की नहीं। जो कर्मण्य नहीं वह निष्ठावान् भी नहीं। कर्म किसी

सुख की आशा के बिना नहीं किया जाता, ऐसा सनत्कुमार का मत था। ठीक समझ रहे हो, बेटा ?"

"ऐसा लगता है भगवन्, कि सत्य के लिए ज्ञान की और ज्ञान के लिए कर्म की आवश्यकता है। यह तो समझ में आता है, पर सुख की बात नहीं समझ में आयी।"

"नहीं समझ में आयी, बेटा ? ऋषि सनत्कुमार ने कहा था, 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—जो 'भूमा' है, असीम है, निरतिशय है, महान् है, वही सुख है। 'नाल्पे सुखमस्ति'—जो 'अल्प' है, ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं है।"

रैक्व देर तक मौन बैठे रहे।

महर्षि औषस्तिपाद ने पूछा कि सारी बातें उनकी समझ में आयीं या नहीं। रैक्व खोये-से उनकी ओर ताकते रहे। ऋषि ने समझ लिया कि वे ठीक से समझ नहीं पा रहे हैं। बोले, "दूसरों की बात समझा रहा था। हो सकता है कि मैंने ही ठीक से समझा न हो। यह भी हो सकता है कि तुम्हारा मन ठीक उसी स्थिति में न आया हो जिस स्थिति में नारद का था। इसलिए मैं आग्रह नहीं करूँगा। मैं तुम्हें अपने अनुभव की बात बताता हूँ।"

रैक्व ने उत्फुल्ल होकर कहा, "वही बतायें, तात !"

"बात यह है वत्स, कि जिसे तुम ब्रह्माण्ड में वायु कहते हो और जो पिण्ड में प्राण-रूप में विद्यमान है वह वस्तुतः गति-मात्र है। वह चेतन का आधार है या चेतन का एक विशिष्ट गुण है, लेकिन वह स्वयं चैतन्य नहीं है। इतिहास-विधाता ने इस जड़ तत्त्व से और भी सूक्ष्मतर तत्त्व प्राण-तत्त्व को प्रकट किया है, परन्तु वहीं अन्त नहीं है। उसके भीतर इससे अधिक सूक्ष्मतर तत्त्व मन को विकसित किया है। मन मननशील है, इस अर्थ में वह प्राण से भिन्न है—और इसलिए उसे मन की सन्तान कहा जाता है, किन्तु मन भी सूक्ष्म तत्त्व है। उसके भीतर सूक्ष्मतर तत्त्व बुद्धि का विकास हुआ है, इसको पुराण-ऋषियों ने विज्ञान कहा है। यह सत्य से असत्य वस्तु को अलग कर सकती है, ग़लत और सही में अन्तर कर सकती है। बुद्धि के इसी धर्म का नाम विवेक है। सत्य से असत्य को पृथक् करके जानना विवेक का काम है।

" परन्तु जानना ही काफ़ी नहीं है। आदमी बहुत-सी बातें जान जाता है। जानी हुई बात को ठीक-ठीक आचरणों में ले आना वास्तविक धर्म है, इसलिए बुद्धि का एक दूसरा और विकसित कार्य है वैराग्य। जो चीज ग़लत है उसका त्याग वैराग्य का लक्षण है। कई बार आदमी जानता है कि अमुक बात झूठ है और अमुक बात सच है, फिर भी वह झूठ को छोड़ नहीं पाता। विवेक उसे हो जाता है, लेकिन वैराग्य नहीं होता। विवेक से सत्य और असत्य का भेद खुल जाता है; वैराग्य से असत्य को परित्याग करने की शक्ति मिलती है। असत्य को छोड़ देने पर केवल सत्य ही बचता है; इसीलिए कभी-कभी पुराण-ऋषियों ने असत्य का त्याग करने का ही उपदेश दिया है। उनके मत से सत्य स्वयंसिद्ध है।"

"मुझे भी यही ठीक लगता है, तात ! असत्य का त्याग होना चाहिए। सत्य तो स्वयं उजागर है।"

"लेकिन मुझे लगता है कि सत्य को पाने के लिए भी किसी निश्चित दृढ़ अवलम्ब की जरूरत होती है। उस दृढ़ अवलम्ब को खोजना आवश्यक हो जाता है। वही दृढ़ अवलम्ब सच्चिदानन्द-स्वरूप परम ब्रह्म है जो मनुष्य के भीतर भी है और बाहर भी। मुझे ऐसा लगा है कि अगर हम उसे ठीक-ठीक पा लेने की अभिलाषा रखें तो वैराग्य स्वतःसिद्ध हो जाता है। प्रयत्न वैराग्य की सिद्धि का नहीं, बल्कि सच्चिदानन्द-स्वरूप परम ब्रह्म की पकड़ के लिए होना चाहिए। तुमने जो प्राण को सबसे बड़ा विश्वजनीन सत्य स्वीकार किया है वह ग़लत तो नहीं है, परन्तु ठीक-ठीक सही भी नहीं है। तुम्हारी दृष्टि परम सत्य-स्वरूप सच्चिदानन्द पर स्थिर होनी चाहिए। बाक़ी सब स्वयंसिद्ध हो जायेगा।"

"तो भगवन्, क्या अज्ञानी जनों के प्राणों की रक्षा के लिए प्रयत्न करना निरर्थक प्रयास है?"

"नहीं बेटा, यह बहुत उत्तम प्रयास है। क्योंकि प्राण की रक्षा करने से ही उससे सूक्ष्मतर तत्त्व मन की रक्षा सम्भव है और उससे भी सूक्ष्मतर तत्त्व विज्ञान की रक्षा सम्भव है। लेकिन न प्राण और न मन, और न विज्ञान ही अपने-आप में सत्य हैं। सब सच्चिदानन्द-स्वरूप परम ब्रह्म की अपेक्षा ही में सत्य हैं। वे ही अपने को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूपों में अभिव्यक्त कर रहे हैं। उन्हीं की अभिव्यक्ति के वाहन होने के कारण प्राण, मन और विज्ञान मूल्यवान् वस्तुएँ हैं। उनको छोड़कर सोचो तो यह सारी सृष्टि प्रपंच-मात्र और निरर्थक जान पड़ेगी। इसका कोई उद्देश्य ही नहीं जान पड़ेगा। ऐसा लगेगा कि निखिल विश्व में व्याप्त क्षुद्र पिण्ड से लेकर मनुष्य-पर्यन्त की सारी सृष्टि व्यर्थ का भटकाव-मात्र है। उसका कोई उद्देश्य नहीं है। मेरा मन कहता है कि उद्देश्य है। यह सब-कुछ सार्थक और सोद्देश्य है। बुभुक्षित लोगों को अन्न, पिपासित लोगों को जल, निराश लोगों को आशा, और मरणोन्मुख लोगों को अमृत का प्रयोजन है। परन्तु वह इसलिए है कि ये सारे कार्य निखिलात्मा परम वैश्वानर की तृप्ति के लिए हैं। ऐसे कर्त्तव्यों का पालन न करना निखिलात्मा को ही धोखा देना है। मेरी बात समझ रहे हो, वत्स !"

"समझ रहा हूँ, भगवन् ! परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि देर तक यह बुद्धि मेरे मन में बनी नहीं रहेगी। जब तक आपके निकट हूँ तब तक तो लगता है कि मैंने ठीक ही समझा है; पर जब दूर हट जाता हूँ तो ऐसा जान पड़ता है कि ये सारी बातें भूलने लगेंगी। इसका क्या कारण है, भगवन् ?"

"साधु वत्स ! तुमने ठीक ही प्रश्न किया है। इसका एक कारण है। दो बातें होती हैं, एक तो बाहरी दुनिया की बातों की, उनके परस्पर-सम्बन्धों की जानकारी। मन और बुद्धि के द्वारा यह जानकारी प्राप्त हो जाती है। यह जीवन का अंग नहीं बन पाती। मनुष्य ऐसा समझता है कि मैंने बाहरी दुनिया की बहुत-सी

बातें जान लीं और अपनी जानकारियों पर उसे गर्व भी होता है। लेकिन मैं जिस तत्त्व की ओर इशारा कर रहा हूँ, वह जानकारी का विषय नहीं है। तुम जब मेरे पास आते हो तो थोड़ी देर के लिए तुम जानकारी संग्रह करने का काम करते हो और सच्चिदानन्द परब्रह्म के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर सकते हो। पर ठीक-ठीक कोई जानकारी कैसे प्राप्त करोगे, वत्स ? जिसको तुम नहीं देख सकते, अनुमान नहीं कर सकते, कल्पना नहीं कर सकते, उनके विषय में जो जानकारी संग्रह करोगे, वह ग़लत जानकारी सिद्ध होगी।

"मनुष्य की अन्तरात्मा में विधाता ने 'प्रज्ञा' नामक एक और शक्ति दी है, वह अनुभव कराती है। मैं जिस तत्त्व की ओर इशारा कर रहा हूँ वह बुद्धि का विषय नहीं है, वह बोध का विषय है। स्वयं अनुभव करने का विषय है। शान्त और स्थिर चित्त से बैठोगे तो तुम्हें उसकी झलक मिलेगी। वह तेज तुम्हारे दरवाज़े पर आकर दस्तक दे रहा है परन्तु तुमने कभी उसके स्वागत के लिए द्वार खोला नहीं। हाँ वत्स, मनुष्य उस परम प्रेमी की दस्तकों की निरन्तर उपेक्षा किये जा रहा है। वह परम प्रेमिक तुम्हारे द्वार पर आकर खटखटा जाता है। एक बार प्रयत्न करो कि तुम उसे अपने हृदय-देश में पकड़कर बैठा सको, उसका स्वागत कर सको, उसके चरणों में अपने-आपको निछावर कर सको !"

अन्तिम वाक्यों ने रैक्व को भीतर से झकझोर दिया। वे थोड़ी देर तक गद्-गद भाव से वृद्ध ऋषि की ओर ताकते रहे, फिर उल्लास-मुखर होकर बोले, "सुन रहा हूँ, भगवन् ! उसके पैरों की आहट सुन रहा हूँ। परन्तु मन में अनेक कुण्ठाएँ हैं, द्वार खोलना सम्भव नहीं जान पड़ता। आशीर्वाद दीजिए—मैं द्वार खोलने में समर्थ हो सकूँ।"

महर्षि औषस्ति ने प्रेमपूर्वक उनके सिर पर हाथ फेरा। रैक्व को जान पड़ा कि उस स्नेह-स्पर्श से वे एकदम नये प्रकाश-लोक में पहुँच गये हैं। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि विराट् जड़ पिण्ड के अन्धकार में रुद्ध चैतन्य धीरे-धीरे अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहा है। वह पहले प्राण-रूप में, फिर मन-रूप में, फिर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूपों की ओर विकसित होता चला जा रहा है। अन्धकार उसका मार्ग नहीं रोक पा रहा है। जड़ता उसे नीचे की ओर नहीं खींच सकी है, अवरुद्ध चेतना उसे पीछे की ओर नहीं धकेल पा रही है। अद्भुत प्रकाश की ओर वह निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। जिस प्रकार पौधा पहले अंकुर के रूप में, फिर शाखा व पत्र के रूप में निकलता है और अन्त में उसके मनोहर फल निकल आते हैं। कली की एक-एक पपड़ी फूट रही है—रूप, रस, गन्ध के रूप में, नाना वर्णों की छटा के रूप में। अपने विकास का कार्य साफ़ दिखायी दे रहा है। दूर तक उज्ज्वल प्रकाश ऊपर से नीचे की ओर और नीचे से ऊपर की ओर जा रहा है। फूल खिल रहा है, विकसित भी हो रहा है, पर मार्ग अवरुद्ध नहीं हुआ है। लेकिन और भी आगे कुछ है, और भी आगे, और भी आगे ! फिर धीरे-धीरे वे स्वाभाविक अवस्था में आये। उन्होंने चकित मृगशावक की भाँति अपने चारों ओर देखा। वे तो महर्षि

औषस्ति के सामने उसी प्रकार हाथ जोड़कर बैठे हुए थे।

"भगवन्, मैंने क्या देखा ?"

"बेटा, तुमने वही देखा, जो है। यह सत् है अर्थात् जैसा है वैसा है। कोई नहीं जानता कि 'महा अज्ञात परम सत्' क्यों अपने-आपको विकसित करता जा रहा है, परन्तु इतना निश्चित है कि उसका अपना कोई उद्देश्य है। उसी के लिए यह सारी लीला चल रही है। वह सभी जगह नीचे से ऊपर की ओर तक व्याप्त है और अपने को रूप में, रंग में, शब्द में निरन्तर बिखेरता चला आ रहा है। इस दान की कोई सीमा नहीं है। ऐसा अवढरदानी भी तो कहीं दिखता नहीं। बेटा, जो कुछ अनुभव कर रहे हो, वह उसी का रूप है। केवल इतना ध्यान में रखो कि ये बातें चरम और परम नहीं हैं। सब मिलाकर किसी महासत्य की अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हैं।"

रैक्व की आँखों में व्याकुलता के भाव दिखायी पड़े। उन्होंने आचार्य के चरणों के पास अपना सिर रख दिया—"भगवन्, मैं भ्रान्त हूँ। समझ नहीं पा रहा हूँ। माताजी की आज्ञा है कि मैं अपने मन की उथल-पुथल किसी से न कहूँ। आज्ञा हो तो माताजी की अनुमति ले आऊँ और अपनी जिज्ञासा इन चरणों में निवेदित करूँ।" आचार्य प्रसन्न भाव से मुस्कराये-- "बेटा, मुझे पता है कि तुम्हारे मन में कौन-सी उथल-पुथल है। तुम्हारी माताजी की जो आज्ञा है उसका पालन करना धर्म है। मैं केवल एक बात तुमसे कह देना चाहता हूँ कि संसार में जहाँ कहीं प्रेम या लगाव का भाव दिखायी देता है वह उपेक्षणीय नहीं है। यदि उसी को अन्त समझ लो तो यह बात रास्ते में बैठ जाने के समान होगी। वह परम प्रयाण के प्रेम का अंगुलि-निर्देश मात्र है। सारे सौन्दर्य और सारे लगाव उस परम प्रेमिक के प्रेम की ओर अंगुलि-निर्देश बनकर सार्थक होते हैं। अंगुलि-निर्देश, समझ रहे हो न, बेटा!"

"समझ रहा हूँ, भगवन्! कह नहीं सकता कि ठीक ही समझ रहा हूँ या नहीं।"

"मान लो बेटा, तुमने किसी से पूछा कि अमुक आदमी का घर कहाँ है। वह आदमी अगर जानता होगा तो अंगुलि-निर्देश करेगा। अर्थात् अपनी अंगुलि उठाकर तुम्हें बतायेगा कि घर किस ओर है। है न यही बात ?"

"हाँ भगवन्! यही अंगुलि-निर्देश कहा जाता है।"

"अच्छा बेटा, बुद्धिमान् आदमी क्या करेगा ? क्या उसकी अंगुलि का अगला हिस्सा पकड़कर लटक जायेगा ?"

"नहीं भगवन्, वह उस दिशा की ओर देखेगा जिधर इशारा किया गया है और धीरे-धीरे उस मकान को खोज लेगा।"

"साधु वत्स, तुमने अंगुलि-निर्देश का सही अर्थ समझा। परन्तु तुम क्या कह सकते हो कि उस मनुष्य ने जो अंगुलि उठाकर दिखाया, वह निरर्थक था ?"

"निरर्थक तो नहीं था, भगवन्! वह अंगुलि नहीं दिखाता तो हम गन्तव्य

तक पहुँच न सकते।"

"साधु वत्स, तुम ठीक ही समझ रहे हो। संसार में जहाँ कहीं सुन्दरता दिखती है, प्रेम दिखता है, वात्सल्य दिखता है, अनुराग दिखता है, वहीं यह अंगुलि-निर्देश भी प्रत्यक्ष हो जाता है। वह उपेक्षणीय नहीं है। निरर्थक भी नहीं है, लेकिन वही अन्त भी नहीं है। उसी के सहारे गन्तव्य तक पहुँचा जा सकता है।"

रैक्व देर तक मौन बैठे रहे। उनके हृदय में एक दूसरी प्रकार की उथल-पुथल दिखायी देने लगी। यह जो सुन्दर रंग है, रूप है, मोहन आकर्षण है, वाणी है, अभिव्यक्ति है, वह सब किसी बड़े प्रेममय प्रेमिक का अंगुलि-निर्देश है और उसी रूप में वह सार्थक है, ग्रहणीय है। अचानक उनके मन में शुभा की दिव्य मूर्त्ति उतर आयी। शुभा भी क्या कोई अंगुलि-निर्देश है। वे चुपचाप महर्षि के चरणों में प्रणाम करके उठ पड़े—"भगवन्, अनुमति हो तो इस विषय पर कुछ और सोचने-समझने का प्रयत्न करूँ?"

महर्षि औषस्ति ने प्रेम-गद्गद वाणी में कहा, "अवश्य वत्स! तुम्हें स्वयं सोचना, समझना और अनुभव करना चाहिए। किसी की बात पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक स्वयं उसकी परीक्षा न कर ली जाये। तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध-रूप से बैठे हैं उनको पहचानो! वे तुम्हारा ठीक मार्ग-दर्शन करेंगे। वही प्रज्ञा-रूप हैं। पुराण-ऋषियों ने कहा है; 'प्रज्ञानम् ब्रह्म'।"

रैक्व जब महर्षि के पास से चले तो उन्हें ऐसा लगता था कि वे किसी दूसरे लोक में पहुँच गये हैं। वहाँ केवल प्रकाश है, केवल आनन्द है, केवल 'है' है!

सोलह

जाबाला अपने में खोयी रही। इधर बहुत-कुछ घट गया, उसे पता ही नहीं चला। एक दिन अरुन्धती उदास होकर चली गयी। जाते समय उसकी आँखें छलछलायी हुई थीं। जाबाला उसे रोकना चाहती थी, पर वह रुकी नहीं।

दूसरे दिन उसने सुना कि आचार्य औदुम्बरायण चुपचाप घर छोड़कर कहीं चले गये हैं। राजा जानश्रुति एकाएक इतने मर्माहत हुए हैं कि सत्संग के लिए समाहूत ऋषियों की विचार-गोष्ठी में भी नहीं जा सके। दासियों ने बताया कि राजा एक एकान्त कक्ष में सुन्न-से चुपचाप जा बैठे हैं। जाबाला को बड़ी चिन्ता हुई। इधर कई दिनों से वह अपने में ही इतनी खोयी हुई थी कि पिता की सेवा में उससे भारी प्रमाद हो गया। जब तक अरुन्धती थी, पिता की देख-रेख का सारा

भार उसने अपने ऊपर ही ले रखा था। उसके चले जाने के बाद राजा जानश्रुति उपेक्षित ही रह गये थे। जाबाला अपने में ही कुछ ऐसी खोयी थी कि उसे उनकी ओर ध्यान देने की सुधि ही नहीं रही। अब उसे अपने प्रमाद का ध्यान आया।

जाबाला वहाँ पहुँची जहाँ उसके पिता चुपचाप शान्त-निःस्पन्द पड़े थे। जान पड़ता था, देर तक आँखों से अश्रु झरते रहे हैं, क्योंकि आँखें सूजी हुई थीं और चेहरा भभराया हुआ था। जाबाला का हृदय सनाका खा गया। वह घबराकर चिल्ला पड़ी—"पिताजी, क्या हो गया आपको!" पिता ने कातर-दृष्टि से पुत्री को देखा। वाणी रुद्ध ही बनी रही, आँखों से आँसुओं की धारा झरने लगी। उन्होंने स्नेह के साथ जाबाला को गोद में खींच लिया। बोले कुछ नहीं, केवल उसे दुलारते रहे। देर तक दोनों इसी तरह बैठे रहे। बाद में पिता ने बताया कि अरुन्धती जो अचानक चली गयी, उसका कारण यही था कि वह उनसे बुरी तरह नाराज़ हो गयी थी। आज आचार्य भी चले गये। उनको प्रसन्न रखने के लिए ही अरुन्धती को अप्रसन्न करना पड़ा था, पर आज वे स्वयं ही कहीं चले गये। कारण का कुछ पता नहीं, पर गये हैं नाराज़ होकर ही।"

जाबाला के लिए यह नयी जानकारी थी, फिर पिता की अवस्था देखकर उसने उस समय कुछ अधिक नहीं पूछा। केवल उन्हें आश्वस्त करने के लिए कहा; "इतनी-सी बात के लिए इतना व्यथित होने की क्या आवश्यकता है! आप बिल्कुल परेशान न हों, मैं दोनों को मना लूँगी।" सरल पिता सचमुच ही आश्वस्त हुए। जाबाला जानती थी कि पिता ऐसे अवसरों पर इतने दुःखी और निराश क्यों हो जाते हैं। उनके मन में ऐसे अवसरों पर जाबाला की माँ की स्मृति घुमड़ती रहती है। वे किसी से कह तो नहीं पाते, पर कोई प्राणोच्छेदी हूक उन्हें विचलित कर जाती है। जाबाला का आश्वासन ही इस हूक की एकमात्र दवा हुआ करती है। जाबाला के मन में रंचमात्र भी सन्देह नहीं था कि उसके एक स्नेह-भरे शब्द से सरल-प्रकृति पिता आश्वस्त हो जायेंगे। इसलिए नहीं कि उपस्थित समस्या सुलझ जायेगी, बल्कि इसलिए कि जो हृदय-विदारी हूक बेचैन किये हुए है, वह कुछ प्रशमित हो जायेगी।

यहाँ तक तो ठीक था, पर जिस बात ने अरुन्धती और आचार्य को उद्विग्न किया था; वह इतनी आसान थी नहीं। पिता तो पुत्री के आश्वासन पर बिल्कुल निश्चिन्त हो गये। उन्होंने पूरी बात उसे बतायी भी नहीं। वृद्धा दासी संकुला ने उनसे पूछ-पूछकर जो कुछ पता लगाया, उससे जाबाला बहुत चिन्तित हो उठी। उसने पिता को वचन दिया था कि वह आचार्य और अरुन्धती दोनों को मना लेगी, पर मातृकल्पा वृद्धा संकुला से उसने जो कुछ सुना, उससे उसे लगा कि अपना वचन पालन करने में वह एकदम असमर्थ होगी।

संकुला की कही बातों को जोड़ने से कहानी कुछ ऐसी बनी थी—

जिस दिन अरुन्धती चली गयी थी, उस दिन आचार्य औदुम्बरायण बुरी तरह मर्माहत हुए थे। उन्होंने आश्वलायन को जाबाला के पाणिग्रहण के लिए राज़ी कर

लिया था। उनके विचार से इससे अच्छे सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विदुषी जाबाला को जैसा वर मिलना चाहिए था, उनके मत से आश्वलायन ठीक वैसा ही वर था—विद्वान्, सुरूप और शीलवान्। आश्वलायन को शास्त्र-चर्चा के बहाने निमन्त्रित करके उन्होंने उसे जाबाला को देखने-समझने का अवसर दिया था। आश्वलायन मुग्ध हुआ था। अब आचार्य यह बात राजा जानश्रुति और जाबाला को बताने का अवसर ढूँढ़ रहे थे।

गन्धर्व-पूजन समारोह के बाद से आचार्य अधिक सक्रिय हो गये। उन्हें भय हुआ था कि राजा जिस प्रकार अवैदिक क्रियाओं की ओर बढ़ रहे हैं उससे वे कहीं वैदिक विधियों से पराङ्मुख न हो जायें। आश्वलायन को पाकर उनकी चिन्ता दूर हुई थी। अब उचित अवसर मिलने की देर थी। गन्धर्व-पूजन समारोह के एक वर्ष बाद यह अवसर मिला। शुभ मुहूर्त्त खोजकर उन्होंने राजा जानश्रुति के समक्ष यह प्रस्ताव रखा। सरल-प्रकृति के राजा, आचार्य के दिये हुए शुभ समाचार से आह्लादित हुए। उनका मुख उल्लास से जगमगा गया। मन-ही-मन वे भी आश्वलायन को जाबाला के योग्य मानने लगे थे। परन्तु संयोग से वहाँ अरुन्धती पहुँच गयी। उसने जब सुना तो तीव्र प्रतिवाद किया। बोली, "तात, अपराध क्षमा करें, मैं अपनी प्यारी दीदी को इस प्रकार मृत्यु के मुख में धकेलने नहीं दूँगी। मेरी बहिन यह सम्बन्ध एकदम स्वीकार नहीं करेगी। और आप दोनों के संकोच से यदि उसने इसे स्वीकार कर लिया तो वह जीवित नहीं रह सकेगी। मेरा यह निश्चित मत है।" अरुन्धती का मुँह आवेश से लाल हो गया था। वह इतना कहकर झम्म-से चली गयी। आचार्य और राजा, दोनों हतप्रभ होकर देर तक मौन बैठे रहे। दोनों ने देर तक एक-दूसरे की ओर देखा भी नहीं। आचार्य औदुम्बरायण को अधिक कष्ट हुआ। वे आश्वलायन को बात दे चुके थे। उन्हें समझ में नहीं आया कि क्या मुँह लेकर आश्वलायन से अस्वीकृति की बात कहेंगे। अरुन्धती ने जो कुछ कहा है, वह क्या सचमुच जाबाला के मन की बात है? अवश्य होनी चाहिए। अरुन्धती उसकी बहिन ही नहीं, अन्तरंग सखी भी है। तो?

आचार्य मर्माहत हुए। वे चुपचाप उठकर चले गये। राजा की भी मानसिक स्थिति ऐसी हो गयी थी कि वे न उन्हें कुछ कह सके, न जाने से रोक ही सके। बाद में आचार्य को किसी ब्रह्मचारी से एक पत्र प्राप्त हुआ और एकाएक आचार्य अपना घर छोड़कर ही चले गये।

पत्र में क्या लिखा था, यह जाबाला को ज्ञात नहीं हो सका। स्वयं राजा जानश्रुति भी नहीं जान पाये थे कि वह पत्र कहाँ से आया था। जाबाला सब सुनकर बहुत विचलित हुई। उसे कर्त्तव्य नहीं सूझा।

जाबाला का उद्वेग बढ़ता ही गया। उसी को लेकर अरुन्धती और आचार्य घर छोड़ गये। पिता इस समय थोड़े निश्चिन्त अवश्य हैं; पर वह इस आशा से कि जाबाला कुछ समाधान अवश्य खोज लेगी। पर समाधान क्या है? अरुन्धती ने जो कुछ कहा है, वह ठीक ही कहा है। उससे अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली ढंग

से तो वह स्वयं भी अपने मन की बात नहीं कह सकती थी। अरुन्धती उसके मन की बात जानती है, सिर्फ़ जानती ही नहीं, सही-ढंग से उसे प्रस्तुत भी कर सकती है। मन-ही-मन उसने अरुन्धती के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। पर आचार्य को तो पिताजी ने ही उसके योग्य वर ढूँढ़ने का अधिकार दिया था। उन्होंने ढूँढा और अपनी ओर से कुछ बातें आगे बढ़ा दीं तो उन्हें दोष तो नहीं दिया जा सकता। क्या किया जाये? आचार्यपाद दुःखी हुए, यह अच्छा नहीं हुआ। उनसे अधिक अपना जाबाला का कौन है? परन्तु उन्होंने कुछ निश्चय करने के पहले एक बार जाबाला से पूछ लिया होता। अति विश्वास के कारण ही पूछा नहीं। या हो सकता है, पूछने का विचार कर रहे हों और अवसर न पा सके हों। जो हो, हुआ बहुत बुरा। उपाय भी क्या है? जाबाला जितनी ही सोचती, उतनी ही उलझती जाती। आचार्यपाद जो चाहते हैं वह हो नहीं सकता, पर उन्हें अप्रसन्न करके वह जी भी कैसे सकती है! विषम संकट है!

दो दिन तक सोचते रहने के बाद अचानक उसे आलोकशिखा-सी मिल गयी। क्यों न वह भगवती ऋतम्भरा के निकट जाकर उनसे इस विषय में सलाह ले। वही कुछ रास्ता बता सकती हैं। यह सोचकर उसे आश्चर्य हुआ कि इतनी देर तक उसे यह बात सूझी क्यों नहीं। मन इस विचार से काफ़ी हल्का हुआ।

वह निश्चित जानती थी कि अपने पिता से अनुमति उसे मिल जायेगी। मिल भी गयी। कठिनाई हुई पिता के इस आग्रह पर कि वे भी साथ चलेंगे। वह भगवती से एकान्त में बात करना चाहती थी। उस समय किसी तीसरे का रहना उसे स्वीकार नहीं था, पिताजी का रहना तो एकदम नहीं। पर पिता का आग्रह भी ऐसा था कि टालना कठिन था। राजा जानश्रुति महान् तपस्वियों के दर्शन का प्रलोभन नहीं छोड़ पाये। अन्त में, पिता की अनुमति से जाबाला औषस्ति-आश्रम के लिए रवाना हुई। साथ में दीदी भी थी। दो-चार विश्वस्त अनुचरों के साथ राजा भी चले। यात्रा बहुत कठिन नहीं थी। औषस्ति-आश्रम उनके गाँव से बहुत दूर नहीं था, पर रथ से जाने योग्य मार्ग भीं नहीं था। सो, पैदल ही चलना पड़ा।

आश्रम-द्वार से कुछ पहले ही राजा जानश्रुति अपने अनुचरों के साथ रुक गये। उन दिनों राजा लोग आश्रमों में कुलपति के आदेश के बिना नहीं जाते थे। साधारण लोगों पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसा माना जाता था कि तपस्या और स्वाध्याय के क्षेत्र में राजा का किसी प्रकार का दबाव धर्म-संगत नहीं है। इसीलिए राजा को आश्रम में प्रवेश के लिए कुलपति की अनुमति और राजवेश का परित्याग, ये दो बातें आवश्यक मानी जाती थीं। राजा ने एक अनुचर को महर्षि औषस्ति के पास पत्र देकर अनुमति प्राप्त करने के लिए भेजा। पर जाबाला अधीर हो रही थी। उसने माताजी के पास जाने की अत्यधिक उत्कण्ठा व्यक्त की। राजा ने उसे और उसकी 'दीदी' ऋजुका को माताजी के पास जाने की अनुमति दे दी। स्वयं आश्रम के बाहर ही रहकर कुलपति की अनुमति की प्रतीक्षा करने लगे।

ऋजुका को माताजी की कुटिया तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

कुटिया छोटी ही थी। बाहर की भूमि पर गोमय से पोतकर सामान्य मण्डिनकाएँ फूलों से ही बना ली गयी थीं। सरकण्डों और पत्तों से बना एक हल्का-सा अवरोध पड़ा हुआ था जिसे 'कपाट' कहना केवल औपचारिकता ही मानी जायेगी। जाबाला और ऋजुका जब द्वार पर पहुँचीं तो वहाँ सन्नाटा था। भीतर कोई था भी तो या तो सोया हुआ था या समाधि की स्थिति में ही था। एक क्षण के लिए जाबाला कुछ साध्वस की अवस्था में चुपचाप खड़ी रही। फिर न जाने किस आन्तरिक प्रेरणा से विह्वल-व्याकुल भाव से अनायास बोल उठी—"माँ!"

भगवती ऋतम्भरा उस समय रैक्व की प्रतीक्षा में बैठी थीं, वे रैक्व के अपूर्व पाण्डित्य और उनके भविष्य की मोहन कल्पना में रमी हुई थीं, वह एक प्रकार का दिवास्वप्न था। वे आनन्द-विह्वल होकर शान्त-निःस्पन्द बैठी रहीं। बीच-बीच वे केवल देख लेती थीं कि उनका लाड़ला पुत्र पिता के पास से अभी तक लौटा या नहीं। इसी समय जाबाला की पुकार उनके कानों में पहुँची। आवाज़ पहचानने में उन्हें देर नहीं लगी, पर उन्हें आश्चर्य अवश्य हुआ। क्या सचमुच जाबाला का ही स्वर है? यह कैसे हो सकता है? वे जब तक सोचें तब तक दूसरी बार वही कातर पुकार—"माँ!"

भगवती हड़बड़ाकर उठीं। बाहर आकर देखती हैं—जाबाला ही तो है! जब तक वह उनके चरणों में साष्टांग प्रणिपात के लिए झुकी तब तक माताजी ने धधाकर उसे छाती से लगा लिया। देर तक उसका सिर चूमती रहीं। ऋजुका की उपस्थिति का भान तो उन्हें बहुत बाद में हुआ। वह दूर से ही प्रणिपात के लिए झुकी हुई थी। उसे देखकर माताजी जैसे होश में आयीं, पूछा, "कहाँ से आ रही हो तुम लोग, कोई सूचना भी नहीं दी!" जाबाला की आँखों से आँसू का प्रपात ही झरने लगा। वाणी एकदम रुद्ध थी। ऋजुका भी रोने लगी थी। उत्तर में उसी ने कहा, "घर से ही आ रहे हैं, माताजी! राजा भी आये हैं। आश्रम के बाहर ही रुक गये हैं।"

माताजी इस समाचार से आश्वस्त हुईं कि जाबाला पिता के साथ आयी है। एक क्षण के लिए वे सोचने लगी थीं कि कहीं पिता से कोई विवाद करके तो वह नहीं आयी है। आश्वस्त होकर जाबाला को खींचकर वे भीतर ले गयीं। ऋजुका को बाहर ही रहने का आदेश दिया।

देर तक माताजी की गोद में पड़ी हुई जाबाला सुबकती रही और उनका प्यार पाती रही। मुँह से किसी ने एक भी शब्द नहीं कहा। जाबाला ने मन-ही-मन सोच रखा था कि माताजी से सारी बातें किस प्रकार खुलकर कहेगी, पर सब सोचना बेकार हो गया। वाणी जो रुद्ध हुई तो मानो समाप्त ही हो गयी हो। कोई उपक्रम नहीं, कोई उपसंहार नहीं, केवल अविरल अश्रुधारा। माताजी को अचानक स्मरण हो आया कि राजा जानश्रुति आश्रम-द्वार पर रुके हुए कुलपति औषस्ति की अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह समय महर्षि के ध्यान का है। हो सकता है कि उन्हें अभी तक अनुमति न मिली हो। महर्षि के ध्यान से उठने में अभी देर

है—यह सोचकर वे उद्विग्न हो उठीं। जावाला को प्यार से दुलारते हुए उन्होंने कहा, "क्यों परेशान हो रही है, बेटी ? अब तू माँ के पास आ गयी है। तेरी सारी चिन्ता अब मेरी है। तू स्वस्थ होकर बैठ जा। मुहूर्त्त-भर में मैं आती हूँ। मुझे आशंका है कि तेरे पिता का अनुचर जब महर्षि के पास गया होगा तो वे ध्याना-वस्थित होंगे। वह अभी तक वहीं खड़ा होगा। मैं तेरे पिताजी के स्वागत की व्यवस्था करके अभी लौट आऊँगी। बस, मुहूर्त्त-भर में आती हूँ। स्वस्थ-प्रसन्न हो जा, मेरी बेटी !"

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वे घर से बाहर निकल गयीं। द्वार पर ऋजुका को देखकर कहा, "आ बेटी, मेरे साथ आ। लगता है, महर्षि के ध्यान का समय हो गया है, अभी तक राजा को आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति नहीं प्राप्त हुई है। मैं कुछ विश्वस्त ब्रह्मचारियों को तेरे साथ लगा दूँगी। वे राजा को सादर आश्रम में ले आयेंगे। जाबाला यहीं है। कुछ चिन्ता की बात नहीं है। इस आश्रम में कोई भी भय नहीं है। आ जा मेरे साथ।" उसे एक प्रकार से घसीटकर ही माताजी अपने साथ लेती गयीं।

जाबाला भगवती ऋतम्भरा की कुटिया में अकेली रह गयी। अवसर पाकर एक बार बातचीत आरम्भ करने की योजना बनाने लगी, कैसे शुरू करे ! माताजी से कौन-सी बात पहले कही जाये ! माताजी धर्मबुद्धि से विचार करेंगी। क्या उसके मन में जो है वह धर्म-संगत होगा ! माताजी कहीं यह न सोचने लगें कि रैक्व उनका बेटा है, इसलिए उसके सम्बन्ध में विचार करते समय ऐसी बात न कहें जिसमें पक्षपात या ममता का संस्पर्श हो। फिर रैक्व है कहाँ ? यहीं तो नहीं है ! उतावली में उसने इस सम्भावना की बात तो सोची ही नहीं। कहीं यहीं मिल गया तो न जाने कैसा आचरण कर बैठेगा ! लोक-व्यवहार का ज्ञान तो उसे है ही नहीं। पर माताजी के साथ इतने दिनों से रह रहा है, कुछ तो सुधरा अवश्य होगा। जाबाला को स्वयं इस बात पर हँसी आ गयी। उसमें दोष क्या है कि वह उसके सुधरने की बात सोच रही है ! ऐसा अम्लान सहज भाव तो त्रैलोक्य में खोजे नहीं मिलेगा। वह वैसा ही भोला है, सुधरने का मतलब तो है कुछ बनावटी शिष्टाचार का अभ्यास। नहीं, रैक्व का सहज-सुन्दर रूप, अव्याज मनोहर स्वभाव, भोला-भाला प्रियदर्शन वपु ही काम्य है ! पर अकेले में मिलता तो अच्छा होता। दस आदमियों के बीच जाने कैसा व्यवहार कर बैठे। जाबाला मन-ही-मन प्रसन्न हुई। मिले भी तो ! कहाँ मिलता है ! यह बाद की बात है। तब जो होगा, देखा जायेगा।

माताजी के आने में देर हो रही थी। राजा ने देर तक कुलपति औषस्ति की अनुमति की प्रतीक्षा करने के बाद, अनुचर के आने में देर होती देख, एक अन्य अनुचर को माताजी के पास भेजा था। वह कुटिया के बाहर ही माताजी को मिल गया था। माताजी समझ गयीं कि प्रथम अनुचर अभी महर्षि के ध्यान टूटने की प्रतीक्षा में बैठा होगा। उधर राजा देर से आश्रम के बाहर प्रतीक्षा कर रहे हैं। माताजी ने अब देर न कर स्वयं राजा की अगवानी के लिए जाना उचित समझा।

वे यज्ञशाला के व्यवस्थापक को अतिथि की उचित अभ्यर्थना का निर्देश देकर स्वयं राजा के पास गयीं। लौटने में देर हुई।

जाबाला कुछ विचलित हुई। माताजी को देर क्यों हो रही है? इस बार उनके आते ही वह अपनी समस्या उनके सामने रख देगी। वह फिर बातचीत के उपक्रम और उपसंहार का ताना-बाना बुनने लगी। यहाँ आकर यही नहीं समझ पा रही है कि वह माताजी से क्या पूछने आयी है। कैसे वह कह सकेगी? क्या कहेगी? वह इतना निश्चित जानती है कि बात इस प्रकार रखनी चाहिए, जिससे माताजी को कोई बात अधर्म-पुष्ट न प्रतीत हो। जाबाला इस धर्माधर्म की उलझन को अपने ढंग से स्वयं सोच रही थी। उसे किसी समय स्वयं आचार्य औदुम्बरायण ने ही वाग्दान और कन्यादान का रहस्य समझाया था। आचार्य की बातें उसके गले नहीं उतरी थीं, पर आचार्य ने यह कहकर उसे चुप कर दिया था कि श्रुति के विपरीत सोचना कुतर्क है। कुतर्क आज भी उसके मन में उठ रहे हैं। डर यही है कि कहीं माताजी भी उसे इसी अस्त्र से चुप न कर दें।

जाबाला को अच्छी तरह याद है। आचार्य औदुम्बरायण वाग्दान और कन्यादान के प्रसंग पर उसके तर्कों का उत्तर दे नहीं सके थे। केवल श्रुति की महिमा बताकर उसे चुप कर दिया था। जाबाला ने पूछा था कि 'कन्यादान' का अर्थ क्या है? पिता किसी को कन्या दे तो उसे कन्यात्व ही दे सकता है, पत्नीत्व नहीं दे सकता। यह शब्द ही ग़लत बनाया गया है। आचार्य ने अनेक धर्म-सूत्रों का हवाला देकर बताया था कि यह केवल एक रूढ़ शब्द-मात्र है। पिता केवल रक्षण तथा भरण-पोषण का उत्तरदायित्व किसी योग्य वर को सौंप देता है। वह कन्या का नहीं, उसके रक्षण और भरण-पोषण के दायित्व का दान करता है। जाबाला को इस पर भी आपत्ति थी। उसे यह अर्थ बनावटी लगा था। अगर सचमुच पिता कन्या को किसी व्यक्ति को पत्नी के रूप में नहीं देता तो दैव-विवाह अत्यन्त गर्हित विधान है। दैव-विवाह में पिता दक्षिणा के रूप में कन्या को उस व्यक्ति को दे देता है जो यज्ञ करता है। फिर कन्या की सहमति के बिना किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसका वाग्दान भी तर्क-सम्मत नहीं है। आचार्य इस बात पर कुछ चिढ़ गये थे और कहा था कि तर्क उतनी ही दूर तक ग्राह्य है जितनी दूर तक वह श्रुति-सम्मत होता है। श्रुति-विरोधी तर्क कुतर्क है। जाबाला को लगा था कि आचार्य उत्तर नहीं दे पा रहे हैं और उसे आगे चलने से रोकना चाहते हैं। और अब? आचार्य इसलिए नाराज़ हैं कि वे जाबाला की इच्छा जाने बिना उसके विवाह के लिए वाग्दान कर चुके हैं। जाबाला का मन किसी प्रकार यह मानने को प्रस्तुत नहीं है कि ऐसा वाग्दान धर्म-सम्मत है। पर माताजी से क्या ये बातें वह कह सकती है? शायद नहीं कह सकती है। यहाँ आना ही ठीक नहीं था। आकर तो और भी विषम संकट में वह फँस गयी है!

विवाह वह नहीं करना चाहती। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर ब्रह्मवादिनी बनना चाहती है। रैक्व के सम्बन्ध में उसके मन में कोमल और मोहन भाव हैं,

पर उसने विवाह तक इस बात को बढ़ाने की कभी सोची नहीं। वह रैक्व से कैसा सम्बन्ध चाहती है ? उसका मत स्पष्ट नहीं है। आखिर वह चाहती क्या है ? माताजी अगर यही पूछ बैठें तो वह क्या उत्तर देगी ? फिर रैक्व क्या विवाह करना चाहेगा ? वह बिचारा क्या जाने कि विवाह क्या होता है। जाबाला को अपने ऊपर ही हँसी आ गयी। किसी ने तो नहीं कहा कि उसका विवाह रैक्व से होने जा रहा है, या होने की सम्भावना है, फिर वह विवाह के बारे में ही क्यों सोच रही है ? रैक्व के चाहने-न-चाहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ! यह तो उसके अपने मन का ही चोर है !

जाबाला इसी उधेड़-बुन में थी कि एकाएक कोई 'माँ, माँ' कहता हुआ कुटिया में घुस आया। जाबाला अपने में खोयी हुई थी। आवाज़ सुनकर आँगन में निकल आयी। कौन अतिपरिचित की तरह यहाँ धड़ाधड़ घुसा आ रहा है ? सामने देखा, रैक्व ! स्तब्ध रह गयी।

रैक्व ने देखा, शुभा ! दोनों स्तब्ध ! एकदम रुद्ध-चेष्ट ! दोनों हैरान—भये दृगंचल चारु अचंचल ! कुछ देर ऐसी ही स्थिति रही। फिर रैक्व ने मौन भंग किया—"शुभे, मैंने स्वप्न में तुम्हें कई बार देखा है। पर आज जाग्रत-अवस्था में देख रहा हूँ। पर कौन जाने आज भी स्वप्न ही देख रहा होऊँ ! बताओ शुभे, कहीं मैं स्वप्नावस्था में तो नहीं हूँ ?" ऐसा कहकर रैक्व ने अपनी आँखों पर एक बार हाथ फेरा।

जाबाला ने मृदुकण्ठ से उत्तर दिया, "नहीं तापसकुमार, तुम स्वप्नावस्था में नहीं, जाग्रत-अवस्था में ही अपनी शुभा को देख रहे हो। कहो, प्रसन्न तो हो ?"

चकित मृगशावक जिस प्रकार वीणा की ध्वनि सुनता है, उसी प्रकार रैक्व ने उस मनोहर वाणी को सुना। "आज सचमुच प्रसन्न हूँ। सविता प्रसन्नोदय है, वायु प्रसन्न भाव से प्रवहमान है, दिशाएँ प्रसन्न हैं, मेरा भाग्य प्रसन्न है। पर शुभे, तुम्हारा चेहरा कैसा धूमाच्छन्न-सा हो गया है ? ऐसा जान पड़ता है जैसे उपराग-ग्रस्त चन्द्रमा हो। सब कुशल तो है ?"

"तुम्हें देखने के बाद सब ठीक हो जायेगा, ऋषिकुमार ! पर तुम मेरी एक प्रार्थना सुनो···"

"प्रार्थना ! आज्ञा दो देवि ! पिछली बार तुम्हारी बात न मानने से जो पाप हो गया, उसका फल अभी तक भोग रहा हूँ। देखो, यह मेरी पीठ कैसी क्षत-जर्जर हो गयी है। तुम्हारी बात न मानूँगा तो और किसकी मानूँगा ?"

रैक्व ने अपनी पीठ जाबाला के सामने कर दी। जाबाला ने देखा, सारी पीठ लाल हो गयी है। सहानुभूति दिखाते हुए कहा, "यह क्या हो गया है, ऋषि-कुमार ?"

"हो क्या गया है, पाप का फल भोग रहा हूँ। तुमने कहा था न, कि किशोर को अपनी पीठ पर किसी किशोरी को बैठाने की बात सोचना भी पाप है ? मैं उस समय नहीं माना। पाप लग गया। सब समय पीठ में खुजली होती है और तुम्हारी

याद आने पर तो छाती तक छेद डालती है। माताजी तो कहती थीं कि यह पाप नहीं, केवल अभिलाष-भाव है; मैंने तुम्हें किसी-न-किसी प्रकार पाने की अभिलाषा की है, इसलिए पीठ में खुजली होती है; पर आश्वलायन कहता है कि यह अभिलाष-भाव भी पाप ही है, क्योंकि तुमने शुभा की स्वीकृति पाये बिना अभिलाषा की है। शुभा ही इसे ठीक कर सकती है। ठीक कर दो न शुभे, बड़ा कष्ट हो रहा है।"

"ठीक हो जायेगी, पर यह आश्वालयन कौन है?"

"मेरा मित्र है, बहुत समझदार है। मैंने तुम्हारे बारे में कुछ नहीं बताया, पर सब समझ गया!"

"सब समझ गया? क्या समझ गया?"

"यह तो मैं भी नहीं जानता। कहता था कि सब समझ गया है। सदा ठीक ही कहता है।"

"तो तुमने यह नहीं पूछा कि वह क्या समझ गया है?"

"तुम बता रही हो तो मुझे लगता है कि पूछना चाहिए था। उस समय किसी ने बताया ही नहीं।"

जाबाला हँसने लगी। रैक्व ने समझा कि उससे कोई बड़ी ग़लती हो गयी है। गिड़गिड़ाकर कहा, "तुम्हारे सामने नासमझ हो जाता हूँ। अपने को छोटा समझने लगता हूँ।"

"नहीं, इसमें छोटा समझने की क्या बात है! मुझे तो लगता है कि तुम बहुत महान् हो। तुम मनुष्यों में देवता हो। जी में आता है, तुम्हारी आरती उतारूँ। पर सुनो, इस समय तुम सचमुच नासमझी कर रहे हो।"

"क्या?"

"तुम थोड़ी देर बाद यहाँ आना। माताजी के आने के पहले कहीं चले जाओ। वे आनेवाली ही हैं। और देखो, उनके सामने या किसी और के सामने यह अभिलाष-भाव वाली बात नहीं करना। अच्छा!"

रैक्व ने स्वीकृति में सिर हिलाया। पर हटे नहीं। जाबाला ने फिर मृदुकण्ठ से कहा, "मेरे अच्छे तापसकुमार, तुम थोड़ी देर के लिए यहाँ से कहीं अन्यत्र चले जाओ।"

रैक्व ने अविश्वास के साथ जाबाला की ओर देखा। बोले, "नहीं, इस बार मैं कहीं नहीं जाऊँगा। उस बार तुम्हारे कहने से छिप गया था और तुम चुपचाप खिसक गयीं। इस बार यह नहीं होगा। मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा।"

"मैं वचन देती हूँ ऋषिकुमार, इस बार ऐसा नहीं करूँगी।"

"सच कहती हो शुभे, मुझसे मिले बिना नहीं जाओगी? तुम जानती नहीं, अब मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकूँगा। पता नहीं, मुझे क्या हो गया है! ध्यान नहीं कर सकता, समाधि नहीं लगा पाता, जप-तप भूल जाता हूँ। तुम्हीं मेरी आराध्या हो, परब्रह्मस्वरूपिणी!"

"ऋषिकुमार ! तुम ज़रा कम नहीं बोल सकते ? जानते हो न, ऐसा कहना अनुचित है ?"

"अनुचित है ? नहीं कहूँगा । पर सत्य है । अब जब तक तुम्हारा इंगित नहीं होगा, तब तक मैं मौन ही रहूँगा । एक बार प्रमाद हुआ, बार-बार नहीं होगा ।"

"नहीं, मैं मौन रहने को नहीं कहती, ज़रा कम बोला करो और मेरे बारे में तो बिल्कुल कुछ न बोलो । समझे ! और अभी तो ज़रा जल्दी ही यहाँ से हट जाओ । बस, थोड़ी देर के लिए । फिर मैं तुमसे बात करूँगी । अभी तो मैं माताजी के पास और रहूँगी । पर तुमने ध्यान, प्राणायाम, समाधि, जप-तप क्यों छोड़ दिया है ? मेरे कारण ? तब तो मैं तुमसे कभी नहीं मिलूँगी ।"

"नहीं, नहीं शुभे, तुम मेरे ऊपर ऐसा क्रोध न करो ! अगर इन बातों से तुम्हें सुख मिलेगा तो अवश्य करूँगा । मगर वह गाड़ी तो तुम्हारी ही है न ? वह मुझे चाहिए ।"

"गाड़ी तो तुम्हारी ही है और मैं···अच्छा, गाड़ी मैं अभी मँगवा देती हूँ ।"

"हाँ, उस गाड़ी के बिना मैं क्या समाधि लगाऊँगा ? वह गाड़ी मुझे अपार शक्ति देती है !"

जाबाला के अधरों पर मन्दस्मित खेल गया । गाड़ी अपार शक्ति देती है ! भोलेराम, कभी यह भी सोचा कि गाड़ी नहीं, कोई और है जो अपार शक्ति देती है । पर यह बात मन में ही रखकर उसने कहा, "ठीक है, गाड़ी मिल जायेगी । लेकिन तुम थोड़ी देर के लिए यहाँ से चले जाओ । माताजी आती ही होंगी । बुरा तो नहीं मान रहे हो, मेरे अच्छे तापसकुमार ?"

"जाता हूँ, मगर तुम भाग मत जाना । नहीं जाओगी न ?"

"नहीं, तुम विश्वास करो ।"

रैक्व ने एक बार सन्दिग्ध दृष्टि से जाबाला की ओर देखा । फिर चुपचाप चले गये ।

मन उनका आश्वस्त नहीं था । पिछली बार शुभा इसी प्रकार उन्हें छिपने को कहकर कहीं चली गयी थी । इस बार कहीं चली न जाये । लेकिन पिछली बार उसने इस प्रकार नहीं जाने का वादा नहीं किया था । इस बार वह वचन-बद्ध है । जाना तो नहीं चाहिए । पिछली बार तो जंगल था, झाड़ियाँ थीं, छिपना आसान था । इस बार कहाँ चलें ! वैसे इस बार शुभा ने छिपने को नहीं कहा । केवल कुछ देर के लिए हट जाने को कहा है । बहुत देर तक रैक्व आश्रम में इधर-से-उधर भटकते रहे । फिर यज्ञशाला की ओर चले गये । मध्याह्न-काल में वहाँ कोई नहीं रहता । रैक्व ने वहीं जाने का निश्चय किया ।

यज्ञशाला के पास ही कुछ दूर पर अतिथिशाला थी । श्रावण के महीने में वहाँ अधिक भीड़ रहती थी । इस समय प्रायः खाली ही रहा करती थी । रैक्व ने देखा कि वहाँ कई ब्रह्मचारी व्यस्त हैं । निश्चय ही कोई बड़ा अतिथि आनेवाला होगा । कुछ आगे बढ़कर रैक्व ने एक ब्रह्मचारी से पूछा कि क्या कोई अतिथि पधारे हैं !

ब्रह्मचारी ने बताया कि "राजा जानश्रुति परिवार के साथ पधारे हैं। ब्रह्मचारी ने गौतम और आपस्तम्ब के वचनों की याद दिलाते हुए रैक्व से कहा कि तुम तो जानते ही हो कि अतिथि का सम्मान नृयज्ञ माना जाता है। उसका आगे बढ़कर स्वागत किया जाता है, पैर धोने के लिए जल देना पड़ता है। आसन, शय्या, दीप आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है और ऐसे भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती है जो अतिथि के उपयुक्त हो। द्वार पर से माताजी उनको ले आयी हैं, शेष आचार हम लोग कर रहे हैं। माताजी इनकी अगवानी करके और यहाँ तक पहुँचाकर लौट गयी हैं। राजकन्या जाबाला पहले से ही माताजी की कुटिया में चली गयी हैं, उनकी भी तो व्यवस्था करनी है। माताजी ने हम लोगों को वहाँ भी जाने का आदेश दिया है। यहाँ का काम अब समाप्त हो गया है, हम लोग वहीं जा रहे हैं।"

ब्रह्मचारी की बात से रैक्व की समझ में आया कि शुभा (जाबाला) क्यों माताजी की कुटिया में है। उन्हें सबसे बड़ा सन्तोष इस बात से मिला कि शुभा के पिता यहीं हैं और जब तक ये यहाँ रहेंगे, तब तक उसके जाने की कोई आशंका नहीं है।

एक बार शुभा के पिता को देख लेने की इच्छा भी हुई। नाम तो सुना है, पर अभी तक देखा नहीं है। मगर वे उधर जा न सके। एक प्रकार का संकोच, जिसका स्वरूप और स्वभाव उनकी समझ में नहीं आया, उन्हें उधर आगे बढ़ने में बाधक सिद्ध हुआ। यज्ञशाला और अतिथिशाला के मध्य में स्थित विशाल तितिड़ी-वृक्ष की छाया में बैठकर शुभा की बातों का अर्थ समझने का प्रयत्न करने लगे।

शुभा कहती है, कम बोला करो। मैं कुछ वाचाल हो गया हूँ। मुझे अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए। गाड़ी मिल जाये तो मैं फिर अपने तप और समाधि के मार्ग पर लौट चलूँ। शुभा की यही इच्छा है। शुभा बिना विचारे कोई बात नहीं कहती। कुछ सोच के ही कहा होगा। अब शुभा के बारे में तो बिल्कुल कुछ नहीं बोलना चाहिए। मैं शायद निरर्थक या अनर्थपरक बातें कह जाता हूँ। पुराण-ऋषियों ने कहा है, अन्न से मन बनता है, जल से प्राण बनता है और तेज से वाणी बनती है। मुझमें तेज की कमी होगी। ऐसा न होता तो मेरी वाणी सदोष क्यों होती! तेज तो शुभा है। स्थिर विद्युत्-शिखा! तभी शुभा की वाणी इतनी स्पष्ट, इतनी मीठी और इतनी मोहन है। बोलती है तो अमृत की वर्षा-सी होने लगती है। मुझे वाणी का संस्कार सीखना होगा। कैसे होगा—तेजस् का ध्यान करके? तेजस् का स्रोत आदित्य है, सविता देवता। उसकी शक्ति का प्रत्यक्ष विग्रह शुभा है—तेजोरूपा। सविता देवता का वरेण्य भर्ग धरती पर शुभा के रूप में मूर्त्तिमन्त हुआ है—तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि! —रैक्व को याद आया, अभी थोड़ी देर पहले महर्षि औषस्ति ने कहा था—'मनुष्य की अन्तरात्मा में विधाता ने 'प्रज्ञा' नामक एक और शक्ति दी है। वह अनुभव कराती है।' उन्होंने बताया था कि 'मैं जिस तत्त्व की ओर इशारा कर रहा हूँ वह बुद्धि का विषय नहीं है, वह बोध का विषय है। स्वयं अनुभव करने का विषय है। शान्त और स्थिर चित्त से

बैठोगे तो तुम्हें झलक मिलेगी।' कहा था, 'वह तेज तुम्हारे दरवाज़े पर आकर दस्तक दे रहा है, परन्तु तुमने कभी उसके स्वागत के लिए द्वार खोला नहीं।' महर्षि ने और भी कहा था, 'हाँ, वत्स, मनुष्य उस परम प्रेमी की दस्तकों की निरन्तर उपेक्षा किये जा रहा है। वह परम प्रेमिक तुम्हारे द्वार पर आकर खटखटा जाता है। एक बार प्रयत्न करो जिससे तुम उसे अपने हृदय में पकड़कर बैठा सको, उसका स्वागत कर सको, उसके चरणों में अपने-आपको निछावर कर सको।' रैक्व को आज सब स्पष्ट हो रहा है। कहीं कुछ दुविधा नहीं है। शुभा ही तो प्रज्ञा-रूप है। आज हृदय के सभी बन्द द्वार अनायास खुल गये हैं। अभी तक ये रुद्ध थे। आज मानो जो मिलना था वह मिल गया। अब तक उनका मन उत्क्षिप्त था। आज समाधि सिद्ध होने जा रही है। महान् गुरु औषस्तिपाद के शब्द अमृत की धारा के समान सिर पर बरस रहे हैं—'तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध होकर बैठे हैं वे तुम्हारा ठीक मार्ग-दर्शन करेंगे। वही प्रज्ञारूप है, पुराण-ऋषियों ने कहा है : 'प्रज्ञानं ब्रह्म'।' हाय, वह देवता तो शुभा से भिन्न नहीं है।

बहुत दिनों बाद रैक्व ने अपने चित्त में ऐसी स्थिरता का अनुभव किया था। आज वे अनुभव कर रहे हैं कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि—सभी आवरण हट रहे हैं। सबको अभिभूत करके एक अपूर्व तेज उनके अन्तरतर को आलोकित कर रहा है। वे अनायास समाधि की अवस्था में पहुँच गये।

सत्रह

रैक्व को यहाँ से हटने में आयास करना पड़ा। नयी अनुभूति से थोड़ी ही देर जो हलकापन अनुभव हुआ था, वह धीरे-धीरे तिरोहित होने लगा। थोड़ी दूर चलने पर उन्हें नया ज्ञान भार-जैसा लगने लगा। वे महर्षि के पास फिर लौट आये। महर्षि से वे इस भारानुभूति का कारण पूछने आये थे। पर महर्षि तब तक समाधिस्थ हो चुके थे। उनका मुखमण्डल शान्त और प्रसन्न था; पर ऐसा लगता था कि उन्हें बाह्य जगत् की कोई अनुभूति नहीं है। रैक्व ने शास्त्रों में जिस ब्राह्मी स्थिति की बात पढ़ी थी, वह कुछ ऐसी ही होती होगी। पर उन्हें वह प्राप्त नहीं हो रही है। उन्हें ज्ञान हुआ है, बोध नहीं। वे निराश और खिन्न-भाव से वहाँ से फिर चले। अभी जो कुछ जाना था, अनुभव किया था, वह सब इतनी जल्दी

समाप्त हो जायेगा, इसकी उन्हें आशंका भी नहीं थी। कहीं कुछ दोष है, जो उन्हें ब्राह्मी-स्थिति में आने में बाधक सिद्ध हो रहा है। वे अपना विश्लेषण करने लगे। दोष कहाँ है, क्या है ? क्यों इतने बड़े गुरु का उपदेश इस तरह व्यर्थ हो जाता है ! वे शायद अब भी शब्दविद् ही रह गये हैं, मन्त्रविद् नहीं हो पाये ! अभी जो आलोक उन्होंने अपनी प्रत्येक शिरा-उपशिरा से अनुभव किया था, वह इस प्रकार क्यों उड़ गया ? लगता है, गाड़ी की तरह वह दूर चला जा रहा है, केवल कुछ लकीरें उनके मन पर बनी रह गयी हैं। उस आलोक का स्मरण अब भी है, पर वह सत्ता का अंग नहीं बन पाया है। क्या कारण हो सकता है ? शायद यह उनके स्वभाव का अंग है, आलोक का बोध क्षण-स्थायी है। पानी आग के पास गरम हो जाता है, ज़रा दूर हटते ही फिर ठण्डा-का-ठण्डा, क्योंकि पानी का स्वभाव ही ऐसा है। कब तक खौलाओगे ? मन सावधान, ठण्डा तो उसे होना ही है ! तभी पीछे से किसी ने कन्धे पर हाथ रखा—"बड़े परेशान लगते हो, मित्र ! क्या बात है ?"

रैक्व ने पीछे फिरकर देखा। सुहृद् आश्वलायन है ! सदा की भाँति प्रसन्न, खिला हुआ ! रैक्व को प्रसन्नता हुई। बोले, "मित्र, अच्छे मिले तुम। मैं आज सचमुच परेशान हूँ। अभी महर्षि औषस्तिपाद ने मेरे सिर पर प्यार से हाथ फेरा और इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के आवरणों को भेदकर मैंने एकदम नया प्रकाश, नया आनन्द प्रत्यक्ष अनुभव किया। परन्तु ज्योंही उनके पास से उठा, वह अनुभव एकदम विलुप्त हो गया है और अब ऐसा लग रहा है कि यह सब न देखता, न जानता तो अच्छा होता। क्षण-भर पहले जो सारी नाड़ियों को भेदकर, सारी शिरा-उपशिराओं को छेदकर दिव्य आनन्द प्रत्यक्ष हुआ था, उसकी जानकारी ही अब बोझ मालूम होती है। ऐसा क्यों हुआ मित्र, तुम बता सकते हो ?"

आश्वलायन हँसने लगा—"बात तो बिल्कुल स्पष्ट है, पर तुम्हें कैसे बताऊँ ! यह बताओ, माताजी से मिले या नहीं ? मैं सोच रहा था कि उनसे मिल लूँ। वहीं जा रहा था। लेकिन तुमको उदास देखा तो सन्देह हुआ कि कहीं माताजी ने तुम्हें डाँट तो नहीं दिया।"

"माताजी से मैंने तुमसे हुई बातचीत ज्यों-की-त्यों सुना दी है। उन्होंने कहा है कि इसमें कोई अपराध नहीं हुआ है, आश्वलायन तेरा अच्छा मित्र जान पड़ता है !"

"सब ज्यों-की-त्यों सुना दी ?"

"हाँ, सब सुना दी। माताजी ने बुरा नहीं माना। तुम तो पहले ही कह चुके थे कि बुरा नहीं मानेंगी।"

"हाय मित्र, तुमने मेरी सारी बातें कह दीं ! अब मैं माताजी के पास जाने योग्य भी नहीं रहा।"

"क्यों ? माताजी ने तो कहा है कि आश्वलायन बहुत भला लड़का मालूम होता है। तुम्हें उनसे अवश्य मिलना चाहिए।"

"नहीं मिलना चाहिए।"

"क्यों, इसमें दोष क्या है ?"

"क्योंकि माताजी तुमसे अधिक समझदार हैं और मैं भी तुमसे थोड़ा अधिक ही समझदार हूँ !"

"माताजी मुझसे अवश्य अधिक समझती हैं, पर तुम मुझसे अधिक क्या जानते हो ? अभी भी अगर तुमको ऐसा भ्रम है तो किसी विषय पर शास्त्रार्थ करके देख सकते हो।"

"रहने भी दो ! शास्त्र-चर्चा के लिए कुछ बुद्धि-वैभव की आवश्यकता होती है, विधाता ने वह तुम्हें दिया ही नहीं।"

कहकर आश्वलायन ज़ोर से हँसा। फिर पुचकारते हुए कहा, "मेरे भोले मित्र, तुम इतनी-सी बात पर चिढ़ गये और तुम्हें खेद है कि मन और बुद्धि को भेदकर जो महान् सत्य दिखायी दिया था, वह अब लुप्त होता जा रहा है ! धन्य हो !"

रैक्व को अपनी इस अहंकार-वृत्ति पर खेद हुआ। सोचकर बोले, "मित्र, मुझमें सचमुच दोष है। मैं उतावली में तुम्हारा उत्तर दिया करता हूँ। जानते हो, मैंने क्या समझ लिया था ? मैंने समझा था कि तुम मुझे मूर्ख कहना चाहते हो ?"

"अब क्या समझा ?"

"अब ? अब मैं समझ रहा हूँ कि मुझमें सचमुच बुद्धि-वैभव नहीं है !"

"साधु मित्र ! अब तुम ज्ञानी की तरह बात करने लगे। पर सुनो, बुद्धि-वैभव कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसके न होने पर दुःखी हुआ जाये और होने पर सुखी हुआ जाये ! बड़ी चीज़ वही है जो तुम हो।"

"क्या मतलब ?"

रैक्व ने देखा, आश्वलायन के चेहरे पर अद्भुत उल्लास का भाव था। रैक्व की पीठ थपथपाते हुए बोला, "तुम्हें किसी ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो तुम्हें बता सके कि तुम क्या हो। तुम जब तक स्वयं को नहीं पहचानते, दूसरों द्वारा अनुभूत सत्य का पिटारा सिर पर से फेंक नहीं देते, तब तक ऐसे ही भटकते फिरोगे। चाहो तो मैं तुम्हें ऐसे गुरु से मिला सकता हूँ। बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। चल सकोगे ?"

"चल सकूँगा। मेरा भटकाव जो दूर कर सके उसके पास अवश्य चलूँगा। पर माताजी की आज्ञा ले लूँ।"

"देर हो जायेगी। रमता-राम हैं। कब चल देंगे, कोई नहीं जानता। तुम्हें उनके पास छोड़कर मैं आ जाऊँगा और माताजी के पास किसी को भेजकर समाचार दे दूँगा कि तुम कहाँ गये हो। माताजी बुरा नहीं मानेंगी।"

"नहीं मानेंगी न ? तुम उनको ठीक समझते हो। चलो !"

आश्रम के एक किनारे पर थोड़ी नीची ज़मीन थी। बरसात में वह पानी से भर जाती थी, पर इन दिनों वह सूखी थी और उस पर घास-फूस निकल आया था। वहीं खुले मैदान में एक जटिल साधु बैठे हुए थे। वहाँ तक पहुँचने में दोनों मित्रों को बहुत देर नहीं लगी। रास्ते में आश्वलायन ने बताया कि "ये महात्मा

सब तरह से विचित्र हैं। ब्राह्मण नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म या वेद किसी के कायल नहीं हैं। ब्रह्म या वेद को चरम और परम माननेवाले ब्राह्मण महात्मा 'ऋषि' कहे जाते हैं, लोग इन्हें 'मुनि' कहते हैं। न आश्रम के लोग इनकी विशेष परवा करते हैं, न ये आश्रमवालों की। ये अपने को अनेकान्तवादी बताते हैं। कहते हैं, हर आदमी का सत्य अपना और निजी होता है। किसी के भी बताये मार्ग पर आँख मूँदकर नहीं चला जा सकता है। हर व्यक्ति का अपना सत्य है, उसी की खोज करनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा अपने सत्य पर अचल रहकर परमात्म-पद पा सकता है। वे अपने श्रम से उत्पन्न अन्न ही ग्रहण करते हैं, किसी का दिया कुछ नहीं लेते। महर्षि औषस्तिपाद पर इनकी अपार श्रद्धा है। उन्हीं से मिलने कभी-कभार आ जाते हैं। मिलने पर दोनों में कोई बातचीत नहीं होती। केवल हाथ जोड़ देते हैं और उनके जुड़े हाथों को महर्षि अपने हाथों में ले लेते हैं। दोनों चुपचाप घण्टों बैठे रहते हैं और फिर एकाएक उठकर चल देते हैं। अभी तक महर्षि से मिल नहीं पाये हैं। इसीलिए यहाँ बैठे हैं।" रैक्व को कुतूहल हुआ। उत्सुकतापूर्वक बोले, "क्या मुझसे भी नहीं बोलेंगे?"

"तुमसे क्यों नहीं बोलेंगे? अभी मुझी से देर तक बात करते रहे। नहीं बोलने का व्रत केवल महर्षि के साथ ही चलता है। औरों से खूब बोलते हैं। आश्रम के उपाध्याय लोग ही उनसे बोलना उचित नहीं समझते। कारण अभी समझ जाओगे।"

रैक्व का कुतूहल बढ़ गया। निचली भूमिवाले मैदान में पहुँचकर तो वे कुछ चकित-से भी लगे। जटिल मुनि घास छील रहे थे। रैक्व को चकित देखकर आश्वलायन कहने लगे—"घास क्यों छील रहे हैं, जानते हो? किसी गृहस्थ को देकर कुछ दूध लेंगे और आज का भोजन उसी से पूरा होगा।" कहकर आश्वलायन ज़ोर से हँसे।

जटिल मुनि ने दोनों को देखा। आश्वलायन से पूछा, "ये कौन हैं, आयुष्मान्!"

"मेरे मित्र रैक्व हैं। व्याकुल हैं कि कुछ उपदेश इनके मन में नहीं टिक पा रहा है। इसीलिए अपने को भटका अनुभव करते हैं। आपसे कुछ सहायता पाने की आशा रखते हैं।"

"सहायता? उसके बदले में तो मेरे लिए थोड़ी घास छील देनी होगी, आयुष्मान्! आ जाओ, वहाँ एक छोटा-सा पत्थर का क्षुरप्र (खुरपा) और है। उठा लो! और तुम, आयुष्मान् आश्वलायन, जा सकते हो, मेरे पास तीसरा खुरपा तो है नहीं।"

"जाता हूँ मुनि-श्रेष्ठ, तीसरा होता भी तो मुझे अवकाश नहीं था। मेरे मित्र की जिज्ञासाओं को शान्त करें। मेरे हाथों में तो पहले ही फफोले निकल आये हैं।"

आश्वलायन रैक्व की ओर देखे बिना ही चल पड़े।

जटिल मुनि रैक्व की ओर बराबर देखे जा रहे थे। रैक्व को लगा, जैसे कोई भयंकर उल्का उनकी ओर बढ़ी आ रही है। वे आगे बढ़ने की जगह दो कदम पीछे

हट गये।

जटिल मुनि ऐसा हँसे जैसे कोई आँधी सनसनाकर बढ़ती चली आ रही हो—"फफोलों से डर गये आयुष्मान्, देखूँ तुम्हारे हाथ। बहुत कोमल होंगे। आ जाओ!"

बिना कुछ सोचे-विचारे रैक्व ने अपनी हथेली खोलकर उनके सामने कर दी। ज़रा-सा झुककर जटिल मुनि ने उस हथेली की ओर ताका और एकदम हाथ का खुरपा फेंक खड़े हो गये। उन्होंने सिर से पैर तक रैक्व को देखा। ऐसा लगा वे कुछ विस्मित हो गये हैं—"भटक तो तुम अवश्य गये हो, कुमार! बहुत भटके हो, बहुत।"

फिर थोड़ा रुककर बोले, "तुम्हें घास नहीं खोदनी चाहिए। आज इतने से ही मेरा काम चल जायेगा। मैं तुमसे वैसे ही बात कर लूँगा। थोड़ा श्रम तो तुम्हें करना पड़ेगा, पर वह बाद में बताऊँगा। अभी बैठो, यहीं बैठ जाओ। तुम बैठे रहो। मैं अपना काम भी करता रहूँगा और तुमसे बातें भी करता रहूँगा।"

रैक्व अभी भी बोल नहीं पा रहे थे। कुछ साहस बटोरकर बोले, "मैं घास खोद सकता हूँ।" और पास ही पड़ा क्षुरप्र (खुरपा) उठा लिया।

शिराएँ झनझना उठीं। लगा, जैसे सिर चक्कर खा रहा है। जटिल मुनि ने क्षुरप्र उनके हाथ से ले लिया—"कहा न, रहने दो। तुम्हारे बस का नहीं है। बताओ अपनी समस्या—अवहित हूँ।"

उन्होंने रैक्व का कन्धा दबाकर बैठा दिया। कन्धा बुरी तरह चरमरा गया। रैक्व को लगा कि कोई भारी पिण्ड उन्हें नीचे की ओर दबाता जा रहा है। वे बैठ गये। महात्मा उनकी ओर देखते रहे। रैक्व रुद्धवाक्, निश्चेष्ट।

जटिल मुनि ही बोलते रहे—"देखता हूँ आयुष्मान्, तुम वृथा मोह के बहकावे में भटक गये हो। विधाता ने तुम्हें सब प्रकार से निश्चिन्त कर दिया था; माँ नहीं, बाप नहीं, भाई नहीं, बहिन नहीं, द्वार नहीं—यही तो बड़े-बड़े महात्मा कठोर तपस्या के बाद सिद्धि-रूप में प्राप्त करते हैं। तपस्या का फल यही न होता है मेरे प्यारे, कि आदमी में कोई ममता न बचे, 'मम' (मेरा) कहा जानेवाला कुछ न रहे, वह तो तुम्हें अनायास विधाता की ओर से मिल गया था। मैं कुछ अलीक कह रहा हूँ, आयुष्मान्?"

जटिल तापस बड़ी मधुर वाणी में यह सब कह रहे थे, परन्तु उनके अधरों पर एक रहस्यमयी मुस्कान बराबर झूल रही थी।

रैक्व धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हो रहे थे। जटिल मुनि की वह हँसी उनके मन में बेचैनी भी पैदा कर रही थी। उन्होंने यथासम्भव अनुद्विग्न रहने का प्रयत्न करते हुए कहा, "अपराध क्षमा हो भगवन्, कैसे कहूँ कि आप अलीक कह रहे हैं? मैं तो केवल शब्दविद् हो पाया हूँ, मन्त्रविद् अभी नहीं हुआ। मैंने सुना है कि सिद्धि उसे कहते हैं जो संकल्पपूर्वक प्रयत्न करके पायी जाती है। जो वस्तु अनायास मिल जाये, वह सिद्धि कैसे कही जा सकती है?"

"नहीं कही जा सकती न ? तुम ठीक कह रहे हो, आयुष्मान् ! पर देखो, मेरी तो यही सिद्धि है। यह देखो, मेरे हाथ में ठीक वही रेखाएँ हैं जो तुम्हारे हाथ में हैं— हू-ब-हू वही ! तभी तो मैं तुम्हें तुरन्त पहचान गया।"

जटिल मुनि ने अपनी हथेली रैक्व के सामने रख दी और उनके हाथ की रेखाओं से मिलती-जुलती रेखाओं को दिखाने लगे। रैक्व ने आश्चर्य से देखा कि कुछ रेखाएँ बिल्कुल एक-जैसी हैं। जटिल मुनि की आँखों में विचित्र प्रकार की चमक थी। बोले, "ये रेखाएँ बताती हैं कि इस प्रकार के हाथवालों को न माता का सुख मिलता है, न पिता का, न भाई का, न बहिन का। वे जन्म से ही अनिकेत होते हैं। है न, आयुष्मान् ?"

रैक्व चुप ! देर तक वे चुपचाप केवल मुनि की आँखों की विचित्र चमक देखते रहे। उन्हें ऐसा लगा कि अचानक उनकी वाक्शक्ति लुप्त हो गयी है।

मुनि ही बोले, "मैं समझ सकता हूँ मेरे प्यारे कुमार, तुमको कितना कष्ट भोगना पड़ा होगा। मुझे भी भोगना पड़ा था। पर फिर भी मैं तुम्हें खुरपा उठाने से रोक रहा हूँ जब कि स्वयं चला रहा हूँ। जानते हो, क्यों ? सीधी-सी बात है। यह जो बाहुमूल से अनामिका तक गयी हुई तुम्हारी रेखा है, जो ज़रा-सा मध्यमा की ओर झुक गयी है, वह तुम्हें मेरी तरह नहीं रहने देगी। वह परम सौभाग्य की सूचना देती है—बड़ी भारी सिद्धि की। देख रहे हो न, आयुष्मान् ?"

रैक्व बार-बार अपने हाथ की रेखा को आश्चर्य से देखते रहे। फिर थोड़ा आश्वस्त-से होकर बोले, "तो भगवन्, इसका अर्थ यह हुआ कि सब-कुछ पहले से ही तय है। मनुष्य को कुछ करने-धरने की आवश्यकता नहीं है।"

"नहीं आयुष्मान्, मनुष्य को करने के लिए बहुत-कुछ पड़ा है। मैंने अभी तुमको बताया न कि जिसे लोग परम दुर्भाग्य समझते हैं, वही मेरी सिद्धि है। कैसे, जानते हो ? मैं अपने दुर्भाग्य से बहुत व्यथित था। लगता था, मेरे जैसा भाग्यहीन कोई नहीं है। दूसरे बच्चों को अपनी माँ के हाथ से प्रसन्नतापूर्वक भोजन करते देख मेरे मन में भारी हूक उठती, मैं कराहकर रह जाता। द्वार-द्वार ललाते-बिललाते भीख माँगते दिन बीतता। लोग कुत्तों के सामने भी अन्न डालते समय उनका तिरस्कार नहीं करते थे जितना चार दाना देते समय मेरा करते थे। एक दिन मैंने संकल्प कर लिया कि भिक्षा नहीं माँगूंगा। मैं भूख से कई दिनों तक व्याकुल रहा। जंगल में जहाँ कहीं कन्द, मूल, फल मिल जाता वहीं उसे खा लेता। एक दिन मेरे पेट में दर्द हुआ, बेहोश होकर गिर पड़ा। शायद कुछ ऐसी ही वस्तु खा गया था जो खाने योग्य नहीं थी। देर तक उसी अवस्था में पड़ा रहा। संज्ञा लौटने पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। एक वृद्धा माता मेरा सिर अपनी गोद में रखकर मुँह पर पानी का छींटा दे रही थी। तुम शायद विश्वास नहीं करोगे, आयुष्मान् ! ऐसा भव्य रूप मैंने कहीं देखा नहीं था।

"उनका सारा शरीर तेज से ही बना लग रहा था। आँखों में करुणा का अपार सागर लहरा रहा था। उनके वल्कल-समादृत देह के अंग-अंग से प्रकाश की किरणें

फूट रही थीं। माताजी ने दुलार के साथ पूछा कि मैं कौन हूँ और कैसे गिर गया था! मैंने उन्हें संक्षेप से अपने दुर्भाग्य और भिक्षा न माँगने के संकल्प की कहानी सुना दी। माताजी का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। बोलीं, 'तू अपने को इतना हीन क्यों समझ रहा है रे! ऐसा संकल्प तो किसी बड़े गुरु की प्रेरणा के बिना सम्भव नहीं है।'

"मैंने कातर-भाव से कहा, 'मुझे अभी कोई गुरु तो नहीं मिला माताजी, अपने मन से ही मैंने ऐसा संकल्प किया था।' माताजी ने प्रसन्न-भाव से कहा, 'तेरा गुरु तो तेरे भीतर बैठा है। तेरे भीतर तो अनन्त सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं। तू बाहर क्यों देखता है? तेरा देवता तेरे भीतर ही है।' माताजी का साथ थोड़े ही दिन रहा। उन्होंने मुझे यह मन्त्र दिया कि 'बाहर की ओर ढूँढ़ता फिरेगा तो भटक जायेगा। अपने भीतर ही ढूँढ़, तेरा गुरु, तेरा देवता, तेरा सब-कुछ भीतर ही है। बाहर भी वही है पर उसे बाहर खोजने में कठिनाई है। सबके लिए नहीं कह रही हूँ, सिर्फ़ तेरे लिए बता रही हूँ। सबका मार्ग एक ही नहीं हो सकता!' माताजी की छाया मुझे सिर्फ़ इक्कीस दिन ही मिली। उन्होंने मुझे कुछ ध्यान की विधियाँ बता दीं। जब मैं ध्यान में विलीन होने लगा तब वे चुपचाप चली गयीं। शायद अन्तर्धान हो गयीं।

"सो, मेरी सिद्धि यह अनाथ-दशा ही है। तुम क्यों भटक रहे हो, आयुष्मान्? बताओ, मुझसे अधिक समानधर्मा तुम्हें कहाँ मिलेगा? बोलो, संकोच की क्या बात है?"

रैक्व आश्चर्य से सुनते रहे। अब जब जटिल मुनि बिल्कुल उनके स्तर पर उतर आये तो उन्हें लगा कि अभी तक जितने ज्ञानी-महात्मा मिले, उन्हें—यहाँ तक कि भगवती ऋतम्भरा को भी—वह ऊँचे स्तर पर खड़ा देखते आये हैं। आज ही कोई महान् गुरु उनके स्तर पर उतर आया है, अवतार हुआ है! उन्होंने सुना था कि कुछ धार्मिक सम्प्रदाय ऐसा मानते हैं कि भगवान् जब भक्तों का उद्धार करना चाहते हैं तो धरती पर उतर आते हैं और मनुष्य के स्तर पर आकर ही भक्त का उद्धार करते हैं, इसी स्थिति को लोग 'अवतार' कहते हैं। उनका मत है कि बिना 'अवतार' (उतर आने की प्रक्रिया) के 'उद्धार' नहीं होता—उद्धार, अर्थात् ऊपर उठाने की प्रक्रिया। आज वे महान् सिद्ध का 'अवतार' प्रत्यक्ष देख रहे हैं—शायद 'उद्धार' की प्रक्रिया शुरू होनेवाली है।

अत्यन्त आश्वस्त होकर रैक्व ने अपनी कहानी सुना दी। उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा कि महान् गुरुओं के उपदेश उनके मन पर टिकते ही नहीं। कहीं कोई बाधा है, कोई दोष है, जो उन्हें विचलित कर देता है। ध्यान करते हैं तो शुभा ही पहले आ जाती है। अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार होता है तो शुभा के रूप में ही!

जटिल मुनि सुनकर अत्यधिक उत्फुल्ल हो गये। बोले, "तो इसमें दोष क्या है कुमार? तुम्हें तो भगवान् ने विशेष अनुग्रह का प्रसाद दिया है। मगर देखो, मेरी माताजी ने इस विषय में एक अच्छी सलाह दी थी। मेरे जीवन में तो ऐसा कोई

प्रसंग ही नहीं आया, इसलिए मैं तो उस सलाह का कोई उपयोग ही नहीं कर पाया। पता नहीं, उन्होंने क्या सोचकर सलाह दी थी। शायद वे भविष्य देख रही थीं। उन्होंने पहले ही यह जान लिया था कि तुम मेरे पास आओगे और वह सलाह तुम्हें दे सकूँ, यही उनका उद्देश्य रहा हो।"

"पहले जान लिया था, यह कैसे सम्भव है?"

"अब मैं तुमसे इस सम्बन्ध में क्या बताऊँ! कुछ भी असम्भव नहीं है, केवल अपने भीतर की अपार सम्भावनाओं को विकसित करने, सच पूछो तो, उद्घाटित करने का सवाल है। छोड़ो, हम अनन्त सम्भावनाओं को अपने भीतर दबाये बैठे हैं। ये जो तुम्हारे ऋषि लोग हैं इनकी बातें कभी-कभी मुझे चक्कर में डाल देती हैं। मुँह से तो कहेंगे कि जो परम सत्य है वह न पुरुष है, न स्त्री है, न जड़ है, न चेतन है इत्यादि-इत्यादि, पर जब ध्यान करेंगे तो उसकी कल्पना पुरुष-रूप में ही करेंगे। कुछ समझाना हुआ तो 'पुरुष एवेदं सर्वं' कहेंगे! मैं अपनी माताजी का ध्यान करता हूँ—कहीं कोई कठिनाई नहीं आती। मेरे लिए वे ही परम सत्य हैं। जो परम सत्य है, उससे क्या छिपा है, आयुष्मान्? पर ये लोग मेरा परिहास करते हैं। एक महर्षि औषस्तिपाद ही मेरी बात समझ पाते हैं। वे इन लोगों से भिन्न हैं।"

"तो भगवन्, माताजी को परम सत्य मानकर आप जब ध्यान करते हैं तो कोई सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं?"

"यह तो मेरी त्रुटि है कि मैं पूरी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सका। सिद्धि कोई चमत्कार तो है नहीं, आयुष्मान्! अपने-आपको देख लेना ही तो सबसे बड़ी सिद्धि है, बाकी छोटी-मोटी बातें तो अपने-आप सिद्ध हो जाती हैं। यह जो तुम मेरा खुरपा नहीं उठा पा रहे थे, वह केवल मेरी इच्छा के कारण। पर यह कोई बड़ी बात तो है नहीं। उठा भी लेते तो क्या बन या बिगड़ जाता? आश्वलायन ने उठा लिया, क्योंकि मैं चाहता था कि वह उठा ले; तुम उठाने में कठिनाई अनुभव करने लगे, क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि उठाओ। यह कोई सिद्धि नहीं है। चित्त के एकाग्र होने पर इच्छा-शक्ति अनायास प्रबल हो उठती है।"

"किसी बात पर एकाग्र करने से, भगवन्?"

"किसी बात पर एकाग्र करने से आयुष्मान्, किसी बात पर। तुमने ध्यान, धारणा और समाधि की बात सुनी होगी। सुनी है न?"

"सुनी है।"

"देखो, संसार में कोई नहीं है जो कुछ-न-कुछ ध्यान न करता हो, किसी-न-किसी तरह की धारणा न करता हो और किसी-न-किसी प्रकार की समाधि की स्थिति न प्राप्त करता हो। ठीक कह रहा हूँ न?"

"हाँ भगवन्, ठीक ही लग रहा है।"

"पर सब योगी नहीं होते। क्यों, जानते हो? क्योंकि एकाग्र नहीं हो पाते। एक ही विषय का ध्यान, उसी की धारणा और उसी की समाधि—इसी का नाम एकाग्रता है। ध्यान किसी और का, धारणा किसी दूसरे की, और समाधि किसी

अन्य की हुई तो 'योग' कहाँ हुआ ? ध्यान, धारणा और समाधि एकाग्र हो जायें तो योग हो जाता है।"

"समझ में आ रहा है, लेकिन फिर ?"

"फिर क्या भोलेराम, सत्य क्या नहीं है ? जिस वस्तु में मन रमे उसी का ध्यान, धारण और समाधि उत्तम योग है। उसी सूत्र को पकड़कर तुम परम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो। परम सत्य—जो तुम स्वयं हो !"

"यह बात भी मेरी समस्या का समाधान नहीं है, भगवन् । और बातों की तरह यह भी भूल जाऊँगा। मेरी समस्या का यह भी समाधान नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि परम सत्य को अवश्य उपलब्ध करना चाहिए, पर साथ ही मैं अनुभव करता हूँ कि शुभा के बिना जी नहीं सकता और उसे परम सत्य तक पहुँचने की सीढ़ी भी नहीं बना सकता !"

जटिल मुनि ठठाकर हँसे—"यह तो मैं पहले ही जान गया था। इसलिए अपनी माताजी की सलाह तुम्हें देना चाहता था। तुम्हीं तो बेकार बातों में उलझते जा जा रहे हो।"

"तो वह सलाह ही बता दें, भगवन् !"

"अब तो रास्ते पर आये। तुम्हारी भाग्यरेखा अनामिका-मूल से थोड़ा तिरछी होकर मध्यमा की ओर बढ़ गयी है, संकल्प से उसे सीधी कर सकते हो अर्थात् भटकने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकते हो। विधाता की दी हुई सभी रेखाओं को संकल्प-शक्ति से जिधर चाहो मोड़ सकते हो। करके देख लेना।"

"अभी कर सकता हूँ ?"

"पहले सलाह सुन लो। फिर मैं तुम्हें दिखा सकता हूँ कि इन रेखाओं को जिधर चाहो मोड़ सकते हो।" रैक्व ने अपना हाथ उनके हाथ में देकर पूछा कि किस रेखा को किधर मोड़ने का संकल्प करना होगा। जटिल मुनि हँसने लगे। एक रेखा दिखाकर कहा, "यदि यह अनामिका-मूल की ओर मुड़ जाय तो न तुम भटकोगे, न मुझे भटकाओगे।" रैक्व प्रभावित हुए। बोले, "अभी करूँ, भगवन् ?"

"नहीं भोलेराम, उतावले क्यों होते हो ! पहले वह बात तो सुन लो। उद्देश्य नहीं समझोगे तो प्रयत्न बेकार जायेगा।"

रैक्व अब पूर्ण रूप से सहज हो गये थे। आरम्भ में अभिभूत होने का जो भाव था, धीरे-धीरे समाप्त हो गया। उन्होंने जटिल मुनि की ओर ध्यान से देखा और बोले, 'महात्मन्, अविनय क्षमा हो, मैं स्वयं अनुभव किये हुए सत्य को वास्तविक शक्ति मानता हूँ। यहाँ आप अनुभव किया हुआ सत्य नहीं कह रहे हैं बल्कि अपनी माताजी का बताया हुआ कोई परामर्श देना चाहते हैं, इसलिए मैं शुरू से ही उसके प्रति इतनी आस्था और आग्रह नहीं कर पा रहा हूँ जितनी मुझसे आपको आशा है। मैं केवल उतना ही सुनना चाहता हूँ जितना आपका अनुभव सत्य है। उसे मैं तभी स्वीकार करूँगा जब मैं स्वयं उसका अनुभव करूँगा। आपने स्पष्ट ही कहा कि माताजी की सलाह पर चलने का आपको अवसर ही नहीं मिला। फिर मेरे

लिए उस अप्रत्यक्ष सलाह की क्या उपयोगिता हो सकती है ? आपको देखकर मैं अभिभूत हो गया था, इसलिए मूल बात को सुनने से कतरा तो रहा था परन्तु साफ़-साफ़ आपसे कह नहीं पा रहा था। अब आप जो उचित समझें, मेरे लिए उसका निर्देश दें।"

जटिल मुनि ने सुना तो उनकी भौंहें तन गयीं। उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। डाँटकर बोले, "दुर्ललित वटु, तू मेरी माताजी पर अविश्वास कर रहा है ? और मुझ पर भी अविश्वास कर रहा है ? तूने क्या यह सोच रखा है कि माताजी से मैं भिन्न हूँ या माताजी मुझसे भिन्न हैं ? देखेगा, मेरी माताजी को ? बैठ जा सामने ! देख मेरी आँखों की ओर !" बिना उत्तर की अपेक्षा किये ही जटिल मुनि स्थिर आसन में बैठ गये। क्षणभर में वे समाधिस्थ हो गये। रैक्व ने आश्चर्य से चकित होकर उनकी ओर देखा। क्षण-भर में पद्मासन-बद्ध शरीर लौह-शलाकाओं से निर्मित मूर्त्ति की भाँति कठिन और ऋजु हो गया। उनकी नासाग्र-बद्ध दृष्टि थोड़ी ही खुली थी, फिर भी उससे एक अद्भुत ज्योति निकल रही थी। ऐसी ज्योति का अनुभव रैक्व ने कभी नहीं किया था। धीरे-धीरे उनके सारे शरीर से उसी प्रकार की आभा निःसृत होने लगी। वह कुछ नीलिमा-लिप्त तेजोमण्डल-सी दिखायी दे रही थी, किन्तु धीरे-धीरे वह और भी उज्ज्वल रूप में प्रकट होने लगी। फिर रैक्व ने आश्चर्य के साथ देखा कि वह सारी तेजो-रेखा अद्भुत अपूर्व सुन्दर नारी-मूर्त्ति के रूप में प्रकट हो गयी। ऐसी दीप्ति भी रैक्व ने कभी नहीं देखी थी। यह मूर्त्ति पहले कुछ अस्पष्ट ज्योति-रेखाओं से बनी जान पड़ी, परन्तु धीरे-धीरे ठोस होती गयी और रैक्व के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि जटिल मुनि के स्थान पर वह मूर्त्ति पद्मासन-बद्ध होकर विराजमान हो रही है। रैक्व के मन में यह बात आयी कि यह दिव्य-मूर्त्ति जटिल मुनि की माताजी हैं। वे आविष्ट होकर हाथ जोड़कर स्तवन करने लगे। उन्हें इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया कि यह कोई मानवी नहीं बल्कि साक्षात् देवी हैं। उन्होंने शास्त्रों में सविता देवता की मूर्त्तिमन्त शक्ति सावित्री का नाम सुना था। ऐसा लगा कि वह तेजोमण्डल से उद्भूत सावित्री देवी का ही दर्शन कर रहे हैं। जटिल मुनि के क्रोध से वे थोड़ा विचलित हुए थे, परन्तु जिस देवी का दर्शन वे कर रहे थे, उसमें क्रोध नहीं था, स्नेह और करुणा का भाव था। उन्होंने अपना दाहिना हाथ उठाकर रैक्व को आशीर्वाद दिया। उनके चेहरे पर हल्की-हल्की मुस्कान की आभा स्पष्ट दिखायी दे रही थी, लेकिन उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। रैक्व इतने अभिभूत हुए कि वे साष्टांग प्रणिपात की मुद्रा में पृथ्वी पर जा गिरे और थोड़ी देर के लिए उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। फिर उन्होंने अनुभव किया कि कोई उनके सिर पर हाथ फेर रहा है। उठकर देखते हैं कि सामने जटिल मुनि हँस रहे हैं और कह रहे हैं—"उठो, आयुष्मान् !" रैक्व उठकर तो बैठ गये, लेकिन उनके चेहरे पर विस्मय का भाव तब भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान था। कुछ देर में प्रकृतिस्थ होकर उन्होंने जटिल मुनि से पूछा कि वे इतने रुष्ट क्यों हो गये और रुष्ट होने के

बाद यह कैसा चमत्कार दिखाया। जटिल मुनि ने हँसते हुए कहा, "कोई चमत्कार नहीं है, आयुष्मान् ! और न मैं रुष्ट ही हुआ हूँ। तुम्हें रास्ते पर लाने के लिए थोड़ा रोष का नाटक करना आवश्यक था। तुमने तो ठीक ही कहा था कि अन्य स्रोतों से छनकर आया हुआ सत्य बहुत बार अपने शुद्ध रूप में दिखायी नहीं देता, लेकिन तुम्हारी बहुत भारी गलती यह थी कि तुमने कभी अनुभव नहीं किया कि मनुष्य श्रद्धेय के साथ एकमेक हो सकता है। और यही तो तुम्हारे भटकने का कारण है। तुमने कभी अपनी शुभा के साथ अपने को एकमेक करके नहीं देखा। कदाचित् तुम देख भी नहीं सकते, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव द्वैत में आनन्द पाने का है। अब तुम माताजी की सलाह सुन लो और फिर यदि मन रमे तो उसका पालन करो।"

हाथ जोड़े रैक्व बैठे रहे। बोले, "अवश्य सुनूँगा, भगवन् ! मुझे इतना तो मालूम हो रहा है कि आप अपनी माताजी से अभिन्न हो गये हैं।"

जटिल मुनि ने कहा, "देखो आयुष्मान्, शुभा से तुम्हें प्रेम है। मैंने शुभा को तो नहीं देखा, परन्तु तुम्हारी बातों से मालूम होता है कि शुभा भी तुमसे प्रेम रखती है। मेरी माताजी ने भी बताया था कि किसी तरुणी की ओर आकृष्ट होना 'काम' है। परन्तु उसके लिए अपने-आपको निछावर कर देने की भावना 'प्रेम' कही जाती है। माताजी ने कहा था कि तुम कभी काम-भावना से किसी तरुणी की ओर आकृष्ट न होना, परन्तु यदि कभी तेरे चित्त में प्रेम का उद्रेक हो तो उसे पाप न समझना। काम आध्यात्मिक विकास का बाधक है, जब कि प्रेम उसका उन्नायक है।"

रैक्व ने पूछा, "कैसे पता चले कि चित्त में जो आकर्षण पैदा हुआ है वह काम है या प्रेम ?" जटिल मुनि ठठाकर हँसे—"मैं कैसे बता सकता हूँ, आयुष्मान् ? जिसने कभी अनुभव किया हो वह कदाचित् बता सके। मैं तो माताजी की बात तुमको सुना रहा हूँ। मेरे जीवन में कोई तरुणी आकर्षित करने के लिए आयी ही नहीं। तुम भाग्यवान् हो। तुम अनुभव कर सकते हो कि तुम्हारे मन में काम है या प्रेम। यदि तुम्हारे मन में उस तरुणी के प्रति ऐसी भावना हो कि उसके सुख के लिए तुम अपना सर्वस्व निछावर कर सकते हो, अपने प्राण तक दे सकते हो, तो मेरा अनुमान है कि वह तुम्हारी प्रेम-भावना है। लेकिन छोड़ो इस प्रसंग को। जो बात मैं जानता नहीं, उसे बता भी नहीं सकता। जो बात तुम्हें विशेष रूप से बता देनी है वह यह है कि पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसा काम-जन्य सम्बन्ध, जो धर्म-संगत नहीं होता। दूसरा जो धर्म-संगत होता है जिसे शास्त्र में 'विवाह' कहा जाता है; लेकिन एक तीसरा भी होता है जिसे माताजी की कृपा से मैंने सुना अवश्य था, देखा कभी नहीं।"

"वह क्या है, भगवन् ?"

"देखो, तुमने धर्मसूत्रों में शब्द पढ़े होंगे—एक विवाह है, दूसरा उद्वाह। आजकल दोनों शब्दों का एक ही अर्थ समझा जाता है। दोनों के अर्थों में कोई भेद है, इसे कोई जानता ही नहीं। विवाह धर्म-सम्मत होता है और शास्त्र के

नियमों के अनुसार मान्य भी। उद्वाह भी ऐसा ही होता है, परन्तु उद्वाह में पति पत्नी को और पत्नी पति को ऊपर की ओर वहन करती है, अर्थात् परस्पर की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करती है। माताजी ने बताया था कि अगर ऐसी पत्नी मिले जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाये, तो उससे विवाह नहीं, उद्वाह कर लेना। मेरा तो हुआ नहीं, आयुष्मान् ! तुम अपना सोच लो।" रैक्व जटिल मुनि की ओर और भी जानने की इच्छा से चुपचाप ताकते रहे। जटिल मुनि ने कहा, "मैं तुम्हें विवाह की सलाह तो नहीं दूँगा, उद्वाह की सलाह अवश्य दूँगा। शास्त्रकारों ने विवाह के लिए पाणिग्रहण का विधान किया है, जबकि उद्वाह में पाणिग्रहण नहीं, उपोद्ग्रहण होता है। उपोद्ग्रहण समझे ?"

"नहीं, भगवन् !"

"देखो, उपोद्ग्रहण पाणि का नहीं, मुख का होता है। वह मानसिक होता है। मैं सिर्फ़ इतना ही जानता हूँ। कैसे होता है, यह नहीं बता सकता ! अब तुम जा सकते हो।" इतना कहकर जटिल मुनि ने एकदम मुँह फिरा लिया और अपना खुरपा लेकर घास छीलने लगे।

अट्ठारह

आकर भगवती ऋतम्भरा ने जाबाला को अत्यन्त प्रसन्न देखा। उनके मन में आशंका थी कि देर तक अकेली बैठी रहने से ऊब गयी होगी और पहले से ही मुरझाया चेहरा और भी मुरझा गया होगा। पर जाबाला के चेहरे पर प्रसन्नता देखकर उन्हें सन्तोष हुआ। अपने आने में देर होने का कारण बताते हुए उन्होंने प्यार से जाबाला के सिर पर हाथ फेरा और कहा कि "अब मैं कुछ देर के लिए निश्चिन्त हूँ। अब तुझे जो कुछ कहना हो, कह जा। मैं तेरे मुँह से सब सुनना चाहती हूँ।" जावाला को लगा कि माताजी ने औरों के मुँह से कुछ सुन रखा है, अब उसके मुँह से सुनना चाहती हैं। पर किसके मुँह से क्या सुना होगा ! रैक्व से कुछ सुना होगा ? वह भोला कुछ छिपा भी तो नहीं सकता। क्या उसने अभी थोड़ी देर पहले जाबाला से हुई बात भी माताजी से कह दी ? जावाला के चेहरे पर विषाद का धूम छा गया। उसने कातर-भाव से पूछा, "क्या रैक्व आपको मिल गये थे, माँ ?"

माताजी ने कहा, "नहीं तो। वह आया था क्या ? अरे, बिचारा भूखा ही रह गया। आज दूर से आया था। मैंने उसे महर्षि के पास भेज दिया था। फिर

तुम लोगों के अचानक आ जाने से मैं उसकी बात तो भूल ही गयी। आया था क्या ? कहाँ गया ?" जाबाला को धक्का लगा। भूखे-थके रैक्व को उसने अकारण ही वहाँ से चले जाने को कह दिया था। माताजी ने आश्चर्य से जाबाला की ओर देखा। चेहरा लाल था। पूछा, "जाने को कह दिया था ? क्यों ?" जाबाला का मुख-मण्डल पाण्डुर होने लगा। बड़े आयास से बोली, "बड़ा अपराध हो गया, माँ ! मुझे नहीं मालूम था कि वे थके और भूखे हैं। कहीं दूर नहीं गये होंगे। पता नहीं, उनके यहाँ रहने से मुझे अकारण लज्जा का अनुभव हो रहा था। अब क्या करूँ, माँ ? देख लेती हूँ, कहीं पास ही होंगे।" जाबाला की वाणी स्खलित हो रही थी। इतना कहने में उसे काफ़ी आयास हुआ। भगवती ऋतम्भरा ने उसके मनोभावों को ठीक ही समझा। बोलीं, "नहीं, तुझे कहीं नहीं जाना होगा। अभी यहाँ कुछ ब्रह्मचारी आयेंगे, उन्हें ही भेजकर उसको ढूँढ़ लूँगी। तू आश्वस्त होकर बैठ। कोई अपराध नहीं हुआ। तू एकान्त में जो उसके साथ बात करने में लज्जा अनुभव करने लगी, वह तो स्वाभाविक ही है। इसमें अपराध की क्या बात है ! तूने ठीक ही किया जो उसे कुछ देर बाद आने को कहा।" जाबाला आश्वस्त होने के बदले और भी लजा गयी। थोड़ी देर पहले ही रैक्व बता गये थे कि माताजी ने उनसे कहा था कि तेरे मन में शुभा के प्रति अभिलाष-भाव है। माताजी क्या मेरे मन में भी इस समय कोई अभिलाष-भाव देख रही हैं ? परन्तु वह तुरन्त प्रकृतिस्थ भी हो गयी। यह अभिलाष-भाव बताने के लिए ही क्या वह माताजी के पास नहीं आयी है ? अगर माताजी ने बिना बताये ही जान लिया तो यह तो अच्छा ही हुआ। पर इतना अवश्य है कि इससे माताजी पूरी बात नहीं समझ सकेंगी। वह अपनी उलझन बताने आयी है। अभिलाष-भाव अपने-आपमें तो कोई उलझन नहीं है। वह प्रकृतिस्थ होकर भी निश्चिन्त नहीं हो सकी।

इसी बीच ब्रह्मचारियों का दल मधु, दधि, कन्द, मूल, फल आदि के साथ आ गया। वे माताजी से निर्देश लेने आये थे कि सम्मानार्ह अतिथि और उनके परिवार के लिए उन्हें क्या करना है। माताजी ने यथोचित निर्देश भी दिया और रैक्व को खोजकर उनके पास भेज देने का भी आदेश दिया। ब्रह्मचारियों के जाने के बाद माताजी ने जाबाला के आतिथ्य का आयोजन किया। परन्तु जाबाला ने अत्यन्त संकोच किन्तु दृढ़ता के साथ उत्तर दिया कि जब तक रैक्व नहीं लौट आते और आकर कुछ आहार नहीं ग्रहण करते, तब तक वह कैसे भोजन कर सकती है। माताजी को उसकी यह बात अच्छी लगी। उन्होंने इसका प्रतिवाद भी नहीं किया, और रैक्व से पहले ही कुछ फल-मूल लेने का आग्रह भी नहीं किया।

ब्रह्मचारियों ने आकर सूचना दी कि रैक्व अतिथिशाला के पासवाले इमली-वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे हैं। बुलाने पर बोल नहीं रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे समाधि की दशा में हैं। माताजी के पूछने पर उन्होंने यह भी बताया कि ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने प्रयत्नपूर्वक समाधि लगायी है, क्योंकि किसी प्रकार के आसन या बन्ध में नहीं हैं। माताजी ने ऊपर से यह नहीं दिखाया कि उन्हें इस समाचार

से कोई चिन्ता हुई है, पर वे थोड़ी उद्विग्न हुईं अवश्य। उनके मुख पर जो उल्लास-भाव था, वह एकाएक लुप्त हो गया था। उन्होंने जाबाला से कहा कि "बेटी, अब उसके आने में देर होगी, इसलिए थोड़ा-सा यज्ञशिष्ट प्रसाद ग्रहण कर ले। फिर निश्चिन्त होकर एक बार उसे देख आऊँ।" किन्तु जाबाला ने दृढ़ता के साथ कहा, "नहीं माँ!" फिर आँखें नीची किये ही कहा, "माँ, मैं भी आपके साथ रैक्व के पास जाऊँगी, क्योंकि मुझे भय है कि मैं जब तक नहीं कहूँगी, वे इधर आयेंगे नहीं।" माताजी ने आश्चर्य के साथ जाबाला की ओर देखा। उनके मुख पर हँसी की एक हल्की रेखा आयी और तुरन्त चली गयी। जाबाला ने न उसे देखा और न समझा। माताजी ने कहा, "तू भी चल।"

रैक्व ध्यानावस्थित थे। आज उन्हें नया उल्लास और नयी ज्योति मिली थी। अब तक जो पढ़ा था और जो सुना था, वह चेतना के उपरले स्तर को छूकर तिरोहित हो गया था। आज सबमें नया अर्थ दिखायी देने लगा था।

जटिल मुनि से उन्हें नया प्रकाश मिला था। वे अत्यन्त उल्लसित थे। अभी तक उन्हें किसी ने नहीं बताया था कि उनके भीतर शुभा के प्रति जो अभिलाष-भाव है, वह क्या है। आज वे सोचने लगे कि शुभा के सुख के लिए अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर दे सकते हैं या नहीं? अपने-आपको पूर्ण रूप से उलीचकर दे सकते हैं या नहीं? क्या उनमें अपने को सुखी करने का भाव है या शुभा को प्रसन्न करने का भाव है। उन्हें स्पष्ट दिखायी दिया कि प्रथम दर्शन में ही उनका मन शुभा के लिए स्वयं को हर प्रकार के कष्ट में डालने को प्रस्तुत था। कुछ पाना उनका उद्देश्य नहीं था। पर यह शुभा है कि उसने उन्हें सेवा करने का अवसर ही नहीं दिया। पीठ की सुप्त वेदना आज बुरी तरह सुलग उठी है, सेवा करने का अवसर मिल गया होता तो शायद यह उठती ही नहीं। नहीं, उनके मन में जो है वह प्रेम ही है। वे किसी समय, कहीं भी, शुभा के लिए प्राण तक दे सकते हैं। मगर शुभा अधिक समझदार है। उस बार भी वह जानती थी कि मैं पाप-भावना से चालित हूँ। आज भी उसने मुझे उस मार्ग से ही विरत किया होगा। मैं ही कम समझदार हूँ। इस बार मैं हटना नहीं चाहता था, पर हट गया। क्यों? क्योंकि शुभा को इसी में प्रसन्नता थी। मेरे मन में प्रेम ही होना चाहिए। मैं अपने-आपको शुभा के किसी इंगित पर निछावर कर सकता हूँ।

विवाह और उद्वाह! पाणिग्रहण और उपोद्ग्रहण! यह तो विचित्र बात है! मुझे क्या शुभा का उपोद्ग्रहण करना चाहिए? क्या होता है उपोद्ग्रहण? जटिल मुनि जानते ही नहीं। जानते तो बता देते। शुभा यहीं है, बता तो सकती है। पर कैसे जाऊँ, प्रबल निषेध की बाधा है। जो हो, शुभा चाहती है कि फिर से ध्यान और समाधि की ओर लौट चलूँ। कुछ ऐसा अद्भुत विरोध है मेरे भीतर कि समाधि सिद्ध ही नहीं होती। जटिल मुनि कहते हैं, भीतर देखो, बाहर नहीं। शुभा का ही ध्यान करो। वही तुम्हारा सत्य है। निश्चय ही शुभा मेरा सत्य है।

आज उन्होंने दो महान् गुरुओं के उपदेश सुने हैं। क्या दोनों में कोई विरोध

है ? सोचते-सोचते वे अतिथिशाला के पास वाले विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गये और अपने में ही खो गये। शुभा की मानसी मूर्त्ति सामने खड़ी हो गयी—अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में। उन्हें लगा कि वह मूर्त्ति कुछ कह रही है—'ऋषिकुमार, तुमने आज जो पाया है वह कम लोगों के भाग्य में होता है। सम्हालकर रखो। खोना मत।' वे सोचते-सोचते समाधिस्थ हो गये। उन्होंने सुना था, कभी-कभी महान् गुरु अंगुष्ठ-मात्र से शिष्य के ललाट का स्पर्श करके उसके सारे आवरणों और मलों को भस्म कर देते हैं। आज उनका ललाट किसी ने अंगुष्ठ से या किसी भी अन्य अंगुलि से नहीं छुआ। पर मल और आवरण नष्ट होते जान पड़ते हैं। सारे इन्द्रियार्थ तन्मात्र रूप में गलते जा रहे हैं। इन्द्रिय प्राणों में, प्राण मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि आत्मानन्द में अनायास प्रवेश करने को व्याकुल हैं। उन्हें आज पहली बार यह सत्य प्रत्यक्ष हुआ है कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। उनका चैतन्य प्रसारित हो रहा है। जड़ जगत् के ऊपर प्राण-लोक, उसके भी ऊपर मनोलोक, उसके भी ऊपर विज्ञानलोक, और उसके भी ऊपर आनन्दलोक, उन्हें प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है। जड़ आवरण क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होते जा रहे हैं। ऊपर आनन्दलोक केवल प्रकाशलोक है। दिन-रात रटायी जानेवाली उन ऋचाओं का अर्थ स्पष्ट होता जा रहा है जिनमें कहा गया है, 'मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।' पढ़ा बहुत था, आज उसका अर्थ प्रत्यक्ष हो रहा है। रैक्व आनन्द से भीग रहे हैं।

यह विचित्र बात है कि जटिल मुनि से जो कुछ सुना, उससे उनमें आत्म-विश्वास अवश्य संचारित हुआ, पर अभी जो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है वह महर्षि औषस्तिपाद का उपदेश। समझ नहीं पा रहे हैं कि कुंजी कहाँ और कैसे खुली है। शुभा को देखकर जो उपदेश लुप्त हो रहे थे, जटिल मुनि के मिलने के बाद वे ही प्रत्यक्ष हो रहे हैं। क्या कारण हो सकता है!

माताजी ने उनके सिर पर हाथ रखा। उस शीतल स्पर्श से उनकी चेतना बहिर्मुखी हुई। आँखें खुलीं। सामने माताजी को देखा। उल्लसित-भाव से बोले, "माँ, आज अपूर्व अनुभव हुआ। पिताजी से जो सुना था उसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। बिल्कुल साफ़ देख रहा हूँ, माँ!" माताजी ने स्नेहपूर्वक उनके ललाट और आँखों पर हाथ रखा। बोलीं, "यह आरम्भ है बेटा, इसे चरम न समझ ले। अब उठ, दिन-भर कुछ खाया नहीं। चल मेरे साथ।"

रैक्व ने माँ की ओर कातरता के साथ देखा। बोले, "तुम अपनी कुटिया में जाओ माँ, मैं थोड़ी देर बाद आऊँगा।" माताजी मन-ही-मन रैक्व के मनोभावों को समझकर प्रसन्न हुईं। बोलीं, "क्यों, अभी चलने में क्या बाधा है?"

रैक्व ने कहा, "माँ, वहाँ तुम्हारी कुटिया में कोई तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठा है। पहले तुम चलो, बाद में मैं आऊँगा।" माताजी ने रैक्व की परेशानी का आनन्द लेते हुए कहा, "कोई बैठा होगा, उससे तेरे चलने में क्या कठिनाई है?" रैक्व की समझ में नहीं आया कि क्या उत्तर दें। पर शुभा ने तो कुछ कहने को

वरज दिया है। शुभा विना सोचे कुछ कहती नहीं। विषम संकट है। कुछ हकलाते हुए-से बोले, "तुम चलो न माँ, उससे पूछना भी तो होगा।" माताजी ने इसका आनन्द लेते हुए पूछा, "किससे पूछना होगा?" रैक्व बुरी तरह धर्म-संकट में पड़ गये।

जाबाला पीछे खड़ी सुन रही थी। उसे लज्जा और सुख दोनों का अनुभव हो रहा था। रैक्व के इस असमंजस को दूर करने के लिए ही उसने कहा, "मैं तो यहीं हूँ, ऋषिकुमार! माताजी के साथ ही आयी हूँ। माताजी की आज्ञा का तुम्हें पालन करना चाहिए।"

रैक्व ने घूमकर शुभा की ओर देखा! एकदम उठकर खड़े हो गये। बोले, "माँ, यही शुभा हैं। इन्होंने ही तो कहा था कि जब तक माताजी न आ जायें तब तक तुम बाहर रहो। माँ, तुम इन्हें पहचानती हो न? महाभागा शुभा हैं। तभी तो आज ध्यान सार्थक हुआ है। माँ, शुभा परम ज्ञानी हैं।"

इसी समय जाबाला ने आँखों से ही रैक्व को रोका—यह क्या बकने लगे! रैक्व सकपका गये। माताजी ने मन्द मुस्कान के साथ कहा, "अब तो चल बेटा, तूने अभी तक कुछ अन्न-जल नहीं ग्रहण किया, तो तेरी गुरु यह शुभा भी भूखी-प्यासी ही रह गयी। उठ, अब तो कोई हानि नहीं है।"

चलते समय माताजी ने देखा कि अतिथिशाला के द्वार पर खड़े राजा जानश्रुति चुपचाप यह दृश्य देख रहे थे।

उन्नीस

रैक्व गाड़ी पा गये थे। वे दिन-भर सेवा-कार्य में लगे रहते। परम वैश्वानर की सच्ची उपासना कहकर माताजी ने उन्हें इसी ओर प्रवृत्त किया था। उन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। दूर-दूर से आये रोगियों की सेवा करते, जो नहीं आ पाते उनके घर जाकर यथासम्भव चिकित्सा करते। सायंकाल लौटते, कभी-कभी तो आधी रात तक बाहर रहते। ऋतुका उनकी सहायिका थी। औषध तैयार करने से लेकर रोगियों की देख-भाल का काम भी उसी की अपूर्व सेवावृत्ति के कारण सुचारु रूप से चल रहा था। रैक्व सायंकाल थककर चूर होने पर भी गाड़ी तक आना नहीं भूलते थे। रात को उनका जप-तप, ध्यान-धारणा का काम चलता। पीठ की खुजली दिन-भर ग़ायब रहती, पर गाड़ी के स्पर्श से ही जाग उठती। प्रथम ध्यान उनका शुभा पर ही केन्द्रित होता। धीरे-धीरे वे उसका

सहारा पकड़कर चेतना के विभिन्न स्तरों को पार करने में सफल होते। जो बात उन्हें मालूम नहीं थी, वह थी ऋजुका को उत्साहित करते रहनेवाला प्रच्छन्न हाथ। जाबाला ने प्राण ढालकर प्रच्छन्न-भाव से इस सारी तपस्या को गतिशील बना रखा था। केवल ऋजुका ही यह रहस्य जानती थी। रैक्व तो इतना जानते थे कि वह नित्य शुभा से मिलने जाती है; पर उससे शुभा के बारे में कभी कुछ पूछते नहीं थे। शुभा की ऐसी ही आज्ञा थी। वे अत्यन्त आवश्यक होने पर ही कुछ बोलते थे, अधिकतर मौन ही रहते थे। वे वाक्-संयम का रहस्य जान चुके थे। उन्हें दुःख-तप्त प्राणियों की सेवा में रस मिलने लगा था।

एक दिन प्रातःकाल ही कई लोग बहुत-सी सामग्री लेकर उनके पास पहुँचे। अन्न-वस्त्र, गायें और गधे, खच्चर तक उनके पास थे। इंगित से उन्होंने पूछा, वे किसलिए यहाँ आये हैं? उन लोगों ने बताया कि ये वस्तुएँ उनके लिए ही हैं। रैक्व एकदम भड़क उठे। उन्होंने डाँटकर उन्हें भगा दिया और अपने सेवा-कार्य के लिए समय से कुछ पहले ही निकल पड़े।

निकल तो गये पर दिन-भर उन्हें अपने चित्त-विक्षोभ से ग्लानि होती रही। उस दिन बहुत क्लान्त होते गये। इतनी थकान उन्हें कभी नहीं अनुभूत हुई। कहीं कोई दोष रह गया है उनमें। प्रायश्चित्त करना चाहिए। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि वे अब मौन ही रहेंगे। क्रोध कभी नहीं करेंगे। अगर फिर चित्त-विक्षोभ हुआ तो शुभा की शरण जायेंगे। उसी से पूछेंगे कि कैसे इस दुर्बलता से मुक्ति मिल सकती है। उस दिन वे देर से लौटे। चेहरा एकदम सूख गया था। ऋजुका ने उनका सूखा उदास मुँह देखा तो रो पड़ी—"हाय भैया, आज तुम्हारा चेहरा कैसा उतरा हुआ है! हाय, रानी दीदी को क्या उत्तर दूंगी? हाय, क्या हो गया है तुम्हें?"

रानी दीदी? रैक्व एकदम सकपका गये। रानी दीदी अर्थात् शुभा। तो क्या दीदी को शुभा के पास उनके लिए उत्तर देना पड़ता है? क्यों उत्तर देना पड़ता है? वे खोयी-खोयी दृष्टि से ऋजुका को देखने लगे। इसमें क्या उत्तर देने की बात है?

ऋजुका ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। कुटिया से गरम पानी ले आयी—"आओ, तुम्हारे पैर धो दूँ। बहुत थके हो।"

"नहीं दीदी, मैं ठीक हूँ। तुझे क्या मेरे बारे में शुभा देवी को नित्य बताना पड़ता है? क्यों?"

"लो, बताना नहीं पड़ेगा! तुम तो भोले के भोले ही रह गये। आज विचारी अभी तक भूखी-प्यासी हैं, तुमको तो चिन्ता ही नहीं है। बिना खाये-पिये चले गये! उस विचारी का तो बुरा हाल है!"

"बुरा हाल है? दीदी, तूने पहले क्यों नहीं बताया? देख दीदी, अब मैं मौन ही रहूँगा। प्रातःकाल ही मन खराब हो गया। गुस्सा हो आया।"

"बुरा हुआ, भैया! रानी दीदी के पिताजी आनेवाले थे। उन्होंने ही तो उन

लोगों को उस सामग्री के साथ भेजा था। रानी दीदी ने भी वैसा करने की स्वीकृति दे दी थी, पर तुम तो बस, कुछ समझते ही नहीं।"

"समझते नहीं ? क्या समझना था इसमें ! तेरी रानी दीदी क्या चाहती हैं कि मैं भिक्षा ग्रहण करूँ ? माताजी सुनेंगी तो क्या कहेंगी ? उनका बेटा सेवा के लिए प्रतिग्रह स्वीकार करेगा तो उन्हें क्या अच्छा लगेगा ?"

ऋतुका दीदी हँसने लगी। बोली, "माताजी ने तो पहले ही अनुमति दे दी है। माताजी की अनुमति पाये बिना रानी दीदी कभी अनुमति दे सकती हैं ? इसमें प्रतिग्रह की बात कहाँ उठती है ?"

रैक्व हैरान !

दीदी ने हँसते हुए कहा, "ऐसे क्यों ताकते हो भैया ? माताजी भी आनेवाली हैं। कल ही तो राजा आश्रम से लौटे हैं। सुना है, आज वे यहाँ आयेंगे। कोई ज्ञान-यज्ञ जैसा कुछ होनेवाला है। वे लोग तुमसे ज्ञान-चर्चा करेंगे। सुना है, महर्षि ने ही कुछ इस प्रकार के यज्ञ की व्यवस्था दी है।"

"ज्ञान-चर्चा ? पर दीदी, कल से तो मैं मौन धारण करने जा रहा हूँ।"

"सो सब मैं नहीं जानती। रानी दीदी से पूछे बिना तुम कैसे मौन धारण करोगे ?"

"रानी दीदी की आज्ञा से ही सब कर रहा हूँ !"

"सो तुम समझ लेना ! अभी राजा आवें तो क्रोध न करना। तुम्हारी दीदी इतना ही कह सकती है।"

ऋतुका के चेहरे पर हलकी हँसी थी। रैक्व कुछ भी नहीं समझ सके। ऋतुका ने उनके पैर धो देने के लिए हाथ बढ़ाया। रैक्व ने उसके हाथ से पानी ले लिया। बोले, "दीदी, मैं धो लेता हूँ। क्रोध नहीं करूँगा। मगर अब तू मुझे मौन हो जाने दे।"

ऋतुका चली गयी।

रैक्व नित्य-कृत्य से निवृत्त हो यथा-नियम गाड़ी के नीचे बैठ गये। वे चिन्तित थे। ज्ञान-यज्ञ क्या होता है ? पहले तो किसी ने बताया नहीं। माताजी आयेंगी तो पूछेंगे। पर उन्होंने यह सब सामग्री लेने की अनुमति क्यों दी ? दीदी कैसे जानती है कि अनुमति मिल गयी है। माताजी ने तो स्पष्ट निर्देश दिया था—प्रतिग्रह बुरी चीज़ है। कभी प्रतिग्रह स्वीकार न करना। फिर बीच में यह परिवर्त्तन कैसे हो गया ? उनसे पूछना तो पड़ेगा ही। कब आयेंगी ! दीदी कह रही है, आने ही वाली हैं। जल्दी आ जातीं तो अच्छा होता। उसके पहले ही ये लोग आ जायेंगे··· क्या करना होगा ? मन में शान्ति तो रहनी ही चाहिए। दीदी ठीक कह रही है, क्रोध नहीं करना है !

दीदी कहती है कि शुभा ने भी स्वीकार कर लिया है कि मुझे यह सब सामग्री दे दी जाये और मैं ग्रहण कर लूं। विश्वास नहीं होता कि शुभा ने यह बात मान ली होगी। मगर दीदी मुझसे कभी झूठ बात तो कहती नहीं। कहती है तो सच ही

होगा, लेकिन वह कहकर हँस देती है। हँसने की क्या बात है? शुभा ने कहा था कि मुझे कम बोलना चाहिए। कल मैं कुछ अधिक बोल गया क्या? नहीं, मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा। अब तो मौन रहने से ही कुछ प्रायश्चित्त हो सकेगा। पर दीदी कहती है, पहले उसकी रानी दीदी से पूछ लेना चाहिए! इसमें ऐसी पूछने की क्या बात है भला? मौन से कोई हानि तो नहीं है। लाभ भी क्या है? असली बात है मन को वश में करना। शुभा तो मौन नहीं रहती, पर उसने मन को वश में कर लिया होगा। तभी इतना मधुर बोलती है। शुभा का सब-कुछ मधुर है। शुभा से मिलना चाहिए। वही ठीक-ठीक बता सकती है। रैक्व कुछ विचलित हुए। कई दिनों से पीठ की खुजली कम हो रही थी, आज कुछ बढ़ गयी है।

रैक्व ने दृढ़ता के साथ अपने-आप पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न किया। वे परम वैश्वानर का ध्यान करने लगे। परम वैश्वानर जो विश्वरूप हैं, जो 'रूपे-रूपे प्रतिरूपं बभूव' हैं। रूप-मात्र उन्हीं का रूप है। रूप में सर्वश्रेष्ठ रूप है, शुभा का। शुभा ही परम वैश्वानर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। माताजी ने कहा था, 'बेटा, मनुष्य की शक्ति ही कितनी है? वह दो ही खेल खेलता है—प्रिय को देवता बना लेता है या फिर देवता को प्रिय बना लेता है।' ये ही खेल चल रहे हैं रैक्व के मनोमन्दिर में। एक बार शुभा परम वैश्वानर बन रही है, दूसरे क्षण में परम वैश्वानर शुभा बन रहे हैं।

इस खेल का अन्त नहीं है। रात-भर उनके मन में यही खेल बारी-बारी से खेला जाने लगा। शुभा अर्थात् परम वैश्वानर—परम वैश्वानर अर्थात् शुभा! 'अल्प' भूमा बन रहा है—'भूमा' अल्प बन रहा है!

यह विचित्र समाधि थी। यही संकोच और प्रसारण की लीला है, यही प्राण और अपान का द्वन्द्व है, यही केन्द्रानुगा और केन्द्रापगा शक्ति का द्वन्द्व है!

रात बीत गयी। रैक्व विचित्र समाधि के आनन्द से भीगते रहे। ऋजुका बार-बार आकर देख जाती थी कि वे नित्य-कृत्य के लिए तैयार हैं या नहीं। राजा जानश्रुति अपने दलबल के साथ उपस्थित हो गये हैं। उपहार अलग रखे गये हैं, कुछ दूरी पर। कहीं उन्हें देखकर वे फिर न बिगड़ न उठें। रैक्व अचल समाधि में हैं। राजा हाथ जोड़कर बैठे हैं, आचार्य औदुम्बरायण भी उत्सुक मुद्रा में प्रतीक्षा कर रहे हैं, मन्त्री लोग भी शान्त विनीत भाव में बैठे हैं। ऋजुका दीदी सावधान मुद्रा में अपने भैया के निकट खड़ी है। कहीं आज भी वह बिदक न जायें! समाधि टूट नहीं रही है। सब-कुछ शान्त है। ज्ञान-यज्ञ का यह अद्भुत आयोजन है। कोई ऋत्विक् नहीं है, कोई यजमान नहीं है, कोई होता नहीं है, कोई आहुति नहीं है, अग्नि, कुश आदि कुछ भी नहीं है। पर यज्ञ होनेवाला है! सब शान्त, सब प्रह्लादमय!

इस ज्ञान-यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र थी जाबाला। वह आयी नहीं थी, ले आयी गयी थी। वृद्धा संकुला उसे प्रायः गोद में ही उठाकर ले आयी थी। उसके आते ही सारे वातावरण में शामक आभा व्याप्त हो गयी। रैक्व के अन्तरतर तक को वह आभा निश्चय ही छेद गयी होगी। तभी उनके अन्तर में हलचल हुई।

उनकी आँखें खुलीं। हाथ अनायास पीठ पर चले गये। ऋजुका ने बिना किसी भूमिका के तुरन्त कहा, "महाराज आये हैं भैया, रानी दीदी के पूज्य पिता!" रैक्व ने उनकी ओर देखा, दृष्टि बगल में बैठे आचार्य औदुम्बरायण पर पड़ी। एकदम अभ्युत्थान की मुद्रा में आ गये। खड़े होकर आचार्य और साथ ही राजा जानश्रुति को प्रणिपात किया। बोले कुछ नहीं। शान्तभाव से अपने आसन पर बैठ गये। केवल उत्सुकता-भरी दृष्टि के इंगित से ही पूछा, 'क्या सेवा करूँ?'

आचार्य औदुम्बरायण ने कहा, "ब्रह्मचारिन्! हमारे परम जिज्ञासु महाराज ने आज आपके महार्ह प्रवचन के श्रवणार्थ इस ज्ञान-यज्ञ का आयोजन किया है। इस यज्ञ के प्रधान ऋत्विक् आप ही हैं…"

आचार्य कुछ और कहने जा रहे थे, पर बीच में ही रैक्व ने हाथ जोड़कर इंगित किया कि वे आज मौन हैं!

राजा जानश्रुति बिल्कुल विचलित नहीं हुए। बोले, "हम तो आपसे परम ज्ञान का प्रवचन अवश्य सुनेंगे। यदि आप मौन हैं तो यह यज्ञ तब तक चलता रहेगा जब तक आपका मौन भंग नहीं होता।"

थोड़ा रुककर उन्होंने कहा, "ब्रह्मचारिन्, हम तत्रभवती भगवती ऋतम्भरा की आज्ञा से इस ज्ञान-यज्ञ का आयोजन कर रहे हैं। पुराकाल से यज्ञ के अन्त में दैवविवाह के रूप में कन्यादान का विधान है। यह मेरी कन्या जाबाला है, मैं इसे आप-जैसे ज्ञानी को देने का संकल्प लेकर आया हूँ। तत्रभवती भगवती ऋतम्भरा भी आनेवाली हैं। अब आपकी जैसी आज्ञा हो! संकल्प किया जा चुका है।"

रैक्व अवाक्!

आचार्य औदुम्बरायण ने और स्पष्ट किया—"ब्रह्मचारिन्, यज्ञ में कन्यादान शास्त्र-सम्मत है। पुराण-ऋषियों ने इसे उत्तम विवाह बताया है। इसीलिए यह ज्ञान-यज्ञ आयोजित हुआ है।"

फिर राजा ने जाबाला को खींचकर अपने पास बैठाया। रैक्व फिर एक बार उठकर खड़े हो गये, "अहा! महाभागा शुभा!" वे कुछ और कहें, उसके पहले ही जाबाला की आँखों से उनकी आँख मिली। उस दृष्टि में कातर अभ्यर्थना थी, 'तुम कुछ कम नहीं बोल सकते!' रैक्व लज्जित होकर चुप रह गये। महाराज जानश्रुति आह्लादित हुए। उन्होंने रैक्व को आसन ग्रहण करने का और ज्ञान-यज्ञ को सफल बनाने का अनुरोध किया। रैक्व की कातर दृष्टि शुभा के चेहरे पर टिकी रही। बिना शब्द के ही वह दृष्टि कह रही थी—'क्षमा करना देवि, फिर ग़लती हो गयी!'

जाबाला की दृष्टि ने आश्वस्त-सा करते हुए कहा, 'बोलो!'

धीरे-धीरे रैक्व की दृष्टि जाबाला के मुख पर से हटी। वे बहुत शान्त मृदु कण्ठ से बोले, "राजन् आचार्य, आप लोग विद्वान् हैं, मनीषी हैं, मैंने मौन रहने का निश्चय किया था, पर आप लोग नहीं जानते कि मेरे मन में आपकी परम मेधाविनी कन्या के प्रति कैसे आदर के भाव हैं। मैं इन्हें ही महाभागा शुभा कहता हूँ। इन्होंने

ही मुझे ज्ञान का मार्ग दिखाया है। मैं इस शोभन मुख की उपेक्षा नहीं कर सकता। मैं तो इसके उपोद्ग्रहण-मात्र से कृतार्थ हूँ। ज्ञान का अंशमात्र भी मैं नहीं जानता। जानता हूँ केवल इस मुख की अपूर्व उद्ग्राहिका शक्ति। इस मोहन मुख की सभी आज्ञा मेरे लिए श्रुति-वाक्य के समान हैं। मैं सेवा-व्रती हूँ, इनका मार्ग-दर्शन पाऊँ तो असाध्य-साधन कर सकूँगा। मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अवसर दें ताकि इस मोहन मनोरम मुख का उपोद्ग्रहण कर सकूँ।"

इसी समय सारी सभा 'जय-जय' कर उठी। रैक्व ने देखा, माताजी आ गयी हैं। वे उठे और माताजी के चरणों पर साष्टांग प्रणत हो गये। माताजी ने उठाकर छाती से लगा लिया। उनका इंगित समझकर जाबाला भी चरणों में उसी प्रकार आ गिरी। माताजी ने दोनों को प्यार से उठाया और आचार्य की ओर देखकर कहा, "आचार्य, अब विवाह की सब विधियाँ पूरी कर ली जायें।" रैक्व ने चकित दृष्टि से माताजी की ओर देखा। जाबाला की आँखें धरती में गड़ी रहीं। सभा ने फिर एक बार जय-निनाद किया।

रैक्व ने कातर-भाव से माताजी की ओर देखा। अत्यन्त भोलेपन से कहा, "विवाह नहीं माँ, उद्वाह!" माताजी ने प्रश्नभरी दृष्टि से पुत्र की ओर देखा। बोलीं, "एक ही बात है बेटा! पर तू क्या दोनों में अन्तर मानता है?" संकुचित रैक्व ने उत्तर दिया—"हाँ, माँ!"

बीस

उपसंहार

औषस्ति-आश्रम के उपाध्याय वुडिल तर्कराक्ष्य को रैक्व पर कभी आस्था नहीं थी। वे तो उनके ब्राह्मण-वंश में जन्म लेने को भी सन्देहास्पद समझते थे। रैक्व जब जटिल मुनि के पास गये तो उन्हें बिल्कुल अच्छा नहीं लगा था। वे नहीं चाहते थे कि आश्रम में शास्त्र-विरुद्ध चर्चा हुआ करे। उन्होंने जब सुना कि राजा जानश्रुति की कन्या जाबाला का उद्वाह रैक्व के साथ हो गया तो इसे भी उन्होंने धर्म-विरुद्ध कार्य ही समझा। अनेक लोगों से सुनी-सुनायी बातों को इकट्ठा करके उन्होंने रैक्व की एक कहानी लिखी जो बाद में छान्दोग्य-उपनिषद् के चौथे प्रपाठक में ले ली गयी। उसका अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :

प्राचीन काल में जानश्रुति पौत्रायण नामक एक राजा था। वह श्रद्धा से दान

देता था, थोड़ा नहीं बहुत दान देता था। उसके यहाँ खूब अन्न पकता था। उसने जगह-जगह धर्मशालाएँ बनवा दी थीं ताकि भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर अतिथि लोग उसके यहाँ भोजन किया करें।

एक बार रात्रि को कुछ हंस उतरे। उनमें से एक हंस ने दूसरे हंस से कहा, "हे भल्लाक्ष ! जानश्रुति पौत्रायण राजा का यश द्युलोक के समान फैल रहा है। उससे टक्कर न ले बैठना, कहीं वह तुझे अपने तेज से भस्म न कर डाले।" उसे दूसरे हंस ने उत्तर दिया, "अरे, तुमने इस साधारण-से राजा को ऐसा कैसे कहा जैसे मानो वह गाड़ीवाला रैक्व ऋषि हो ?" पहले हंस ने पूछा, "यह गाड़ीवान रैक्व ऋषि कैसा है ?" दूसरे ने उत्तर दिया, "जैसे जुए में सबसे मुख्य पासा 'कृत' कहाता है, नीचे के पासे 'अय' कहलाते हैं, और 'कृत' के आ पड़ने पर उससे निचले सब 'अय' उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत' के समान है। लोग जो-कुछ भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है, जिसे रैक्व जानता है, वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्यों से भी कहा है।" हंसों का यह संवाद जानश्रुति पौत्रायण ने सुन लिया। उसने प्रातःकाल उठते ही अपने सारथि से कहा, "प्यारे ! तू क्या मेरी प्रशंसा गाड़ीवान रैक्व ऋषि की प्रशंसा की तरह करता है ?" सारथि ने पूछा, "वह गाड़ीवान रैक्व ऋषि कैसा है ?" राजा ने उत्तर दिया, "रात को मैंने दो हंसों को यह कहते सुना, 'जैसे जुए में 'कृत' पासे के आ पड़ने पर उससे निचले सब 'अय' उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत' के समान है, लोग जो-कुछ भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है, जिसे रैक्व जानता है, वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्यों से भी कहा है।' इसलिए, हे सारथि ! यह पता लगाओ कि रैक्व ऋषि कौन है !"

सारथि ने खोज की, और लौटकर राजा से बोला, "कुछ पता नहीं चला।" राजा ने कहा, "अरे ! उस ऋषि का वहाँ अन्वेषण करो जहाँ ब्रह्म-ज्ञानियों को ढूँढ़ा जाना चाहिए; महलों में नहीं, झोंपड़ियों में उसकी खोज करो।" सारथि फिर निकला। एक गाड़ी की छाया के नीचे दाद को खुजलाते हुए एक व्यक्ति को देखकर वह उसके निकट बैठ गया। उससे पूछा, "भगवन् ! क्या आप ही गाड़ीवान रैक्व ऋषि हैं ?" उसने उत्तर दिया, "अरे हाँ ! मैं ही रैक्व हूँ।" सारथि ने लौटकर राजा से कहा, "मैंने रैक्व का पता लगा लिया।"

जानश्रुति पौत्रायण छह सौ गायें, एक रत्नमाला और खच्चरों का एक रथ लेकर चल पड़े और ऋषि के पास पहुँचे, "हे रैक्व ! ये छह सौ गायें हैं, यह रत्नमाला है, यह खच्चरों का रथ है। हे भगवन् ! जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश दीजिए।"

ऋषि बोले, "अरे शूद्र ! यह हार और ये गायें तू अपने पास रख।" जानश्रुति पौत्रायण फिर एक सहस्र गायें, रत्नमाला, खच्चरों का रथ और अपनी कन्या को लेकर ऋषि के पास पहुँचे। बोले, "हे रैक्व ! ये सहस्र गायें हैं, यह रत्नों की

माला है, यह खच्चरों का रथ है, यह मेरी कन्या है जिसे मैं आपको देने को तैयार हूँ, यह ग्राम जिसमें आप विराजते हैं, यह भी आपको भेंट है। हे भगवन् ! मुझे आप उपदेश दीजिए !"

ऋषि ने कन्या के मुख का उपोद्ग्रहण करते हुए कहा, "ऐ शूद्र ! तुम ये गायें लाये हो, परन्तु मैं कुछ न बोलता, इस कन्या के मुख की लाज रखने के लिए मुझे बोलने को बाधित होना पड़ेगा।" जहाँ रैक्व ऋषि ने निवास किया, उस स्थान का नाम रैक्वपर्ण प्रसिद्ध हुआ। यह स्थान महावृष नामक उपवनों में से एक था। राजा को ऋषि ने निम्नलिखित उपदेश दिया—

"हे राजन् ! 'अधिदैवत' अर्थात् 'ब्रह्माण्ड' की दृष्टि से वायु ही 'संवर्ग' है, सबको अपने भीतर समा लेनेवाली है। जब आग बुझती है तो वायु में ही लौट जाती है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायु में ही लौट जाता है, जब चन्द्र अस्त होता है तो वह भी वायु में ही लौट जाता है। जब पानी सूखते हैं तो वायु में ही लौट जाते हैं, वायु ही इन सबका संवरण करता है, इन सबको ढाँप लेता है। यह अधि-दैवत, अर्थात् ब्रह्माण्ड की दृष्टि से वर्णन हुआ।

"अब 'अध्यात्म' अर्थात् 'पिण्ड' की दृष्टि से सुनो। पिण्ड, अर्थात् शरीर की दृष्टि से प्राण ही 'संवर्ग' है, वह सब इन्द्रियों को अपने भीतर समा लेनेवाला है, जब मनुष्य सोता है तो वाणी प्राण को ही लौट जाती है, प्राण को ही चक्षु, प्राण को ही श्रोत्र, प्राण को ही मन लौट जाता है, प्राण ही इन सबका संवरण करता है, इन सबको ढाँपता है। इसलिए 'संवर्ग' अर्थात् लय-स्थान दो ही हैं—ब्रह्माण्ड के देवों में 'वायु' तथा पिण्ड की इन्द्रियों में 'प्राण'।

"राजन् ! एक बार की बात है कि शौनक कापेय तथा अभिप्रतारित काक्ष-सेनि को जब भोजन परोसा जा रहा था, तब उनसे एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा माँगी। उसे उन्होंने भिक्षा न दी।

"ब्रह्मचारी ने कहा, 'अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल—ये चार, एवं वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन—ये चार मानो महात्मा हैं, इन चारों के मुक़ाबले में एक देव है—अधिदैवत (ब्रह्माण्ड की) दृष्टि से 'वायु' तथा अध्यात्म (पिण्ड की) दृष्टि से 'प्राण'। वह कैसा है ? वह ऐसा है जो अकेला होता हुआ इन चारों को खा जाता है, परन्तु फिर भी हे कापेय ! हे अभिप्रतारित ! वह भुवनों की रक्षा करता है, अनेक रूपों में वह बस रहा है, मैं उस प्राण के लिए ही तो भिक्षा माँगता था, परन्तु जिसके लिए अन्न है उसी को तुमने नहीं दिया, तुमने मुझे नहीं, प्राण-ब्रह्म को अन्न देने से इन्कार कर दिया।'

"शौनक कापेय ने ब्रह्मचारी के कथन पर मनन किया और उससे कहा, 'निस्सन्देह ब्रह्माण्ड में 'वायु' उन चारों देवों का तथा पिण्ड में 'प्राण' चारों इद्रियों का आत्मा है, ये चारों 'वायु' तथा 'प्राण' की क्रमशः प्रजाएँ हैं। 'वायु' तथा 'प्राण' इन चारों को खा भी जाते हैं, और जाग्रत में इन्हें प्रकट भी कर देते हैं। 'वायु' तथा 'प्राण' सोने के दाँतवाले हैं, खा जाते हैं,—सब-कुछ अपने भीतर समा लेते हैं,

मानो जीवित हों। इनकी महिमा महान् है, क्योंकि स्वयं न खाये जाते हुए ही जो खाया नहीं जा सकता, उसे भी खा जाते हैं। हे ब्रह्मचारिन्! हम भी ब्रह्माण्ड में 'वायु-ब्रह्म' तथा पिण्ड में 'प्राण-ब्रह्म' की उपासना करते हैं।' यह कहकर उसने परोसनेवाले को कहा कि 'ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दो!' उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दी।"

'वायु' तथा 'प्राण' के सम्बन्ध में यह कथानक सुनाने के बाद रैक्व ने फिर कहा, "राजन्! 'ब्रह्माण्ड' के चार देवता (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल) तथा वायु, मिलकर पाँच होते हैं, इसी प्रकार 'पिण्ड' की इन्द्रियाँ (वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन) तथा 'प्राण' मिलकर पाँच होते हैं, ये सब दस हैं, और ये सब दसों मानो 'कृत' हैं, संसार-जुआ खेलने के पासे हैं, इन्हीं में यह विश्व का प्रपंच खेल रहा है। जैसे 'वायु' अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल इन चारों का भक्षण कर जाती है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेती है। जैसे 'प्राण' वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन इन चारों को समेट लेता है, इन्हें अपना अन्न बना लेता है; वैसे ही विश्व की यह विराट् शक्ति सबको 'अन्न' बनाकर उसका भक्षण कर रही है, वह सबकी 'अन्नाद' है, सबको जुए में लगाये बैठी है, सबकी 'भोक्ता' है और 'द्रष्टा'-रूप में वर्त्तमान है। जो यह जानता है, वह 'द्रष्टा'-रूप होकर विचरता है, संसार में भोक्ता होकर रहता है।"

अनामदास की टिप्पणी

[अनामदास ने रैक्व-आख्यान की विश्वसनीयता की पूरी जाँच की है। उसके कौन-से अंश किस उपनिषद् से लिये गये हैं, इसका पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसके अधिकांश स्थल छान्दोग्य उपनिषद् से लिये गये हैं। सारा खतियान यहाँ नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसे पाठकों के धैर्य पर हमला करके अपराध माने जाने की आशंका है। पर उनके कुछ मन्तव्य कुतूहली पाठकों को रुचिकर भी लग सकते हैं। यही सोच-कर उनकी टिप्पणी का कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है।]

प्राचीन मानी जानेवाली ग्यारह उपनिषदों का एक साथ विचार किया जाये तो याज्ञवल्क्य उपनिषद्-काल के सबसे बड़े तत्त्वदर्शी हैं। ये बृहदारण्यक उपनिषद् के शक्तिशाली चरित-नायक हैं। परन्तु एक-एक ग्रन्थ के रूप में यदि इनका विचार किया जाये तो सबसे प्राणवन्त तत्त्वान्वेषियों का विचार पिटक छान्दोग्य है। छान्दोग्य में एक-से-एक फक्कड़ और अक्खड़ विचारक मिलते हैं जो रूढ़ियों के बिल्कुल कायल नहीं। ऐसा लगता है कि छान्दोग्य और बृहदारण्यक समकालीन उपनिषदें हैं और दोनों के रचयिताओं में एक प्रकार की प्रच्छन्न प्रतिस्पर्द्धा है। एक में जो मुख्य और स्वाधीन विचारक है, उसे दूसरी में गौण स्थान दे दिया गया है। प्रस्तुत कथा के प्रधान तत्त्वज्ञानी महर्षि औषस्तिपाद इस सन्दर्भ में एक विचित्र कुतूहल पैदा करते हैं। प्रस्तुत कथा में वे याज्ञवल्क्य से तो किंचित् प्रभावित जान पड़ते हैं, पर अपने पिता उषस्त या उषस्ति चाक्रायण की अक्खड़ता का रंच-मात्र प्रभाव उनमें नहीं मिलता। रैक्व के प्रसंग में उषस्ति का स्मरण होना बिल्कुल स्वाभाविक होता, पर उनके सिद्धान्तों की कोई चर्चा न तो उनके पुत्र औषस्ति करते हैं, न पुत्रवधू ऋतम्भरा ही करती हैं। ऐसा क्यों हुआ ?

छान्दोग्य उपनिषद् में उषस्ति चाक्रायण बहुत ही गरीब लेकिन स्वाभिमानी व्यक्ति हैं। उनमें अक्खड़पना भी है और फक्कड़ाना मस्ती भी है। उनके विचार भी चौंका देनेवाले हैं। आफत के मारे भूख-प्यास से व्याकुल वे एक ऐसे ग्राम में

गये जहाँ खाते-पीते लोग रहते थे। साथ में उनकी पत्नी अटकी भी थीं। भाग्य की विडम्बना देखिए कि पाण्डित्य की बात सुनकर राजा किसी यज्ञ में उन्हें प्रधान ऋत्विक् बनाने के लिए खोज रहा था और आप भूख की ज्वाला से व्याकुल होकर कहीं अन्न की खोज में निकल पड़े थे! एक आदमी उड़द खा रहा था। उसी से उन्होंने थोड़े उड़द के दाने माँगे। उसने कहा, 'उच्छिष्ट है, महाराज आपको कैसे दूँ?' उषस्ति ने कहा, 'दे दे भाई, इस समय मुझे प्राणों की रक्षा करनी है।' संकोच के साथ उस आदमी ने उड़द के दाने दे दिये। फिर उसने कहा, 'यह पानी भी ले लो, महाराज!' उषस्ति ने कहा, 'तेरा उच्छिष्ट पानी क्यों लूँ?' आश्चर्य से चकित वह आदमी बोला, 'उच्छिष्ट तो वह अन्न भी था, महाराज?' उषस्ति ने समझाया था—'मगर उसके बिना मैं प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता था। प्राणों की रक्षा होगी तो मैं कुछ काम कर सकूँगा। काम करने के लिए प्राणों की रक्षा ज़रूरी है। पर पानी तो मैं जितना चाहूँ मिल सकता है। उसके लिए किसी का अहसान क्यों लूँ?' सो उन्होंने पानी नहीं लिया! निश्चय ही वह बेचारा इस विचित्र तपस्वी की ओर देर तक ताकता ही रह गया होगा।

उषस्ति को इस बात का दुःख नहीं हुआ कि उन्होंने भिक्षा में उच्छिष्ट अन्न लिया, उन्हें भिक्षा माँगने से कष्ट हुआ। कुछ करके खाना चाहिए। भिक्षा माँगना ग़लत कार्य था। सो वे राजा के पास पहुँचे। राजा कोई यज्ञ करा रहे थे। उषस्ति को खोजवाया था, पर वे मिल नहीं सके थे। वे चाहते तो सीधे राजा के पास पहुँचकर अपना परिचय देते और बाद की घटनाओं से स्पष्ट है कि राजा भी उन्हें अवश्य सम्मानित करते।

परन्तु यह पहलवान कोई और होता होगा जो लोगों के जय-जयकार मात्र से सन्तुष्ट हुआ करता है। सच्चा पहलवान तो वह है जो प्रतिद्वन्द्वियों को अखाड़े की धूल चटा देने के बाद जय-जयकार ग्रहण करता है। उषस्ति ऐसे ही पहलवान थे। यज्ञशाला में पहुँचते ही उन्होंने एक-एक पण्डित की खबर ली। प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता सभी से उन्होंने अलग-अलग जाकर प्रश्न किया : 'प्रस्तोता महोदय, प्रस्ताव से जिस देवता का सम्बन्ध है उसका नाम बताओ! बिना बताये मन्त्र पढ़ोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायेगा!' प्रस्तोता चुप! फिर उद्गाता और प्रतिहर्त्ता से भी ऐसा ही प्रश्न! सभी चुप! यज्ञ रुक गया। सही उत्तर न देने से सिर गिर जाता, कौन इस ज़हमत में पड़े! यज्ञ बन्द! यजमान अर्थात् राजा परेशान! 'कौन हो महाराज? क्या चाहते हो? यज्ञ का काम तो चलने दो!'

उषस्ति ने अपना परिचय दिया। राजा ने अपना भाग्य सराहा। बोले, 'महाराज! मैं आपको ही खोजवा रहा था, परन्तु आप मिले नहीं। अब तो मैंने इन ऋत्विकों का वरण कर लिया है लेकिन कोई बात नहीं। आप मेरे मुख्य ऋत्विक् बनकर यज्ञ का कार्य करावें। आपको मैं प्रधान ऋत्विक् के रूप में वरण कर रहा हूँ।' उषस्ति ने कहा, 'स्वीकार है महाराज, लेकिन एक शर्त है।' राजा ने चिन्तित होकर पूछा, 'शर्त क्या है, ऋषिवर?' उषस्ति ने अपनी शर्त बतायी—

'शर्त यह है कि ये ऋत्विक् मेरी देख-रेख में प्रसन्नतापूर्वक कार्य करें और मैं प्रधान ऋत्विक् के रूप में इनसे काम कराऊँगा, लेकिन दक्षिणा सबकी बराबर होगी। प्रधान ऋत्विक् होने के कारण मुझे कुछ भी अधिक नहीं दिया जायेगा।'

इस बार राजा ने चकित दृष्टि से इस विचित्र विद्वान् की ओर देखा।

यज्ञ का काम शुरू हुआ। प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता—तीनों ही प्रधान ऋत्विक् उषस्ति के पास आकर बोले, 'भगवन्, आपने जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर पहले बता दें, तो हम लोग उन्हीं देवताओं को ध्यान में रखकर अपना काम शुरू कर दें।' उषस्ति ने प्रस्तोता को बताया कि 'प्रस्ताव का सम्बन्ध प्राण देवता से है। समस्त भूत, सारे प्राणी उसी प्राण देवता से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं। इसलिए जब कभी शुभ कर्म का प्रस्ताव हो यानी आरम्भ किया जाय, तो उसमें प्राण देवता को ही अनुगत समझो। यदि यह बात न जानकर तुमने प्रस्ताव किया होता तो तुम्हारा सिर गिर जाता।'

उद्गाता को उन्होंने बताया—'उद्गीथ का देवता आदित्य है, वही उद्गीथ का प्रतीक है। अगर तुमने उसे जाने बिना उद्गीथ का गान किया होता तो तुम्हारा सिर गिर गया होता।'

प्रतिहर्त्ता को उन्होंने बताया—'प्रतिहार कर्म का देवता अन्न है। समस्त प्राणी अन्न का प्रतिहरण या ग्रहण करते हुए जीवित रहते हैं। सो यदि तुमने इस अन्न देवता को जाने बिना प्रतिहार कर्म किया होता तो तुम्हारा सिर गिर गया होता।'

इस प्रकार तीनों पर अपनी विद्वता की धाक जमाते हुए उषस्ति ने यज्ञ कराया था। उनमें जहाँ फक्कड़ाना मस्ती थी, वहीं अपने ज्ञान और पाण्डित्य का उचित अभिमान भी था। छान्दोग्य के यही मस्तमौला और अक्खड़ ऋषि बृहदारण्यक में उषस्ति चाक्रायण के नाम से आते हैं। लगता है, उषस्त और उषस्ति एक ही नाम के दो रूप हैं। क्योंकि दोनों ही चक्र के पुत्र बताये गये हैं। यहाँ भी वे इसी अक्खड़ाना अन्दाज़ में याज्ञवल्क्य से भिड़ गये थे। उन्होंने कहा था—'याज्ञवल्क्यजी, जिसे आप साक्षात् ब्रह्म कहते हैं और उसे सबके भीतर रहनेवाली आत्मा भी कहते हैं, उसकी व्याख्या कीजिए! यह कथन कुछ पहेली-सा लगता है, साफ-साफ समझाइए।' याज्ञवल्क्य ने 'यह तुम्हारा आत्मा सबके भीतर है', कहकर उन्हें निरुत्तर करना चाहा था, मगर उषस्ति चाक्रायण ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! जैसे कोई गौ और अश्व के विषय में पूछे और उसे गाय तथा घोड़ा न दिखाकर 'दूध देनेवाली गौ होती है', 'दौड़नेवाला घोड़ा होता है'—यह कहकर टाल दिया जाय, वैसे ही 'साक्षात् ब्रह्म आत्मा, जो सबके भीतर है, क्या है?'—यह पूछने पर तुमने मुझे यह कहकर टाल दिया कि 'जो सबके भीतर है, वह 'आत्मा' है!' हे याज्ञवल्क्य! सबके भीतर रहनेवाला 'आत्मा' कहाँ है, दिखाओ तो?'

याज्ञवल्क्य ने अपनी स्वाभाविक शान्ति के साथ कहा, 'वह तो स्वयं देखनेवाला है, उसे तुम किससे देखोगे? वह तो स्वयं सुननेवाला है, उसे तुम किससे मनन

करोगे ? वह तो स्वयं मनन करनेवाला है, उसको तुम किससे प्राप्त करोगे ? तेरा यह आत्मा सबके भीतर है ! अर्थात् जब तुम पूछते हो, 'दिखाओ, आत्मा कहाँ है', तो मैं यही तो कह सकता हूँ कि 'आत्मा तो सबके भीतर दीख रहा है'—इससे भिन्न कोई उपदेश तो दुःख पहुँचानेवाला ही है।''

सुनकर मस्तमौला उषस्ति चुप लगा गये थे। छान्दोग्य के उषस्ति चुप होनेवाले नहीं थे, लेकिन बृहदारण्यक में उनका तेज धूमिल पड़ गया। याज्ञवल्क्य विजयी हुए।

अब प्रस्तुत कथा में यद्यपि छान्दोग्य के तत्त्व ही प्रधान हैं, फिर भी रैक्व के प्रसंग में इनका इस रूप में कहीं भी स्मरण न किया जाना कुछ आश्चर्यजनक है। लगता है, महर्षि औषस्ति बृहदारण्यक के ऋषि उषस्ति के पुत्र हैं और याज्ञवल्क्य से काफी प्रभावित हैं।

प्रस्तुत कथा का यह एक पहेली-जैसा अंश है। औषस्तिपाद के प्रसंग में फक्कड़ और अक्खड़ उषस्ति की कोई भी चर्चा न होना कुछ समझ में न आनेवाली बात है।

['अनामदास का पोथा' लिखते समय आचार्य द्विवेदी ने इस उपन्यास की परिकल्पना दो खण्डों में की थी। पहला खण्ड 'अनामदास का पोथा : अथ रैक्व-आख्यान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ; और दूसरा खण्ड उन्होंने लिखना शुरू ही किया था कि काल के क्रूर हाथों ने उन्हें सदा-सदा के लिए हमसे छीन लिया। दूसरे खण्ड का जितना अंश वे लिख पाये थे, उसे नीचे दिया जा रहा है।]

अनामदास लिखते हैं :

कभी-कभी लोग बेढब सवाल कर बैठते हैं। एक सज्जन मेरे पास आये। अच्छे पढ़े-लिखे युवक थे। किसी विश्वविद्यालय में शोध कार्य कर रहे थे। उनके शोध का विषय था, साधारण लोगों का जीवन-दर्शन। वे झोले में एक प्रश्नावली की बहुत-सी छपी प्रतियाँ लिये हुए थे। एक प्रति उन्होंने कृपा करके मुझे भी दी। गाँव के कई लोगों को दे चुके थे। पहले तो मुझे लगा कि वे बहुत परेशान हैं। सत्य की खोज कोई मामूली बात तो है नहीं, उसमें परेशानियाँ तो होंगी ही। पर बाद में लगा कि वस्तुतः वे परेशान थे नहीं। उन्होंने बताया कि उन्हें सब लोगों की बात इकट्ठी करके उनका विश्लेषण और वर्गीकरण करने की ही चिन्ता थी। वे किसी निश्चित तथ्य पर न पहुँचे थे और न पहुँचना चाहते थे। उनका विश्वविद्यालय सिर्फ इस बात से ही सन्तुष्ट हो जानेवाला था कि उन्होंने तथ्यों का संग्रह ईमानदारी से किया है और उनका विश्लेषण आलोचनात्मक ढंग से और सूझ-बूझ के साथ किया है। निष्कर्ष के बारे में न उन्हें चिन्ता थी, न उनके विश्वविद्यालय को। वे अनासक्त चिन्ता के साथ चलने का प्रयास करनेवाले परिश्रमी पथिक मात्र थे।

गन्तव्य का न उन्हें ज्ञान था, न जिज्ञासा। इसीलिए वे जितना परेशान दिख रहे थे, उतना थे नहीं। सो तो ठीक है। पर मुझ गरीब को तो उन्होंने बुरी तरह झकझोर दिया। उनकी प्रश्नावली का पहला प्रश्न ही मेरी वाणी रुद्ध कर गया। बादवाले प्रश्नों को तो मैंने देखा ही नहीं। पहला सवाल था—आपका जीवन-दर्शन क्या है ?

जीवन-दर्शन ? मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि इसके पहले मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि मेरा भी कोई जीवन-दर्शन हो सकता है। सही बात तो यह है कि मुझे इस शब्द का अर्थ भी नहीं मालूम था। 'जीवन' भी थोड़ा-बहुत जानता हूँ और 'दर्शन' का नाम भी सुना है, पर 'जीवन-दर्शन' क्या पदार्थ है ? सुना है कि पुराने ऋषि लोग तप करते थे, स्वाध्याय करते थे, श्रवण-मनन-निदिध्यासन से बुद्धि और मन के समस्त मलों को दूर करते थे और इस प्रकार शुद्ध दृष्टि से चरम और परम सत्य का साक्षात्कार करते थे। वे जो कुछ देखते थे (दृष्टसत्य) उसे युक्ति से, तर्क से, शास्त्रीय प्रमाणों से पुष्ट करके जो कुछ कहते थे उसे 'दर्शन' कहते थे। ऐसी चीज को 'दर्शन' तो कहा ही जा सकता है। उनसे ही पूछ जाता तो शायद वे बता सकते कि उनके जीवन और उनके दर्शन का क्या सम्बन्ध था। पर ये मेरे सामने बैठे हुए अत्यन्त सुशील और सुसंस्कृत युवा मित्र साधारण मनुष्यों के जीवन-दर्शन जानना चाहते थे। साधारण मनुष्य के योग, तप और स्वाध्याय, मनन और ध्यान द्वारा निर्मलित आँख ही कहाँ कि वह सही-सही देख सके ? वह क्या जाने कि दर्शन क्या पदार्थ है। और लोग जानते भी हों तो भी मैं तो नहीं जानता। मगर द्वार पर एक अत्यन्त प्रियदर्शन सुसंस्कृत सज्जन आये हैं और पूछ रहे हैं। उत्तर न देना अक्षम्य होगा। क्या उत्तर दूँ ? अभ्यागत युवा सज्जन दयालु भी मालूम हुए। मैं बहुत-से सज्जनों से मिला हूँ। मेरा अनुभव है कि सभी सज्जन दयालु नहीं होते। कई बार तो वे नियम-कायदा-कानून का अनुवर्त्ती होने को दया से बड़ा गुण मानते हैं और साफ कह देते हैं कि आपके साथ मेरी सहानुभूति तो है पर नियम-कानून व्यक्तिगत सहानुभूति से कहीं बड़े हैं। अभ्यागत सज्जन ने मेरा असमंजस देखा और उन्हें दया आयी। बोले, "तुरन्त उत्तर देना जरूरी नहीं है। बाद में सोचकर बता दीजिए।" एक हफ्ते का समय देकर वे चले गये। पर मेरी जान की साँसत बढ़ा गये। जरूर उनके सौजन्य और भव्य व्यक्तित्व ने मुझ पर मोहिनी डाल दी थी, नहीं तो इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए मैं इतना व्याकुल क्यों होता ? उनसे फिर मुलाकात नहीं हुई। लगता है, उन्होंने अधिक समझदार लोगों से पर्याप्त उत्तर संग्रह कर लिये और उनका विश्वविद्यालय उतने से ही सन्तुष्ट हो गया। जो भी हो, भगवान् उनका भला करें, मुझे तो वे मध्यकालीन साहित्य में पढ़े हुए 'सद्गुरु' के साक्षात् रूप ही जान पड़े—'सद्गुरु', जो शब्द की चोट मारकर व्याकुल कर जाता है। मुझे सचमुच शब्द की चोट लगी। मैं व्याकुल हूँ। कौन है जो मेरी सहायता करेगा ? कोई-न-कोई तो मिल ही जायेगा। खोजना चाहिए। पढ़ा भी है—'जिन खोजा तिन पाइयाँ !'

एक बड़े महात्मा के बारे में सुना करता था। उनकी तपस्या, उनका ब्रह्मचर्य, उनके व्रत-उपवास और सबसे बढ़कर उनकी अद्भुत सिद्धियाँ काफी चर्चा का विषय थीं। जिस पर प्रसन्न हो जाते थे उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं होता था। कितने रोगी रोगमुक्त हो गये, कितने निराश आशा की ज्योति पा गये, कितने निःसन्तान पुत्र-सुख पाकर धन्य हो गये—इसकी कोई गिनती नहीं थी। उनको प्रसन्न करना ही कठिन समस्या थी। सोचा, उनसे ही सत्संग किया जाये, कुछ-न-कुछ वे जीवन-दर्शन का रहस्य बता ही सकते हैं। अगर नहीं बता सकेंगे तो कम-से-कम मुझे तो यह सन्तोष हो ही जायेगा कि मैं ही नहीं, बड़े-बड़े महात्मा भी इस रहस्य से परिचित नहीं हैं। और फिर इसी बहाने एक महान् आत्मा से परिचय हो जायेगा।

हिम्मत करके उनके पास पहुँच गया। हिम्मत जरूरी थी। लोग बताते थे कि पहले तो वे भयंकर गालियाँ देते हैं। भक्त उनकी गालियों की चोट बर्दाश्त कर ले तो उनकी प्रसन्नता भी प्राप्त कर लेता है। लोग प्रायः बर्दाश्त कर लेते थे। कम लोगों को क्षुब्ध होते देखा गया था। मैं जब पहुँचा तो भीड़ लगी थी, बाबा अन्धाधुन्ध गालियों की बौछार कर रहे थे और लोग अविचल श्रद्धा के साथ सिर झुकाकर चोट बर्दाश्त कर रहे थे।

परीक्षा चल रही थी। एक बहुत ही शिष्ट प्रौढ़ व्यक्ति सबसे पीछे रहकर कुछ खिन्न भाव से भीड़ की ओर देख रहे थे। उन्होंने मुझे भी देखा और देखते ही समझ गये कि मैं नौ-गिरफ्तारों में हूँ। उन्होंने मुस्कराकर मुझे जब नमस्कार किया तो मैंने समझा कि वे मुझे पहचान रहे हैं। मैंने भी हाथ जोड़ लिये। परिचय न भी रहा हो तो अब हो गया। मेरे पास आकर उन्होंने कहा कि 'आप यहाँ किस मनोरथ की पूर्त्ति के लिए आये हैं?' मैंने उन्हें बताया कि 'ज्ञानी और तपस्वी लोग ही मेरे मनोरथ को पूरा कर सकते हैं। मैं जीवन-दर्शन के बारे में बाबा से सत्संग की इच्छा से आया था। बाबा के मुँह से अनर्गल गालियाँ सुनकर हिम्मत खो बैठा हूँ। क्या इनके साथ सत्संग करने से मैं अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकूँगा? आपकी क्या राय है?'

मेरे यह नये मित्र मुझे एक ओर खींचकर ले गये। थोड़ा एकान्त में आकर वे खूब जोर से हँसे। बोले, "देखिए पण्डितजी, बाबा कुपित ब्रह्मचर्य के रोगी हैं। इनकी गालियों पर ध्यान न दें।"

मुझे लगा कि संसार में जानने योग्य बहुत-सी बातें हैं जिन्हें मैं नहीं जानता। अभी तक मेरी जानकारी में 'जीवन-दर्शन' नहीं था, और इसी बात से परेशान था। अब देखता हूँ, 'कुपित ब्रह्मचर्य' की जानकारी भी मुझे नहीं है। कातर भाव से बोला, "मेरे मित्र, मेरी भारी अल्पज्ञता पर ध्यान न दें। क्या आप मुझे बता देंगे कि यह कुपित ब्रह्मचर्य कौन-सा रोग है!" अबकी बार वे और जोर से हँसे। इधर-उधर देखकर बोले, "आप ही नहीं, बहुत सारे लोग इस रोग के बारे में कुछ भी नहीं जानते। बाबा ने इतना ब्रह्मचर्य पालन किया है कि अब वह पच नहीं पा रहा है। शर्करा (चीनी)-जैसी बढ़िया चीज भी जब पच नहीं पाती तो रोग पैदा

कर देती है। यह तो और कड़ी चीज है। जो भी चीज नहीं पच पाती वह कुपित हो जाती है। कुपित शर्करा से कई गुना भयंकर होता है कुपित ब्रह्मचर्य। उसके रोगी बाबा को प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं।"

मैं उनके मुँह की ओर टुकुर-टुकुर ताकता रहा। वे भी विनोद की मुद्रा में मेरी ओर देखते रहे। फिर बोले, "मैं आपको पहचानता हूँ पण्डितजी, आप इस शहर में ही परिचित नहीं, आस-पास के गाँवों में भी लोग आपको जानते हैं। मैं तो गाँव का ही रहनेवाला हूँ, पर आपको पहचानता हूँ। आप परम जिज्ञासु हैं और ज्ञानदान में परम कृपण। नाम तक आप नहीं बताते। आप निश्चित जानते हैं कि शास्त्रकारों ने बताया है कि अन्न से मन बनता है और तेज से वाणी। बाबा का मन विकृत नहीं हुआ है पर वाणी विकृत हो गयी है। मन भी विकृत हो सकता था, पर बाबा ने दूषित या पापविद्ध अन्न नहीं खाया है, इसीलिए उनका मन अभी तक शुद्ध है। तेज अवश्य म्लान हो गया है। आपका प्रश्न तो शुद्ध मन से ही सम्बन्धित है, इसलिए आप सत्संग कर सकते हैं। मैं ही चक्कर में हूँ। समझ नहीं पा रहा हूँ कि मेरा मनोरथ इनके यहाँ सिद्ध हो सकेगा या नहीं, क्योंकि उसका सम्बन्ध तेज से हो सकता है और बाबा प्रतिक्षण वाणी का दुरुपयोग करके अपना तेज म्लान करते जा रहे हैं।"

मुझे यह आदमी ज्ञानी जान पड़ा। मैंने उपनिषदों में यह बात पढ़ी थी, पर मौके पर सूझी नहीं। सत्संग तो इसके साथ भी किया जा सकता है। मैंने विनम्र भाव से पूछा कि आप क्या अपने मनोरथ की बात बता सकते हैं। उन्होंने कहा—"आपसे कहने में क्या हर्ज है, लेकिन यहाँ नहीं बताऊँगा। आप यदि कृपा करके मेरी कुटिया पर चलें तो अवश्य बताऊँगा।"

मैंने उत्साह के साथ कहा, "अवश्य चलूँगा।" मन-ही-मन मैं सोच रहा था कि बाबा के पास जाना ठीक नहीं है। जिसका तेज ही म्लान हो गया है उसमें विवेक बचा ही कितना होगा! इन ज्ञानी सज्जन के घर ही चला जाये। लेकिन उसी समय एक आदमी भीड़ में से निकलकर आया और बोला कि 'बाबा आपको बुला रहे हैं, अभी कहीं जाइएगा नहीं।' मैं चकित रह गया। बाबा ने क्या मेरे मन की बात जान ली? मेरे नये मित्र भी कुछ चकित और कुछ लज्जित-से लगे। ऐसा मालूम हुआ कि उनके मन में भी मेरी ही तरह यह भाव आया कि बाबा अन्तर्यामी हैं। वे जान गये कि हमारे मन में उनके प्रति अश्रद्धा है। मेरी ओर देखकर बोले, "आप मिल आवें, मैं चलता हूँ।" बिना विलम्ब किये वे चलते बने। न मुझे याद रहा कि उनके घर का पता पूछ लूँ और न उन्हें ही याद रहा कि निमन्त्रित व्यक्ति को घर का पता भी बता देना चाहिए। वस्तुतः ऐसा जान पड़ता था कि वे चोरी करते पकड़ लिये गये हैं और जल्दी-से-जल्दी भाग जाने के सिवा उनके लिए अब कोई रास्ता नहीं रह गया है। देखते-देखते वे आँखों से ओझल हो गये, और मैं अपराधी की भाँति बाबा के सामने पहुँचा।

बाबा शान्त थे। भीड़ बहुत-कुछ छँट गयी थी। जो लोग अब भी रह गये थे

वे भी जाने की तैयारी में थे। शायद बाबा से मिलने का समय निश्चित था और यह बात सबको मालूम थी। इसीलिए लोग अब बिना कुछ कहे ही समझ गये थे कि आज अब बाबा को छोड़ना ही पड़ेगा। मुझे बाद में पता चला कि बाकी बचे लोगों को कल प्राथमिकता दी जायेगी।

मुझे बैठने की आज्ञा देकर उन्होंने उन लोगों की ओर देखा जो अभी तक वहाँ खड़े रह गये थे। उन्होंने सबको भगाया। भगाने की उनकी अपनी शैली थी। उनका सबसे मृदु सम्बोधन था—मूर्खनिपुण। सबसे कठोर सम्बोधन लिखा नहीं जा सकता। मगर अधिकतर लोग उनके भ्रूभंग मात्र से भाग खड़े हुए। अकेला मैं ही रह गया। कहीं बाबा मुझे भी किसी अप्रत्याशित सम्बोधन से सम्बोधित करके भगा न दें, यह आशंका मेरे मन में बराबर बनी हुई थी। लेकिन सबके चले जाने के बाद वे अत्यन्त शान्त मृदु वाणी में बोले, "कहो महाराज, आप कैसे इन मूर्खों की भीड़ में आये? आपके बारे में अभी कुछ लोगों ने बताया, उससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। आपको ही देखकर मैं कह सकता हूँ कि आप विद्वान् और तपस्वी पुरुष हैं। आप जैसे लोग तो यहाँ आते नहीं। कैसे पधारना हुआ? मैं पहले ही समझ गया था कि आप यहाँ का दृश्य देखने के बाद ज्यादा देर नहीं टिकेंगे। इसी-लिए आपको बुलवा लिया। भाग रहे थे न?"

मेरे मन में श्रद्धा और आश्चर्य दोनों एक ही साथ उदित हुए। हाथ जोड़क बोला, "आपको क्या बताना है? आप तो अन्तर्यामी हैं।"

बाबा जोर से हँसे, "यह आपको किस मूर्ख ने बता दिया! मैं अन्तर्यामी कैसे हो सकता हूँ? अन्तर्यामी तो जो है सो है।"

बाबा की हँसी से मेरा अन्तस्तल काँप उठा। क्या कहूँ, कुछ सूझा ही नहीं। सच्चे मूर्ख की तरह उनकी ओर मुलुर-मुलुर ताकता ही रह गया।

बाबा प्रसन्न थे—"सुनो महाराज, मैं आपकी मानसिक उलझन समझ रहा हूँ। आप जैसे लोग जब मेरे पास आते हैं तो प्रायः इसी प्रकार की उलझन में पड़ जाते हैं। वे सोचते हैं कि यह बाबा कहानेवाला आदमी सचमुच कोई साधु है या पामर है। इतनी अनर्गल गाली बकनेवाला क्या साधु हो सकता है! ठीक कह रहा हूँ न, महाराज? आप भी ऐसा ही कुछ सोच रहे थे न?"

मैं अवाक् होकर बाबा की ओर देखने लगा।

वे फिर बोले, "साधु तो मैं सचमुच नहीं हूँ, पर एकदम लम्पट या पामर भी नहीं हूँ।" मैं आश्चर्य से बाबा को देख रहा था। जी में आया कि पूछूँ कि आप इतनी गालियाँ क्यों देते हैं; लेकिन कैसे पूछूँ, किस प्रकार कहूँ कि बाबा को बुरा न लगे, यही नहीं सोच पा रहा था। इस समय बाबा बिल्कुल शान्त, शिष्ट और सुजन दिखायी पड़ते थे। कौन जाने कुछ पूछने पर बुरा मान जायें और फिर उग्र रूप धारण कर लें! बुद्धिमान का अस्त्र मौन है। चुपचाप ताकता रहा। बाबा प्रसन्न भाव से मुस्कराये जा रहे थे। फिर स्वयं ही बोले, "मैं दीर्घकाल से आप-जैसे किसी सरलहृदय पण्डित की प्रतीक्षा में था। आप वस्तुतः अपनी गरज से

यहाँ नहीं आये हैं, मेरी कातर प्रार्थना पर द्रवित होकर भगवान् ने ही आपको यहाँ आने की प्रेरणा दी है। पण्डितजी महाराज, मैं थक गया हूँ, व्याकुल हूँ। आप आ गये हैं तो मेरे ऊपर कृपा करें, भाग न जायें !"

बाबा के चेहरे पर सचमुच कातरता के भाव आ गये थे। क्या देख रहा हूँ ! बाबा का कौन-सा रूप सत्य है ? वह रूप जिसे मेरे अज्ञात मित्र ने 'कुपित ब्रह्मचर्य का रोगी' कहा था या यह रूप जो हृदय पिघला देनेवाली कातर प्रार्थना से आकर्षक बन गया है ? मेरे जैसे किसी आदमी की इन्हें आवश्यकता क्यों होगी भला ? आश्वस्त करने के लिए ही मैंने कहा, "मैं तो सत्संग की इच्छा से ही यहाँ आया था, पर इसके पूर्व का रूप देखकर घबरा गया था। अब आपका जो रूप देख रहा हूँ उससे भागने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ! मेरे योग्य कुछ सेवा हो तो निःसंकोच बतायें। मैं आपके किसी काम तो शायद ही आ सकूँगा, पर आज्ञा होने पर कुछ प्रयत्न तो करूँगा ही।"

बाबा द्रवित लगते थे।

"कौन किसके काम आता है, महाराज ! किसी के काम कोई कैसे आता है, कहा नहीं जा सकता। यह सदा एक रहस्य ही बना रहेगा। सीमित बुद्धिवाला मनुष्य कुछ-न-कुछ समाधान सोचा करता है, लेकिन यह समाधान केवल भाषा का खेल-भर होता है। उसका सचमुच कुछ मतलब होता हो, ऐसा नहीं लगता !" बाबा में थोड़ी स्फूर्ति आयी। बोले, "यह जो भीड़ यहाँ आपने देखी है, इनमें अधिकतर सचमुच यह समझते हैं कि मैं उनके काम आता हूँ। थोड़ा शोक से, मानसिक तनाव से, पारिवारिक झमेले से हारे-थके मेरे पास आते हैं, गाली सुनते हैं और शायद कुछ मनोबल प्राप्त करके चले जाते हैं। कई आकर कह जाते हैं कि उनकी समस्या सुलझ गयी; मुझे उनकी मूर्खता पर क्रोध हो आता है और फिर दो-चार उल्टी-सीधी सुना देता हूँ। न सुनाऊँ तो उन्हें सन्तोष नहीं होता। जानते हैं मैं ऐसा कबसे और क्यों करने लगा ? सुनकर आपको अच्छा शायद नहीं लगेगा। शायद आप समझेंगे कि मैंने जबर्दस्त पाखण्ड रचा है। समझिए। मैंने तो अपना जीवन-दर्शन एक प्रकार का बना ही लिया है···"

मैं आश्चर्य और उल्लास के साथ बीच ही में बोल उठा, "क्या कहा बाबा, जीवन-दर्शन ! यही तो समझने के लिए मैं आपके पास आया था। कैसे कहूँ कि आप अन्तर्यामी नहीं हैं ? बाह्य जीवन-दर्शन की खोज में ही तो मैं आया हूँ !"

बाबा ने कुतूहल और उत्सुकता से मेरी ओर देखा, "जीवन-दर्शन की खोज में आये हैं ? आश्चर्य है। लेकिन मैंने तो आपको शुरू में ही बता दिया कि कोई किसी के काम आता नहीं, आ जाना पड़ता है। क्यों आ जाना पड़ता है, कोई नहीं जानता। मेरी पूरी बात सुन लें। शायद मैं आपके काम आ जाऊँ, उसी प्रकार जिस प्रकार इन दयनीय मूर्खों के काम आ जाता हूँ; और कौन जाने महाराज, आप भी मेरे किसी काम आ जायें ?"

ooo